

गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोविन्दलाल महाराज

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

ग्रन्थ-परिचय

एक किंवदन्तीके अनुसार नवरत्न ग्रन्थकी रचना श्रीमहाप्रभुने वि. स. १५५८ मे अडैलमे की थी[1] यह ग्रन्थ खेरालुग्रामके गोविन्द दुबे साचोराके लिए लिखा गया था

प्रारम्भमे ही गोविंद दुबेकी मनोवृत्ति वैराग्यप्रधान थी. अल्पवयमे ही ये अपने माता-पिताको छोडकर तीर्थयात्रार्थ द्वारका पहुच गये थे और बादमे वही रहने लग गये थे भावप्रकाशके अनुसार ये मर्यादापुष्टिके जीव थे और तदनुरूप इनकी द्वारकालीलामे आसक्ति अधिक थी. द्वारकास्थ श्रीरणछोडजीके स्वरूपमे भी अतएव इनकी अत्यधिक आसक्ति थी. अपने माता-पिताके देहावसानके बाद ये श्राद्ध करने गया गये थ लौटते समय मार्गमे मनिकर्णिका घाटपर इनकी भेट श्रीमहाप्रभुके साथ हुई दर्शन करते समय इन्हे इच्छा हुई कि श्रीमहाप्रभुके पास रहकर कुछ विद्यार्जन करे अनुमति मिलनेपर कहीसे व्याकरणकी पोथी ले आये पर श्रीमहाप्रभुने मूल गीताके अध्यापन द्वारा ही सस्कृत भाषा, व्याकरण एवम् सिद्धान्त का भी ज्ञान इन्हे प्रदान कर दिया. इससे प्रभावित होकर ये पुष्टिमार्गमे दीक्षित हुए और आज्ञानुसार घर लौटकर भगवत्सेवामे प्रवृत्त होगये

८४ वैष्णवनकी वार्ताके अनुसार—'गोविन्द दुबे परम सेवा करे परन्तु मनमें बहुत विग्रह (व्यग्र) रहे सो सेवामें चित्त लागे नाही तब गोविन्द दुबे एक पत्र श्रीआचार्यजीको लिखे—'महाराज! मेरे मनमे बहुत विग्रह रहत है भगवत्सेवामें चित्त लागत नाही सो कहा करू?' सो पत्र श्रीआचार्यजीके पास आयो सो आप बाचिके नवरत्न ग्रन्थ करि लिख पठाये और लिखे 'यह नवरत्न ग्रन्थको पाठ किये तेरे मनकी विग्रहता (व्यग्रता) मिटि जायेगी' सो पाठ करत श्रीआचार्यजीकी कृपाते व्यग्रता--चिन्ता सब मिटि गई मन भगवत्सेवामे करन लागे"

[1] षोडशग्रन्थनो तवारीखी लेख नाथरदास बामणिया वैष्णववाणी अक ४ वर्ष १९७९

इस प्रसगका निगूढ आशय श्रीहरिरायचरणने भावप्रकाश वहुत सुन्दर शब्दोंमें व्यक्त किया है—"गोविन्द दूबेके मनमें विग्रहता भई ताको अभिप्राय यह जो गोविन्द दूबे जीव तो द्वारिकालीला सम्बन्धी और सेवाभावना व्रजकी करे सो मन लागे नाही न राजलीलामें दृढता होई न व्रजलीलामें सो अनेक साधनमें मन दोरे जो तीर्थ करू के व्रत करू कोई जप करू इत्यादि मन भटके सो श्रीआचार्यजी महाप्रभु नवरत्न ग्रंथ लिखि पठाये—'तू चिन्ता मति करें चितकी उद्वेगता है यह प्रभुलीला जानि—श्रीठाकुरमें ते मन और ठौर जाये सोउ भगवदिच्छा मानि—चिन्ता मति करियो जितनी बने तितनी सेवा करियो तब गोविन्द दूबको मन स्थिर होगयो. जहा मन लौकिक वैदिक में जाई तो भगवदिच्छा माने. श्रीरनछोडजीमें मन वहोत जाई सो भगवदिच्छा माने उहाकी लीलामें मग्न रहे काहेते ? शास्त्र पुरान अनेक उपाई प्रभुमिलन के कहे हैं जीवको सिमसात्र मार्ग दिखाये जो जहाको अधिकारी है वामें वाको मन स्वत सिद्ध लागत है

ताते जैसे मनुष्य गैल चलिवेवारेका बस गामके मारग वताव परन्तु जाको जा गाम जानो होई सोई गाम जात है तैसे ही कोई भगवदीय द्वारा कोई गुरु द्वारा कोई ईश्वर द्वारा जैसो अधिकारी तैसो सग पाय उही मार्गमें भाव वाको दृढ होत है सो गोविन्द दूबेको श्रीरणछोडजीमें दृढ भाव भयो

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें मार्गभेदका निरूपण किया ही गया है सभी जीवोंके मार्ग भिन्न-भिन्न है स्वयम् पुष्टिमार्गमें भी भगवान्‌ तक पहुचनेकी अनेक दिशा या सरणी है जिस दिशामें सहजतया हम चल पाते हो उसी ओर हमारे चलनेका प्रयास निरायास होता है अपने स्वभावके अनुरूप सहजतया जिस मार्गपर हम चल सकते है, उसे छोडकर अन्यान्य फलोंकी कामनाके वश या मिथ्या अनुकरणकी मनोवृत्तिसे, जब हम अपने स्वभावविपरीत मार्ग-पर चलना चाहते हैं तो उस आयासमें चिन्ता उद्वेग या व्यग्रता से मनका ग्रस्त हो जाना स्वाभाविक बात है.

पुष्टिपथके पथिक स्वयम् अपने स्वरूपका या अपने कर्तव्यके स्वरूपका' अथवा अपने भजनीय भगवानके स्वरूपका चिन्तन करें यह तो स्वभाविक तथा आवश्यक ही है इस चिन्तनका स्थान परन्तु अस्वाभाविक चिन्ता लेने लग जाये तो वह श्रीमहाप्रभुको नहीं सुहाता है क्योकि चिन्ताका मूल हमारी आस्था

भक्ति तथा स्वीकृति की मनोवृत्तिमे न होकर अनास्था उद्विग्नता तथा अस्वीकृति की मनोवृत्तिमे होता है भगवान्‌की शरणागति स्वीकारनेके बाद सब कुछ ऐहिक या पारलौकिक भगवान्‌को समर्पित कर देना चाहिये. भगवान् तो सर्वज्ञ सर्वसमर्थ सर्वहितैषी सर्वसुहृत् कर्ता-कारयिता अचिन्त्य लीला विहारी है इस भावभूमिपर सशय चिन्ता या प्रार्थना के विषैले अकुर फूट ही नही सकते जो कुछ घटित हो रहा है उसे लीलाबोधके साथ स्वीकारनेमे ही वास्तविक विवेक समाहित है भगवान्‌की कृपासे भगवत्सेवा या भगवत्कथा मे जितना भी चित्त तन्मय होता चला जाये उसम अधिकाधिक आनन्द लेते जानेकी मनोवृत्ति एक स्वस्थ स्वीकृतिकी मनोवृत्ति है जबकि अनधिकार चेष्टाके द्वारा जो आदर्श तन्मयता हम प्राप्त नही हुई हो उसके बारेम चिन्ता या उद्वेग की मनोवृत्ति अस्वस्थ अस्वीकृतिकी मनोवृत्ति है प्राप्तमे अधिकका मनोरथ अस्वाभाविक नही होता परन्तु अप्राप्तकी चिन्ता या तज्जन्य उद्वग एक अस्वाभाविक मनोवृत्ति है इसी तरह लौकिक या वैदिक योगक्षमके बारे म भी निरन्तर चिन्ता करते रहना एक भक्तिविरोधी मनोभाव है

अत भगवत्सेवामे प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोको श्रीमहाप्रभु इस नवरत्न ग्रन्थके द्वारा सभी तरहकी चिन्ताओसे मुक्त करना चाहते है

वैदिक कर्मोके अनुष्ठानका अधिकार जैसे गायत्री-मन्त्रके उपदेशग्रहण करनेसे मिलता है, वैसे ही पुष्टिमार्गम भगवत्सेवाका अधिकार ब्रह्मसम्बन्ध-की दीक्षासे प्राप्त होता है आत्मनिवेदनकी सार्थकता भगवत्सेवाके सम्पन्न होनेपर ही होती है अपने लौकिक व्यवहार भी अतएव यावत्शक्य भगवान्‌की सेवाम उपयोग लाये हुए पदार्थोसे चलाने चाहिये इसम भी प्रयोजन पुन भगवत्सेवाका निर्द्वन्द्व निर्वाह ही होना चाहिये भगवान्‌को दानरूप किसी वस्तुके भेट करनेपर उसे पुन अपने उपयोगमे लाना वर्जित है पर निवेदितके समर्पणकी प्रक्रियामे किसी वस्तुको पुन अपने उपयोगम लाना वर्जित नही है प्रत्युत यही प्रकार अनुसरणीय है अन्यथा भगवान्‌को निवेदित अन्न आदिका भी प्रसादके रूपमे पुनर्ग्रहण वर्जित मानना पडेगा जबकि सिद्धान्त-रहस्यमे असमर्पित वस्तुके त्यागका ही विधान किया गया है अत आत्म निवेदीके लिए यह सर्वथा उचित बात है कि प्रभुको समर्पित सभी वस्तुओका कमसे कम एकबार भगवान्‌की सेवामे पहले विनियोग करे और तब अपन

उपभोगार्थ उसे ग्रहण करे इस नियमके पालनसे आत्मशुद्धि होती है

परन्तु अन्न वस्त्र आदि वस्तुओंके एकबार भगवान्की सेवामें काममें आ जानेपर दुबारा उन्हे जुटानेका प्रयास करना चाहिये कि नही ? यदि नही करते तो आगे सेवाका भी स्वरूप नही निभ पायेगा और यदि करते है तो वह तो दुनियाकी रीतके अनुसार ही करना पडेगा और उस उपार्जनकी प्रक्रियामे पुन ससारमे उलझना पडेगा तो सेवामे भी विघ्नकी सम्भावना है इस तरहकी चिन्ता भगवद्भक्तके मनमें उठ सकती है. स्पष्ट है कि ऐसी चिन्ता स्वार्थप्रेरित नही होती किन्तु भगवत्सेवार्थ ही होती है पर श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते है कि भक्तको न तो स्वार्थपूर्तिके लिए और न भगवत्सेवार्थ ही चिन्ता करनी चाहिये.

आत्मनिवेदीके लिए यह आवश्यक है कि जीवनमें सुख-दुख जो भी आय उन्हे भगवदिच्छा मानकर सहजतया स्वीकार ले चिन्ता कदापि न करे लौकिक व्यवहारको निभानेके लिए लौकिक प्रयासोम व्यापृत होनेपर यह सम्भव है कि मर्यादामार्गीय वैराग्य न भी सिद्ध हो भगवान्ने, किन्तु, पुष्टिमार्गमे हमारा अगीकार किया है अत प्रवाहमार्गीय लौकिक गति पुष्टिजीवकी होने नही देंगे, यह दृढ आस्था हमे रखनी चाहिये

भगवत्सेवा निभानेके लिए व्यापार या नौकरी आदि करनेपर सम्भावित बहिर्मुखतामे बचनेका उपाय है अपने आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना कि "मै कृष्णका हू—— कृष्णका दास हू"

किसी विषम स्थितिमे सेवा न निभ पाती हो तब भी अन्य आत्मनिवेदी भगवदीयोके सत्सगद्वारा इस आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना नितान्त आवश्यक है क्योकि यह स्मृति मानस-पटलपरसे मिटी और तुरत असुरावेशकी सम्भावना प्रबल हो जाती है

आत्मनिवेदन करनेवाले सभी पुष्टिजीव चाहे वे उच्चकक्षाके हो या निम्न कक्षाके सभीका सम्बन्ध तो दासके रूपमे भगवान्के साथ जुड ही गया है फिर चिन्ता किस बातकी ? भगवान् हमारे स्वामी है वे जो भी निजेच्छासे करे वह हमें स्वीकार्य होना चाहिये. और फिर भगवान् तो भक्तवश भी है अत अपने भक्तोकी विकाररहित सारी मनोकामना भगवान् बिना किसी प्रार्थनाकी

अपेक्षाके स्वयमेव पूर्ण करेगे. यह आस्था हमे रखनी चाहिये और चिन्तासे छुटकारा पाना चाहिये

आत्मनिवेदन तो हम भगवान्को करते है पर सेवा तो हमे अपने स्त्री-पुत्र-परिवारकी भी करनी ही पड़ती है ऐसी चिन्ता भी आत्मनिवेदीको नही करनी चाहिये. क्योकि ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षाके समय हम केवल अपना ही नही अपितु सम्पूर्ण परिवारका भी भगवान्को समर्पण कर देते है अत: हमसे सम्बन्धित सभी कुछ प्रभुका अर्थात् ब्रह्मसे सम्बन्धित हो जाता है अत. उनका भरण-पोषण या सरक्षण भक्तिविरोधी भाव या व्यवहार नही गिना जाता. फिर चिन्ता क्यो करनी चाहिये ?

परिवारके सदस्य यथा पति-पत्नी माता-पिता या सन्तति आदि, यदि भगवत्सेवामे सहायक न होकर अन्यान्य सासरिक कार्योमें व्यस्त रहते हो, तब भी चिन्ता नही करनी चाहिये क्योकि हमारा कर्तव्य है उन्हें प्रभुको समर्पित करना सो वह कर देनेपर सब कुछ भगवदिच्छापर अवलम्बित है कि कब वे उन्हे अपनी सेवामे काममे लाये सहज सद्भाव तथा प्रेरणा से उन्हें भगवत्सेवामे प्रवृत्त कराया जा सकता हो तो अच्छी बात है अन्यथा उनकी भगवत्सेवामें रुचि या प्रवृत्ति न दिखलायी पड़ती हो तो व्यर्थ चिन्ता कलह या क्लेश करना भक्तिविरोधी भाव है

कभी यह भी सम्भव है कि हमे ऐसे व्यक्तियोके काम आना पडे जिनके वारेमे ब्रह्मसम्बन्ध लेते समय उन्हे भगवान्को समर्पित करनेका मनोभाव हमारे अन्दर सर्वथा न हो पर इससे चिन्तित होनेकी आवश्यकता नही है क्योकि एक वार सर्वात्मना प्रभुके प्रति समर्पित हो जानेपर, चाहे वह समर्पण ज्ञानपूर्वक न भी हो परन्तु चिन्ताका कोई कारण रह नही जाता

कभी-कभी हमे विश्वास नही होता कि हमारे आत्मनिवेदनको प्रभुने सुना कि नही हमने तो सब कुछ समर्पित कर दिया पर भगवान्ने उसे स्वीकारा कि नही यह चिन्ता भी निरर्थक है क्योकि श्रीकृष्ण तो पुष्टि-पुरुषोत्तम है अत जैसे व्रजभक्तोका अन्याश्रय छुड़ाकर स्वयमेव अपने भजनमे उन्हे प्रवृत्त करते है, वैसे ही जब और जिस क्षण वह अपने भजनमे हमे प्रवृत्त करना चाहेगे उस क्षण स्वत ही हमारा तथा हमसे सम्बन्धित सभी वस्तु या व्यक्ति का उनकी सेवामे विनियोग अनायास सम्पन्न हो जायेगा यदि भग-

वदिच्छा पुष्टिमार्गमे हमारे अगीकारको न हो तो हम आत्मनिवेदन भी नही कर पायेंगे प्रभु तो सर्वसमर्थ है अत हमारी सारी अयोग्यताओको दूर कर बिना किसी साधनकी अपेक्षाके हमे योग्य भी बना सकते है अत हम निवेदन या समर्पण के योग्य है कि नही ऐसी चिन्ता भी पुष्टिभक्तको नही करनी चाहिये

जब लौकिक व्यापार आदिमे कोई कठिनाई उपस्थित हो या वैदिक वर्णाश्रम धर्मके पालनमे कोई कठिनाई उपस्थित हो, तब भी चिन्ता नही करनी चाहिये प्रत्युत यह समझना चाहिये कि भगवान् अधिकाधिक भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेका अवसर हमारे सामने उपस्थित कर रहे है

आओ ! मारे पुष्टिजीव आओ ! और ऐसी विषम स्थितिमे भी अपनी पुष्टिभक्तिको निभानेका यत्न करो लौकिक या वैदिक व्यवहारोमे स्वास्थ्यका क्या मूल्य यदि पुष्टिभक्तिका स्वास्थ्य न हो ? भगवान् यदि लौकिक दृष्टिसे या वैदिक दृष्टिसे कुछ विषमस्थिति हमारे सम्मुख उपस्थित करते हो तो निश्चिन्त होकर उन्हें सहन कर लेना चाहिये क्योकि सभवत इसी तरह भगवान् हमे पुष्टिमार्गपर अग्रसर करना चाहते हो !

भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्थामें गुरुकी आज्ञाके अनुसार ही भगवत्सेवा करनी चाहिये परन्तु भगवदिच्छावश या भगवदाज्ञावश सेवाके प्रकारमे कुछ भिन्नता भी आ जाये तो चिन्ताकी कोई बात नही है गुरुकी आज्ञाके अनुसार हो अथवा भगवानकी आज्ञाके अनुसार हो जैसे भी कृष्णसेवामे तत्परता बढती चली जाये वही जीवनप्रणाली सुखप्रद होती है

निश्चिन्तताके इन सारे सिद्धान्तोको जाननेके बावजूद भी कभी कभी पारिवारिक कष्ट व्यक्तिको झकझोर देता है उदाहरणतया पुत्र पति या पत्नी के वियोग होनेपर मनस्ताप हो ही जाता है पर जो भी कुछ घटित होना है उसे भगवल्लीलाके बोधके साथ सहजतया स्वीकार लेनेकी मनोवृत्ति सम्पादित करनी चाहिये चिन्ता उद्वेग या मनस्ताप से जितनी भी जल्दी छुटकारा पाया जा सके उसे पानेकी मनोवृत्ति रखनी चाहिये

भक्तिके नौ सोपान दिखलाये गये है— श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य और आत्मनिवेदन इनमे अपेक्षित प्रकारसे श्रवणकीर्तन जैसे प्राथमिक सोपानपर भी आरोहण करना एक कठिन कार्य है तो

अन्तिम सोपान आत्मनिवेदन और उसके बाद प्राप्त होनेवाली निश्चिन्तता-की मानसिक अवस्थाका लाभ तो अत्यधिक कठिन लगता है! परन्तु आवश्यकता इस कठिनताके विचारसे चिन्ताकी नही प्रत्युत सर्वात्मना शरणागतिके मनोभावको बनाये रखनेकी है ऐसी निरर्थक चिन्ताओमे जितने समय तथा मनोयोग का व्यय हो जाता है, उतने समय तथा उतने मनोयोगसे निरन्तर "श्रीकृष्ण शरण मम" कहते रहे तो बात बन सकती है

यह आश्वासन —यह अभिमत केवल गोविन्द दूबेके लिए नही अपितु सभी पुष्टिजीवोको श्रीमहाप्रभु दे रहे है

भगवद्-विप्रयोगकी स्नेहात्मिका अनुभूतिमे पुष्टिजीवका कृश होना तो परमपुष्टि है —"तिहारे सेवक ऐसे कृश क्यो? वरजे हते पर मारगमे आये ताको फल पाय रहे है!" यह कृशता तो पुष्टिभक्तिके स्थायिभावका एक रोचक सञ्चारिभाव है अत रसवर्धक भी है पर भक्तिके स्थायिभावके विपरीत चिन्ता या उद्वग रसाभास पैदा करते है. रसाभास पैदा करनेवाले चिन्ताके इन्ही विविध प्रकारोमे से कुछ प्रकारोको यहा सूचित किया गया है श्रीमहाप्रभु पुष्टिभक्तके मानसको इनसे दूषित होनेसे बचाना चाहते है ताकि कृष्णसेवा तनु-वित्तजासे मानसी सेवाके रूपमे विकसित हो पाये —आत्मनिवेदनका बीजभाव भगवत्प्रेममे अकुरित हो पाये— भगवदासक्तिमे पल्लवित हो पाये और अन्तत भगवद्-व्यसनमे वह फलित हो जाये।

प्रस्तुत सस्करण वि स १९८१ मे श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास सोकलिया द्वारा सम्पादित-प्रकाशित सस्करणका ऑफसेट प्रॉसस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है इस पुन प्रकाशनके अवसरपर हम इन महानुभावोका कृतज्ञापूर्वक स्मरण करते है.

તેવા જ કોઈ બાલકે લાલૂભટ્ટજીની માફક પોતાને અસંગતિ પ્રતીત થતા અર્થ ઘટાવવાને આ પંક્તિ ઉમેરી પણ હોય ગમે તેમ હોય તો પણ આ કૌંસની પંક્તિથી પ્રકાશનો અર્થ બંધ બેસી રહે છે, અને તેથી લાલૂભટ્ટજીનો પ્રયત્ન ઐતિહાસિક દૃષ્ટિએજ ઉપયોગી લાગે છે

૪ નવરત્નના યાવત્પ્રાપ્ય સંસ્કૃત સાહિત્યનો સંગ્રહ કરી શોધી અત્ર પ્રકટ કર્યું છે શ્રીગુસાંઈજીનો નવરત્નપ્રકાશ પ્રાચીન શુદ્ધ દશેક પ્રતિ ઉપરથી શોધી પ્રકટ કર્યો છે શ્રીપુરુષોત્તમજીની નવરત્નપ્રકાશવિવૃતિ તથા કાકા શ્રીવલ્લભજીની નવરત્નપ્રકાશ ટીકા પણ બહુ સારી પ્રાચીન પ્રતિઓના આધારે શોધી છપાવી છે શ્રીમુરલીધરભટ્ટજીની ટીકા માત્ર બે પ્રતિ ઉપરથી છપાવી છે આ ટીકાની શોધમા અમે બહુ શ્રમ લીધો છે, તો પણ અમને તન્મુદ્રણમા સંતોષ થયો નથી આ શ્રીમુરલીધરભટ્ટજી કોણ અને ક્યારે થયા તે પણ અમને જ્ઞાત થયુ નથી આ સંસ્કૃત સાહિત્ય અમને પ ગટ્ટૂલાલજીના પુસ્તકસંગ્રહમાથી, પોરબંદરવાલા શ્રીરણછોડલાલજી, સુરતવાળા શ્રીવ્રજરત્નજી, શાસ્ત્રીજી મુખ્યાજી ગોકુલદાસજી તથા શાસ્ત્રી ચીમનલાલ આદિ તરફથી મળ્યુ છે આ સર્વનો અમારા ઉપર પરમ ઉપકાર થયો છે

૫ શ્રવણ કર્યું છે કે શ્રીગોકુલેશે નવરત્ન ઉપર ટીકા લખી છે, તથાપિ તેનુ દર્શન કરવાનુ સૌભાગ્ય અમને ક્યાહિ પણ થયુ નથી સંભવ છે કે શ્રીગુસાંઇજીની વિવૃતિમા આપે ક્વચિત્ ઉમેરો કર્યો હોય આવો કોઇ ઉમેરો એ વિવૃતિમા પાછળથી થયો છે એમા તો સંદેહ નથી એવો એક ઉમેરો જે અમને મળ્યો તે અમે ટિપ્પણમા સૂક્ષ્મ અક્ષરમા છાપ્યો છે.

૬ દ્રવ્ય આપનાર શેઠ કરાણી તથા ઉપર જણાવેલા શ્રીગોસ્વામિ બાલકો તથા વિદ્વાનોના સાહાય્યથી આ પરમ પ્રેમ અને પરિશ્રમથી સિદ્ધ થયેલો ગ્રન્થ શ્રીમત્પ્રભુચરણ કમલમા સમર્પીએ છીએ

હોલીોત્સવ
૧૯૮૧
મુબઈ

મૂલચન્દ્ર તેલીવાલા.
દેવેંલાલ સાંકલીઆ.

॥ श्रीकृष्णाय नम ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नम ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नम ॥

नवरत्नम्।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभि कदापीति[1]।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥१॥
निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनै ।
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छात करिष्यति ॥२॥
सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थिति ।
अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥३॥
अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।
यै कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥४॥
तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।
विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरि स्वत ॥५॥
लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।
पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिला ॥६॥
सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं[3] वा हरीच्छया ।
अत सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥७॥
चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥८॥
तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्ण शरणं मम ।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मति ॥९॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितं नवरत्नं समाप्तम् ॥

---

१ इति रहितोऽपि पाठ क्वचित्। २ च इति श्रीमुरलीधरभट्टसम्मत पाठ। ३ अबाधनम् इति वैकल्पिकच्छेदोऽपि। ४ एव इत्यपि पाठ श्रीप्रभुचरणानामिष्ट। श्रीमुरलीधरभट्टानां तु 'एव' इत्येव।

श्रीकृष्णाय नमः ।

नवरत्नम् ।

श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पदाम्बुजरेणवः ।
स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् प्रभून् श्रीविठ्ठलेश्वरान् ।
नवरत्नप्रकाशे याम्तद्वाचस्ता उपास्महे ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः सिद्धान्तरहस्ये आत्मनिवेदिनामुत्तरपूर्वाघाश्लेषविनाशोपायस्य भगवतोक्तत्वेपि तत्रोक्तस्य प्रकारस्य भोगसाधकतया अलौकिकभोगानुगुणत्वमेव, न तु सेवायास्तत्प्रतिबन्धकनिवर्तकत्वमपीति तदभावे सेवाया आधिदैविकीत्वाभावं तस्मिन् सति तत्प्रवणचेतोरूपमानसीसेवाया असंभवं चालोच्य, कालप्रारब्धस्वभावैरभीक्ष्णं जन्यमानानामुद्वेगादीनां निवृत्त्यर्थं सेवाफलग्रन्थविवरणे च 'सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्य' इति लौकिकभोगनिवृत्तौ तत्स्वरूपविचारस्यैव तन्निवृत्त्युपायत्वेनोक्तत्वात् साधारणप्रतिबन्धनिवृत्तौ च तत्र 'आद्यो बुद्ध्या त्याज्य' इत्यनेन बुद्धिमात्रस्यैवोपायत्वेन कथनादुद्वेगनिवृत्तौ च कस्यापि साधनस्याकथनात्, किञ्चित् साधनं बुद्धिविशेषरूपं वक्तव्यम्, यद्यपि अतत्त्वनिर्धाराविवेकयोः प्रतिबन्धसाधकत्वकथनेन तत्प्रतियोगिनोस्तत्त्वनिर्धारविवेकयोः सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिसाधनत्वं सूचितम्, तथापि तत्त्वनिर्धारस्वरूपस्य सङ्क्षेपतः कुत्राप्यनुक्तत्वाद्विवेकधैर्याश्रये विवेकस्वरूपस्योक्तत्वेपि आश्रयशेषत्वेनोक्ततया सेवाशेषत्वेनानुक्तत्वात् सेवाया आधिदैविकीत्वसम्पत्त्यर्थं प्रतिबन्धकत्रयनाशहेतुं सङ्क्षेपेण वदिष्यन्तो, हेतुनाशे कार्यनाशात् तद्धेतुभूतचिन्तानाशकमुपायमुपदिशन्तीत्यनुसन्दधानाः श्रीमत्प्रभुचरणाः नवरत्नं व्याचिकीर्षन्तः, तत्र चिन्ताया अकरणस्य आज्ञसत्वात् स्वभावतः प्राप्तायाश्चिन्ताया अनिवार्यत्वात् तत्स्वरूपमन्यन्निश्चित्य तन्निवृत्त्युपायमुपदिशन्तो मङ्गलमाचरन्ति चिन्तेत्यादि । चिन्ताशब्दः स्मरणाख्ये मनोव्यापारे योगरूढः । चिति स्मृत्यामित्यतो भावेऽङि कृते चिन्तापदसिद्धेः । 'स्याचिन्ता स्मृतिराध्यान'मिति कोशाच्च । सा तु प्रयत्नमन्तरेणापि, सदृशादृष्टचिन्ताद्यैः तद्बीजबोधकैः तदा तदा सम्भवन्ती न निवारयितुं शक्या । किञ्च, तस्याः सर्वस्या अकरणे 'निवेदनं तु स्मर्तव्य'मित्यग्रिमग्रन्थस्यापि विरोध इति सात्र न निषिध्यत्वेन विवक्षिता, किन्तु शास्त्रेषु प्रस्तूयमाने विचारे 'अथेदं चिन्त्यत' इत्यादिप्रयोगदर्शनाद्विचारापरनामा सप्रयत्नः स्मरणविशेषश्चिन्ता, तस्या अपि योऽन्यस्याविशेषकृतोऽवान्तरवि-

१. विचारयितुमिति पाठः ।

ननु भगवदीयाना कथ चिन्तोद्भव' । इत्थम् । आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हा, नेतरे । तत्र चैहिकपारलौकिकयोरर्थयोर्नावशिष्ट किञ्चिदसमर्पितम् । एव सति देहादिनिर्वाह' केन कार्य', किं निवेदितार्थेन, उत इतरेण वा । तत्र नाद्य । तदीयार्थस्य तदिच्छा विना ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् । वस्तुतस्त्विच्छायामपि सत्या तदुपयोगोऽनुचितः सेवकस्य । न च तदीयाना देहादीना तदीयार्थेन पोषण न दोषायेति

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

शेष, 'एवमायन्नस्य मे किं स्या'दित्याकारक, सोऽत्र चिन्तापदेन परामृश्यते । तस्या सन्तान॰ परम्परा, तद्धन्तारो निवारका यत्तदाम्बुजरेणवस्तान् निजाचार्यान् मुहुर्मुहु' यदा यदा तत्सम्भव, तदा तदा तन्निवृत्त्यर्थं प्रकर्षेण कायवाङ्मनसेन नमामीत्यर्थ । तेन तदीयाना प्रथमत इदमेव तन्निवृत्तिसाधनमिति बोधितम् ।

अत पर व्याख्येयग्रन्थे चिन्ताया अकरणस्य निवेदितात्मधर्मत्वेनोक्तत्वाद्ब्रह्मसम्बन्धकरणरूपस्य निवेदनस्य चात्र भगवद्धर्माचरणाधिकारत्वेन विवक्षितत्वात् तेन भगवदीयत्वे सति यथा चिन्तोद्भवस्त प्रकारं ग्रन्थावतरणाय पृच्छन्ति नन्वित्यादि । सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वदोषनिवृत्तेरसमर्पितवर्जनेन च भाविदोषासंसर्गस्य व्यवहारानुरोधिगौणधर्मोपदेशेन लौकिकालौकिकनिर्वाहप्रकारस्य चोक्तत्वात् तद्रीत्याऽभीक्ष्ण भगवन्तमनुसन्दधानानामैहिकामुष्मिकचिन्ताहेतोर्निरस्तत्वात् केन प्रकारेण चिन्तोद्भवो यन्निवृत्त्यर्थं नवरत्नकरणमित्यर्थ । एव साभिप्रायप्रश्नमुखेन तादृशा चिन्तोद्भवे आक्षिप्ते तेषा यादृशचिन्तोद्भवस्त प्रकार वक्तु निवेदनस्याधिकाररूपतायास्तत्प्रकारस्य च कुत्रापि प्रकरणग्रन्थेष्वनुक्तत्वात्तत्प्रकारकथनादिना तदावश्यकत्व च द्रढीकर्तु येषा न लौकिकी चिन्ता, ते भगवदीया इति तेषा स्वरूपबोधनाय प्रथमत पुर स्फूर्तिक चिन्तोद्भवप्रकार वदिष्यन्तस्तत्र हेतु विकल्पयन्ति इत्थमित्यादि । तथाच । सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या चिन्ताया असम्भवेपि शरीरादियात्रानिर्वाहप्रकारस्य तत्रानुक्तत्वा'दनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना पर्युपासते । तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यह'मिति भगवदुक्ते निर्वाहप्रकारे प्राप्तस्योक्तविकल्पात्मकहेतोर्वेशाच्चिन्ता सम्भवतीति तन्निवृत्त्यर्थं ग्रन्थकरणमित्यर्थ । एव सम्भवहेतु विकल्प्याद्य परिहरन्ति तत्रेत्यादि । आद्य निवेदितेनैव निर्वाह कार्य इति पक्षो न युज्यते । तत्र हेतुस्तदीयार्थस्येत्यादि । नन्वेकादशोनविंश आत्मनिवेदिना धर्मा 'श्रद्धामृतकथाया म' इत्यादिनोपदिष्टा, ते च शरीरस्थितिमन्तरेणानुपपद्यमानास्तद्धेतुमाक्षिपन्तो निवेदितेनैव निर्वाहमाक्षिपन्तीति नेच्छाया ज्ञातुमशक्यत्वमित्यत आहु वस्तुत इत्यादि । अनुचित इति । भगवद्वाक्यतात्पर्यज्ञानाभावादनुचित । सेवकस्येति । हेतुगर्भं विशेषणम् । तथा चेच्छाज्ञानेपि प्रत्यक्षाज्ञाभावेन स्वतस्तथाकरणे भक्तिमार्गविरुद्धस्य स्वातन्त्र्यस्य सम्भवादनुचित इत्यर्थ । पुन प्रकारान्तरेणौचित्यमाशङ्क्य परिहरन्ति न चेत्यादि । दोषावहत्वादिति । देहादेर्भगवदीयत्वेपि तत्र स्वत्वाभिमानस्यानपेतत्वेन

चान्यम् । स्वतस्तथाकृतेर्दोषावहत्वात्तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादित्युक्तम् । न द्वितीयः, अस्वधर्मत्वात् । निवेदितस्यार्थस्य स्थित्याद्यर्थं स्वस्य विचारस्याप्यनुचितत्वात् । तदभिमाने तत्सम्भवात् । एवं सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात्तद्वैयर्थ्यापातः । मार्ग एव चायमुच्छिद्येत । अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतःपाशा रज्जुरिति चेत् । अत्र वदामः । 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् । एवं

श्रीम पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

तथात्वादित्यर्थः । द्वितीयं परिहरन्ति न द्वितीय इत्यादि । तत्र हेतुः अस्वधर्मत्वादिति । तदुपपादयन्ति निवेदितस्येत्यादि । भगवता ह्यात्मसमर्पणमिदं स्वत्वाभिमानत्यागार्थमेवाधिकारिविशेषणतयोपदिष्टम् । तत्पूर्वकमेव सेवाकरणस्य महद्भिर्मृग्यमाणत्वेनोत्कृष्टकारणत्वात् । अन्यथा अत्रोक्तानां पूर्वमेकादशाध्यायेष्युक्तत्वादत्रोक्तेषु विशेषाभावे उत्कृष्टकारणत्वप्रतिज्ञानं विरुद्धं स्यात् । उत्कृष्टत्वं त्वनान्यथासिद्धत्वमेव । नत्वन्यत् । तथा सति पूर्वोक्तेष्वेतत्कारणत्वाभावप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । तथा सत्येतेषु परत्वोक्तेर्विरोधप्रसङ्गादिति । अतो यथान्यस्मिन्निवेदितेऽयं नाभिमन्यते, तथा देहादावपि युक्तम् । तद्यद्यनिवेदितेन देहादिनिर्वाहं चिन्तयेत्, तदा स्वत्वाद्यभिमानदार्ढ्यापत्त्या स्वस्वधर्मो बाध्येतेति स्वधर्मविरोधेन तथात्वादित्यर्थः । एवं हेतुद्वयं परिहृत्य यथाचिन्तोद्भवस्तं प्रकारमाहुः एवं सतीत्यादि । एवं देहादिनिर्वाहप्रकारद्वये बाधिते सति देहादेस्तथात्वेन भजनासम्भवान्निवेदनवैयर्थ्यं पुष्टिमर्यादात्मकभक्तिमार्गोच्छेदश्चेति भगवता भक्त्यधिकारवाक्यं भक्तिपरमकारणवाक्ये किमभिप्रायेणोक्तम् । ततश्च तदर्थज्ञानासम्भवे तदुक्तकरणस्यापि व्यर्थत्वात्कथं परमभक्तिलाभ इत्येवं तत्सम्भव इत्यर्थः । एवं चिन्तासम्भवव्युत्पादनमुखेनात्मनिवेदनस्यावश्यकत्वे आक्षिप्ते प्रमाणपुरःसरं तदावश्यकत्वं साधयन्त उभयतःपाशं परिहरन्ति अत्रेत्यादि । इह दारानितिवाक्यमेकादशे प्रबुद्धेन 'तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद्गुर्वात्मदैवतम् । अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरि'रिति भगवत्तोषहेतून् धर्मानुपक्रम्य तत्र पठितम् । दारादीनालक्ष्य यत् परमेश्वराय निवेदनं तदुपयोगितया समर्पणं तत् शिक्षेदिति तत्रपदसम्बन्धाद्दारादिनिवेदनस्य भगवत्तोषहेतुत्वं बोधयति । द्वितीयं तु भगवता भक्तिपरमकारणमुपक्रम्य तदधिकारिविशेषणबोधनाय पठितमिति तत्र तदावश्यकतां बोधयति । आदिपदेन 'दासेनात्मनिवेदन'मिति भगवद्वाक्यं स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन चेति चत्याचारबोधकवाक्यं च सङ्गृह्यते । अत एतादृशैर्वाक्यैः स्वस्वर्वस्वसहितात्मसमर्पणं भक्तिमार्गं आवश्यकम् । तत्र हेतुर्दृष्टान्तश्च साक्षादित्यादिना स्फुटीक्रियते । न'चैव धर्मै'रितिवाक्ये स्वकृतधर्मापेक्षया मनुष्यत्वस्य पूर्ववर्तित्वेन तत्र तेषां हेतुतयाऽनन्वयेप्यात्मनिवेदिनामिति तद्विशेषणं प्रति हेतुत्वस्य सुवचत्वात्तत्रैव तेषां हेतुत्वं तस्य भक्तिं प्रतीतिप्रतीतेः स्फुटत्वादात्मनिवेदनस्य धर्मकरणं प्रत्यधिकारत्वमयुक्तमिति शङ्क्यम् । साक्षात् क्रियान्वयं विहायैवं कल्पने बीजाभावात् । मर्यादा तत्रोपक्षये आत्मनिवेदनोत्तरं तदकरणप्रसङ्गात् ।

१ स्वस्य धर्म इति पाठ ।

धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यत' इत्यादिवाक्यैस्तदावश्यकम्, साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारवत् । (निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्ध्यर्थमावश्यकव्यवहारार्थं निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः ।)[1] अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदनेऽकृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरं च । दाने हि न स्वविनियोगो, न तु निवेदने । अन्यथा निवेदितान्नादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

दास्येनात्मनिवेदनस्य प्रागुक्तत्वेन दास्यापेक्षया न्यूनश्रद्धादिधर्मजन्यात्मनिवेदनस्यात्र परत्वोक्तेर्धीजानुपलम्भाच्च । तस्मादात्मनिवेदनस्याधिकारत्वायैवैवमुक्तिरिति निश्चय इति बोध्यम् । तथा च त्रैवर्णिकत्वेन सत्यामपि स्वरूपयोग्यतायामुपनयनं विना वैदिककर्मणि यथा नाधिकारः, तथा 'देवोऽसुरो वे'ति 'को नु राजन्निन्द्रियवा'निति च वाक्यात् स्वरूपयोग्यत्वेपि निवेदनं विना विवक्षितभक्तौ नाधिकार इति सिध्यति । एवं निवेदनस्वरूपस्यानवगमे भजनासिद्धिं स्फुटीकुर्वन्ति अन्यथेत्यादि । यदि भगवद्वाक्यस्थे आत्मनिवेदिपदे दारायात्मा न सङ्गृह्येत, तदा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तया तदात्मनिवेदने अकृते तस्या आत्मनिवेदित्वाभावादनधिकारेणाग्रे सेवायां तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिरत उक्तरीत्या तज्ज्ञानमावश्यकमित्यर्थः । तथा च यथा गायत्र्युपदेशजनित उपनयनसंस्कारः प्रतिपुरुषं भवंस्तस्य तस्य वैदिककर्मोपकारकदेहादिनिर्वाहप्रयोजकभिक्षादिकर्मणां न प्रतिरोधकः, तथोक्तरीत्या निवेदनरूपः संस्कारोपि भजनोपकारकदेहादिनिर्वाहप्रयोजकस्य निवेदितोपयोगस्य न प्रतिरोधक इति नोभयतःपाशारज्जुरित्यर्थः । अत्र दारपदं चेतनयोः पुत्रास्तयोरप्युपलक्षकम् । उत्तरक्षणपदं चावश्यकत्वपरम् । न त्वव्यवहितोत्तरत्वपरम् । अशक्योपदेशत्वापादकत्वात् । अथवा । उत्तरक्षण एव तद्वैयर्थ्यापत्तिरिति योजना, तेन न कोपि दोषः । एवं चोक्तवाक्यद्वयविचारे दारादिनिवेदनं स्वात्मना सह क्रियमाणं पृथक् धर्मरूपम्, दारादिभिः स्वयं क्रियमाणं त्वधिकाररूपमिति सिध्यतीति । एकेन स्वसर्वस्वनिवेदने तेषां निवेदितत्वेपि तेषां स्वस्वसंस्काराय पृथक् तत्करणं युज्यते । तस्मात्सुष्ठूक्तं अन्यथा तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिरिति । ननु भवत्वेवमिच्छाज्ञानेनोभयतःपाशनिवृत्तिः, तथाप्याज्ञाऽभावे स्वतस्तथाकरणे यो दोषः, स कथं निवर्तेतेत्यत आहुः अपरं चेत्यादि । दानं नाम स्वत्वपरित्यागपूर्वकः परस्वत्वोत्पादनानुकूलः, 'तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम', इत्यादिशब्दाभिव्यङ्ग्यो मनोव्यापारः । तस्मिन् कृते सति हि निश्चयेन न स्वविनियोगः । दत्तापहारदोषोत्पादकत्वात् । निवेदनं तु तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः 'तुभ्यं समर्पयामि, निवेदयामी'त्यादिशब्दाभिव्यङ्ग्यस्तद्विलक्षणो मनोव्यापारः । तस्मिन्कृते तु न स्वविनियोगो दोषाय । दत्तापहारदोषानुत्पादकत्वात् । तत्र गमकमाहुः अन्यथेत्यादि । यदि स्वत्वत्यागपरस्वत्वोत्पत्त्यानुकूल-

१. () नास्ति बहुपुस्तकेषु ।

निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा, दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैः । आत्मशोधकत्वाच्च । किन्तु प्रभौ निवेदितार्थस्य विनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो, नवेति भवति चिन्ता । *तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च । 'त्रैवर्गिकायासे'तिवाक्यात् भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च तत्र स्यात् । अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम् । एवंभूतान् स्वानुपदिशन्ति चिन्ता क्वापि न कार्येति ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

योर्दाने निवेदने च तुल्यतायामपि कश्चिद्विशेषो न स्यात्, तदा पुराणेष्वनिवेदितस्य निषिद्धत्वान्निवेदितान्नादेर्भोजनं नोक्तं स्यात् । तदुच्यते । तथा हि । हरिभक्तिसुधोदये स्कान्दे 'नैवेद्यशेषं तुलसीविमिश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम् । योऽश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम् । षड्भिर्मासोपवासैस्तु यत्फलं परिकीर्तितम् । विष्णो-र्नैवेद्यसिक्थेन तत्फलं भुञ्जतः कला'मिति । गारुडे च 'पादोदकं पिबेन्नित्यं नैवेद्यं भक्ष-येद्धरेः । शेषाश्च मस्तके धार्या इति वेदानुशासन'मिति । ब्रह्माण्डे च 'पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्नपानाद्यमौषधं । अनिवेद्य न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम् । अनिवेद्य [illegible] भुञ्जानः प्रायश्चित्ती भवेन्नरः । तस्मात्सर्वं निवेद्यैव विष्णोर्भुञ्जीत सर्वदे'ति । पद्मपुराणेपि गौतमः 'अम्बरीष गृहे पक्वं सदाभीष्टं यदात्मनः । अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्तजन्मानि नारकी । अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम् । कृत्वा विष्णूपभोग्यं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवै'-रिति । श्रीभागवते षष्ठस्कन्धे दितिपुंसवनव्रते रामस्यध्याये 'उद्वास्य देवं स्वे धाम्नि तन्निवेदितमग्रतः । अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामाप्तये तथे'ति । तेन सिद्धमाहुः निवेदि-तानामित्यादि, शोधकत्वाच्चेत्यन्तम् । तथा चैवं भगवद्दत्तप्रसादत्वेन तन्निवेदितग्रहणस्य दासधर्मत्वे सिद्धे आत्मसत्त्वसामर्थ्यादेव सिद्धमिति न भक्तिमार्गविरुद्धस्य स्वातन्त्र्यस्यापत्ति-रित्यर्थः । नचोक्तवाक्येषु 'त्वयोपभुक्ते'ति वाक्ये च अचेतनानामेव प्रसादत्वेनोपयोग-स्योक्तत्वाद्दारादीनां विनियोगे दोषः स्यादेवेति शङ्क्यम् । पाकादिसेवायां विनियोगस्य तेषामपि सिद्धत्वेनादोषादिति । एवं चैतावता ग्रन्थेन सिद्धान्तरहस्योक्तमेव सर्वं निर्धारितं ज्ञेयम् । तेनात्र न तदुक्तविचाराचिन्तासम्भवः, किन्तु प्रकारान्तरेणेति बोधितम् । अतः परं तत्संभवप्रकारं वदन्तो ग्रन्थमवतारयन्ति किन्त्वित्यादि । व्याकुर्वन्ति लौकिके-

---

* (किंच । तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भव इत्यारभ्योक्तचिन्ताभावायेदमत्र विचार्यते । सेवार्थं यत्नकरणे बाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिबन्धश्च न सम्भवति । तस्य सेवाङ्गत्वेन तत्पूरकत्वात् तदकरणे तदसम्भवाच्च । नच 'त्रैवर्गिका या से'ति वाक्यात्तत्र भगवत्कृत प्रतिबन्ध इति वाच्यम् । त्रैवर्गिकपदवैयर्थ्यापत्तेः । अन्यथा आयासविघातमित्येतावतैव चारितार्थ्यं स्यात् । अत स्वकीयानां त्रैवर्गिकायासविघातमेव भगवान् करोति, न स्वसेवार्थकायासविघातमिति निश्चीयते । अन्यथा यजमानस्य निषेधे भजनमार्ग एवोच्छिद्येत । नन्वात्म-

---

१. विहान्तर्गतं टिप्पणं पाश्चात्य प्रक्षेपमिति प्रतिभाति । २. दिनियोक्तेति पाठ ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

लौकिकतदभावेपि भगवदर्थापि सा न कार्या । एतदाहुः कापीतिशब्देन । अङ्गीकारेणैव सर्वं स्वत एव करिष्यतीति विश्वासो यतस्तस्यावश्यकः । भगवतोपि तथानियमः । कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते, तदापि न कार्येत्याहुः कदापीति-

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

त्यादि । सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या तन्निष्कर्षजनकपूर्वोक्तविचाररीत्या च लौकिक्याश्चिन्ताया अभावेपि पूर्वोक्तरीत्या भगवदर्थापि सा न कार्या ।[1] तत्र हेत्वपेक्षायां निवेदितात्मपदेन भगवानपीत्युत्तरार्धेन च सूचितं हेतुद्वयं व्याख्यानमुखेन स्फुटीकुर्वन्ति अङ्गीकारेणैवेत्यादि, आवश्यक इति । महास्त्रघातकन्यायादावश्यकः । एतेन निवेदितात्मपदसूचितो हेतुर्विवृतः । द्वितीयं विवृण्वन्ति भगवतोपि तथा नियम इति । अङ्गीकृतपालननियमः । योगक्षेमवहनवाक्येनैव तथा सिद्धत्वादित्यर्थः । [यदि तूत्तरार्धस्याग्रे व्याख्यातत्वादेतस्य पूर्वशेषत्वमङ्गीक्रियते, तदास्यार्थिकत्वं ज्ञेयम् । वस्तुतस्तूत्तरार्धे व्याख्यानेपि महापुरुषेण निवेदितेन पूर्वार्धोक्ते हेतोरप्युक्तत्वात्पूर्वार्धेप्युत्तरार्धयोरङ्गीकारो न दुष्ट इति ज्ञेयम् ।][3] तत्रापि विशेषं वदन्तीत्याहुः[2] कदाचिदित्यादि । कदापीतिपदेनेति । कदाशब्दापिशब्दाभ्यां युक्तमिति पदं तेनेत्यर्थः । प्रकारद्वयान्यतरेण विलम्बेपि चिन्ताया अकरणे एतावेव हेतू इति ज्ञापनायान्ते इतिपदोक्तिः । तथा चानेतिपदयुतात्पाठादुपगीतिश्छन्दः । 'आर्याद्वितीयकेर्धे यद्गदितं लक्षणं, तत्स्यात् । यद्युभयोरपि दलयोरुपगीतिं तां मुनिर्बूते' इति वृत्तरत्नाकरे तल्लक्षणादुदाहरणाच्च । यदा त्वितिशब्दरहितः पाठः, तदा त्विदं वृत्तिगन्धिचूर्णिकेति न किमपि छन्दः । (वृत्तिगन्धिचूर्णिकालक्षणं तु छन्दोमञ्जर्यामुक्तम् । 'अपादं पदसन्तानो गद्यं तत्तु त्रिधा मतम् । चूर्णिकोत्कलिकाप्रायवृत्तिगन्धिप्रभेदतः ॥ अकठोराक्षरं स्वल्पसमासं चूर्णकं विदुः । भवत्युत्कलिकाप्रायं समासाढ्यं दृढाक्षरम् । वृत्तैकदेशसम्बन्धाद्वृत्तिगन्धि पुनः स्मृतम् ॥) तदा हेतुरर्थोक्त एव ।

नन्वस्तु सत्यं भगवान् स्वाज्ञाकारित्वे जीवेऽवलोक्यापेक्षितपूरणेन योगक्षेमं भगवदर्थं लौकिकार्थं च निर्वाहयति, तथापि प्रथमं जघन्याधिकारे भगवांस्तथा निर्वाहयेन्नवेति

[4] निवेदितात्मनिरयत्नासम्भवत त्वनिनिचिन्ताऽभावात् कथं चिन्ता न कार्येत्युपदेश इति चेत् । अत्रेदं प्रतिभाति । भजनमार्ग हि भगवदाज्ञाकारित्रिविधं । पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन । तथापि वै त्रैविध्यम् । तत्र पुष्टिपुष्टानङ्गीकृतस्य भजनयत्नगर्भभावनापि । परं मर्यादापुष्टौ प्रवाहपुष्टौ चाङ्गीकृतस्य तत्करणे मर्यादाप्रवाहाद्या, तद्विघातं पुष्टयश । तथा चात्मनिवेदिना मर्यादाप्रवाहसंवलिताना यथेतरयत्ने कृते बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धतद्विघातादिकं भवति तथा सेवाथत्नेपि यत्ने भविष्यतीति भवति चिन्ता, अतस्तदभावाय तान् प्रति **चिन्ता कापि न कार्येत्युक्तम्** । अत सेवार्थं यत्न कर्तव्य एवेति नानुपपत्तिः काचित् ।)

१ लौकिकीति पाठः । २ भोजनार्थमिति पाठः । ३ [ ] चिह्नान्तर्गतं बहुषु पुस्तकेषु नास्ति ।
४ ( ) टिप्पणं नास्ति बहुषु पुस्तकेषु ।

पदेन । ननु लोकवत् कुटुम्बाद्यासक्त्या स्वस्यापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्, तत्राहुः भगवानपीति । यत पुष्टिस्थोऽतो मर्यादामार्गीयवैराग्याद्यभावेपि 'महापुरुषेण निवेदिता' इति स्वकीयत्वेनाङ्गीकारात् तथा न करिष्यतीत्यर्थ ॥ १ ॥

एवं चेत्, स्वाच्छन्द्यव्यवहारापत्त्या बाहिर्मुख्य स्यादत आहु निवेदनमिति ।

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

चिन्ता स्यादेवेत्याशङ्का समादधते इत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति ननु लोकवदित्यादि । स्वस्यापीत्यनेन भगवान् परामृश्यते । गतिमिति । रीतिम् । तथा च यथा लौकिका प्रभवः सेवकस्य कुटुम्बाद्यासक्तिं दृष्ट्वा तत्कार्ये उदासते, तथा भगवानप्युदासीत, तदा किं कुर्यादित्यर्थ । व्याकुर्वन्ति यत इत्यादि । यतोऽयं जीव पुष्टिस्थ. भक्तिमार्गीयत्वाद्भक्तिकारणीभूतानुग्रहविषयोऽत एतस्मिन् मर्यादामार्गीयवैराग्याद्यभावेपि महापुरुषेणैतत्सम्बन्धिन. सर्वेपि निवेदिता इति तेष्वासक्तावलौकिको भगवान् यथा नारदवाक्यसत्यत्वाय नलकूबरमणिग्रीवावनुजग्राहेति दृष्टत्वात्, 'स्वयं समुत्तीर्ये'ति गर्भस्तुतिवाक्ये भक्तिमार्गप्रवर्तकाचार्यानुगृहीतेषु भगवदनुग्रहस्य सिद्धत्वाच, स्वाभीष्टमार्गप्रवर्तकाचार्यनिवेदितेषु स्वकीयत्वेनाङ्गीकारादुपेक्षा न करिष्यतीति भगवत्स्वभाव निश्चित्य, 'संसारचक्रे भ्रमत स्वकर्मभि'रितिन्यायेन क्लेशे स्वप्रारब्धस्य हेतुता चानुसन्धाय चिन्ता न कार्या । एव यथा वित्तजाया न कार्या, तथा तनुजायां शरीरसहायसीकर्याभावेपि न कार्येति बोध्यम् । अत्र दिङ्मात्रस्य प्रदर्शनादिति । लौकिकीं चेति मूले चकारोवधारणार्थ. क्रिययान्वेति । समुच्चयार्थत्वे त्वनुक्ता वैदिकीं गतिं समुच्चिनोति । यथा हि चाक्रायणस्यापद्गताविभ्यस्यादितकुल्माषभक्षण श्रूयते, तथात्र भक्तिमार्गीये काप्यश्रवणादस्मरणात् योगक्षेमप्रवहणवाक्याच । इद च 'सर्वान्नानुमति'सूत्रे स्थितम् ॥ १ ॥

अत परमत्र दोषोपस्थितिमाशङ्क्य परिहरन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति एवं चेदित्यादि । कुटुम्बाद्यासक्तावपि भगवानुपेक्षा न कुर्याचेत्, तदा नैवेद्यादिसम्पादनार्थं यत्न एव कर्तव्य, किमर्थं क्लेश सोढव्य इत्यादिविचारेण स्वच्छन्दव्यवहारापत्त्या नानाविध बाहिर्मुख्य स्यात् । अत एतादृशे सकटे उपायमाहुरित्यर्थ । व्याकुर्वन्ति सर्वदेत्यादि । आत्मनिवेदन हि सेवाधिकारार्थं संस्काररूपतया भगवतोऽभिप्रेतमिति पूर्वमुपपादितम् । तथा च तदुत्तर सर्वदा सेवाया एव करणात्सर्वांशे स्वस्य सपरिकरस्य सर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धाने बाहिर्मुख्य न भविष्यतीति भाव इत्यर्थ । नन्वत्र तुशब्देन निवेदनस्मरणस्यैव सर्वदा बोध्यत इति कथं तथा व्याख्यायते इत्याकाङ्क्षाया तुशब्द-

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः । अशक्त्या सेवाद्यसम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः । चकारपक्षे समुच्चयः । सर्वथेत्यस्यावश्यकत्वज्ञापनाय । अथवा । सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा । एतेन सङ्गदोषो निवारितः । अतादृशेष्वेतद्गोपनं सूच्यते । सर्वदेतिपाठे कालापरिच्छेदस्तत्रोच्यते । अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति भावः । कदाचिदलौकिकार्थस्य लौकिकस्य वा सिद्ध्यर्थं प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेत्याहुः सर्वेश्वर इति । अत्र सर्वशब्दो निवेदितात्मसर्वपरः । यथा 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्र निमन्त्रिता एव सर्वपदेनोच्यन्ते, न त्वन्येऽपि । सर्वात्मपदेऽप्येवं ज्ञेयम् । तेन सेवकाः सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गीकृतस्वामित्व आत्मीयत्वस्यमेव तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते । अथवा । कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोऽपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं कालादिपरम् । प्रार्थितोऽपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय निजेच्छेत्युक्तम् । अथवा । निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रभुरेच्छातः स्वयमेवापेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः । परन्त्विच्छया अविकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञापनायाव्ययप्रयोगः ॥ २ ॥

श्रीमधुरगोवमट्टकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

तात्पर्यमाहुः अशक्त्येत्यादि । तथा च अनुकल्पत्वबोधनाय तुशब्द इति न पूर्वव्याख्याने दोष इत्यर्थः । एतदेव द्रढयन्तु पाठान्तरं विवृण्वन्ति चकारेत्यादि । सर्वथेति पदं व्याकुर्वन्ति सर्वथेत्यादि । अस्येति । निवेदनस्य । ननु मुख्याशक्तावनुकल्पत्वादेशावश्यकत्वप्राप्तेर्नेदं व्याख्यानं युक्तमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि, सूच्यत इत्यन्तम् । अस्मिन् पक्षे सर्वथातादृशैरित्येकं पदम् । पाठान्तरं व्याकुर्वन्ति सर्वदेत्यादि । तत्रेति । निवेदनस्मरणे । एवं व्याख्यानद्वयेन सर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धानमुत्तमभगवदीयसङ्गेन दुःसङ्गवर्जनं दुष्टेष्वेतद्गोपनं चेति त्रयमुक्तम् । तथा च सर्वदैतत्करणे पूर्वोक्तदोषस्य न संसर्ग इत्यर्थः । अतः परं प्रारब्धेनातिक्लेशप्राप्तौ पूर्वोक्तत्रयस्यान्यतरस्य वाऽसम्भवे प्रभोश्च सानुभावतायां क्लेशनिवृत्त्यर्थं तत्प्रार्थनं कार्यं नवेति चिन्तायामुपायान्तरं वदन्तीत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति कदाचिदित्यादि । अर्थस्त्वतिरोहितः । प्रश्ने इति सप्तमी । व्याकुर्वन्ति अत्र सर्वेत्यादि । अस्मिन् पक्षे सर्वपदस्य वृत्तिसंकोच इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवा कालेत्यादि । निजेच्छात इति व्याकुर्वन्ति प्रार्थित इत्यादि । अस्मिन् पक्षे भगवतः कृपालुत्वं तिर इव भवतीत्यतः पक्षान्तरमाहुः अथवा निजा इत्यादि । नन्वेवं सति पूर्वं कुतोऽन्यथा व्याख्यातमित्यत आहुः परमित्यादि । *अविकृतत्वमिति । विकृतत्वं प्राकृतगुणक्षोभकृतलौकिकविषयत्वम्, तद्विलक्षणत्वमविकृतत्वम्* । तथा च जघन्याधिकारिणामिच्छाया विकृतत्वात्तदर्थं तथा पूर्वं व्याख्यातम् ।

---

१ येन सर्वांशे इति पाठः । २ सर्वे त्वन्येति पाठः । ३ सर्वदा इति पाठः । ४ आत्मत्वमिति पाठः ।

नन्तु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते, तत्राहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।
अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वस्याङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव **प्रभुसम्बन्धो**, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । इय

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

उत्तमाधिकारिणा त्विच्छाया अविकृतत्वादिदानीमेव व्याख्यातम् । अतो व्याख्यानद्वयम प्युचितमेव । अत्रायमर्थः । प्रार्थना हि प्रभोरसर्वज्ञत्वे उदासीनत्वे वाऽन्यत्वे वा उपयुज्यते । अत्र च स्वकीयसर्वेश्वरत्वात्कालादिसर्वनियामकत्वाच्च नासर्वज्ञत्वम् । नियमनस्य ज्ञानकार्यत्वात् । तत्तदात्मत्वाच्च नोदासीनत्वम् । स्वात्मत्वान्नान्यत्वम् । एवं सत्यपि यत् स्वीयक्लेशोपेक्षणम्, तत्किञ्चि'दासक्तौ भगवानेवे'ति न्यायेन स्वस्य भक्तस्य वा कार्यायैव । तत्र भगवत्कार्यार्थत्वे स्वस्यान्यथाप्रार्थनमपराधावहम् । भक्तकार्यार्थत्वे स्वस्यैवानिष्टोत्पादकम् । अत एतदुभयं विचार्य प्रार्थना न कार्या, किन्तु स्वस्याधिकारानुसारेण विवेकधैर्ये एव रक्षणीये इत्यर्थः । अत एव विवेकधैर्याश्रयेऽपि 'प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशया'दित्युक्तम् ॥ २ ॥

नन्तु पूर्वोक्ते विचार्यमाणे लौकिकालौकिकी सेवोपकरणविषयिणी चिन्ता न भविष्यति, तथापि वक्ष्यमाणरीत्या सेवाऽकरणविषयिणी धर्महानिचिन्ता तु भविष्यत्येवेति तन्निवृत्त्यर्थमग्रिम वदन्तीत्याशयेन तृतीयं श्लोकमवतारयन्ति नन्तु भगवत इत्यादि । **स्वधर्महानिचिन्ता बाधत** इति । स्वयं हि समर्पणक्रियायां कर्तृत्वेन प्रविष्ट इति सम र्प्यान्तरापेक्षया मुख्यश्चेतनश्चेति अचेतनस्य स्वाधिष्ठितस्य देहादेः सदा भगवत्येव विनियोगः कर्तव्य, तत्र च शरीरादिकं मुख्यम्, तेन सेवां चेन्न सर्वदा कुर्यात्, तदा तस्य स्वधर्मो हीयेतेति सा तथेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति स्वात्मनेत्यादि । **तत्रोपयोग** इति । स्त्रीपुत्रादिषु स्वदेहेन्द्रियविनियोगे । शेषोऽर्थस्तु स्पष्टः । तथा च यद्यपि समर्पण क्रियोत्पत्तिदशायां स्वस्य प्राधान्यम्, तथापि तदुत्तरदशायां स्वस्याप्यन्यतुल्यत्वात् यथा अचेतनानां वस्त्रादीनां भगवत्युपयोक्ष्यमाणानां परस्परं विनियोगे चिन्ताया अयोग, तथा चेतनाधिष्ठितानां स्वशरीरादीनामप्यचेतनानां परस्परं विनियोगे चिन्ताया अयोगः । भगवत्युपयोक्ष्यमाणत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । तत्र स्वत्वाभिमानं न्यग्भाव्य भगवदीयत्वेऽनुसहिते स्वधर्महान्यभावात् का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । नन्तु निवेदनेन सर्वेषां भगवदीयत्वरूपे सम्बन्धे तुल्येऽपि कस्यचिद्विशेषत सेवायां विनियोगो

---

१ शरीराणामिति पाठः ।

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः । अशक्त्या सेवाद्यसम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः । चकारपक्षे समुच्चयः । सर्वथेत्यस्यावश्यकत्वज्ञापनाय । अथवा । सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा । एतेन सङ्गदोषो निवारितः । असत्सङ्गेऽप्येतद्रोपनं सूच्यते । सर्वदेतिपाठे कालापरिच्छेदस्तत्रोच्यते । अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति भावः । कदाचिदलौकिकार्थस्य लौकिकस्य वा सिद्ध्यर्थं प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेत्याहुः सर्वेश्वर इति । अत्र सर्वशब्दो निवेदितात्मसर्वपरः । यथा 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्र निमन्त्रिता एव सर्वपदेनोच्यन्ते, न त्वन्येपि । सर्वात्मपदेप्येवं ज्ञेयम् । तेन सेवकाः सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गीकृतस्वामित्व आत्मीयत्वमेव तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते । अथवा । कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं कालादिपरम् । प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय निजेच्छेत्युक्तम् । अथवा । निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रभुरेच्छातः स्वयमेवापेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः । परन्त्विच्छाया अविकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञापनायाव्ययप्रयोगः ॥ २ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

तात्पर्यमाहुः अशक्त्येत्यादि । तथा च अनुकल्पत्वबोधनाय तुशब्द इति न पूर्वव्याख्याने दोष इत्यर्थः । एतदेव द्रढीकर्तुं पाठान्तरं विवृण्वन्ति चकारेत्यादि । सर्वथेति पदं व्याकुर्वन्ति सर्वथेत्यादि । अस्येति । निवेदनस्य । ननु मुख्याशक्तावनुकल्पत्वादेवावश्यकत्वप्राप्तेर्नेदं व्याख्यानं युक्तमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि, सूच्यत इत्यन्तम् । अस्मिन् पक्षे सर्वथातादृशैरित्येकं पदम् । पाठान्तरं व्याकुर्वन्ति सर्वदेत्यादि । तत्रेति । निवेदनस्मरणे । एवं व्याख्यानद्वयेन सर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धानमुत्तमभगवदीयसङ्गेन दुःसङ्गवर्जनं दुष्टेष्वेतद्गोपनं चेति त्रयमुक्तम् । तथा च सर्वदैतत्करणे पूर्वोक्तदोषस्य न संसर्ग इत्यर्थः । अतः परं प्रारब्धेनातिक्लेशप्राप्तौ पूर्वोक्तत्रयस्यान्यतरस्य वाऽसम्भवे प्रमोऽथ सानुभावतायां क्लेशनिवृत्त्यर्थं तत्प्रार्थनं कार्यं नवेति चिन्तायामुपायान्तरं वदन्तीत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति कदाचिदित्यादि । अर्थस्त्वतिरोहितः । प्रश्ने इति सप्तमी । व्याकुर्वन्ति अत्र सर्वेत्यादि । अस्मिन् पक्षे सर्वपदस्य वृत्तिसंकोच इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अथवा कालेत्यादि । निजेच्छात इति व्याकुर्वन्ति प्रार्थित इत्यादि । अस्मिन् पक्षे भगवतः कृपालुत्वं निर इव भवतीत्यतः पक्षान्तरमाहुः अथवा निजा इत्यादि । नन्वेवं सति पूर्वं कुतोऽन्यथा व्याख्यातमित्यत आहुः परमित्यादि । अविकृतत्वमिति । विकृतत्वं प्राकृतगुणक्षोभकृतलौकिकविषयत्वम्, तद्विलक्षणत्वमविकृतत्वम् । तथा च जघन्याधिकारिणामिच्छाया विकृतत्वात्तदर्थं तथा पूर्वं व्याख्यातम् ।

१ शेन सर्वांशे इति पाठः । २ सर्वात्मनेति पाठः । ३ सर्वदा इति पाठः । ४ अन्मत्वमिति पाठः ।

नतु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते, तत्राहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।
अतोन्यविनियोगेपि चिन्ता का स्वस्य सोपि चेत् ॥ ३ ॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वस्याङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभुसम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । इयं

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

उत्तमाधिकारिणां स्वेच्छाया अविकृतत्वादिदानीमेव व्याख्यातम् । अतो व्याख्यानद्वयमप्युचितमेव । अत्रायमर्थः । प्रार्थना हि प्रभोरसर्वज्ञत्वे उदासीनत्वे वाऽन्यत्वे वा उपयुज्यते । अत्र च स्वकीयसर्वेश्वरत्वात्कालादिसर्वनियामकत्वाच्च नासर्वज्ञत्वम् । नियमनस्य ज्ञानकार्यत्वात् । तत्तदात्मत्वाच्च नोदासीनत्वम् । स्वात्मत्वान्नान्यत्वम् । एवं सत्यपि यत् स्वीयक्लेशोपेक्षणम्, तत्किञ्चि'दासक्तो भगवानेवे'ति न्यायेन स्वस्य भक्तस्य वा कार्यायैव । तत्र भगवत्कार्यार्थत्वे स्वस्यान्यथाप्रार्थनमपराधावहम् । भक्तकार्यार्थत्वे स्वस्यैवानिष्टोत्पादकम् । अत एतदुभयं विचार्य प्रार्थना न कार्या, किन्तु स्वस्वाधिकारानुसारेण विवेकधैर्ये एव रक्षणीये इत्यर्थः । अत एव विवेकधैर्याश्रयेऽपि 'प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशया'दित्युक्तम् ॥ २ ॥

ननु पूर्वोक्ते विचार्यमाणे लौकिकालौकिकी सेवोपकरणविषयिणी चिन्ता न भविष्यति, तथापि वक्ष्यमाणरीत्या सेवाऽकरणविषयिणी धर्महानिचिन्ता तु भविष्यत्येवेति तन्निवृत्त्यर्थमग्रिम वदन्तीत्याशयेन तृतीय श्लोकमवतारयन्ति ननु भगवत इत्यादि । स्वधर्महानिचिन्ता बाधत इति । स्वय हि समर्पणक्रियायां कर्तृत्वेन प्रविष्ट इति समर्प्यान्तरापेक्षया मुख्यश्चेतनश्चेति अचेतनस्य स्वाधिष्ठितस्य देहादेः सदा भगवत्येव विनियोगः कर्तव्य., तत्र च शरीरादिकं मुख्यम्, तेन सेवां चेन्न सर्वदा कुर्यात्, तदा तस्य स्वधर्मो हीयेतेति सा तथेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति स्वात्मनेत्यादि । तत्रोपयोग इति । स्त्रीपुत्रादिषु स्वदेहेन्द्रियविनियोगे । शेषोऽर्थस्तु स्पष्टः । तथा च यद्यपि समर्पणक्रियोत्पत्तिदशायां स्वस्य प्राधान्यम्, तथापि तदुत्तरदशायां स्वस्याप्यन्यतुल्यत्वात् यथा अचेतनानां वस्त्रादीनां भगवत्युपयोक्ष्यमाणानां परस्पर विनियोगे चिन्ताया अयोगः, तथा चेतनाधिष्ठितानां स्वशरीरादीनामप्यचेतनानां परस्परं विनियोगे चिन्ताया अयोगः । भगवत्युपयोक्ष्यमाणत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । तत्र स्वत्वाभिमानं न्यग्भाव्य भगवदीयत्वेऽनुसंहिते स्वधर्महान्यभावात् का चिन्ता, न काषीत्यर्थः । ननु निवेदनेन सर्वेषां भगवदीयत्वरूपे सम्बन्धे तुल्येपि कस्यचिद्विक्षेपतः सेवायां विनियोगो

---

१ शरीराणामिति पाठः ।
२ ...

निवेदनेऽङ्गीकारमर्यादेत्याहु स्थितिरिति । कस्यचिद्विशेषतोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टिरिति भाव । अथवा । पुत्रादीनामन्यविनियोगदर्शनेपि स्वस्य का चिन्ता, तेषामप्यङ्गीकारेणैव कृतार्थतासम्भवादित्यर्थं । किञ्च । स्वस्येतिपदमावृत्तमपिशब्देन सम्बध्यते ॥ ३ ॥

यथा पुत्रादीनाम्, तथा स्वस्यापि स अन्यविनियोगश्चेत्, तदापि चिन्ता न कार्येत्याहु, अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।
यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

दृश्यते, कस्यचित् स्वस्य, कस्यचिन्न, तत्र हेत्वज्ञाने तु चिन्ता स्यादेवेति तस्या कथं निवृत्तिरित्यतस्तन्निवृत्तिप्रकार स्थितिपदेन वदन्तीत्याहु इयमित्यादि । तथा च तत्र पुष्टिं कारणत्वेनावधार्य चिन्ता न कार्या, किन्तु 'गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेने'ति न्यायेन सन्तोषो विधेय इति सुखेन तन्निवृत्ति । एकत्र विशेषदर्शनेऽप्यन्यत्र निवेदनकृतभगवत्सम्बन्धस्यानपायान्न कापि चिन्तेत्यर्थ । एवञ्चात्र वाक्यद्वय प्रतिभाति, सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येक न गुणप्रधानभावेन, अतस्तेषामन्यविनियोगे स्वस्य का चिन्तेत्येकम्, इति उक्तरूपा, स्थिति, निवेदनेऽङ्गीकारमर्यादा, इतो विलक्षणा तु पुष्टि, अत कस्यचिद्विशेषाङ्गीकारेऽपि चिन्ता केत्यपरम् । अत्राग्रिमवाक्ये स्वस्येति चेतनपरामर्शकपददर्शनात् पूर्ववाक्येपि सर्वेषामितिपदेन शरीराधिष्ठातॄणामेव परामर्शो युक्त, न तु चेतनाचेतनानां यावतामिति पूर्वव्याख्यानमयुक्तम् । किञ्च, भगवति समर्पितदेहादे स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगे स्वधर्महानिस्तदा स्यात्, यदि तेषां समर्पितत्व न स्यात्, समर्पितेषु विनियोगे तु 'निवेदिभि समर्प्यैव सर्वं कुर्या'दितिवाक्ये निवेदिना समर्पणस्य कथनेन तस्य च समर्पणस्य निवेदिना परस्परविनियोग एव सम्भवेन भक्तिमार्गमर्यादाबोधकादुक्तवाक्यादेव चिन्तोदयस्यासम्भव इति चारुत्या पक्षान्तरेण व्याकुर्वन्ति अथवा पुत्रेत्यादि । तथा च सेवासम्बन्धिना चेतनाना निवेदितव्यतिरिक्तससर्गविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्यर्थमयमुपदेश । पुत्रादीनामित्यादिपदेनाचेतनानामपि सग्रह । उत्तरपूर्ववाक्ययोरेकज्ञानीयमेव ग्राह्यमित्यत्र नियामकत्वस्याभावात् । पूर्वव्याख्यानोक्ता चिन्ता तु पुष्टिमार्गविचारात् । साम्प्रतिका [illegible] मार्गमर्यादात इति न कोपि दोष इत्यर्थ । स्वस्येत्यन्तस्य पदराशे पूर्ववाक्य एव सम्बन्धे शिष्ट सोपि चेदिति पदत्रयमलग्नक तिष्ठतीति, तत्सम्बन्धायाहु किञ्चेत्यादि ॥ ३ ॥

सम्बन्ध बोधयित्वा अर्थं वदन्तोऽग्रिममवतारयन्ति यथेत्यादि, स्वस्येति । अनुभावज्ञानेन स्वस्मिन् विशेषाङ्गीकार निश्चितवतो वा सेवाकर्तृत्वेन प्रधानस्य वा । इत्याहुरिति ।

१ निवेदिनोऽङ्गीकारेतिपाठ । २ नेति नास्ति । ३ विशेषतोऽङ्गीकारे इति पाठ । ४ सम्बन्धित्वेन करणेति पाठ । ५ न कोपि दोष इत्यन्तमधिकं क्वचित् ।

हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिश्चिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्णसात्कृतप्राणैश्चिन्ता न कार्येति किमु वाच्यमित्यर्थः । केवलं प्रभ्वधीनीकृतप्राणानां चिन्ताविषयाभावादेव न सेति भावः । अत एव केतिशब्द उक्तः । पदसम्बन्धस्तु अज्ञानादथवा ज्ञानाद्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा नेतिशेषः । कृष्णसात्कृतप्राणैर्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा केत्युक्तम् ॥ ४ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

इतिपदं कैमुतिकबोधकेनाग्रिमवाक्येनाहुरित्यर्थः । व्याकुर्वन्ति हीनेत्यादि । हीनमध्यमाधिकारिभिरिति । भगवतः सर्वरूपत्वेन मार्गप्रवर्तकोपदेशकगुर्वादिरूपतया निरवधिसच्चिदानन्दस्वरूपत्वेन परमफलतया निरुपधिभक्त्येकप्राप्यतयाश्चाज्ञानाद्दीनाधिकारिभिः । तादृशज्ञानवत्त्वेपि कृष्णसात्कृतप्राणत्वाभावेन मध्यमाधिकारिभिरित्यर्थः । शेषं व्याख्यानं तु स्पष्टार्थम् । तथा च स्वस्मिन् विशेषानुग्रहं निश्चितवतोपि यत्रान्यविनियोगसंभवः, तत्र भगवदिच्छैव किंचित्कार्यार्थं तादृशी तेनावधार्या, न तु चिन्ता कार्या, तन्मूलभूतस्य स्वापराधस्याभावादिति । तदेतदुक्तं केवलमित्यादिना, केति शब्द उक्त इत्यन्तेन । कैमुतिकन्यायस्य स्पष्टीकरणार्थं पदसम्बन्धमाहुः पदेत्यादि, सा केत्युक्तमित्यन्तम् । अनेदमुक्तं भवति । एकादशस्कन्धे साधुलक्षणकथनसमाप्तौ 'ज्ञात्वाऽज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः । भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः' इति भगवद्वाक्ये हीनमध्यमयोरप्यनन्यभावेन भजने भक्ततमतयोत्कर्षः कथितः । भगवदुद्धवसंवादसमाप्तौ च 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि । मया व्यवसितः सम्यङ् निर्गुणत्वादनाशिषः । यो यो मयि परे धर्मः कल्पते निष्फलाय चेत् । तदायासो निरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तमे'ति श्लोकद्वयं भगवतोक्तम् । तत्र श्रीधरीये, अङ्ग हे उद्धव, अनाशिषो निष्कामस्य मद्धर्मस्य उपक्रमे सति, अण्वपि ईषदपि वैगुण्यादिभिर्नाशो नास्त्येव । यतो मयैव निर्गुणत्वादयं धर्मः सम्यग्व्यवसितो निश्चितः, न तु मन्वादिमुखेन कथंचित् । ननु त्वद्धर्मस्य एवं सामर्थ्यम्, तस्मादन्यत्र कथम्, तत्राह यो य इति । अयमर्थः । किं वक्तव्यं मद्धर्मस्य न ध्वंस इति, यतो लौकिकोपि यो यो निरर्थो व्यर्थ आयासः, सोपि मयि परे परमेश्वरे निष्फलाय कल्प्यते चेत्, निष्कामतया अर्पितश्चेत्, तर्हि स धर्म एव स्यात्, कर्मकरणायासो न निरर्थः स्यात् । निरर्थायासे दृष्टान्तः । यथा भयशोकादेर्हेतोः पलायनक्रन्दनादिस्तद्वत् । एवं व्याख्यानम् । तथा च निष्काममगवद्धर्मस्य वैगुण्यादिभिरीषदपि नाशो नास्तीति भगवता कथनात् प्रकृते चात्मनिवेदनस्य अविकारतया तथात्वात् हीनाध-

नतु सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्येते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने कृतेपि प्रभुरङ्गीकृतवान्नवेति चिन्ता भवत्येव, इत्यत आहुः तथेति ।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।
विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तमोङ्गीकृतवान्नवेति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या उक्तनिवेदनवदित्यर्थ । पुरुषोत्तमेन निरोधलीलाया स्वतोन्यभजन क्रियमाणा भक्तास्तन्निवार्य स्वयमात्मसात्कृता इति तादृशे स्वय सर्वात्मना निवेदने कृते सा शङ्का नोचितेति ज्ञापनाय पुरुषो

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

धिकारेपि साधनत फलतश्च नाशाभावाच्चिन्ताया अभावो यत्र, तत्र मुख्याधिकारे किं वक्तव्यमिति भगवद्वाक्यादेव सिद्धम् । तथा भगवदर्थो लौकिकोप्यायासो नापार्थ इति च । अत पूर्वोक्त सर्वं युक्तमेवेति तेषामुक्तचिन्ताजन्या विलापात्मिका परिदेवना का, न कापीत्यर्थादेवोक्तमित्यर्थ ॥ ४ ॥

एव निवेदितविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्युपायमुक्त्वा इदानीं निवेदनविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्युपाय वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति ननु सख्येत्यादि । प्रेमभक्तौ हि विहितश्रवणादिनवक भक्तेक कश्चित् समुदित च साधनम्, तेष्वाद्य त्रय सेव्यनिरपेक्षजीवमात्रसाध्यम् । पादसेवनमपि ‘पादौ हरे क्षेत्रपदानुसर्पणे’ इति नवमस्कन्धवाक्योक्तरीत्या पद्भ्या सेवनमिति पक्षे पूर्ववदेव । पादयो सेवनमितिपक्षे तु सेव्यसापेक्षम् । तथैवार्चनादित्रयमपि । तथा सत्येतच्चतुष्टय त्रय वा सेव्ये चैतन्याप्राकट्येपि सिध्यति । सख्यात्मनिवेदने तु भजनीये चैतन्यप्राकट्यमपेक्षेते । यदि हि भजनीयो भक्ते सख्य तत्कृतमात्मनिवेदन च चैतन्यप्राकट्येनाङ्गीकुर्यात्, तदा भगवदङ्गीकारेण सम्पद्येते। तत्प्राकट्य तु प्रेमभक्त्यधीनम् । साम्प्रत तु तत्साधनदशा, तथा चेदानीं तत्प्राकट्याभावात् स्वयमित्यादिनोक्ता चिन्ता भवत्येव हीनमध्यमयोरित्यतस्तन्निवृत्त्युपायमाहुरित्यर्थ । व्याकुर्वन्ति पुरुषोत्तम इत्यादि । उक्तनिवेदनवदिति । मूलस्थस्य तथापदस्यार्थ । अत्र च सप्तम्यर्थे वति । तथा च यथा भगवद्धर्मोपक्रमरूपे निवेदनेऽन्यविनियोगादिना वैगुण्यतोपि भगवद्धर्मनाशाभावाच्चिन्ता त्यज्यते, तथा अङ्गीकारसन्देहरूपा निवेदनविषयिण्यपि सा त्याज्येत्यर्थ । अत्र हेत्वपेक्षाया श्रीपुरु

१ उक्तनिवेदनवदिति पाठ ।

त्तमपदम् । तत्रापि स्वरूपानन्ददानेनानिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्रोपयोगासम्भवेनैव न शङ्कोदय इति ज्ञापनाय श्रीपदम् । तथा च तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्येति भावः । कदाचिल्लोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशादन्यविनियोगेपि तथेत्याहुः विनियोगेपीति । प्रमादात्तथासम्भवेपि प्रभुर्न त्यक्ष्यति । यतस्तत्स्वभाववशात्तथाभूतमप्युद्धर्तुं तत्साधनानपेक्षः ॥ ५ ॥

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमप्याहुः लोक इति ।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।
पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

पोत्तमपदेन तं वदन्तीत्याशयेन तत्पदं विवृण्वन्ति, पुरुषोत्तमेनेत्यादि श्रीपदमित्यन्तम् । तात्पर्यं स्फुटीकुर्वन्ति तथा चेत्यादि । सरसभक्तयुक्तो भगवान् हीन्द्रयागभङ्गगोवर्धनोद्धरणादिलीलाभिस्तथाकुर्वन् स्वीयान् पुष्णातीति इन्द्रयागभङ्गादिमोधकाच्छब्दादेव भगवतस्तथास्वभावमवगत्य सा त्याज्या, स्वस्यानन्यभावेन भजनस्य निर्वाहे कार्यलिङ्गकानुमानादेवाङ्गीकारं निश्चित्य सा त्याज्या भक्तानां दयालुत्वादित्यर्थः । न च निवेदनगद्ये भगवतः केवलस्यैव सम्प्रदानत्वमुक्तमिति कथमत्र श्रीपुरुषोत्तमपदेन भक्तयुक्ते निवेदनमुच्यत इति शङ्क्यम् । एकादश एव'रामेण सार्धं'मित्यादिना या तावद्भक्तिः प्रशंसिता, तत्परमकारणत्वेनोनविंश आत्मनिवेदिधर्मा उक्ताः, तत्रात्मनिवेदनप्रकारो न स्फुट इति तन्नत्वे सर्वं संगृह्य कल्पसूत्रवत् गद्ये प्रभुणोक्तः, अतः कृष्णपदेन तत्र ताभिः सहित एव परामृश्यते । तेन भक्तयुक्तस्यैव सम्प्रदानत्वम् । किञ्च, सदानन्दो हि भगवान् रसात्मक एव, 'रसो वै स' इति श्रुत्या सिद्धो, रसश्चालम्बनसापेक्ष एवेत्सतोपि तथेति न विरोधगन्धोपि । ननु सत्यमेवम्, तथापि स्वस्य कदाचित् कथञ्चिदन्यविनियोगे जाते तस्माद्विरुद्धकार्यादङ्गीकारे सन्देहो भवत्येवेति तद्रूपा सा कथं त्यक्तुं शक्येत्याकाङ्क्षायां तत्रोपायं वदन्तीत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति कदाचिदित्यादि । न तथेति । न कार्या । व्याकुर्वन्ति प्रमादादित्यादि । तत्स्वभाववशात्तथाभूतमिति । जीवस्वभाववशात् कदाचित् बहिर्मुखत्वम् । तथा च तादृशस्य कदाचिदनन्यभजनाभावेनैवं बाहिर्मुख्ये तस्य जुगुप्सा तूत्पद्यत एवेति तेन कार्येण सप्रतिबन्धकमङ्गीकारमनुमाय 'दुराम्यधं यत्स्मर्णं हविर्भागं क्रतुष्वहम् । वर्णश्च मे हरिश्चेष्टत्सासाद्धरिरहं स्मृत' इति भारते भगवद्वचनात्, भगवतः स्वीयाघनिवर्तकत्वमनुसन्धाय अपराधिनां यकीयकादीनामप्यनुग्राहकत्वेन जीवकृतसाधनानपेक्षत्वं चानुसन्धाय सा त्याज्येत्यर्थः । एतेनैतादृशदीनभावोत्सत्तिरङ्गीकारलक्षणमित्युक्तम् ॥ ५ ॥

एतदार्थ्यार्थमन्यदपि वदन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति अङ्गीकार इत्यादि ।

---

१. न तथेति पाठः । २. बाहिर्मुख्यम् ३. उत्पद्यत इति ।

कदाचित् प्रवाहवशाल्लौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मादौ वा स्थितौ तत्र विघ्न एव भवति, न तु तत्फलमित्यर्थः । तत्र हेतुः पुष्टीनि । तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वकर्ता यत इति भावः । पुष्टिमार्गाङ्गीकारे मर्यादां न सहत इति ज्ञेयम् । एव सति किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः, साक्षिवत् तत्कृतं पश्यत ॥ ६ ॥

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।
अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥ ७ ॥

सेवाकृतिरिति । गुर्वाज्ञाया अबाधनं यथा भवति, तथा सेवाकृतिः पूर्वमपेक्षिता । एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत्, गुर्वाज्ञा विरुद्धा भवेत्, तदा तथा कार्यमित्याशयेनाहुः बाधनं वा हरीच्छया । विकल्पेनाबाधनमित्यर्थः । एवं सति गुर्वा-

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

व्याकुर्वन्ति कदाचिदित्यादि । अत्र च 'त्रैवर्गिकायासे'ति पूर्वोक्तं षष्ठस्कन्धवाक्यमेव बीजत्वेन ज्ञेयम्, पुष्टिप्रकरणस्थत्वात् । तथाच यथा वृत्रस्य तादृशसङ्कटोपस्थितावपि भगवत्प्रसादानुमितिरेव जाता, तथास्यापि लौकिकवैदिकास्वास्थ्योपस्थितौ यद्भगवत्प्रसादानुसन्धानम्, तदप्यङ्गीकारलक्षणम् । एतादृशबोधवन्तं प्रत्युपदिशन्ति साक्षिण इत्यादि । तद् व्याकुर्वन्ति साक्षिवत् तत्कृतं पश्यतेति । तथा च 'ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे । यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्मम' इति सप्तमस्कन्धस्थभगवदीयगृहस्थप्रकरणस्थवाक्यात् पूर्वोक्तरीत्या एतदाचार्यवाक्येन लौकिके वैदिके साक्षिवत् भगवत्कृतित्वदर्शनं यत्तदपि तल्लक्षणमित्यर्थः ॥ ६ ॥

नन्वथास्वास्थ्येपि साक्षित्वकृतिदर्शनोपदेशेन निदुःखसहनरूपं धैर्यमेव साधनत्वेनोक्तं भवति, ततश्च तावन्मात्रस्य कर्तव्यत्वे सेवायाः सम्यगसम्भवान्निवेदनवैयर्थ्यं स्यादेवेति प्रकारान्तरेण धर्महानिचिन्तायाम् तन्निवृत्त्यर्थमुपदिशन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति एवं सतीत्यादि । व्याकुर्वन्ति गुर्वाज्ञाया इत्यादि । तथा कार्यमिति । बाधनं कार्यम् । तथा च 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरा'विति श्वेताश्वतरश्रुते 'र्नैवोऽपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश ब्रह्मादयोऽपि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः । योऽन्तर्बहिस्तनुभृताम् अशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ती'त्येकादशस्कन्धवाक्याद्विभ्यश्च गुरोरेव मुख्य इति । गुर्वाज्ञाबाधनाभावपूर्वकं सेवाकृतिरात्मनिवेदिधर्मः स यादृशेन साक्षिवत् तत्कृतिदर्शनेन न विघटितो भवति, तादृशतया साक्षिवत् स्थातव्यम्, न सेवाविरुद्धतया । तेन लौकिके विषये साक्षिवत् स्थेयम्, न तु सेवाविषये इति सिध्यति । तत्रापि हरीच्छा विचार्या, अबाधने बाधने वा सास्तीति । सा च भगवदनुभावमनुभवतो बुद्धिगोचरो भवति, अन्यस्य फलबलकल्प्या । एवं सति यथाधिकारं तां बुद्ध्वा कार्यम् । ततो न स्वधर्महानिरित्यर्थः । एतदेव निगमयितुमुत्तरार्धमित्याशयेनावतारयन्ति एवं सतीत्यादि ।

१. बाधनमिति पाठः । २. अन्यदिति पाठः ।

ज्ञाया अबाधने बाधने वा सेवैव मुख्या यतोऽतस्तथैव श्रेयमित्याहुः अत इति । एवं सति पर्यवसितं सुखमेवेत्याशयेन सुखमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

कदाचित् पुत्रादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे मतिमाहुः चित्तोद्वेगमिति ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

तथा च यथा राजभोगसमये नेत्रे निमील्य वीजयन्तं बृहद्रामदास प्रति भगवता श्रीगोवर्धनेश्वरेण साक्षाद्दृक्षानं मामुन्मील्य पश्येत्याज्ञप्ते, ममाचार्याज्ञा भोगसमये दर्शनविषयिणी नास्तीति नोन्मीलयिष्यामीति तैः प्रत्युक्तम्, तदा भगवान् प्रसन्न आसीत् । सामग्र्यादिविषयिण्यां विशेषाज्ञायां तु साधारण्याचार्याज्ञा बाध्यते, तदा नाप्रसन्नो भवति, तेन सेवाया एव मुख्यत्वम्, अतस्तदनुसारेणैव श्रेयमित्यर्थः । अत्रापि 'परिनिष्ठा तु पूजायां'-मिति निवेदिप्रकरणस्थं भगवद्वाक्यमेव बीजत्वेन ज्ञेयम् । सर्वतो नितरां निरवधितया वा स्थितेरेव परिनिष्ठापदार्थत्वादिति ॥ ७ ॥

ननु भवत्त्वेवमल्पदुःखोपस्थितौ साक्षिवत् स्थितिः, महादुःखोपस्थितौ त्वेवं स्थितिरशक्येत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमग्रिम वदन्तीत्याशयेनाग्रिमगवतारयन्ति कदाचिदित्यादि । मूलव्याख्यानं तु स्पष्टत्वात् न कृतम्, पर तत्रायं भावः । अवश्यंभाविनो दुःखस्याप्रतीकार्यत्वात्तत्र चित्तसमाधानमेवोपायः । तच्च नानोपायैर्भवति । यथा सप्तमस्कन्धे यमप्रेतसुयज्ञबन्धुसंवादे 'अहो अमीषां वयसाधिकाना'मित्यादिना यमप्रदर्शितलोकगतिज्ञानेन सुयज्ञबन्धूनां जातम्, यथा च षष्ठस्कन्धे 'यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः । पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवा योनिषु कर्तृष्वि'ति जीववाक्याज्जीवस्य सर्वसाधारण्यज्ञानेन चित्रकेतुप्रभृतीनाम् । यथा च 'पित्रोः स किन्तु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः । किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयत' इति देहस्य सर्वसाधारण्यज्ञानेन पुरूरवसः । एवमन्येपि योध्याः । ते केपि नात्मनिवेदिनामुपयुज्यन्ते, भगवत्स्मरणोदासीनत्वात्, किन्तु प्रभासीयलीलायां 'नैषां वधोपाय इयानतोऽन्य' इत्येकादशीयभगवद्विचारानुवादवाक्यात् सा लीला यथा भक्तानां चित्तोद्वेगं विधाय, या कृता लोकमर्यादारक्षणार्थम्, अग्रे तेषां नित्यसुखदानार्थं च, तथा चित्तोद्वेगं विधाय अपिशब्दादविधाय च हरिः स्वदुःखानां प्रारब्धादिरूपापहारको भगवांस्त्वदुद्धरणार्थं यद्यत् शुभत्वेनाशुभत्वेन वा आपाततः प्रतीयमानं करिष्यति, तत्कार्यं साक्षाद्वा केनचिद्द्वारेण वा तस्य अस्मदीभरस्यास्मदात्मनो भगवतस्तथैव लीला, अनेन प्रकारेणास्माकं महतोऽघस्य नाशनाय मायिकी लीलेति मत्वा साधकबाधकप्रमाणैरनुचिन्त्य चिन्तां उद्वेगजनिकां वा वर्जनितां वा तद्रूपां वा द्रुतं शीघ्रमेव त्यजेत् । तस्याः बहुकालं स्थाने कालकर्मस्वभावानां प्रबलत्वेन तथा असुरप्रवेशरूपमहोपद्रवसम्भवेन मुख्यफलप्रतिबन्धो वा विलम्बो वा स्यात्, अतो मंक्षु त्यजेदिति भावः ॥८॥

नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति । तथाहि । श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चान्निवेदनवार्ता । तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनदिगपि । अतस्तत्कृतचिन्तान्यवियोगचिन्तादिसमाहितिर्निरर्थेति विचार्य साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।
वदद्भिरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

एवमत्र पुष्टिमार्गस्थस्य पूर्वं सेवोपकरणकरणकर्तृनिवेदनविषयकचिन्तानिवृत्त्युपायत्वेन स स विचार उपदिष्टः, ततः सेवाकृत्यविरुद्धतया साक्षिवत् स्थित्युपदेशेन सेवायां स्थितेश्चोपदेशेन वैराग्यरागौ विषयभेदेन व्यवस्थापिनी । चित्तोद्वेगे च लीलाविचार उपदिष्टः, तदिदानीं सर्वमशक्यम्, कालादिकृतगुणक्षोभेण चित्तस्थैर्यस्य दुर्घटत्वात्, अतोऽयमुपदेशोऽनुपदेश एवेत्याशङ्क्य कृपया तत्सिद्ध्यर्थमुपायमधुनोपदिशन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति नन्विदमित्यादि । तदेव दुरापमिति । श्रवणं हि भगवद्वाचकपदवाक्यानां गुरुमुखाच्छ्रुतितात्पर्यनिर्धारः । तत्पूर्वकमन्यस्याग्रे कथनं कीर्तनम् । तेषामर्थानुसन्धानं स्मरणम् । तदिदानीं सर्वतद्विदो गुरोर्दौर्लभ्येन श्रवणस्य दुरापत्वे कीर्तनस्मरणयोरपि तथात्वम् । तदभावे भगवत्स्वरूपज्ञानाभावात् पादसेवनादीनामपि भगवद्विषयत्वाभावात्तथात्वम् । एवं कालादिभिः प्रतिबन्धकैः प्रत्येकमपि द्रष्टव्यम् । साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहुरिति । साधनं श्रवणाद्यष्टकम् । फलमात्मनिवेदनम् । ते उभे एकीकृत्य स्वासाध्यत्वेन तस्यां कोटौ निक्षिप्य पूर्वोक्तस्य सर्वस्य सुसाध्यत्वं यथा भवति, तादृशं तत्सम्बन्धिसमाधानमाहुरित्यर्थः । समाधानं व्याकुर्वन्तः शरणागतेः समाधायकत्वे बीजमाहुः यस्मादित्यादि । भक्तिमार्गे प्रवेशे तत्र रुच्यादौ चानुग्रह एव हेतुरिति वरणश्रुत्या भक्तिहेतुनिर्णये व्युत्पादितम् । तस्मिन् सति यदा सेवाप्रतिबन्धसम्भवः, तदा प्रारब्धकालस्वभावानामेव हेतुत्वम् । तन्निवृत्तिस्तत्सर्वनियामकेन प्रभुणैव भवति, नान्यतः । तत्र च शरणागतिरेव साधनम् । 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इति भगवद्वाक्यात् । 'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन् । सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्य'मित्येकादशस्कन्धे करभाजनवाक्याच्च भगवतः शरण्यता । तस्मादङ्गीकृतस्य जीवस्योक्तरीत्या अशक्तौ शरण्यत्वात् प्रभुरेव सर्वं सम्पादयिष्यतीत्याचार्याणामाशय इत्यर्थः । एतेनाष्टमस्कन्धप्रतिपादित आपत्सु हरिसंस्मृतिरिति भगवद्भक्तिसम्पादक आपद्धर्मोऽपि गजेन्द्रसेवास्यापि सिध्यतीत्यपि बोध्यम् । नन्वेवं सति

1 भगवद्रूपद्वारा भगवच्छरणगमनं तदनुसन्धानं च साधनम् । फलं भगवदङ्गीकारः । ततो भगवद्रूपद्वारा भगवच्छरणगतौ भगवता निवेदनस्याङ्गीकाराद्रूपेषु क्रमनियमाभावाभिनिवेदनादिदिष्ट्या चिन्तासाधनतानुपपत्तेरिति भावः ।

यस्मादुक्तरीत्या स्वतः सर्वमशक्यमतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदयम् । भक्तिमार्गीयान् सर्वानंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं स्वाशक्तिं च स चेत् पश्यति, तदा सर्वात्मना तथा भवति । नित्यमिति नैरन्तर्यमुच्यते । अन्यथा कालेनासुरधर्मप्रवेशः स्यात् । अन्तःकरणे तथाभावेऽतथाभावे वा तथा वदनमावश्यकमिति ज्ञापयितुं सततमेवं यद्भिरित्युक्तम् । एवं सति लोकशिक्षाप्यानुषङ्गिकी सिध्यति । एवमुक्तप्रकारेण सेवापरतया स्थेयमित्यर्थो वा । नन्विदमपि न स्वशक्यमित्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेर्मे मतिरित्येव, एवंप्रकारिकैवेत्यर्थः ।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

प्रथमत एवेदं साधनं कुतो नोपदिष्टमित्यत आहुः भक्तीत्यादि । सर्वात्मना तथा भवतीति । श्रीकृष्णाश्रयोक्तरीत्या सर्वेषां सहकारिणामतथात्वमसहायत्वं च निश्चित्य, विवेकादीनां भक्त्यन्तानां साधनानां स्वासाध्यत्वं च निश्चित्य, दीनभावेन सर्वैः प्रकारैः शरणागतिर्भवति । तथा च प्रागेवोपदेशार्हत्वेपि यदधुना सर्वान्त उपदिष्टम्, तत् सर्वात्मना सर्वैः प्रकारैर्भवनार्थमित्यर्थः । आसुरधर्मप्रवेश इति । बाहिर्मुख्यजनकाहङ्कारप्रवेशः । तथा वदनमावश्यकमिति । वाचस्तेजोमयीत्वेन वदनक्रियायां वैखरीत्वेपि वक्तुः पश्यन्ती प्रकाशयन्त्यन्तःकरणमासुरधर्मात् परावर्तयेदत आवश्यकम् । परोपकारायापि भवेत्, अतश्च तथेति बोधनायाहुः एवं सतीत्यादि । एवं सत्याश्रयस्यैव मुख्यता आयातीति सेवावश्यकत्वबोधकपूर्वग्रन्थविरोध इत्यतः प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति एवमुक्तेत्यादि । एवं यद्भिः सर्वचिन्ताराहित्यपूर्वकं सेवापरतया स्थेयम् । तथा चाङ्गत्वेनैवात्र शरणोपदेशो, न तु मार्गत्वेन, अतो न विरोध इत्यर्थः । स्वमत्या निष्कर्षकथनस्य तात्पर्यमाहुः नन्वित्यादि । इदं सर्वात्मना शरणगमनमपि न स्वशक्यम्, 'सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोस्म्यसतां दुराप'मित्यक्रूरस्तुतौ तथा सिद्धत्वादित्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुत' इति वरणलभ्यत्वबोधकश्रुतेर्मे मतिरेवंप्रकारिकैव । भगवता यदानुगृह्यते, तदैव सर्वात्मना शरणागतिर्भवति, नान्यथा । 'तथाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गः । त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्या'दिति तत्रैव वाक्यशेषात् । तथा चास्मिन् मार्गे कृपैव साधनम्, अतः श्रुत्यनुसारेण मार्गप्रवेशतद्रुच्यादिना वरणमनुमाय मदीयैरेवमेव कर्तव्यं वक्तव्यं च । यदि च न तन्निर्वाहः, तदा प्रतिबन्धकमनुमेयम् । भगवच्छास्त्रे एतदतिरिक्तस्य रहस्य सर्वप्रतिनिधिभूतस्य साधनान्तरस्याभावात् । गीतायामन्ते एतस्यैव शोकाभावार्थमुपदेशेन तथा निश्चयात् । एतद्वाक्यान्तःस्थस्य श्रीकृष्णपदस्य भक्तसहितपुरुषोत्तमवाचकताशास्त्रसुप्रसिद्धत्वेन मम स एव शरणमिति तस्मिन् सरक्षकत्वबोधनेन वाक्यतात्पर्यस्य तत्रैव निर्धारे गुरुमुखाद्वचो श्रवणस्य तत्पूर्वकाणामन्येषां च सरूपकत्वोक्तत एव सुखेन सिद्धेरिति ॥ ९ ॥

एवं सर्वं व्याख्याय ग्रन्थकरणस्यान्ते ग्रन्थस्यानुश्रुतिकथनस्य च प्रयोजनमाहुः

मक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दार्ढ्यार्थमिदमुच्यते ।
अन्धस्य सूर्य इव तद्विमुखस्यात्र नार्थिता ॥ १ ॥
भक्तिमार्गसुधासिन्धोर्विचारमथनैः स्वयम् ।
स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः ॥ २ ॥
मयोज्ज्वलीकृतानीत्थं हृदि धृत्वा व्रजाधिपम् ।
मज्जन्तु भक्ता येनासौ न विमुञ्चति कर्हिचित् ॥ ३ ॥

इति श्रीश्रीविट्ठलदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः ।

भक्तिमार्ग इत्यादि । भगवत्कृपया यो भक्तिमार्गे स्वकृतार्थत्वाय प्रवृत्तः, तस्य दार्ढ्यार्थं तदुक्तरीत्या फलावश्यभावनिश्चयेन प्रवृत्त्यविघातार्थं इदं नवरत्नं शरणमन्त्रावर्तनं चोच्यत आचार्यैरुपदिश्यते । तस्यैवोद्वेगनिवर्तनस्य प्रभूणामनन्यजनवत्सलतयावश्यकत्वात्, न तु साधारणार्थम्, तत्र हेतुः अन्धस्येत्यादि । तद्विमुखस्येति । भक्तिमार्गाद्बहिर्मुखस्य । अत्रेति । चिन्तानिवृत्त्युपायबोधकेस्मिन् ग्रन्थे । शरणमन्त्रावर्तने च । तथा चार्थित्वस्य अधिकारिविशेषणत्वाद्विमुखस्य चार्थित्वाभावेनाधिकाराभावात्तदर्थं नोच्यत इत्यर्थः । एतस्य ग्रन्थस्य भगवत्सिद्धान्तसारत्वबोधनायाहुः भक्तीत्यादि । श्रीमदाचार्यपण्डितैरिति । मयूरव्यंसकादिसमासः । पण्डितत्वं च न केवलं सदसद्विवेचकबुद्धिमत्त्वम्, शास्त्रोत्थबुद्धिमत्त्वं वा । किन्तु 'पण्डितो बन्धमोक्षवि'दित्येकादशे भगवद्वाक्यात्, 'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः' । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः' इति गीतायां भगवद्वाक्याच्च तादृशधर्मवत्त्वं विवक्षितम्, अन्यथा भक्तिमार्गविचारस्यासम्भवात् । 'भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येने'ति द्वितीयस्कन्धवाक्येन भक्तिमार्गस्य सर्वश्रुतिसारत्वनिश्चयादिति । स्वकृतविवरणप्रयोजनमाहुः मयेत्यादि । तथा चैतदर्थं विवरणमित्यर्थः ॥ १० ॥

एवं चात्र एतत् सिद्धम् । भगवत्सेवैकतानचित्तेन यथाशक्ति सेवां कुर्वता दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं स्वस्य स्वपरिकरस्य च भगवदीयत्वमनुसन्दधानेन पूर्वोक्तरीत्या सर्वविधचिन्तास्त्यजता सर्वत्र स्वाशक्त्यनुसन्धानेन भगवत एव शरणत्वमनुसन्दधानेन यदा स्थीयते, तदा उद्वेगाख्यप्रतिबन्धनिवृत्त्या सेवायां आधिदैविकीत्वं सम्पद्यते । तस्मादुक्तरीत्या सेवापूर्वकं सर्वात्मना शरणगमनमेव परमं साधनमिति ।

नवरत्नभासनकृतां वचसां मम यत्नपूर्वकमुपासनतः[1] ।
व्रजरत्नहृद्यकृपयास्तु सुखादसपत्नचैतससपत्नहृतिः ॥ १ ॥[2]
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानस्य पीताम्बरस्य तनुजेन पुरुषोत्तमेन
कृतो नवरत्नविवृतिप्रकाशः सम्पूर्णः ।

---

१ अनन्यभजनेति पाठः । २ व्रजरत्नहृद्यकृपयैव भवेदसपत्नचैतससपत्नहृतिरिति पाठः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

नवरत्नम् ।

श्रीविट्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पदाम्बुजरेणवः ।
स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भवः । इत्थम् । आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः, नेतरे । तत्र चैहिकपारलौकिकयोरर्थयोर्नावशिष्टं किञ्चिदसमर्पितम् । एवं सति देहादिनिर्वाहः केन कार्यः, किं निवेदितार्थेन, उत इतरेण वा । तत्र नाद्यः । तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् । वस्तुतस्तिच्छायामपि सत्यां तदुपयोगोऽनुचितः सेवकस्य । न च तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषायेति वाच्यम् । स्वतस्तथाकृतेर्दोषावहत्वात्तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादित्युक्तम् । न द्वितीयः,

---

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी ।

चिन्तात्रयनिवृत्त्यर्थमुक्तिमनवरत्नकाः ।
सम्मुखवलीकृतवदः प्रसीदन्तु मये मयि ॥ १ ॥

नवरत्नप्रकाशे । चिन्तासन्तानेति । यत्पदाम्बुजरेणवः समाश्रिता देहेन्द्रियादिकं शोधयन्ति, (वासनात्मकं लिङ्गं नाशयन्ती) स्वन्तःकरणशोधनद्वारा चिन्तानां वक्ष्यमाणानां सन्तानो वक्ष्यमाणप्रकारेण तन्निवर्तनेपि कुसृष्टयुद्भावनं तद्धन्तार इत्यर्थः । अन्ये चिन्ताः स्वयमेव निवर्तयिष्यन्ति, चित्ताशुद्ध्या कुसृष्टयुद्भावनं ॥ चरणरेणुसमाश्रयनिवर्त्यमिति भावः । नन्विति । किंप्रकारकचिन्तोद्भवः, सम्भवतीति शेषः । इत्थमिति । अन्ये वक्ष्यमाणास्तिस्रश्चिन्ता भगवदीयानामपि हीनमध्यमाधिकारिणां सम्भवन्तीत्यर्थः । अन्याद्वित्रामप्येकां चिन्तां पूर्वोक्तेषु सम्भावितां स्वयमेव प्रमाणवाक्यैः समाधातुमाहुः आत्मनिवेदिनो हीति । एतन्निरासस्य प्रमाणवाक्यैः स्पष्टत्वान्मूलेऽकथनमिति भावः । तत्र चेति । निवेदने जाते सलौहिकसुखसाधकानि स्त्रीपुत्रवित्तादीनि पारलौकिकसुखसाधकान्यग्निहोत्रादिकर्माणि भगवदीयान्येव जातानीत्यर्थः । एवं सतीति । वित्तसमर्पणे कृते सतीत्यर्थः । देहादीति । आदिपदेन गृहादिकम् । तथा च गार्हस्थ्यनिर्वाह इत्यर्थः । इतरेणेति । निवेदनात् पूर्वमेव स्थापितेनानिवेदितेनेत्यर्थः । अस्वधर्मत्वादिति । निवेदितस्य देहादेस्तदीयार्थेन पोषणं दोषावहमित्युक्तम् । अनिवेदितेन च पोषणमस्वधर्म इत्यर्थः । दूषणान्तरमप्याहुः

अन्यधर्मत्वात् । निवेदितस्यार्थस्य स्थित्याद्यर्थं स्वस्य विचारस्याप्यनुचितत्वात् । तदभिमाने तत्सम्भवात् । एवं सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात्तद्वैयर्थ्यापातः । मार्ग एव चायमुच्छिद्येत । अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतःपाशा रज्जुरिति चेत् । अत्र वदामः । 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यते' इत्यादिवाक्यैस्तदावश्यकम्, साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारवत् । (निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्ध्यर्थमावश्यकव्यवहारार्थं निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः ।) अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरं च । दाने हि न स्वविनियोगो, न तु निवेदने । अन्यथा निवेदितान्नादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् । निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तदुत्तरप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा, दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैः । आत्मशोधकत्वाच्च । किन्तु प्रभौ निवेदितार्थस्य विनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो, नवेति भवति चिन्ता । *तत्करणे

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतटिप्पणीसमेतम् ।

निवेदितस्यार्थस्येति । निवेदितपदार्थस्य देहगेहादेः स्थितिरादिपदेन तत्सम्बन्धीनि गृहादिकार्याणि विवाहादीनि च तदर्थं स्वस्य विचारोप्यनुचितः । तत्र हेतुः । तदभिमाने इति । स्थापनीये सतीति शेषः । देहे स्वकीयत्वाभिमाने स्थापनीये सत्येतादृशो विचारः सम्भवति । एतस्य तु देहे भगवदीयत्वमेव सम्पादनीयम्, अतः स्वस्य तद्विचारोनुचितः, भगवानेव विचारयिष्यतीति स्वस्येत्युक्तम् । तथा च देहस्थित्याद्यर्थं पूर्वमेव किञ्चित् पदार्थानिवेदनं नोचितमित्यर्थः । एवं सतीति । पक्षद्वयप्रकारेणापि देहाद्यनिर्वाहे सतीत्यर्थः । तदावश्यकमिति । वाक्येषु निवेदनकथनात् सर्वनिवेदनमावश्यकम्, नतु पदार्थविनियोगेन बाधितमित्यर्थः । बाधितत्वे भगवांश्च वदेदिति भावः । साक्षादिति । भजने सर्वाधिकारस्योक्तावपि सत्त्वन्यवहितस्यैव भजने तथा । साक्षात् पुरुषोत्तमभजने तु निवेदिनामेवाधिकार इति भावः । अन्यथेति । निवेदितपदार्थस्य स्वयमग्रहणे दारानुपयोगोपि प्राप्येत, तथा च न तथेत्यर्थः । दाने हीति । पुत्रविवाहादिकं निवेदितम्, न [1] दत्तमित्यर्थः । निवेदितोपभोगे प्रकारकथनायाहुः निवेदितानामित्यारभ्य शोधकत्वादित्यन्तम् । तथा चेयं चिन्ता तु प्रमाणवाक्यैर्युक्तिभिः परिशीलितैर्निजाचार्यपदाम्बुजरेणुसमाश्रयकृतचित्तशुद्धेः कुसृष्ट्यनुद्भावनेन च निवर्तते । अतोत्र समाधेयामन्यां चिन्तामाहुः किन्त्वित्यारभ्य

* (किंच । तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भवत्र इत्यारभ्योक्तचिन्ताभावायेदमत्र विचार्यते । सेवार्थं यत्करणे बाहिर्मुख्य सेवाप्रतिबन्धश्च न सम्भवति । तस्य सेवाङ्गत्वेन तत्पूरकत्वात् तदकरणे तदसम्भवाच्च । नच

१. चिह्नान्तर्गत टिप्पण पाद्यास प्रभूणामिति प्रतिभाति ।

बाहिर्मुख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च । 'त्रैवर्गिका या से'तिवाक्यात् भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च तत्र स्यात् । अकरणे निषेधाभावेन भवति च दुःखम् । एवंभूतान् स्वानुपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येति ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

लौकिकतदभावेपि भगवदर्थापि सा न कार्या । एतदाहुः कापीतिशब्देन । अङ्गीकारेणैव सर्वं स्वत एव करिष्यतीति विश्वासो यतस्तस्यावश्यकः । भगवतोपि तथानियमः । कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते, तदापि न कार्येत्याहुः कदापीतिपदेन । ननु लोकवत् कुटुम्बायासक्त्या स्वस्यापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्,

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीचट्टभट्टकृतटिप्पणीसमेतम् ।

भयेति च दुःखमित्यन्तेन । एवंभूतानिति । यत्नकरणाकरणचिन्तायुक्तान् उभयपक्षसमाधायकवाक्येनोपदिशन्तीत्यर्थः । तत्र समाधानं चिन्ता न कार्येति । पूर्वसिद्धानिषिद्धवृत्तौ सहजसिद्धयत्नकरणेपि तस्य यत्नस्य चिन्ता अनुचिन्तनं कथं इदं कार्यमिति मनसा सर्वथा तद्भावनं न कार्यमित्यर्थः । अग्रेपि वक्ष्यन्ति वाणिज्यादावासितौ तत्र विघ्न एव भवतीति । आसितिः कायवाङ्मनसां तदीयत्वम् । तथा चानास्थया यत्नकरणे पक्षद्वयोक्तोपि दोषो न भविष्यतीति भावः । लौकिकेति । स्त्रीपुत्रादिनिर्वाहकयत्नानास्थायामपि भगवन्निवेदनार्थकयत्ने आस्था सम्भवति, सापि न कार्येत्यर्थः । तत्राप्यास्थाया तत्सम्पादकेषु आसितिसिद्ध्या बाहिर्मुख्यं स्यादेवेति भावः । नन्वनास्थया कृतो यत्नो न सिध्येदित्याशङ्कोत्तरार्धार्थं सामान्यत आहुः अङ्गीकारेणैवेति । स्वस्यौदासीन्येपि भगवान् स्वाङ्गीकारेणैव हेतुना सर्वं यत्नं सिद्धं करिष्यतीत्यर्थः । विलम्बते इति । औदासीन्ये तत्कृतो यत्नः कदाचिन्न सिध्यति चेत्तथाप्यग्रिमयत्ने आस्था न कार्येत्यर्थः । ननु लोकवदिति । लोकस्येव कुटुम्बासक्त्या भगवदङ्गीकारस्यासिद्धत्वेन लोकस्येव स्वस्यापि लौकिकी लोकसदृशी गतिमास्थापूर्वकं विचार्य यत्नकरणे एव

'त्रैवर्गिका या से'ति वाक्यार्थत्र भगवत्कृत प्रतिबन्ध इति मान्यम् । त्रैवर्गिकपदस्यैवमर्थोऽस्ति । अन्यथा आयासवियातमित्येतावतैव चरितार्थं स्यात् । अत स्वकीयानां त्रैवर्गिकप्रयासाभावत्वमेव भगवान् करोति, न स्वसेवार्थतयासवियतमिति निश्चीयते । अन्यथा यत्नमानस्य निषेधे भजनमार्ग त्वावियेत । नन्वात्मनिवेदिनामितरयत्नासम्भवेन तज्जनितचिन्ताऽभावात् कथं चिन्ता न कार्येत्युपदेश इति चेत् । अत्रेदं प्रतिभाति । भजनमार्गे हि भगवदङ्गीकारस्त्रिविधः पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन । तत्रापि वै त्रैविध्यम् । तत्र पुष्टिपुष्टयङ्गीकृतस्य नेतरयत्नसम्भावनापि । परं मर्यादापुष्टे प्रवाहपुष्टे चाङ्गीकृतस्य तत्करणं मर्यादाप्रवाहाश, तद्विधात पुष्टपदा । तथा चात्मनिवेदिना मर्यादाप्रवाहमर्यादितानां यथेतरयत्ने कृते बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धत द्विधात्वादिक भवति, तथा सेवार्थकेपि यत्ने आस्थायामपि भवति चिन्ता, भगवदभावश्च तत्र इति चिन्ता कापि न कार्येत्युक्तम् । अत सेवार्थं यत्न कर्तव्य इत्यपि नानुपपत्तिः काचित् ।)

१ ... रीति पाठ । २ ... । ३ उपदिशन्तीत्यन्तेनेति पाठ ।

तत्राहुः भगवानपीति । यतः पुष्टिस्थोऽतो मर्यादामार्गीयवैराग्याद्यभावेपि 'महापुरुषेण निवेदिता' इति स्वकीयत्वेनाङ्गीकारात् तथा न करिष्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

एवं चेत्, स्वाच्छन्द्यव्यवहारापत्त्या बाहिर्मुख्यं स्यादत आहुः निवेदनमिति ।

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः । अशक्त्या सेवाद्यसम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः । चकारपक्षे समुच्चयः सर्वथेत्यस्यावश्यकत्वज्ञापनाय । अथवा । सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा । एतेन सङ्गदोषो निवारितः । अतादृशेष्वेतद्गोपनं सूच्यते । सर्वदेतिपाठे कालापरिच्छेदस्तत्रोच्यते । अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति भावः । कदाचिदलौकिकार्थस्य लौकिकस्य वा सिद्ध्यर्थं प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेत्याहुः सर्वेश्वर इति । अत्र सर्वशब्दो निवेदितात्मसर्वपरः । यथा 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्र निमन्त्रिता एव सर्वपदेनोच्यन्ते, न त्वन्येपि । सर्वात्मपदेप्येवं ज्ञेयम् । तेन सेवकाः सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गी-

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतटिप्पणीसमेतम् ।

तत्फलसिद्धिरन्यथा नेतिरूपां नीतिशास्त्रानुरोधेन कुर्यादित्यर्थः । यत इति । पुष्टिः प्रवाहो मर्यादा चेति मार्गत्रयम्, तन्मध्येऽत्र पुष्टिस्थो भगवान्, अतः कुटुम्बासक्त्या मर्यादामार्गीयवैराग्यादिसाधनाभावेपि पुष्टिमार्गीयेण महापुरुषाचार्यकृतनिवेदनेन स्वीयत्वाङ्गीकारं करिष्यति । तथा चाङ्गीकारस्य सिद्धत्वान्न लौकिकीं गतिं करिष्यतीत्यर्थः । भक्तस्य पुष्टिस्थत्वायापिशब्दः ॥ १ ॥

एवं चेदिति । अनास्थायामविचारेपि फलसिद्धौ स्वाच्छन्द्येन बाहिर्मुख्यं भगवदननुसन्धानं भवेदित्यर्थः । तथा च यत्नानास्थया समाहितो दोषः पुनः प्राप्त इति भावः । निवेदनस्मरणस्य स्वरूपमाहुः सर्वदेति । 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया' इति प्रकारकस्वाच्छन्द्येपि बाहिर्मुख्यं भगवदनुसन्धानं न भविष्यतीत्यर्थः । निवेदनानुसन्धानाभावे तु बाहिर्मुख्यं स्यादेव, अतस्तदावश्यकमिति भावः । सेवादीनि । आदिपदेन कथा, तदसम्भवेपीत्यर्थः । अनायासेन फलसिद्धौ स्वाच्छन्द्येन प्राप्तस्य बाहिर्मुख्यदोषस्य निवारणार्थं निवेदनानुसन्धानमुक्तम् । फलासिद्धावपि तदनुसन्धानं कार्यमेवेत्यपिशब्दः । चकारपक्षे सर्वथेति पदेनावश्यकत्वं बोधितम् । तुशब्दपक्षे आवश्यकत्वं तेनैव बोधितमिति सर्वथापदस्य समासेनाग्रेऽन्वयमाहुः अथवेति । आसुरप्रवेश इति । 'द्वया ह प्राजापत्या' इत्यत्र यागादीनां स्वार्थमुद्गानात् पापवेधः, प्राणस्य भगवदर्थमुद्गानात्तदभाव इति तृतीयाध्याये वेधाद्यर्थभेदादित्यधिकरणे भाष्ये

१ २ न उ [illegible] । २ [illegible] । २ सर्वात्मनेति पाठ । ३. सर्वदा इति पाठ ।

कृतस्वामित्व आत्मीयत्वमेव तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते । अथवा । कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं कालादिपरम् । प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय निजेच्छेत्युक्तम् । अथवा । निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रभुरेच्छातः स्वयमेवापेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः । परन्त्विच्छया अविकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञापनायान्वयप्रयोगः ॥ २ ॥

ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते, तत्राहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।
अतोन्यविनियोगेपि चिन्ता का स्वस्य सोपि चेत् ॥ ३ ॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वस्याङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभुसम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । इयं निवेदनेऽङ्गीकारमर्यादेत्याहुः स्थितिरिति । कस्यचिद्विशेषतोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टिरिति

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतटिप्पणीसमेतम् ।

विवृतम्, अतो यस्मिन्नेव काले भगवदीयत्वविस्मरणम्, तदैव देहादावासुरधर्मप्रवेशो भवतीत्यर्थः । तेन बहिर्मुख्यं भवेदेवेति भावः । आत्मीयत्वमेवेति । भगवतस्स्वात्मत्वकथनेन तेषामात्मीयत्वमुक्तम् । स्वामित्वं भगवन्निष्ठो धर्मः सर्वेश्वरपदस्यार्थः । आत्मीयत्वं भक्तनिष्ठो धर्मः सर्वात्मपदेनोक्तः । सर्वपदस्य कालवाचकत्वपक्षे कालनिष्ठो ज्ञेयः । स्वधर्मेति । स्वधर्मो निवेदनम्, तस्य हानिरित्यर्थः । स्वात्मना सहेति । प्रत्येकं प्रभुसम्बन्धे यावत्तत्सम्बन्धानामनङ्गीकारस्तावत् तत्तत्सम्बन्धयुक्ते स्त्रीपुत्रादौ स्वस्य विनियोगे दोषः स्यात्, अत्र तु सहैवाङ्गीकारात् सेवानवसरे अनिषिद्धप्रकारेण भार्याद्युपयोगेपि न स्वधर्महानिरित्यर्थः । प्राधान्यादिति । प्राधान्याद्धेतोः स्वस्यैवेत्यर्थः । का चिन्तेति । अभगवदीयसंसर्गे हि स्वधर्महानिः । तेषामप्यङ्गीकृतत्वान्न तथेत्यर्थः । तथा च भगवदीयत्वानुसन्धानेन तेषु व्यवहर्तव्यम्, न तु स्वकीयत्वाभिमानेनेति भावः । वित्तादिवद्भार्यादीनामपि समर्पणम् । परमेतावान् विशेषः । आत्मीयदेहे यथैतस्य सम्बन्धः, तथा तत्तज्जीवानामपि सम्बन्धोस्ति, अत एतेन तत्तन्निष्ठस्वसम्बन्धसमर्पणे कृतेपि तत्तज्जीवसत्तासमर्पणार्थं भिन्नभिन्नतया तत्तत्कृतसमर्पणमपेक्षितम् । एतत्कृतसमर्पणेनैतन्निरूपिततत्सम्बन्धः समर्पितो भवति, स्वस्वसहजादिदोषपश्चकनिवृत्तिस्तु स्वस्वकृतसमर्पणेन भवति । वित्तादिषु त्वन्यसत्ताभावादेतत्कृतसमर्पणेनैव निर्दुष्टत्वसिद्धिरिति । इयमिति । सर्वनिष्ठसम्बन्धैः सह स्वस्याङ्गीकार इत्यर्थः । विशेषत इति । निवेदकस्यैवाङ्गीकारस्तन्निष्ठक्रियाभिन्निरूपितसम्बन्धस्य नेति

१ आत्मनश्चा । पाठ । २ निवेदितोऽङ्गीकारेतिपाठ ।

भावः । अथवा । पुत्रादीनामन्यविनियोगदर्शनेपि स्वस्य का चिन्ता, तेषामप्यङ्गीकारेणैव कृतार्थतासम्भवादित्यर्थः । किञ्च । स्वस्येतिपदमावृत्तमपिशब्देन सम्बध्यते ॥ ३ ॥

यथा पुत्रादीनाम्, तथा स्वस्यापि सः अन्यविनियोगश्चेत्, तदापि चिन्ता न कार्येत्याहुः अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।
यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिश्चिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्णसात्कृतप्राणैश्चिन्ता न कार्येति किंवु वाच्यमित्यर्थः । केवलप्रभ्वधीनीकृतप्राणानां चिन्ताविषयाभावादेव न सेति भावः । अत एव केतिशब्द उक्तः । पदसम्बन्धस्तु अज्ञानादथवा ज्ञानाद्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा नेतिशेषः । कृष्णसात्कृतप्राणैर्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा केत्युक्तम् ॥ ४ ॥

श्रीविट्ठलेश्वरात्मजश्रीवल्लभभट्टकृतटिप्पणीसमेतम् ।

चेत्, सा पुष्टिः मर्यादातिक्रमो भगवतो नियन्तुमशक्यत्वादित्यर्थः । तदा तादृशे स्वदेहविनियोगो न कार्यः । अत एव 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति वाक्यम् । अस्मिन् पक्षे अन्यत्र स्त्रीपुत्रादौ विनियोगे स्वस्य देहस्येत्यर्थः । अन्यविनियोगेति । अन्यत्र लौकिके स्वस्त्रीपुत्रादिकार्ये विनियोगदर्शनेपि तेषां निवेदनहानिजनितचिन्ता स्वस्य केत्यर्थः । तेषामपीति । स्वाङ्गीकारेणैव क्रमेण तेषामपि कृतार्थता सम्भवति । अधुना अतथाभावेप्येकाङ्गेन भगवत्सम्बन्धात् तदनुभावेनैवास्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा तया शुद्ध्या स्वस्वकृतसमर्पणेन स्वस्वसहजादिदोषनिवृत्त्या कृतार्थता सम्भवतीत्यर्थः । अङ्गीकृतस्य सर्वांशे भगवानेव चिन्तां करोतीति स्वस्येत्युक्तम् । स्वस्य त्वधुनैव सहजादिदोषनिवृत्त्या कृतार्थता सिद्धा, क्रमेण तेषामपि सम्भवतीत्यपिशब्दः ॥ २ ॥

एतमेव पक्षमाश्रित्याग्रिमश्लोकाभासमाहुः किञ्चेति । प्रथमपक्षे स्वस्य स्वकीयस्य स्त्रीपुत्रादेरपीत्यग्रिमश्लोकव्याख्याने इत्यर्थः । केवलेति । भगवदधीनजीवनानां सर्वांशे भगवदीयत्वेन विषयाः सर्वे भगवदीया एवेति भोग्यविषयेषु स्वीयत्वेनाभिमानाभावात् सा पक्षद्वयभेदेन स्वान्यविनियोगजनिता पुत्राद्यन्यविनियोगजनिता वा चिन्ता नास्त्येव, किन्तु हीनमध्याधिकारिणामपि तदभावार्थं बोध्यत इति भावः । चिन्ताभावे हेतुः पूर्वोक्त एव सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो ज्ञेयः । आद्यव्याख्याने पूर्वं स्वान्यविनियोगचिन्ता, द्वितीये पुत्राद्यन्यविनियोगचिन्तोक्ता । द्वितीयव्याख्याने इदं विपरीतमिति विभेदः । तेषां सा नेति । स्वपदस्य स्वकीयवाचकत्वपक्षे सा स्त्रीपुत्रादिविषयिणी चिन्ता नेत्यर्थः । निवेदनपदार्थो न नश्यति, विलम्बस्तु भवत्येवेति ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

ननु स्वस्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्यते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने कृतेपि प्रभुरङ्गीकृतवान्नवेति चिन्ता भवत्येव, इत्यत आहुः तथेति ।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।

विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तमोऽङ्गीकृतवान्नवेति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या उक्तनिवेदकवदित्यर्थः । पुरुषोत्तमेन निरोधलीलायां स्वतोन्यभजनं क्रियमाणा भक्तास्तन्निवार्य स्वयमात्मसात्कृता इति तादृशे स्वयं सर्वात्मना निवेदने कृते सा शङ्का नोचितेति ज्ञापनाय पुरुषोत्तमपदम् । तथापि स्वरूपानन्ददानेनानिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्रोपयोगासम्भवेनैव न शङ्कोदय इति ज्ञापनाय श्रीपदम् । तथा च तदुक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्येति भावः । कदाचिल्लोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशादन्यविनियोगेपि तथेत्याहुः विनियोगेपीति । प्रमादात्तथासम्भवेपि प्रभुर्न त्यक्ष्यति । यतस्तत्स्वभाववशात्तथाभूतमप्युद्धर्तु तत्साधनानपेक्षः ॥ ५ ॥

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतटिप्पणीसमेतम् ।

इति निवेदनविषयिणीति । इति असम्पत्तिप्रकारेण निवेदनविषयिणीत्यर्थः । पूर्वोक्तापि निवेदनविषयिण्येव, परं हानिप्रकारेणोक्तेति भावः । पूर्वोक्तमेव समाधानमत्रापि ज्ञेयमित्याहुः उक्तनिवेदकवदिति । मूलस्थतथेतिपदस्यार्थोयम् । सप्तम्यर्थे वतिः । यथा निवेदके, तथा पुरुषोत्तमे इति मूलानुसन्धानेनार्थः । तथा च यथा पूर्वश्लोकोक्तरीत्या निवेदककृतान्यविनियोगहेतुकनिवेदनहानिचिन्ता त्याज्या, तथा भगवत्कृताङ्गीकाराभावहेतुकनिवेदनासम्पत्तिचिन्तापि त्याज्येत्यर्थः । पुरुषोत्तमेनेति । एतेन हीनमध्याधिकारिणां निवेदनविषयकचिन्ताभाव उक्तः । उत्तमाधिकारिणामाहुः तत्रापीति । निवेदितात्मस्वपि मध्ये कृष्णसात्कृतप्राणानामुत्तमाधिकारिणां तु परमसौन्दर्यस्य स्वगतत्वाय तादृशाकारेण प्रादुर्भूते भक्तसहिते भगवति समर्पणस्य सिद्धत्वात् तदानन्देन पोष्यमाणानां शङ्काया उदयो यस्मात् स शङ्काहेतुर्नास्तीत्यर्थः । तदितरत्रेति । अम्बिकावनगमनेपि तं दोषं निवार्य स्वसन्निधुपयुक्ताः सर्वे कृताः, रासस्थानां तु गमनमेव नास्ति । इदमङ्गीकारस्वरूपं ज्ञेयम् । तथाप्युत्तमाधिकारिणां तु भगवदीयेष्व इतरत्रोपयोग एव न सम्भवति । तस्मिन् सति हि तादृशशङ्का भवतीति भावः । तदुक्ते इति । ताभिः श्रीपदसूचितलीलाभिश्च युक्ते निवेदने सति प्रमात् प्राप्ता शङ्का त्याज्येत्यर्थः । तथा च पुरुषोत्तमे यन्निवेदनं तद्विषयिणी पुरुषोत्तमकृताङ्गीकाराभावहेतुकनिवेदनासम्पत्तिचिन्ता, तथा निवेदककृतान्यविनियोगहेतुकनिवेदनहानिचिन्तावत् त्याज्येति मूलार्थः । निवेदनविषयिणी चिन्ता निवेदके इव पुरुषोत्तमेपि त्याज्येत्यन्वयः । अन्यविनियोगेपीति । अन्याश्रयणेपीत्यर्थः । ज्ञात्वा त्वाश्रया तदपि न कर्तव्यमित्याशयेनापिशब्दार्थमाहुः प्रमादादिति ॥ ५ ॥

१ उक्तनिवेदनवदिति पाठः ।

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमप्याहु लोक इति ।

लोके स्वास्थ्य तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।
पुष्टिमार्गेस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिला ॥ ६ ॥

कदाचित् प्रवाहवशाल्लौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मादौ वा आस्थितौ तत्र विघ्न एव भवति, न तु तत्फलमित्यर्थ । तत्र हेतु पुष्टीति । तद्भिनापि स्वबले नैव सर्वकर्ता यत इति भाव । पुष्टिमार्गाङ्गीकारे मर्यादा न सहत इति ज्ञेयम् । एव सति किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहु[1], साक्षिवत् तत्कृत पश्यत ॥ ६ ॥

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधन वा हरीच्छया ।
अत सेवापर चित्त विधाय स्थीयता सुखम् ॥ ७ ॥

सेवाकृतिरिति । गुर्वाज्ञाया अबाधन यथा भवति, तथा सेवाकृति पूर्वमपेक्षिता । एव वर्तमानाना कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत्, गुर्वाज्ञा विरुद्धा भवेत्, तदा तथा कार्यमित्याशयेनाहु बाधन वा हरीच्छया । विकल्पेनाबाधनमित्यर्थ । एव सति गुर्वा

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतटिप्पणीसमेतम् ।

लक्षणान्तरमपीति । पूर्वश्लोके भगवत पुरुषोत्तमत्वगेतद्विषयकाङ्गीकारे लक्षण सन्देहाभावसाधकमुक्तम् । तत्र पुरुषोत्तमोपि नहि सर्वानङ्गीकृतवान्, किन्तु काश्चन तान् कृपासादविषयान्, तत्राह कीदृश इति स्फुट ज्ञातु न शक्यत इत्यधुना लोकवेदस्वास्थ्य दूरीकर्तृत्वरूप लक्षणान्तरमप्युच्यते इत्यर्थ । स्वास्थ्यपदस्यार्थमाहु आस्थिताविति । आस्थिति कायवाङ्मनसा तदीयत्वमिति लक्षणमेकादशस्कन्धे पसुयोधि[?]यामुक्तम् । तथा च मूले स्वास्थ्यमित्यत्र सप्तपदेन लोकवेदौ तन्निष्ठता न करिष्यति, सिद्धा च दूरीकरिष्यति, विघ्नसम्पादनेनेति शेष । तथा चैव विघ्नेनाङ्गीकारो निश्चेय इति भाव । आस्थितौ विघ्नकथनेन इद मम कार्यसाधकमिति ज्ञात्वा तद्विश्वासेन वाणिज्यादिकमाश्रमधर्मादिक च न कर्तव्यम्, किन्त्वेतद्द्वारा भगवान् करिष्यतीति ज्ञात्वा तदुभय कर्तव्यमिति भाव । स्वयमेव समर्थत्वात् स्वकीयाना साधननिष्ठता निवारयतीत्याहु तद्भिनापीति । ननु तथापि सिद्धस्य साधनस्य विघाते को हेतुरित्याशङ्क्य तृतीयचरणस्य तात्पर्यान्तरमप्याहु पुष्टिमार्गाङ्गीकारे इति । किं कार्यमिति अनास्थया कृतो यत्न कथ फल जनयेदित्यर्थ । साक्षिवदिति । यथा साक्षी कर्तृत्वनिवृत्त्योर्हर्षशोकरहित सन् कर्तृसम्पादित फल पश्यति, तथा हर्षशोकरहिता सन्त साधनानास्थया भगवत्सम्पादित फल विघ्न वा पश्यतेत्यर्थ । तथा च भगवानेव तस्य यत्नस्य फलजनकता सम्पादयिष्यतीति भाव ॥ ६ ॥

विकल्पेनेति । साक्षात्सेवाया सिद्धाया साधनरूपसेवायामबाधनमिति भ्यव

---

१ बाधनमिति पाठ । २ बाधेन बाधा भनसेन्द्रियणो इति

ज्ञाया श्रवणाद्ये साधने वा सेवैव मुख्या यतोऽतस्तथैव स्थेयमित्याहुः अत इति । एवं सति पर्यवसितं सुखमेवेत्याशयेन सुखमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

कदाचित् पुत्रादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे गतिमाहुः चित्तोद्वेगमिति ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति । तथाहि । श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चान्निवेदनवार्ता । तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनादिगपि । अतस्तत्कृत-चिन्तान्यवियोगचिन्तादिसमाहितिर्निरर्थेति विचार्य साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधान-माहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।
वदद्भिरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीरघुनाथकृतटिप्पणीसमेतम् ।

स्थितविकल्पेनेत्यर्थः । तथैव स्थेयमिति । आवश्यककार्येऽपि कदाचित् कार्यस्य तत्परत्वेऽपि चित्तं सेवापरमेव विधातव्यम्, नतु तत्कार्यपरमिति यत्तानुचिन्तनं न कर्तव्यमिति ग्रन्थारम्भे उक्तोऽर्थ उपसंहृतः ॥ ७ ॥

कदाचिदिति । कदाचित् पुत्रादिर्वियुक्तो भवेदिति सम्भावनया जनितं यद्दुःखं चित्तस्य पुत्रादिपरता इति यावत्, तेन हेतुना निवेदनविषयिणी चिन्ता सम्भवति । तया च लोकवन्ममापि चित्तं पुत्रादिपरं जायत एवातो निवेदनं सम्पन्नं नवेति चिन्ता-सम्भवे गतिं तद्भावप्रकारमाहुरित्यर्थः । चित्तस्योद्वेगं भगवदीयत्वाननुसन्धानेन पुत्रादि-परतां विधायापि यद्यत् करिष्यति सा सा तथा तत्तत्प्रकारिकैव तस्य लीला निवे-दितां सर्वं कार्यं स्वयमेव करोतीति भावः इति मत्वा निवेदनविषयिणीं चिन्तां त्यजेदिति मूलार्थः । एतच्चिन्तास्थापने 'संशयात्मा विनश्यती'तिवाक्यात् सर्वमेव नश्यतीति द्रुतमित्युक्तम् । निवेदनं सम्पन्नमेव, परं विलम्बेन भगवतः स्वशरणं चिकीर्षि-तमिति ज्ञेयमित्यर्थः ॥ ८ ॥

तत्कृतेति । निवेदनकृता यत्करणाकरणविषयिणी चिन्तेत्यर्थः । साधनफले इति । साधनं श्रवणाद्यष्टकम्, फलमात्मनिवेदनम्, शरणागतानेकदैवैते सम्पद्येते इत्यर्थः ।

---

१ भगवद्भक्तद्वारा भगवच्छरणगमनं तदनुगन्धान च साधनम् । फलं भगवदङ्गीकारः । ततो भगवद्भक्त-द्वारा भगवच्छरणगतौ भगवता निवेदनस्याङ्गीकाराद्धि किंतु क्रमनियमाभावान्निवेदनसिद्धेस्तत्र चिन्तासाधनं ना-मयुक्तत्वादिति भावः । २ उत्सृष्टं नेयमिति पाठः ।

यस्मादुक्तरीत्या स्वतः सर्वमसामर्थ्यमतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदयम् । भक्तिमार्गीयान् सर्वानंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं सात्विकं च न चेत् पश्यति, तदा सर्वात्मना तथा भवति । नित्यमिति नैरन्तर्यमुच्यते । अन्यथा कालेनायुर्धर्मभ्रंशः स्यात् । अन्तःकरणे तथाभावेऽनभ्यासे वा तदा वदनमात्रस्यापि सिद्धिं ज्ञापयितुं सततमेवं वदन्नित्युक्तम् । एवं सति लोकशिक्षाप्यानुषङ्गिकी सिध्यति । एतदुक्तप्रकारेण सेवायास्तदा ध्येयनिश्चयो वा । तन्निदर्शनं न मनागपि व्याहृत 'यमेवैष वृणुते' इति श्रुतेर्मे गतिरित्येव, एतत्प्रकारविवेचनपरः ।

भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दास्यार्थमिदमुच्यते ।
अन्यस्य सर्व एव तडिद्गुणमात्र नार्थिना ॥ १ ॥
भक्तिमार्गसुधासिन्धोर्विचारमथनैः स्वयम् ।
स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः ॥ २ ॥
यथोद्धृतानि रत्नानीत्थं हृदि धृत्वा भजाधिपम् ।
भजन्तु भक्ता धीमन्तो न विमुञ्चन्ति कर्हिचित् ॥ ३ ॥

इति श्रीश्रीविट्ठलदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

नवरत्नम् ।

श्रीमुरलीधरकृतविवृतिसमेतम् ।

नवरत्नसुवर्णनिर्मिता परमानन्दरसस्य बोधिका ।
हृदये वसतात् सदोर्मिशी परमोच्चग्रहरश्मिरूपिणी ॥ १ ॥
रसमयसुवर्णधारावर्षणशीला दशविधमगुणाः ।
श्रीमुरलीधरलीला मुरलीधरमानसे सन्तु ॥ २ ॥
वसु सुवर्णमयं परितः परं रसमयं च विधाय सुमण्डलम् ।
विविधनर्तनदर्शनतत्परा रसनिधिर्मयि सैव विराजताम् ॥ ३ ॥
ललिते वृन्दाविपिने वैकुण्ठादप्यतीव रमणीये ।
क्रीडसि नवरसरुचिरे श्रीस्वामिन् मम हृदम्बुजे क्रीड ॥ ४ ॥
श्रीशुकदेवरहस्यं प्रकाशितं यैरतीव रमणीयम् ।
श्रीवल्लभाभिधानैर्नवधा तेभ्यो नमोस्तु मे सततम् ॥ ५ ॥
श्रीमद्विठ्ठलप्रभुषु श्रीनवरत्नप्रकाशनिपुणेषु ।
सप्तविभक्तिरहस्यप्रकाशकेष्वस्तु मे प्रणतिः ॥ ६ ॥

अन्तःखलु धर्मप्रधानकलिदूषितसमयतीर्थकर्तृगणद्रव्यश्रद्धादीनामसाधकत्वाद्वर्द्धिष्णु-दुरवगाहपाषण्डादिनिपुणजनतासङ्गसञ्जाताज्ञानान्धकारसंभृतहृदयदरीनिविष्टविषयविषरस-संभृतानन्तसंसारसागरे निमग्नतया चेतसः स्थिरत्वाभावाद्धियुक्तरीत्या श्रवणादिसाध-नाभावान्नवधा रत्नैश्चिन्ताभावपूर्वकं तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकं च निरन्तरमष्टाक्षरवदनकृति-साधनरूपसाध्यफलागतिसुगमां च श्रीकृष्णस्य श्रीमद्वदनरूपाः श्रीवल्लभाचार्या दैविजी-वानुद्दिधीर्षन्तः प्रथमं मध्यनायकत्वेनालौकिकश्रेष्ठभावोर्विशेषरूपया निगूढद्विमाभया आर्य-योपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येत्यादिना ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापि ।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

वसन्तादिपूर्णरसमयषडैश्वर्यादिमूर्तिमद्भिः सेवितस्य गोरसदानादानप्रवीणस्य द्वादशसुवर्णरत्नराशिकल्पतरुस्कन्धारूढस्य श्रुतिगीतद्वादशमाससंवत्सरादिरसमयसमयप्रा-दुर्भावकस्य गायकपरित्राणनिपुणैकव्यक्तिपदमात्रात्रिचोदितसकलसुषमास्पदकीर्तिप्राकट्य-कारकस्य सप्ताक्षरव्यञ्जितोत्तमवासरस्य त्रिभुवनललितमाधुर्यादिसुगन्धफलतामधुपानप्रवीण-

घट्पदस्य स्वीयजनानामाधिदैविकसकलज्योतिषामानुकूल्येन चिन्तानिवर्तकस्य द्वितीयचरणमात्राविद्योतितत्रयोदशमाससवत्सरस्य लौकिकसकलशुभकर्मानर्हस्याप्यस्य भगवद्भक्ताधिक्यद्योतकस्य तथाधिकमात्रायास्त्रयोदशीत्वेनानङ्गस्यापि साङ्गतासिद्धिबोधकस्य उत्तरदलाद्वैलक्षण्यद्योतनायाधिकैकमात्रस्य वा। सा मात्रा तु गायकपरित्राणसमर्थेयं, प्रथमचरणे गूढा न्यासे द्वितीयचरणे च प्रकटीकृता। अत्र च याकारे आकृतिरूप निगूढवासुदेवपदमुत्तरान्वयि गूढमासमन्तात् सर्वप्रकारेण निवेदित आत्मा यैरित्यर्थात्। अत एव यद्पदत्वमुक्तम्। तस्य चरणान्तत्वेन गुरुत्वामनत्वे सत्येकादशेति प्रथमचरणेन साम्यम्। अनेन मलिम्लुचातिरिक्तैकादशमासाना सङ्ग्रहोपि द्योतित । द्वितीयचरण तु नवोदस्मान सममेव, निपदायास्तृतीयान्त्यस्य व्यञ्जनस्य न्यासेऽगणनाद्याकारस्य वैकल्पिकत्वाम नत्वे द्वादशमाना। अकारोप्यत्राकारात्पूर्वं प्रश्लिष्टो येष सकलवाङ्मय। अस्या गायत्र्याश्च तुरीयस्य तुरीयनिगमवेदैकत्वाभवात् त्रिचरणै साम्यम्। अस्यास्त्रिचरणाया श्चालौकिकश्रेष्ठभानुप्रकाशत्वम्। एकस्मिन्नक्षरे मध्यस्था दिव्यव्यक्तिरव्यक्ता पूर्वोत्तरान्वयिनी। पूर्वान्वयित्वे यशोदो:सङ्ग लालिता व्यक्तिरुत्तरान्वयित्वे कीर्त्यङ्कलालिता व्यक्ति-र्व्यञ्जिता वेद्या। अङ्को ह्यानन्दात्मा विद्यारूपो भगवत्साकल्यस्थानम्। व्यक्तिद्वयेप्यङ्कस्य समत्वात्। सकलवाङ्मयाक्षर एकस्मिन्नेकाङ्क। द्वितीयाद्या व्यक्तौ द्वितीयत्वेपि तज्जातित्वेनाद्वयत्वादेकाङ्क। एव चैकाङ्कस्य द्वित्वे ह्येकादशी कृष्णवल्लभा प्रकटा भवति। तथा च दलद्वयस्याद्यन्तरहितत्वेन वर्तमानता उत्तरोत्तर वर्तमानस्यैव रसावहत्वात्। योगबलेन भूतभविष्यत्पदार्थयोर्वर्तमानत्वेपि सर्वेषा तथात्वाभावात्। अत एव यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यमिवेचोश्रोतरभूयस्त्वमिवान्तिमवर्णेऽर्थपर्यवसानमनुभवसिद्ध रसावहम्। अतो वाक्यपदीये 'पदेन वर्णा विद्यन्त' इत्यादि। किञ्च, दीर्घे मानाद्वयम्, श्रवने त्रयमिति हरि पञ्चधा इह द्वितीयचरणे मात्रात्रय शुभम्, तद् द्वितीयव्यक्तया व्यक्तीकृत कदापीतिपदेनेति। न हि कदापीतिपदमेकम्, किन्तु पदत्रयम्। एवञ्च कदाप्येतस्मात् पदद्वयात् यदितिपदमाचार्ये शेषत्वेन पूर्वोक्तसकलप्रकारबोधक ह्येव स्थापितम्। गायत्रीमात्रार्थसाम्याय तत्सारमद्वितीयव्यक्त्या व्यक्तीकृत वेद्यमिति भाव। द्वितीयचरणान्त इति पदे सति पञ्चदशमात्राभिस्तिथय इति कृष्णजन्मपक्ष। पदैर्भूतभविष्यद्वर्तमाना एतत्सकलरहस्यार्थबोधकस्य 'क्षय कार्तिकादित्रये नान्यत स्यात् तदा वर्षमध्येऽधिमासद्वय चे'ति सवत्सरस्यास्य मासास्त्रयोदशेति सोपि सगृहीत। इति पद्यात्क्ये गूढा षोडशकला द्वादशकले प्रविशन्ति। तृतीये मात्राभि सूर्यस्य कलानामक्षरैर्मासाना पदै प्रातरादीना प्रयाणा द्योतकस्य तुर्ये मात्राभि शुक्लपक्षद्योतकस्य रुद्रसङ्ख्याक्षरैर्मलिम्लुचातिरिक्तमासाना च पदैर्हरे पञ्चात्मकत्व स्पष्टयत, प्रात सङ्गममध्याह्नापराह्णसायाह्नाना च द्योतकस्य,

दिनमणेरुत्तरपदमात्रस्य भावप्रयोगात् (?) स्वार्थिके कनि सत्याद्युदात्तस्य माणिकस्य रसेन परिपूर्णस्य सम्बन्ध्यानन्दात्मकरसस्य प्रतिपादकतया आर्याविशेषरूपाया मध्यनायकरत्नबोधिकाया अपि तद्रूपता वेद्या । वेद्यवेदकयोः संपृक्तत्वात् । एवमग्रिमेष्वपि वेद्यम् । श्रीकृष्णस्य हरेः पञ्चविधत्वं श्रीप्रभुचरणैर्निबन्धे उक्तम् 'अग्निहोत्रं तथा दर्शः पूर्णमासः पशुस्तथा । चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात् पञ्चविधो हरिः । तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यत् । प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यं तु वैकृत' मिति वेदार्थस्य पञ्चधात्मकतां सूचयितुं हरिनामाक्षराणि चत्वारि भक्तजनदुःखहरणदक्षाणि समूहरूपेण पृथग्वर्णाभावरूपं च पञ्चममिति पञ्चधा हरिः । तथा कृष्णनाम्नि वर्णाः पञ्च । पञ्चवर्णोऽग्निरिति स पञ्चवेदादिरिति पञ्च, अस्यासनत्वं पशूनामगम्यत्वाय सूचितम् । भगवतः भक्तानां तु विद्यात्मकसुखारविन्दपार्श्वे प्राप्य कृतार्थता भवति । रमन्ते भक्तानां मनांसि यत्र तद्रत्नम् । प्रत्येकं रत्नेषु नवस्वेपि क्रमो विवक्षितः । श्रेष्ठमानोः समयपरिच्छेदकज्योतिषां प्राधान्यात् तद्रत्नस्य मध्यनायकत्वम् । आर्याविशेषरूपछन्दसा द्योत्यद्योतकयोः श्रेष्ठत्वसूचनात् ।

अर्थस्येयमतिश्रेष्ठा श्रेष्ठमानो रसात्मिका ।
विशेषरत्नतापन्ना चतुरत्नप्रकाशिका ॥ १ ॥
मध्यस्था प्रथमं प्रोक्ता श्रीमद्वल्लभदीक्षितैः ।
सोर्पश्री राजतां नित्या मुरलीधरमानसे ॥ २ ॥

अष्टरत्नप्रधाननवमस्योर्धशीर्त्वं प्रधानतयोक्तं माणिक्यस्य ।

रसमध्यसुवर्णनायिका परमाणिक्यतया निरूपिता ।
हृदये मुरलीधरस्य सा लसताश्लिस्यमनन्तवैभवा ॥ ३ ॥
त्रिचरणसमगायत्री तुरीयचरणेन संयुता तत्त्वम् ।
वेदानां प्रसवित्री मुरलीधरमानसे प्रकाशयताम् ॥ ४ ॥ १ ॥

दिनमणेर्दिनप्रधानस्य रत्नमभिधाय क्षणदाप्रधानस्य कृष्णसाराङ्कस्य स्वात्ममृतबिन्दुरूपं मुक्ताफलमिदं द्वितीयं रत्नमाहुः निवेदनं च स्मर्तव्यमित्यादिना ।

निवेदनं च स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

स्मरणं चन्द्रेच्छे च मानसे । एवं च 'अहं तवास्मि' इति निरन्तरं स्मर्तव्यम् । तच्च भगवत्प्राप्तौ मुख्यं निमित्तम् । तेनाविकृतषोडशदल आधिदैविको भगवन्मनश्चन्द्र आधिभौतिकेऽविकृते सत् विद्यात्मतां याते अक्षरात्मनि व्यापके पञ्चदशकलत्वं प्राप्ते सेवकमनश्चन्द्रे निविशते, तदा षोडशकलो भवति । अत एव षोडशसङ्ख्याकाक्षराणाम् । अत

१. जयतादिति पाठ । २ निवसत इति पाठ ।

एव रसिकशिरोमणिभिः श्रीहरिरायैः 'यद्ध्यानाच्चेतोपि च षोडशफलमञ्जसा भवति' इत्युक्तम् । इहापिशब्दाच्चितुरुक्तहृद्वाराणां तत्सङ्ख्याकानां चतुःषष्टयक्षरात्मिका कला सम्पद्यन्ते । सर्वथा तादृशैः कायवाङ्मनोभिरनन्यतया ये भवन्त प्रपन्ना तादृशैरिति सहार्थे तृतीया । यद्यपि स्मरणे सङ्गापेक्षा नास्ति, तथापि तादृग्भिः सह सङ्गनिवृत्त्यर्थं तथोक्ति । सर्वसेवकानामीश्वरत्वेन निरोधकत्वात् तेष्वेव दैवेषु आत्मत्वमात्मीयत्वं च मनुते । अतो 'निजस्य नैजाना चाविकृतेच्छात' इत्युक्तं प्रकाशे । भगवदिच्छा परीक्षार्था तात्त्विकी नेत्यविकृतोक्ता । स्वतन्त्रप्रवाहमर्यादयो रत्ने शोकोत्पादकत्वात् शोकाश्रयत्वात् वा शुक्तित्वम् । क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकनिवेशयोग्यत्वात् शोकजनकत्वम् । करिष्यतीति सामान्योक्त्या केषुचिदविलम्ब, केषुचिन्मध्यविलम्ब, केषुचिदतिविलम्ब इति द्योत्यते । वर्तमानसामीप्ये भविष्यत्प्रयोगात् प्रथम पक्ष, इतरौ तु सामान्यप्रयोगाद्वेद्यौ ।

उपरितनमर्यादा शुक्तिरधस्तात् प्रवाहरूपा च ।
उभयो' सम्पुटगर्भे स्वातिरसार्द्रं विरत्नरत्नेव ॥ १ ॥
उपरि महामर्यादाधस्तनशुक्त्या तु सम्पुट याता ।
पुष्टिर्मुक्ता मध्येऽससृष्टा निर्गता ततः शुद्धा ॥ २ ॥
पुनरनयोर्न प्रविशति भगवद्रूपासु ससक्ता ।
इत्थं मुक्तारत्न द्वितीयमथ द्वय वेद्यम् ॥ ३ ॥
प्रवाहवेदमर्यादाशुक्तिसम्पुटनिर्गताः ।
कलानिधे रत्नरूपा मुक्ताः स्वातिरसात्मिकाः ॥ ४ ॥
भवन्तु भावे सरसे तासां मम रसात्मनः ।
सदा येन भवेद्भावो भूषणे भूषणे विभो ॥ ५ ॥
प्रशस्तपुष्पवद्रत्ने सर्वरूपरसान्विते ।
श्रीकृष्णहृदये भाते भासेतां हृदये मम ॥ ६ ॥ २ ॥

रसवर्षणभावद्वादशात्मककृष्णसाराह्लादकरसरत्नाभ्युदयमात्रेण प्रफुल्लतां प्राप्तवतो, अत एव प्रशस्तयोरत्युत्कृष्टरमार्णवशरत्स्वरूपयो कमलयो पुष्पयो सदा विद्यमानसाययोर्गोविप्रप्रतिपाठकत्वशमवर्तकयोरलौकिकयो सकलभुवनाप्यायकत्वेन पुष्टिप्रदयो सूर्याचन्द्रमसो सदानन्दरूपे रत्ने अभिधाद तृतीया सेवकव्यक्ति विना सेव्यलीलानुदयात् पूर्वोत्तरान्वयिनीं सदानन्दमध्यस्था चिदानन्दाक्षरदैवजीवसम्बन्धिदेहरूपविद्रुमारया मध्यपुरुषबोध्यामादिगन्ता रत्नव्यक्तिमाहु सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।
अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

---

१ अन्न इति पाठ । २ सदा विद्यमानसाययस्थरत्नरूपयोरिति पाठ ।

वसुन्धराप्रधानानां प्राकृतानां स्वस्वीयदेहानां परब्रह्मसम्बन्धादलौकिकतां यातानामक्षरस्वरूपत्वेन चिद्रूपसात्त्विकानां विशेषेण मङ्गलद्रुमरूपता भवति । सा तु श्रीकृष्णाभरणत्वेन । किञ्च, द्रवतेर्गत्यर्थकत्वेनान्यत्र विनियोगसम्भव उक्तः । न हि स वस्तुतो भवति । यतोऽलौकिकद्युतिपकेन प्रभुचरणारविन्देन स्वसेवकमनोमत्तमातङ्गस्य स्वस्मिन्नेव स्थापनाय निलाङ्कुशधारणं कृतम् । अत उक्तं ललिते 'एतत्पदपङ्कजमधुमत्तस्यायं निसर्ग एवाभूत् । नेतरभावं भजते यदङ्कुशो नित्यमेवास्ती'ति । प्रभोरिच्छायाः सर्वकार्यकरणसमर्थाया यः सम्बन्धः स परब्रह्मणः समत्वात् सर्वत्र समः । ईदृग्देहानां मङ्गलमन्दिरवेदत्रयात्मकाक्षराधारत्वेन मङ्गलरत्नत्वम् । स्वयं विराजमानत्वात् ।

भौमानां विद्रुमत्वं भवति निजपरस्वीयदेहादिकानाम्
कृष्णेऽद्धा स्वार्पितानां रसमयपरमालौकिकानां स्वभर्तुः ।
स्वीयाचार्यस्य मार्गे परमगुणगणालङ्कृता भूषणार्हाः
सेवायुक्ता यतस्ते रसमयवपुषो जङ्गमाः कल्पवृक्षाः ॥ १ ॥

सचिवे ता भवन्तु प्रणयरसभरा उर्वशी रत्नमध्यात्
धात्र्यायां वीथिकायां हृदयपरिसरे रत्नरूपाः सुवर्णे ।
इत्थं रत्नं तृतीयं नवसु निगदितं पूर्णकामाप्तमानम्
तस्मै दिव्याय मे स्वात्म इह परमानन्दलाभाय नित्यम् ॥ २ ॥ ३ ॥

ननु मध्यहीनाधिकारिभिः स्वयं ज्ञात्वा स्वदेहस्यार्पितत्वेपि पुत्रादीनां ज्ञानाभावात् तद्देहानामज्ञानावृतचित्तत्वेन लौकिकत्वादन्यविनियोग एव भवतीति भवति-चिन्तेति पुत्रस्य सेवकजनशिक्षकस्य महापुरुषस्य निवेदकस्य प्रभावादज्ञानकृतनिवेदितदेहानामपि चिन्ता न कार्येति मरकताभिधं तुरीयं रत्नमाहुः अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।
यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

अज्ञानस्य व्युच्चरणोत्तरक्षण एव सम्बन्धात् प्रथममुपादानम् । तथावरकत्वात् सङ्कर्षणनिचोलनिभम्, यतः ज्ञानात् प्रकाशकत्वेन मार्त्तण्डप्रायात् सच्छाद्देतुभूतात् कृतं देहादीनां परमात्मने समर्पणम्, श्रीकृष्णाधीनकरणं प्राणानामविकृतमव्ययत्वाद्वेयम् । अतस्तस्मै हितः प्रत्ययः सातिशय वेधः । पुत्रेऽज्ञानाद् ज्ञानादर्पितं स गृह्णाति, पुत्रत्वेन वैषम्याभावात् । तदीयत्वेन रत्नमपि तादृशम् । प्रियतेऽनेनेत्यहन्ताममतात्मको विविधदुःखदो मनोदेहेन्द्रियविकृतिजनकः संसारो मरः, तस्य कतो नैर्मल्यजनकः । यतः कं निरतिशयानन्दः, तं तायति तनोति वा उपलयान्तः । मनोदेहेन्द्रियादीन् स्वभावतो मलिनान्

१. भास्करेति पाठः ।
५ म. ए.

कतकापरपर्यायनिर्मलीकृतघनरसं शोधयति, तथेदमपि । अतः प्रमाणरूपरामेण तार्क्ष्यवर्णवसनं धृतम् । अज्ञं सुज्ञं वा पण्डितत्वादनुगृह्णाति ।

सरस्वतीरूपनिचोलरामसाङ्गे य आनन्दमये रसायाम् ।
श्रीबालकृष्णो रमते यथेच्छं तं पूर्णकामं प्रणमामि देवम् ॥ १ ॥

बुधो विद्यारूपः प्रकटपरमानन्दजनको
निचोलं यच्छीलं सकलरसशृङ्गारविभवम् ।
धृतं येन स्वच्छं मरकतमणिप्रख्यमतुलम्
स मे चित्ते भूयादखिलतिमिराज्ञानदलनः ॥ २ ॥
निकुञ्जे मल्लीनं सरसरमणीनां हृदि तटे
प्रसिद्धं वृन्दाया विपिनभुवनेत्र प्रतिदिनम् ।
प्रमेयं विख्यातं दशरथरसालङ्कृतवपुः
महातेजःपुञ्जं मनसि मम भूयादनुमितम् ॥ ३ ॥
मरकतमिह रत्नं यदुघरोत्तमेत-
त्प्रभवतु मम चित्ते शोधनाय प्रकामम् ।
गुरुचरणसमर्प्या स्वापया पुण्यकर्त्री
सकलदुरितहर्त्री सर्वकामप्रदात्री ॥ ४ ॥

इति कुपस्य मरकताख्यं चतुर्थं रत्नम् ॥ ५ ॥

स्वनघः कर्ता सकलशास्त्रमर्मज्ञः श्रीजिनेन्द्रनः पूर्णपुरुषोत्तमोऽर्चितमहीमहतवान्, न वेत्ति संशयमुरिधीर्यो मुकुन्दमुखारविन्दनेत्रोनिधिरूपा. श्रीशास्त्रस्य आचार्याः सर्वदा

येनाममामित्वेन तदीयत्वात् । एवं ब्रह्मानन्दादुद्धरणं पदार्थमात्रस्य वेद्यम् । भजनानन्दे योजनं तु पूरणात् पुरुषधर्मः ।

पूरणात् पुरुषतामनवद्यामुत्तमां समधिगम्य रमेशः ।
सोऽयमत्र नहि मुञ्चति भक्तान् क्रीडति प्रतिदिनं हृदयेषु ॥ १ ॥
पुष्यति प्रतिदिनं हृदये वै येन राग इह भक्तजनानाम् ।
तद्धरो रसमयं पररत्नं पुष्पराग इति मे मनसि स्यात् ॥ २ ॥
स्वस्य स्वीयजनस्य वा परवशत्वादन्ययोगो भवेत्
दैवादत्र सदा तदा निजजनैश्चिन्ता न कार्या यतः ।
सामर्थ्यं पुरुषोत्तमस्य सततं श्रीमत्गुरुर्व्याहृतम्
जानीयादिति पुष्परागरचना मे मानसे भासताम् ॥ ३ ॥
इति पुष्परागाख्यं पञ्चमं गुरुदेवस्य रत्नम् ॥ ५ ॥

अहं ममेत्यसद्ग्राहेण लोचति यस्मिन्निति लोकः, पुनः पुनरावर्तनदः प्रवाहमार्गः । अत्र लोचनं नामाहन्ताममतयोरेव विशेषज्ञानम् । तत्र व्यवहारे क्रियमाणे सेवकस्य स्वयनाशनाथ फलं न भवति, किन्तु लोके व्यवहारेण फलाभावात् खेदे सति हरिः करिष्यति, तदेव भविष्यतीति निश्चये जाते भगवान् पुष्टिमार्गे एव तिष्ठतीत्यनायासेन सकलमनोरथाः सेत्स्यन्तीति तटस्थतया सेवकैः स्वेयमित्युपदिशन्ति, मर्यादामार्गेऽपि स्वय-नाशनायोपदिशन्ति लोके स्वास्थ्यमित्यादिना ।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।
पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

भक्तानां स्वयनाशनेन सकलं दुःखं हरतीति हरिर्यतोऽयं तृतीयमार्गस्थः । मर्यादा-मार्गे देशादीनां कृष्णाश्रयोक्तरीत्या साम्प्रतमसाधकत्वात्, तत्र प्रत्युत प्रत्यूहमेव करोति परीक्षार्थे, स्वतन्त्रेच्छत्वाच्च, पुष्टिमार्गस्थितत्वेन सुखमेवान्ततः प्रयच्छतीति पुरुषार्थद्वयं सम्पद्यते । अन्यथा विततानेकविध्युक्तसाधने क्लेशेऽपि फलाभावे सुतरां क्लेशः । तस्मात् स्वयं कविनाज्ञा रसाधायकरीत्या अलौकिकं न केनाप्यपनोद्यं फलं प्रयच्छतीति भावः । अत एव कवेर्वेज्ञरत्नेन भजति पर्वततुल्यं किल्बिषं गच्छत्यनेनेत्यन्वर्थेन सर्वं सेत्स्यतीति साक्षितया सेवकैस्तत्कृतिं पश्यद्भिरेव स्थेयम् ।

वाणिज्यादौ च वेदे विविधविधिकृतौ विभ्रमेवेति वेद्यम्
यस्मात्तस्मात् फलं वै न भवति नितरां कर्तुरस्य कृपापाः ।
अन्तःसम्भूयोऽभिमानो न भवति सुतरां मानसं वज्रतुल्यम्
नीरीभूतं यथा स्यात् फलमपि भवति श्रीशनिष्ठं यतस्तत् ॥ १ ॥

१. प्रतिक्षणमिति पाठः । २. वेदे इति पाठः । ३. भवतीति पाठः ।

पर्वतसदृश किल्बिषमिह जातं भक्तवर्गस्य ।
व्रजति त्वरितं वज्रादिवन्वर्थे कवे रत्नम् ॥ २ ॥
साक्षीवत्कृतिमादराद्भगवतो यूयं सदा पश्यते
त्येव सिध्यति सर्वमीप्सिततम कार्ये फलं कर्तृतः ।
पुष्टिं श्रीपुरुषोत्तमादुपदिशन्त्यद्धा तदात्मका
आचार्या इह वैष्णवान् स्वकुलतोप्यन्यानन्याश्रितान् ॥ ३ ॥
मर्यादात्यजनं विरुद्धमिह यत्तत्त्व परं ये विदुः
पुष्टेः किन्तु दरिंमरित्वमिति तद् स्वीकृत्य पुष्टिं गताः ।
दुष्टास्ते दयया सदा विरहिता वेदाक्षरान् वाचय-
न्त्यद्धाज्ञान्गुरुमीश्वरं सुपदिशन्तीशस्य चाज्ञांद्रुहः ॥ ४ ॥
इति कवे शुकस्य रत्न षष्ठम् ॥ ६ ॥

कविर्ज्योतीरूपो देवः सुरासुरभावज्ञ आसुरभावं निन्दयन् दैवभावं स्तुवन् स्वर-त्नेन । एवं च प्रह्लादादिष्वासुरत्वेपि तद्धर्माभावादनुग्रह, अन्येषु निग्रहोपि सूचितोऽनेनेति । दैवैः किं कृत्वा श्रेयमित्यादिसन्देहान् सारिरत्नेन निवर्तयन्ति सेवाकृतिरित्यादिना ।

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।
अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥ ७ ॥

गृणाति परमात्मनस्तत्त्वमिति गुरु, 'गुरुं न मर्त्यं मन्येते' ति वाक्यात् तदुपदिष्टमार्गेण रसमयी सेवा विधेया । तत कदाचिद्भगवदनुग्रहवशात् सेवकस्य विशेषेच्छाया भावरूपा भगवदिच्छा विशेषाकृतिरूपेण तन्मनस आकर्ष्यमाणोति, साक्षा भगवदिच्छेत्यनुमित्या मन्तव्या सेवकै । एवं हि गुर्वाज्ञाबाधनमबाधनं वा हरीच्छया भवतीति भाव । इन्द्रनीलाख्य त्वतिमन्थरगते सर्ववर्णरत्नपनोधवर्णे तमसाप्यनुपनोध च सर्ववर्णरत्वात् । इन्द्र परमात्मा परमैश्वर्यवान् सकलरसाया जीवनरसतर्पणशील, अत एवाद्युदात्तस्तद्वदतिनिबिडश्याम-सुन्दरमूर्तिं, तस्येदम् । अनेन श्याममुन्दरसेवाया मन प्रभृतीना वृत्तयोऽन्याभृततया मन्थरगतयो रसमयशिरविपुलतारूपा भवन्त्यत उक्त सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखमिति । निबिडरसकृतसेवाया मन्थरा गतिर्भवतीति सेवामक्त्या सकल सिध्यतीति व्यञ्जितम् ।

गुरुणा परमेश्वरेण या कथिता सर्वरसप्रदायिनी ।
परमा तनुसेवना तथा वसुना स्वस्य च सा परा मता ॥ १ ॥
यदि सा ऽधिका ततो भवेन्मनसस्तस्य परात्मन प्रभो[१] ।
परमेष्टतयाऽगम्यता निजमर्कटवरध्य चेन्द्रियम् ॥ २ ॥

---

१ आत्मइह इति पाठ ।

स्थिरतामुपगम्य सेवयावसरेऽन्यत्र कथारसैस्तथा ।
रविनन्दनरत्ननीलतां रमणीयां हृदये विचिन्तयेत् ॥ ३ ॥
इन्द्रनीलमणिवद्विराजिता सर्ववर्णसमवायदेवता ।
मन्दमन्दगतिमद्रसान्विता मे मनस्यविरतं विराजताम् ॥ ▪ ॥

यद्यप्यनेन भगवत्सेवायां देहेन्द्रियाणां स्थिरतोपदिष्टा, तथापि 'यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः । इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि' इत्यादिवाक्यैर्वायोरिव मनसो दुर्ग्रहत्वेनानेकदुःखोत्पत्त्या चित्तोद्विग्नतायां सेवाया असम्भवात् तन्निवृत्त्यर्थं गोमेदाख्यं विधुंतुदस्याष्टमं रत्नमाहुः चित्तोद्वेगमित्यादिना ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

सांसारिकानन्तदुःखजन्योद्वेगस्य चित्तधर्मतयाऽवश्यं प्रथमं भवनमित्यकृतोपि स कृतो भवतीति वक्रोक्तिः । तदुक्तं सेवकस्य यत्कर्तव्यं तदाहुः हरिर्यद्यत्करिष्यतीत्यादिना । सेवकानां सकलदुःखहर्ता हरिर्यदनेकविधं दशललिततलकाख्यकृतिबोधितफलाश्रयं करिष्यति, तथैव तस्य हरेर्लीलेति मनसि ज्ञात्वा चिन्तां शीघ्रं विसृजेत् । विधौ लिङ् । विधिः कर्तव्यार्थोपदेशः । करिष्यतीति वर्तमानसामीप्ये लृट् । अनेन वर्तमानकार्यं भविष्यत्कार्यं सकलं भगवल्लीलेति सेवकैर्मन्तव्यमिति भावः । अतीतसमये स्मृतिमात्र आनन्द उपलक्षणत्वेन वेद्यः । वर्तमानस्यानुभूयमानागणितानन्दत्वे रसाधायकत्वम् । भविष्यति तु गाविति कार्येऽप्युत्कण्ठितं मन इति रसाधायकत्वमिति त्रिष्वपि समयेषु यत्कार्यम्, सा लीला । एवं च सदा चिन्तात्यागे गवामिन्द्रियाणां तेषामाधारस्यारूपस्थूलदेहस्य गोपकन्यानां च स्नेहात्मकभेदो वृद्ध्या गोमेदो विधुंतुदरत्नप्रकाशकस्यास्य भवति । किंच, भगवत्सेवकमानसचन्द्रस्य भगवद्वियोगजरसं रूपस्फूर्त्या तत्तल्लीलायाः स्मरणात् तन्मयत्वेन प्रसभूयं लब्ध्वा परमभगवदासक्तिरविलम्बेन भवतीति श्रुतिरहस्यार्थोऽनेन व्यञ्जितः ।

चिन्तात्यागजनकत्वमनेन विदुषां वाणीहृषीकादिकाः
पुष्टिं यान्ति निरन्तरं विधुमनःखेदं विधायाद्भुतम् ।
शीघ्रं प्राप्तिरतो यतो भगवतो लक्ष्मीपतेरात्मा
गोमेदाभिधरत्नरूपत इदं मे मानसे भासताम् ॥ १ ॥
गोपालगोरक्षणधर्महेतोर्निरन्तरमद्गीकृतमत्र विद्वन् ।
वसुन्धरां गां परिपालनाय हतास्तनात्त्वमुपेक्षसे कथम् ॥ २ ॥
मद्भाग्यदेवासु निजेषु कश्चिद्वियोगजन्यः सुरतानताय ।
नो चेत् कथं मे विरहं निरं स्याद् कृपानिधेऽनन्त मदग्र विद्वन् ॥ ३ ॥

इति मुरलीधरवाण्या देहरूपीकाणि पुष्टिमुपयान्तु ।
मुरलीधरस्य सततं श्रीगोपालप्रसादेन ॥ ४ ॥

इत्यष्टमं गोमेदाख्यं रत्नम् ॥ ८ ॥

नन्विदानीन्तनानां सेवकानां श्वः श्वः पापिष्ठदिवसत्वेन देशादीनां साधकत्वाभावात् श्रवणादीनां सम्यक्तयाऽसम्भवात् पूर्वोक्तप्रकाराणां सुतरामसम्भवाच्च कथं फलप्राप्तिरित्याशङ्का सा भवत्यनायासेनेति तत्प्रकारः त्रिसूत्रापरपर्यायेण नवमेन वैदूर्यरत्नेनाहुःतस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

यस्मात् पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यम्, तस्माद्धेतोः सर्वात्मना वाचा व्यक्ततया मनसाऽन्तरव्यक्ततया तदर्थानुसन्धानपूर्वकं सदा आसुरावेशाभावायाष्टाक्षरमुच्चारयद्भिरेव सेवकैः स्थेयम् । यथा मनसोऽन्यत्र वृत्तिर्न भवति, तथा विधेयमिति मे मनीषाऽस्तीत्युपदेशः । अयं भावः । श्रीकृष्ण इति विशेषणम्, शरणमिति विशेष्यम्, त्र्यक्षरं सूत्रद्वयम् । ततः समसम्बन्धबोधकं द्व्यक्षरमपि परोक्षास्तिना त्र्यक्षरीति नव । किञ्च । जीवात्मनः सम्बन्धबोधकं द्विधा, अव्ययमनव्ययं च । अव्ययात् विकाररहितात् पुष्टिमार्गीयसिद्धा पुष्टिमार्गीयाणाम्, साध्येतरेषामिति भावः । भक्तबोधकादनव्ययाच्च प्रवाहमार्गीयभक्तबोधकादस्तीति लीलाबोधकं पदमस्त्विति वा शेषत्वेन विज्ञैर्विज्ञेयम् । एवं च सलीलाप्रकाशकत्वेन सह त्र्यक्षरी तृतीयेति नवाक्षरी परमावधिसङ्ख्या वेद्या । एता ब्रह्मसूत्राक्षररूपाः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धैर्धृताः, सदैव शिखायज्ञोपवीतधारणं ब्रह्मवैवर्ते व्यक्तम् । ब्रह्मादिभिश्च सह जातत्वेन तद्धारणमत्र उक्तत्वादतः सदा धारणम् । 'सदा बद्धशिखेन चे'तिकारिकावन्मालापि सदा धार्या । मलधातोर्धारणार्थकत्वात् । मल्यते सदा ध्रियते सा माला ।

अनुपमसुवर्णरत्नैरद्धुतमाला वसुमितैर्विहिता ।
मध्यश्रीमाणिक्यया विराजतां मामके मनसि ॥ १ ॥
इत्थं नवाक्षरीयं परोक्षनित्यास्तिना प्रोक्ता ।
प्रत्येकं व्यक्तीनां स्वरूपमस्या विराजतां हृदये ॥ २ ॥ ९ ॥

तत्र प्रथमं जगन्मङ्गलमङ्गलमूर्तिर्भगवदुरसि स्थितेन श्रीवर्णेन सकलरत्नसुवर्णरससम्भृता नित्यानन्ता द्वितीया प्रकृतिः संसिद्धार्थिका विराजते । द्विसुवर्णाकृतिवर्णो यत्र । अत एवादिर्विस्तरेण विस्ताराय श्रेष्ठमानुकीर्तिवेधपरम्परया प्रकाशकौ यत्र द्वौ सदौ विराजमानौ सिद्धसाध्यौ यथा रामित्युक्त श्रुत्यानुनासिकौ तौ तु व्यवहार्याव्यवहार्यौ । तत्र पूर्वो गतगर्भप्रकृतिश्चतुर्थः ।

इति श्रीमुरलीधरभट्टविरचिता नवरत्नटीका संपूर्णा ।

---

१. स्थेयमिति पाठ ।

परिशिष्टम् ।

[illegible] ।

अथ नवरत्नग्रन्थविषये किञ्चिल्लिख्यते । 'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्' 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या' 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येती'-त्यादिवचोभिः प्रेमलक्षणया भक्त्या भगवान् लभ्यः । 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणा'नित्यारभ्य 'उद्धवात्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्ति'रित्यन्तेन वाक्येन प्रेमलक्षणाया निवेदनलभ्यत्वम् । निवेदनं च देहादिषु स्वकीयत्वाध्यासनिवृत्तिपूर्वकभगवदीयत्वबुद्धिसम्पादने भवति । 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्यु'रित्यादिवचनैर्निखिलवस्तूनां भगवदीयत्वात्तदीयत्वबुद्धिसम्पादनेन देहादीनां भगवत्सेवोपयोगिकरणस्य निवेदनपदार्थत्वात् । जाते च निवेदने पुनरिष्टानिष्टप्राप्तिनिवृत्त्युपायविमर्शनादिरूपचिन्ताकृतौ स्वकीयस्वाभिमानेन वाहिर्मुख्यसम्भवान्निवेदनवैयर्थ्यं स्यात् । तथा सति न निस्तार इति परमकृपालुभिराचार्यचरणैश्चिन्तारूपप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं 'चिन्ता कापि न कार्ये'त्याद्युपदिदिशे । तथापि निवेदनस्य श्रवणाद्यष्टकानन्तरभावित्वात् श्रवणादीनां च प्रत्येकं दुराप्तया निवेदनस्य सुतरां तथात्वेन प्रेमलक्षणाया अनुत्पत्त्या कथं भगवदाप्तिरित्याशङ्क्य 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'त्यष्टाक्षरमन्त्रो निरन्तरमावर्तनीयः, तेन च सर्वानुपपत्तिपरिहारः सकलसिद्धिश्चेत्युपदिष्टम् । तत्र कथमनुपपत्तिपरिहारपूर्वककार्यसिद्धिरित्याकाङ्क्षायां तदाशयं विवृण्वन्ति प्रभुचरणाः 'साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहु'रित्याभासग्रन्थेन । 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'त्यष्टाक्षरमन्त्रे साधनफलयोरेकीकरणात्सर्वसमाधानमिति भावः । तथाहि । श्रीकृष्णः फलरूपः निःसाधनजनोद्धृतिकृताभिव्यक्तिः सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा मम निःसाधनस्य शरणं आश्रयः शक्याशक्यसम्पादक इति मन्त्रार्थः । यद्यपि स्वायोग्यताविचारे श्रवणादिसाधनदौर्लभ्येन भगवत्प्राप्तिर्नैश्चिन्त्याभावः, तथापि मनोः पुष्टिस्वरूपविचारे शरणागतौ सर्वं सुलभम् । 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरा'दित्यादिवाक्यात् । तत्र साधनक्रमेण चेदुद्दिधीर्षुः, तदा जीवाशक्यानपि श्रवणादीन् सम्पाद्योद्धरति । अन्यथा विनापि साधनं फलार्पयति । अतः शरणगमनं पुमर्थसाधनम् । अत एव 'शरणं भावयेद्धरि'मिति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । 'गत्युद्रोहे भक्त्यभाव' इति च । इह भक्त्यभावे भक्तिसिद्ध्यर्थं हरिं शरणं भावयेदित्यर्थः । प्रकृतेपि श्रवणादिनवविधभक्तीनां दौर्लभ्यं ज्ञात्वा नवविधभक्तिसिद्ध्यर्थमेतन्मन्त्रावृत्तिरुपदिष्टा । अतः प्रमाणफलविचारेण पूर्वपक्षः । प्रमेयफलविचारेण समाहितिरिति ज्ञेयम् । तथाच फलमेव साधनीकृत्येति फलितार्थः । अनेन 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'ति मन्त्रार्थो व्याख्यातो ज्ञेयः ।

किञ्च । अयं मन्त्रो नेतरसाधारणः । किन्तु पुष्टिमार्गीयः । समर्पणपरत्वात् । अत एव प्रभुचरणैरभिहितं 'यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम । तत्र एवास्ति नैपिन्त्यमैहिके पारलौकिके' इति । पुष्टिमार्गीयत्वं च भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलाभावपरत्वम् । तथाच पुष्टिस्थैरयं मन्त्रोऽनवरतमावर्तनीयः । अनन्या पूर्वोक्तस्वरूपानुसन्धानेन शरणभावनं

च कार्यम् । अत एवोक्तम्, 'एव चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तये'दिति । एवं प्रपत्तौ भगवानशक्यमपि साधयिष्यतीति निष्कर्षः । अत एव तद्विवृतौ प्रभुचरणैरूचे 'सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदय'मिति । तथा सति चिन्तालेशोपि नास्तीति प्रतिबन्धाभावे सिद्धे निवेदनसिद्धौ मुख्यभक्तिलाभ', तेन च भगवत्प्राप्तिरिति चिन्ताकरणनिराकरणनिरूपणस्य सार्थक्यमिति कोविदा एव विदाङ्कुर्वन्तु ।

नवरत्नप्रकाशे, 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः ।' इय फक्किका पूर्वफक्किकया न सगच्छत इति बहूनामार्याणां महानेवोद्यमोऽस्मिन्ग्रन्थे नानाविधोऽस्ति । परन्तुक्रमशतेनापि न लगतीयं फक्किका । तत्रायं निष्कर्षो बोध्यः । इह लेखकादिदोषवशात्फक्किकानां वैपरीत्यं जातं लेखने । अतः फक्किकानामर्थस्वारस्यं विचार्य पूर्वापरभावं निर्धार्य फक्किका लिख्यन्ते । तथाहि । इह पूर्वं 'निवेदने भजनाधिकारस्तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः पाशारज्जुरिति चेत्' इति फक्किकास्ति । तत्रोत्तरमुक्तम्, 'अत्र वदाम' इत्यादिना । तत्र 'गायत्र्युपदेशजसंस्कार एव'दित्यन्तेन निवेदनस्यावश्यकतोक्ता । एवं निवेदनस्यावश्यकत्वमुक्त्वा निर्वाहः केन कार्य इत्याकाङ्क्षायां 'निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तदत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा' इति फक्किकास्ति पठिता । तथाच देहादिनिर्वाहः केन कार्यं इत्याकाङ्क्षायां निवेदितेन निर्वाहः कार्यं इत्युत्तरं सिध्यति । तत्र किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां 'दासधर्मत्वात्' इत्युक्तम् । तदग्रे भगवद्वाक्यं प्रमाणत्वेनोपन्यस्य निवेदितेन निर्वाहः कार्यं इति ज्ञापनार्थं'मुच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यै 'रात्मशोधकत्वाचे'ति पठितम् । तदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्ति'रिति फक्किकया अन्यथानुपपत्तिः प्रदर्शिता । तदग्रे 'अपरञ्चे'त्यारभ्य 'अनिवेदितस्य निषिद्धत्वा'दित्यन्तेन निवेदनदानयोः पुनः स्वविनियोगतदभावाभ्यां वैलक्षण्यं प्रदर्श्य भगवदनिवेदितेन निर्वाह निषिध्य भगवन्निवेदितपदार्थेन भगवदुपभुक्तशिष्टेन प्रसादतया प्राप्तेन निर्वाहः कार्यं इति सिद्धान्तितम् । एवं फक्किकाक्रमे सर्वोऽपि ग्रन्थः सङ्गतो भवति । तथाच सिद्धमेतत् । 'द्विजस्य वैदिके कर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारव'दिति फक्किकाया अग्रे 'निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तदत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा । दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैरात्मशोधकत्वाचे'त्यन्तो ग्रन्थो ज्ञेयः । एतदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरञ्च । दाने हि न स्वविनियोगः । न तु निवेदने । अन्यथा निवेदितान्नादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्' इत्यन्तो ग्रन्थोऽस्ति । तदग्रे 'किन्तु प्रभौ निवेदितार्थविनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो न वेति भवति चिन्ते'त्यादिरूपो ग्रन्थोऽस्तीति सर्वमनवद्यम् ।

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतः-सप्तमो

अन्तःकरणप्रबोधः

पञ्चटीकाभिः समलंकृतः

१ श्रीगोकुलनाथानां विवृतिः

२ श्रीरघुनाथानां विवरणम्

३ श्रीहरिरायाणां विवृति

४ श्रीव्रजराजानां विवरणम्

५ श्रीपुरुषोत्तमानां विवरणम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-
सप्त-पीठान्तर्गत-षष्ठ-पीठाधिष्ठित-नित्यलीलास्थित-
गोस्वामिश्री १००८ श्रीवल्लभलाल-महाराजानां-
स्मृतौ-सेषा-श्रीमती-कृष्णावती-वहूजी-महा-
राजश्रीभ्यैताभि-प्रकाशित

वि. सं. २०३६ श्रीवल्लभाब्दाः ५०३

प्रकाशक :

गोस्वामी १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज (षष्ठपीठाधीश्वर) के
श्रीकृष्णावती बहूजी महाराज,
श्री कल्याणरायजीकी हवेली, बैंक रोड, बड़ौदा, गुजरात ३९०००६, भारत

साधारण संस्करण २००० प्रति
राज संस्करण १००० प्रति
श्रीवल्लभाब्द : ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :
स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग चौपाटी,
बम्बई—४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीवल्लभलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

अन्त.करणप्रबोध ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुकी सन्यासग्रहण करनेसे पूर्वकी तथा षोडशग्रन्थोमे योजित ग्रन्थोमे अन्तिम कृति है.

श्रीयदुनाथजी-विरचित वल्लभदिग्विजयके अनुसार सन्यासग्रहण करनेके बाद श्रीमहाप्रभु भूतलपर ३९ दिन विराजे थे और यह सन्यास आपने इस ग्रन्थमे वर्णित तृतीय भगवदाज्ञाके पालनहेतु लिया था अतः आषाढ शुक्ल द्वितीयासे ३९ दिन पहले यानि वैशाख (व्रज जेष्ठ) कृष्णा सप्तमीके आसपास किसी दिन वि सं. १५८७ मे इस ग्रन्थकी रचना हुई यह माना जा सकता है

कुछ आधुनिक विद्वान् इस ग्रन्थमें वर्णित तीन भगवदाज्ञाओंकी व्याख्या श्रीमहाप्रभुको दोबार हुई अस्वस्थता तथा अन्तमे भ्रान्ति तथा देहत्यागकी आन्तरिक प्रेरणा के रूपमें देते है. जो बात इन विद्वानोके गले नही उतरती है वह है इन तीन भगवदाज्ञाओका चमत्कारिक रूप ! श्रीमहाप्रभुके प्रति किसी अतर्कित लगावके कारण ये मिथ्याभाषणके आरोपका साहस जुटा नही पाते अत: भक्ति और भ्रान्ति के सहारे इन स्पष्टतम विधानोकी अतीव अस्पष्ट और अटपटी व्याख्या प्रस्तुत करते है इन विद्वानोको कभी लगता है कि किन्ही भ्रान्तिके क्षणोमे ये तीन भगवदाज्ञाकी भ्रान्तिया पैदा होगयी होगी——कभी इन्हे लगता है कोई तीन सांघातिक बिमारियोसे पैदा हुई निराशाके वश श्रीमहाप्रभु इन बिमारियोको परलोक सिधारनेकी भगवदाज्ञा ही मान बैठे है—कभी इन्हें लगता है कि सम्भवत. किसी अन्तरवाणीके रूपमे श्रीमहाप्रभुने लोकत्यागका आदेश सुना हो और उसे ही श्रद्धावश भगवदाज्ञा मान ली हो !

न पूर्ण श्रद्धा और न पूर्ण अश्रद्धा अर्थात् मध्यमार्गको अपनानेकी मनोवृत्तिवश अपनी निराधार कल्पनाओको बौद्धिकताके रूपमे ये विद्वान् मान्य करना चाहते हैं जगतके कारण स्थिति या प्रयोजन को ईश्वरीय चमत्कार मान कर भी जो चमत्कृत नहीं होते, वे ईश्वराज्ञाके श्रवणको 'चमत्कारपूर्ण' घटना कहकर अस्वीकार करना चाहते हैं. इससे अधिक चमत्कारपूर्ण तार्किकता और क्या हो सकती है !

इन कपोलकल्पित व्याख्याओंको प्रस्तुत करनेका एकमात्र हेतु स्वयम्‌की तूटती हुई श्रद्धाको कथञ्चित जोडना होता है पर अपने इस मोहमें ये विद्वान् अक्सर यह वात भूल जाते हैं कि ऐसी अटपटी कल्पनासे श्रीमहाप्रभुका न तो कोई बुद्धिवैभव और न कोई चारित्रिक महत्ता ही सिद्ध होती है. जिस व्यक्तिका मनोवल दोवार केवल बीमार पड जानेपर तूट जाता हो उसे 'युगप्रवर्तक व्यक्ति' कैसे माना जा सकता है ? दोबारकी बिमारीसे पनपी निराशाको देहत्यागकी भगवदाज्ञा मान लेनेवाले भ्रान्त आतमघातीको किस अर्थमें बुद्धिमान् माना जा सकता है ?

भारतवर्षकी तत्कालीन नितान्त विषम परिस्थितिमें किस अदम्य उत्साह निष्ठा और सकल्प के साथ श्रीमहाप्रभुने वैष्णवधर्म और सस्कृति की मशालको अपने सुदृढ हस्तोंमें धारण किया था ! देशके कोने-कोनेको उससे प्रकाशित करनेको जूझते रहनेवाले व्यक्तिको इतनी कमजोर इच्छाशक्तिवाला माननेमें कौनसा गौरव सिद्ध होता है ? वर्ण-आश्रम जाति-लिंग निम्नवर्ग-उच्चवर्ग देशी-विदेशी के भेदके बिना सभी व्यक्तियोंके हृदयको पुष्टिभक्तिके उपदेशसे भावपूरित श्रीमहाप्रभुने कर दिया था. ऐसे व्यक्तित्वके धनी श्रीमहाप्रभु बीहड जगलोंमें वर्षा-शीत-आतप आदिकी परवाह किये बिना निरन्तर परिभ्रमण करते रहे--विदेशी आक्रामकोंसे आतकित नगर-जनपदोंमें बसनेवाली जनतामें निरन्तर आस्थाका सञ्चार करते रहे वे स्वयम् दो बारकी बीमारियोंसे घबराकर आत्मघात करें यह कल्पना कैसे बुद्धिसगत मानी जा सकती है ? जबकि वे जनताको- "त्रिदु खसहन धैर्यमामृते सर्वत सदा" का उपदेश देते रहे ! अत —

आज्ञापूर्व तु या जाता गगासागरसगमे ।
यापि पश्चान्मधुवने न कृत तद्-द्वय मया ।।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचर. ।
पश्चात्ताप कथ तत्र मवतोह् नचान्यथा ।।

इन शब्दोंमें रास्ती अन्तर्वाणी या सघर्षजन्य श्रान्ति या शारीरिक अस्वास्थ्यजन्य निराशा और भगवदाज्ञाकी भ्रान्ति को खोजना श्रीमहाप्रभुका अनादर है--उनकी अनुभूतिकी आध्यात्मिक-आधिदैविक गहनताके नितान्त अपरिचयका द्योतन है !

श्रीमहाप्रभुके पौत्र श्रीगोकुलनाथजी इस ग्रन्थका सन्दर्भ यो देते है

द्वादश स्कन्धात्मक श्रीभागवत पूर्णपुरुष पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्का ही नामात्मक स्वरूपमे प्रकट दूसरा रूप है भागवतकी वाणीके अर्थको प्रकट करनेके लिए ही वाणीके पति तथा भगवन्मुखरूप अग्निका श्रीमहाप्रभुके रूपमें प्राकट्य हुआ (यह रहस्य भागवतकी सुबोधिनी व्याख्याके प्रारम्भमे स्वयम् श्रीमहाप्रभुने ही प्रकट किया है) भागवतपर सुबोधिनी व्याख्या श्रीमहाप्रभुके अवतारका प्रमुखतम प्रयोजन है. दशमस्कन्ध भागवतका हृदय है प्रथमस्कन्धसे प्रारम्भ कर क्रमश दशमस्कन्ध तक पहुचनेमे पर्याप्त विलम्बकी सम्भावना थी फलत तृतीयस्कन्धतक पहुचनेके बाद अविलम्ब दशमस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेकी कही एक विशेष भगवदाज्ञा श्रीमहाप्रभुको हुई (उसका पालन तो सर्वथा हुआ ही अत यहा उस आज्ञाका उल्लघ नही किया गया है. परन्तु उस आज्ञाके निगूढ आशय तथा अपने अवतारके प्रयोजनकी पूर्तिका सन्तोषोद्गार स्वयम् श्रीमहाप्रभुके मुखसे दशमस्कन्धकी सुबोधिनीके समाप्तिपर प्रकट हो गया है—'प्रचरणमिह पूर्वतेऽनवद्य मयमपि विश्वजनाय मादृशाना, निजपदसमवाप्तये च नित्य निजगुरुणा हरिणैव लोकवन्द्यम्")

दशमस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेके बाद श्रीमहाप्रभु पूर्वनिर्धारित योजनाके अनुसार अवशिष्ट स्कन्धोकी व्याख्या लिखने प्रवृत्त हुए

भागवतके सातो अर्थोमे एकवाक्यता स्थापितकर दिखलानेकी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भागवतार्थ–निबन्धमे शास्त्रार्थ स्कन्धार्थ प्रकरणार्थ तथा अध्यायार्थ की व्याख्या लिखी जा चुकी थी इसी तरह वाक्यार्थ पदार्थ और अक्षरार्थकी व्याख्या भी प्रथम सूक्ष्मटीकामें लिखी जा चुकी थी पुन गूढतम रहस्योको प्रकट करनेके लिए द्वितीय टीका सुबोधिनीका प्रणयन हुआ यह एक सुदीर्घकालम पूरी होनेवाली लेखनशैलीमे लिखा जा रहा ग्रन्थ था भूतलपर उतने विलम्ब तक श्रीमहाप्रभुका बिराजना भगवान्को अभिप्रेत न था अतएव शीघ्र दशमस्कन्धपर सुबोधिनी-लेखनकी आज्ञा हुई और वह परिपूर्ण भी हुई अब पुन इसी शैलीमे अवशिष्ट स्कन्धोकी व्याख्या भगवदभिप्रेत नही थी श्रीपुरुषोत्तमजी अतएव पाचवे और छठे श्लोककी व्याख्यामे कहते है : "नच पूर्वाज्ञप्तासम्पूर्तिदोष यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साज्ञा कृतास्तु, अधिक

न कार्यम् . इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधान—स्कन्धक्रमव्याख्यात्याजन दशमस्कन्धव्याख्यानानन्तरमसामयिकमाधवभट्टकाश्मीरिशरीरशराहतिप्रभृतिभि. कार्यैरनुमीयते"

गगासागर और मधुवन मे जब सुबोधिनी-लेखनको बन्द करनेकी आज्ञा हुई तो रासपञ्चाध्यायीवाली गोपिकाओकी तरह श्रीमहाप्रभुने भी इन आज्ञाओका उल्लघन करना चाहा वेणुनाद सुनकर जो गोपिकायें भगवान्के समीप पहुच पायी उन्हें पुन घर लौट जानेकी भगवान्ने आज्ञा दी थी, पर वे लौटी नही श्रीमहाप्रभुने भी इसी तरह लेखन-कार्य बन्द नही किया भगवदाज्ञाके उल्लघनके इन दोनो प्रकारोमे किन्तु एक विशेष अन्तर यह था कि गोपिकाओने भगवत्स्वरूप सुखके लिए भगवद्-वाणीका उल्लघन किया था, जबकि श्रीमहाप्रभुको भगवद्वाणीका उल्लघन नामसेवार्थ भगवद् विप्रयोगको सहते हुए करना पड रहा था फलत सूक्ष्मटीकाका तिरोधान हो गया. चतुर्थसे नवमतकको व्याख्या छोडकर दशमस्कन्धकी व्याख्या लिखनेका भगवदादेश भी हुआ ही था और पुन अवशिष्ट स्कन्धोकी व्याख्या लिखनेको प्रवृत्त होनेपर लिपिकार श्रीमाधव भट्ट काश्मीरी किसी पारधीके तीरस आहत हो गये ये सारी प्रतिकूलतायें कवल प्रतिकूल भगदिच्छाकी अनुमापिका थी तभी तृतीय भगवदाज्ञा हुई—लोकगोचर देह-देश-परित्यागकी. इस तृतीय भगवदाज्ञाने भगवदाग्रहकी स्पष्टता हुई श्रीमहाप्रभु अतएव अपने आग्रही मनको भगवदाग्रहके अधीन होनेको मना रहे है

"मेरे अन्त करण ! मेरी बात सावधानीसे सुनो कि कृष्णसे उत्कृष्ट एवम् निर्दुष्ट कोई तत्त्व न है और न हो सकता है भागवतकी सुबोधिनी व्याख्या पूर्ण करनेके लिए जिन दो भगवदाज्ञाओका उल्लघन किया था वह अपने आग्रहिल अन्त करणके कारण ही हुआ अन्त करणको भगवदाग्रहके अधीन होनेको समझाया जा सके तो अन्य सभी देहेन्द्रियादिकी वृत्ति और प्रवृत्तियो पर काबू पाया जा सकता है."

वैसे तो भागवतकी व्याख्याका प्रयोजन अन्तत श्रीकृष्णके स्वरूपम आसक्ति सम्पादित करना ही था पर यह समस्या श्रीमहाप्रभुकी नही किन्तु अन्य पुष्टिजीवोकी थी भागवतके वास्तविक अर्थको प्रकट करनेसे पुष्टिजीवोका उपकार होगा वे श्रीकृष्णकी पुष्टिलीलाके वास्तविक रहस्यको समझ

कर उसमे आसक्त हो पायेंगे जहातक श्रीमहाप्रभुका प्रश्न हैं तो उन्हें तो इस-प्रक्रियामे भागवनकी लौकिकी भाषा और परमतभाषा का भी चिन्तन-मनन-व्याख्यान करना ही पड़ता था केवल भगवल्लीलाके मनन या प्रवचन तक सीमित रहा नही जा सकता यो अनेक पुष्टिजीवोके उद्धारार्थ परोपकारकी मनोवृत्तिसे श्रीमहाप्रभु स्वयम् भगवद्-विप्रयोग सहने उद्यत हुए थे.

जितना व्याख्यान सम्पन्न हो चुका वह पुष्टिजीवोको पुष्टिमार्गपर प्रवृत्त करनेके लिए पर्याप्त है. इससे अधिक परोपकारकी आवश्यकता नही है सर्व-निर्णय-निबन्धमे श्रीमहाप्रभु स्वयम् यह निर्णय दे चुके है कि भगवत्सेवाके अवसरमे हिस्सा बटानेवाले धर्मोंका त्यागकर देना चाहिये परोपकारादि धर्म भी यदि भगवत्सेवामे बाधक होने हो तो छोड देने चाहिये "एतद्विरोधि यत्किञ्चित् तत्तु शीघ्र परित्यजेद् । धर्मादीना तथा चास्य तारतम्य विचार-यन् ॥ २३९ ॥ एतदविरोधोति सामान्यवचन धर्मादीनामुपलक्षण .परोप-कारादि सर्वधर्माणामपि क्षयिष्णवेव फलम्. अत उभयोरन्तर ज्ञात्वा परोप-कारादिधर्मा न कर्तव्या", यदि पूजाविरोधिनो भवन्ति" कोई धर्म या कर्तव्य भगवत्सेवामे सहायक होता हो तो अनुष्ठेय है अन्यथा भगवत्सेवामे बाधक होनेपर परोपकार आदि धर्म भी त्याज्य समझने चाहियें. फलत आत्मसमर्पण के बाद भगवत्सेवासे अधिक और कोई भी कर्तव्य पुष्टिजीवका हो ही नही सकता.

श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं कि समर्पणसे पूर्व सभी पुष्टिजीवोकी स्थिति अस्पृश्य कुलमे उत्पन्न किसी सुन्दर स्त्रीकी तरह होती है पर आत्म-समर्पणके बाद इन्ही पुष्टिजीवोकी स्थिति, उक्त सुन्दरी यदि किसी राजाके मनको भा जाये और वह उसे अपनी रानी बना ले ऐसी, सम्मानपूर्ण हो जाती है इस असाधारण सम्मानकी प्राप्तिपर अभिमान भी कभी पैदा हो सकता है और उस अभिमानके कारण कभी अपमानित होनेका अवसर भी प्राप्त हो सकता है परन्तु अपनी पूर्वावस्थाकी अधमताका विचार करनेपर प्राप्त सम्मानित अवस्थाम थोडा-बहुत अपमान पश्चात्तापका विषय नही लगेगा क्योंकि राजाके द्वारा अपमानित भी रानी जगतमे तो सम्माननीय ही मानी जाती है

इसी तरह किसी प्रौढीभाववश भगवदाज्ञाके उल्लघन करनेके कारण

अपने देहके साथ भी ऐसा ही मोहजन्य व्यवहार देहके स्वामी श्रीकृष्ण को कैसे सुहायेगा ? कैसे सन्तुष्ट कर पायेगा ? अत यह विचार करना चाहिये कि आत्मसमर्पणरहित अन्य लौकिक जनोंकी तरह हमारी भी स्थिति होती तो क्या होता ?

शरीरका हठात् त्याग करना अशक्य कार्य लगता है परन्तु सर्वदु खहर्ता श्रीहरिके स्वरूपका विचार करना चाहिये कि साक्षात् नित्यलीलामें नित्य सयोग–सुखका दान, जब वे करना चाहते हैं तो दु ख कैसा ? अत किसी भी प्रकारके मोहकी आवश्यकता नही है कि प्रभु लौकिक स्वामीकी तरह रुष्ट हो जाये तो क्या करना—या फलदानमें प्रभु विलम्ब करेगे तो क्या होगा—या देह-देशके लोकगोचर त्याग करने पर पुष्टिजीवोका उद्धार कैसे होगा—या श्रीमद्भागवतकी व्याख्या सुबोधिनी सम्पूर्ण नही हो पायी इत्यादि-इत्यादि

अपने इस अन्त करणके प्रबोधनको ग्रन्थके रूपमे उपनिबद्ध कर श्रीमहाप्रभुने यह प्रकट कर दिया है कि निज अन्त करणके उपदेशके व्याजसे श्रीमहाप्रभु उन सारे पुष्टिजीवोके अन्त करणको सम्बोधित तथा प्रबोधित करना चाहते है, जिनमे भगवत्सेवासे अन्य किसी आध्यात्मिक या आधिदैविक फल प्रयोजन या कर्तव्य के प्रति अधिक आकर्षण पैदा हो सकता है अतएव "तव कथामृत तप्तजीवनम्" की सुबोधिनीमे श्रीमहाप्रभुने विवेचन किया है कि अमृतकी आवश्यकता मृत्युके उपस्थित होनेपर है. अन्यथा स्वत अमृतपानकी प्यास किसीको भी नही होती इसी तरह भगवान्‌के स्वरूप और भगवान्‌का कथामे भी घनीभूत रस और तरलीभूत रस का सा अन्तर होता है अन्यथा रासमे भगवान्‌के तिरोहित हो जानेपर उन्हे खोजनेके बजाय गोपीजनोने भी भागवत कथाका आयोजन किया होता ! "रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च विशाष अन्यथा कथार्थमेव यत्न कृत स्यात्" अतएव "सेवाया वा कथाया वा" मे 'सेवा और कथा' मुख्य कल्प है जबकि 'सेवा अथवा कथा' गौण कल्प है.

अत सभी पुष्टिजीवोको निश्चिन्त होकर यह निश्चित कर लेना चाहिये कि "भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्" अर्थात् भागवत-कथा भी वस्तुत भगवत्सेवाका अग हो तो उत्तम कल्प है अन्यथा गौण कल्प या अनुकल्प ही

है. इस तरह श्रीमहाप्रभु सेवागभूत अन्त करणकी शुद्धिका प्रकार उसे भगवान्की सेवामे अनन्यरुचि होनेकी प्रेरणाके द्वारा इस ग्रन्थमे दे रहे है

प्रस्तुत सस्करण वि स. १९८१ मे प्रकाशित सस्करणका ऑफसेट प्रोसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण श्रीजीवनेशात्मज श्रीरण छोडलाल महाराजश्रीके प्रबन्धमे श्रीचीमनलाल हरिशकर शास्त्रीजीने उस सस्करणका सम्पादन किया था आर्थिक सेवा अनेक वैष्णवोने मिलकर की थी इन सभी महानुभावोका हम कृतज्ञताके साथ स्मरण करते है इति शम्

है. इस तरह श्रीमहाप्रभु सेवागभूत अन्त करणकी शुद्धिका प्रकार उसे भग-
वान्‌की सेवामे अनन्यरुचि होनेकी प्रेरणाके द्वारा इस ग्रन्थमे दे रहे हैं.

प्रस्तुत सस्करण वि स. १९८१ मे प्रकाशित सस्करणका ऑफमेट प्रोसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्‌गोस्वामिकुलभूषण श्रीजीवनेशात्मज श्रीरण छोडलाल महाराजश्रीके प्रबन्धमे श्रीचीमनलाल हरिशकर शास्त्रीजीने उस सस्करणका सम्पादन किया था आर्थिक सेवा अनेक वैष्णवोने मिलकर की थी इन सभी महानुभावोका हम कृतज्ञताके साथ स्मरण करते है इति शम्

श्रीकृष्णः

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥
चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमानेऽपि[१] मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥
समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥
सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥
सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।
आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
याऽपि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥
पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा ।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥
सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव ।
प्रौढाऽपि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।
लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ।
इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ॥ १० ॥
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितोऽन्तःकरणप्रबोधः सम्पूर्णः ।

१' अपमाने वा ' इतिपाठः श्रीव्रजराजश्रीपुरुषोत्तमचरणानां टीकायां ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।



श्रीगोकुलनाथचरणैर्विरचिता विवृतिः ।

दर्शयन् स्वस्य सौभाग्यं स्वीयानां भक्तिवर्त्म च ।
स्वमनोबोधवाक्यानि प्रकटीकृतवान् प्रभुः ॥ १ ॥
प्रणम्य पितृपादाब्जं चिन्तिताधिकदायकम् ।
स्वमनोबोधकाचार्यवचो व्याख्यातुमुद्यतः ॥ २ ॥
यद्यपीश्वरवाक्यानि दुर्बोधानि सदा स्वतः ।
तत्कृपैव तदीयस्य तदर्थावगमे गुरुः ॥ ३ ॥
भविष्यतीति निश्चित्य प्रवृत्तोहं न चान्यथा ।
अतः स्वाचार्यचरणौ शरणं मम सर्वदा ॥ ४ ॥

अथ भगवान् पूर्णपुरुषः पुरुषोत्तमः स्वस्वरूपं श्रीभागवतं द्वादशस्कन्धात्मकं प्रकटीकृत्य तदर्थप्राकट्ये स्वातिरिक्तस्यायोग्यतां ज्ञात्वा स्ववागधिपतिरूपश्रीवल्लभाचार्यप्राकट्यं विधाय तदर्थप्राकट्ये आज्ञां च दत्वा तदर्थप्रकाशिकां सुबोधिनीं कारितवान् । तत्र क्रमेण स्कन्धत्रयकरणे कालविलम्बादाचार्यविप्रयोगासहिष्णुः सन् श्रीभागवततत्त्वार्थप्रतिपादकदशमस्कन्धविवरणार्थं विशेषाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्यैः स्कन्धक्रमं विहाय दशमस्कन्धविवृतिरेव कृता । तत्समाप्तौ स्वस्याचार्यमिलनविलम्बं ज्ञात्वा तद्विलम्बासहिष्णुः शीघ्रं स्वनिकटागमनार्थमाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्याः स्वसौभाग्यमौढिमवलम्ब्य स्वचिकीर्षितसम्पूर्णश्रीभागवतविवरणस्याजातत्वात् स्वस्य धर्ममार्गीयत्वात्तन्मार्गभावमौढ्या वारद्वयमाज्ञोल्लङ्घनं कृतवन्तस्तथापि भगवानाचार्यमिलनं स्वस्यात्यन्तावश्यकमिति श्रीभागवतविवरणार्थं दत्ताज्ञामप्यन्यथाकृत्वातिकृपारोपपूर्वकं पुनः स्वनिकटागमनार्थं तृतीयामाज्ञां दत्तवान् । तदाचार्या अत्यन्तं भगवदाग्रहं दृष्ट्वा पूर्वमाज्ञाद्वयोल्लङ्घनभावमौढिस्थानं स्वकीयमन्तःकरणमेवेति ज्ञापनाय तदेव बोधयन्ति । अन्तःकरण मद्वाक्यमिति ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

यद्यपि, अत्रार्थे सर्वेन्द्रियोपयोगात्सर्वेन्द्रियप्रबोध उचितस्तथापि तेषामन्तःकर-

णाधीनत्वाद्यथा राजनि निगृहीते सर्वमेव राज्यं निगृहीतं भवति। तथान्तःकरणे प्रबोधिते सर्वाण्येवेन्द्रियाणि प्रबोधितानि भवन्तीत्यन्तःकरणमेव प्रबोधयन्ति। मद्वाक्यं सावधानतया शृण्विति। यद्यपि मद्वाक्य शृण्वित्येतावतैव प्रबोधसिद्धेर्यत् सावधानतयेत्युक्त, तस्यायमाशयः। यथा स्वस्य धर्ममार्गाभिमानमौढ्या व्रजसीमन्तिनीभिः फलप्रकरणे भगवदाज्ञोल्लङ्घनेन स्ववीर्यसम्पत्तिः साधिता, तथाहमपि सम्पूर्णश्रीभागवतविहृतिं साधयिष्यामीत्याग्रहोऽस्मिन्नर्थे वैपरीत्यादनुचितः। वैपरीत्यं तु व्रजसीमन्तिनीभिः प्रियवाक्यानि फले प्रतिबन्धकानीतिभावमौढ्या निराकृतानि, भक्तेषु तु भगवदाज्ञा †फलसाधिकेति तन्नाग्रहो विपरीतफलकः, अभिलषितपर्यवसानादितिवाक्यश्रवणे सावधानतयेत्युक्तम्। कदाचिदतिमौढ्या विलम्बकरणे बाधकमाहुः। कृष्णात्परं नास्ति दैवमिति। कृष्णात्फलरूपात्परमतिरिक्तं दैवं परमेष्टरूपम्। दैवमितिपदाद्दिव्यातुक्ताः* सर्वेप्यर्था अत्र विवक्षिताः। तत्र धर्ममार्गक्रीडास्थानमिदमेव। (क्रीडाया) विजिगीषाप्यत्रैव। (भक्तेन सह) स्वमार्गीयव्यवहारोपि। (भक्ताय स्वमाहात्म्यद्योतनेन) द्युतिरप्यत एव, नो चेत्तद्व्यतिरेकेण शुष्कतैव। (भक्ताना) समयविशेषे स्तुतिरपि। (भक्ताय मोदुदान यथा कालीयदमनेन)। मोदोऽपि तथा। भावविशेषजनितमदोपि। परम निर्वृतिजनितः स्वप्नोपि। स्वप्नानन्तरं भावविशेषप्रचुरकटाक्षसूचितस्तेच्छापि। तदनन्तरं स्वाभिलषितस्थानगतिरपि, (भक्तसमीपगमनम्) इत्यादिकं सर्वमेव पूर्वभावमौढ्या बाध्यत इत्यनिष्टहेतुत्वात् मौढ्यस्त्याज्य इत्यत उक्तं कृष्णात्परं नास्ति दैवमिति। ननु श्रीभागवतविचारः पुरुषोत्तमपर्यवसाय्येवेति कदाचित्सौढिर्विहिता भवेदिति शङ्कानिराकरणार्थमुक्तम्। वस्तुतो दोषवर्जितमिति। अत्रायं भावः, यद्यपि श्रीभागवतविचारः पुरुषोत्तमपर्यवसायी तथापि विचारे क्रियमाणे स्वसिद्धान्तनिरूपणार्थं तद्विरुद्धशास्त्रान्तरीयसिद्धान्तनिराकरणमावश्यकमेव, भगवदाज्ञाहेतुकफलविचारे एतद्भावातिरिक्तभावप्रवेश एव फलपार्थे दोष इति वस्तुविचारे क्रियमाणे फलस्यैव निर्दुष्टत्व भावान्तरप्रवेशहेतुवस्तुनः सर्वात्मना न निर्दुष्टत्वमितिज्ञापनायोक्तं वस्तुतः स्वरूपतो न निर्दुष्टत्वम्॥ १॥

एवं प्रबोधनेपि पूर्वोक्तिकृताज्ञोल्लङ्घनजनितापराधेन यदि भगवानप्यानेन फलविलम्बं कुर्यात्तद्दोषभयभयादेकमपि कार्यं न सिध्येदिति श्रीभागवतार्थविहृतिसमाप्त्याग्रह एव समीचीन इति मनःकालिल लौकिकदृष्टान्तेन कैमुतिकन्यायेन निरस्यन्ति, चापदाली चेदिति।

---

† भगवत्प्राप्तिरूपत्वात्।

* दिव्यु क्रीडा-१ विजिगीषा-२ व्यवहार-३ द्युति-४ स्तुति-५ मोद-६ मद-७ स्वप्न-८ कान्ति-९ गतिषु १०।

१ तवेति पाठः।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

चाण्डाली चाण्डालजातीया राजपत्नी जाता राज्ञा पत्नीत्वेन परिगृहीता, इतरपत्न्यपेक्षयाधिकं मानिता कदाचित्प्रमादतस्तस्या अपराधाच्चेदपमानोऽपि कृतस्तदा मूलतः राजपत्नीत्वतः का क्षतिर्भवेत् राजपत्नीत्वं न गच्छतीत्यर्थः । यद्यप्यस्यां यज्ञसंयोगाभावात्पत्नीत्वं न सम्भवति तथापि *भोग्या जातेतिपदं विहाय पत्नीपदोपादानाद्यथा पत्नी त्यागयोग्या न भवति, तथैवास्यामप्यङ्गीकाराभिमानो ज्ञापितः । तेन स्वातिरिक्तान्यस्पर्शायोग्यत्वान्यविनियोगाभावादयो धर्मा ज्ञापिताः । यदि मूलपदेन चाण्डालीत्वमुच्यते तदा मानस्य चाण्डालीत्वमेव हेतुः स्यान्न तु राजपत्नीत्वम् । अत्र तु सम्मानने राजपत्नीत्वमेव हेतुत्वेनोच्यते न तु चाण्डालीत्वम्, अन्यथा पत्नी जातेतिपदं व्यर्थं स्यात् । तस्मात्त्वत्कृतापमानेऽपि मया न खेदः कार्यः, राजपत्नीत्वरूपमूलस्य विद्यमानत्वात् । यथा फाल्गुने मासि प्राचीनपत्रपतनेऽपि समूलस्य वृक्षस्य नूतनपल्लवाद्युद्गमेन पुनर्यथापूर्वत्वं तथा पत्नीत्वे सति पुनः पूर्ववदेव भविष्यतीति विचार्य खेदो न कार्यः । चेदिति पदादयोग्यतायामपि दैवगत्याङ्गीकारेऽपि यथैवं व्यवस्था लौकिके, तत्र सर्वथाङ्गीकारयोग्ये, अङ्गीकर्तुरलौकिकत्वे, अङ्गीकारस्य च नित्यत्वे, तथैवं फलविलम्बचिन्ता सर्वात्मना नोचितेति नाग्रहः कर्त्तव्यः । यदि विलम्बः सोऽपि रसस्य संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद्विलम्बस्य विप्रयोगरसात्मकत्वात् फलमध्यपातित्वेनेति सर्वमवदातम् । एवमन्योक्तिरूपकारेण स्वमनःप्रबोधनेनानुषङ्गिकी स्वमार्गीयाणामपि शिक्षा ज्ञापिता ॥ २ ॥

यद्यपि फलविलम्बजनितः खेदो नास्ति तथापि भावबोधकाभिमानहानिजनितः पश्चात्तापो जात इति स्वमन्तःकरणं प्रबोधयितुमाहुः समर्पणादिति ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

मानहानिजनितः पश्चात्तापः स्वसमान एवोचितो न तु स्वीयत्वेन हितार्थं प्रभुकृतमानहानौ । भावजनितमानोऽभिनिवेशयोग्यतापि तत्र भगवदसाधारणसम्बन्धेनैव जाता न तु ततः पूर्वमपीति विचार्यैतज्ज्ञापनार्थमुक्तं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थित इति । सदा, असमर्पणदशायामपि उत्तमः पूर्वोक्तमानयोग्यः किमहं स्थितः ? । तस्मान्मम पूर्वोक्तभावजननयोग्यताऽभावरूपाऽधमता, का भाव्या, का कीदृशी भाव्या, विचारणीया । कीदृशीतिपदादधमताया निरवधित्वमुक्तम् । यस्मात्सर्वात्मना पश्चात्तापहेत्वभावस्तस्मात्त्वयास्मिन्नर्थे पश्चात्तापो न कर्त्तव्यः ॥ ३ ॥

---

* भोग्यास्य यथेच्छं त्यागो विधीयते । न तु पत्न्याः ।

यद्यपि पश्चात्तापहेत्वभावात् पश्चात्तापत्याग उचितस्तथापि फले बहुकालविलम्बश्चेत्तदा किं कर्तव्यमिति सन्दिहानमन्तःकरणं बोधयन्ति सत्यसङ्कल्प इति ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यः यथार्थः सङ्कल्पः मनोविचारो यस्य तादृशत्वाद्विष्णुः बाह्याभ्यन्तरभेदेन सर्वव्यापकः । अन्यथा फलदाने विलम्बं न करिष्यति । अस्मिन्नर्थेऽन्यथाभावशङ्कानिराकरणार्थं तुशब्दः । तस्मात्त्वया फलविलम्बसन्देहमपि त्यक्त्वा प्रभ्वाज्ञैव कार्या सततं, न तु भावमौढ्यात् कदाचिदप्यन्यथाभावः कार्यः । अकरणे बाधकमाहुः, स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेदिति । अन्यथा आज्ञाया अकरणे स्वामिद्रोहो भवेत् । आज्ञैव कार्या सततमित्येतावतैव आज्ञाकरणसिद्धावपि बाधकोक्तेरयमाशयः । यथा फलप्रकरणे व्रजसीमन्तिनीनां भावमौढ्या प्रभ्वाज्ञाया अकरणेऽपि कार्यं सिद्धं, तथा ममापि सेत्स्यतीत्यज्ञाननिवृत्त्यर्थमुक्तं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेदिति । अस्यायमर्थः, व्रजसीमन्तिनीनां भावमौढ्या आज्ञोल्लङ्घनं प्रभोः स्वस्य च पुरुषार्थसाधकं जातम् । तद्दृष्टान्तेन त्वदुल्लङ्घने उभयोरपि विपरीतफलकत्वज्ञापनाय बाधकत्वमुक्तम् । बाधकत्वे हेतुः, तासां प्रभ्वाज्ञोल्लङ्घनं फलप्रतिबन्धकनिराकरणे उपयुक्तं जातं, तेन प्रभोस्तासां च निरवध्यानन्दः सिद्धः । तव त्वाज्ञोल्लङ्घनं प्रभुदित्सितफलप्रतिबन्धकत्वेन प्रभोः क्रोधजननेन, तेन क्रोधेन तव फलविलम्बेन च, प्रभ्वपराधस्तव चानिष्टं भवेदिति तत्सर्वात्मना नैव कार्यमित्येतदर्थमुक्तं, स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेदिति ॥ ४ ॥

एवं सोपपत्तिकमाज्ञाभावमुपपाद्य कदाचित्पूर्वकृताग्रहेण प्रभुकोपे कथं स्वामिलिप्सितसिद्धिरिति सन्दिहानमन्तःकरणं प्रबोधयन्ति सेवकस्य त्विति ।

सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।
आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

मया यत्पूर्वश्लोक उपपादितं, तत् सेवकस्यासाधारणस्वाभाविकधर्मत्वेन त्वय्यपि भविष्यति तदाऽसाधारणधर्मं दृष्ट्वा प्रभुरपि स्वस्वामित्वासाधारणधर्मं सेवकज्ञानागोचरमपि सेवके करिष्यति । ननु इदृशायामपि मयि सेवकत्वस्य विद्यमानत्वात् स्वामिन्यपि सहजस्वामित्वासाधारणधर्मस्य विद्यमानत्वात् कथं फलविलम्ब इति सन्देहनिवृत्त्यर्थं फलविल-

न्वहेतुं सेवकधर्मं निरूपयन्ति, आज्ञेति । आज्ञा प्रभ्वाज्ञा पूर्वं प्रथमतो गङ्गासागरसङ्गमे या जाता पश्चाद्द्वितीया या आज्ञा मधुवने मथुरायां जाता तदाज्ञाद्वयमपि मया न कृतम् । ननु तदाज्ञाद्वयं किं विषयकं यन्न कृतं तत्राहुः, देहदेशपरित्याग इति । पूर्वाज्ञाया विषयो देहपरित्यागः । द्वितीयाज्ञाया विषयो देशपरित्यागः । ननु बलात्कारेण देहपरित्यागस्य दोषरूपत्वात् कथं तदाज्ञासम्भवः । तदकरणे च कथं दोषसम्भव इति चेत्सत्यं, कर्माधीनदेहे प्रारब्धभोगसमाप्तिव्यतिरेकेण बलात्कारेण देहत्याग एव दोषसम्भवः । यत्र केवलं भगवदिच्छाधीनावेव देहग्रहणपरित्यागौ तद्देहस्यालौकिकत्वात्तदाज्ञया परित्यागो न दोषायेति ज्ञात्वापि यत्तदकरणं तस्याज्ञोल्लङ्घनहेतुत्वात् प्रतिबन्धकत्वमित्युक्तम् । देशपरित्यागः स्पष्टः । एवमाज्ञाद्वयाकरणेऽनिष्टहेतुत्वं ज्ञात्वा तृतीयाज्ञा कृतेत्याहुः, तृतीयो लोकगोचर इति । तृतीयः परित्यागः लोकप्रसिद्धस्मृत्यादिशास्त्रेषु गोचरो विषयः संन्यासग्रहणपूर्वकं गृहपरित्यागः स कृतः । यद्यप्यत्र कृत इति शब्दो नास्ति तथापि पूर्वाज्ञाद्वयकरणनिषेधादत्र च कृत इति शब्दाभावेपि करणमायाति । यद्यपि पूर्वोक्ताज्ञाद्वयाकरणापराधः सम्भवति, तथापि तृतीयाज्ञाकरणेन तयोरप्याज्ञयोः करणं जातमिति नापराधः ।

तथापि, आज्ञोल्लङ्घनजनितापराधेन यदि फलविलम्बं कुर्यात् प्रभुस्तदा तज्जनितः पश्चात्तापो भवत्येवेति कथमपराधनिवृत्तिरितिसन्देहे समाधानमाहुः, पश्चात्ताप इति

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

फलविलम्बेपि विलम्बस्य दण्डस्थानीयत्वात्सेवकेन पश्चात्तापो न कर्तव्यः । तत्र हेतुः, सेवकोहमिति । अहं सेवकः सेवाकरणयोग्यः । आज्ञाद्वयाकरणस्य सेवाप्रतिबन्धकत्वं ज्ञात्वा शीघ्रं सेवार्थं विलम्बजतापेन शिक्षामिव प्रतिबन्धनिवृत्तिं विधाय पुनः सेवार्थमेव विलम्बं न कृतवान् इति न मम पश्चात्तापः । यतोहं सेवकः, न चान्यथा । यदि प्रभुरपि सेवकत्वं न मन्येत तदापराधेनोपेक्षामेव कुर्यात्, न तु स्वीयत्वं ज्ञात्वा विलम्बजतापरूपशिक्षां कुर्यादित्यत उक्तं, न चान्यथेति, अस्मिन्नर्थेऽन्यथाभावो नास्तीत्यर्थः ।

ननु यथा लोके 'राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वे'ति लौकिकप्रभुन्यायेन तापानन्तरमप्युपेक्षामेव कुर्यादिति चेत्तत्र बाधकमाहुः, लौकिकप्रभुवदिति । लौकिकाः प्राकृता जीवाः प्रभवो लोके प्रभुत्वेन व्यवहार्याः, तद्वद्भगवान् द्रष्टव्यः न ज्ञातव्यः । तत्र हेतुः, यतः कृष्णः फलात्मा प्रभुश्च । लौकिकप्रभूणां प्राकृतत्वात्तेषामङ्गीकारस्यानित्यत्वादङ्गीकृतस्याप्युपेक्षा सम्भवति, प्रकृते प्रभोरलौकिकत्वेन तदङ्गीकारस्यापि नित्यत्वेन अङ्गीकृतोपेक्षैवासम्भाविनीति ज्ञापनायोक्तं, न द्रष्टव्यः कदाचनेति । अत एव पितृचरणैरुक्तं 'अङ्गीकृतजननजनितापराधदूरसमाविनोदोस्य । अङ्गीकृतिश्च नित्या यदन्तु

कोऽन्योऽस्य सामर्थ्यमिया'चेनाङ्गीकारस्य नित्यत्वे न सन्देहः । कदाचनेति भूतभविष्य-द्वर्तमानकालेष्वपीत्यर्थः ॥ ७ ॥

यद्यप्युपेक्षां न करिष्यति, तथापि, अपराधस्य जातत्वात्पुनः पूर्ववत्तादृशीं कृपां न करिष्यतीति मनःसन्देहनिवृत्त्यर्थमाहुः, सर्वं समर्पितमिति।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव ।

त्वय्यपि पूर्वं कृपाऽसीदेव, यतस्त्वया सर्वमेव समर्पितं, तत्रापि भक्त्या भक्तिमार्गानु-सारेण, न तु विहितत्वाद्युपाधिना, तस्मात्त्वं फलरूपभक्तिमार्गाङ्गीकारेण कृतार्थ एवासि। मध्ये मौग्ध्यादहङ्कृतजनितापराधेन अन्तराये सति क्लेशं प्राप्तवानसि। अतस्तमाग्रहं परित्यज्य सम्याशां कृत्वा पुनः पूर्ववदेव सुखीभव यथापूर्वं सुखं प्राप्नुहि। ननु, अङ्गी-कारस्य नित्यत्वात्फलमार्गीयं सुखं यद्यपि दास्यति तथापि पूर्ववत्सर्वात्मना दास्यति न वेति सन्देहजनितक्लेशमग्रिमदृष्टान्तेन दूरीकुर्वन्ति। प्रौढापीति।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

फले प्रभुः तारतम्यं तदा कुर्याद्यदि त्वदपेक्षा न स्यात्, यस्यापेक्षावत्त्वं तस्य दोषमप्यनङ्गीकृत्य फलं ददात्येव। पूर्वोक्तं दृष्टान्तमेव विवृण्वन्ति। यथा प्रौढा रमणयोग्या स्वकीया दुहिता तस्यां स्नेहाधिक्यात् तस्या वरे भोक्तरि भोगार्थमुत्सवसमये यदि न प्रेष्यते तदा वरः स्वाभिलाषाया अपूर्त्याऽसन्तुष्टो भवति। प्रेष्यते चेत्सन्तुष्ट एव भवति। अपि शब्देन यद्यपि पाणिग्रहणमारभ्यैव तस्य भोगेच्छाऽस्त्येव, तथापि तस्यां स्त्रीपमर्दासहिष्णुत्वेन विलम्बमपि सहते। सहिष्णुत्वदशायां विलम्बकरणे असन्तुष्ट एव भवति। तथा प्रभोः सर्वात्मना स्वापेक्षासमये यदि अपेक्षां ज्ञात्वा कार्यसम्पत्तिर्न क्रियते तदा प्रभुरसन्तुष्ट एव भवति। तस्मादयं विलम्बः प्रभोः स्वाभिलषितसिद्ध्यभावहेतुरिति, विलम्बाभावे पूर्ववदेव सर्वात्मना स्वाभिलाषापूर्त्यर्थं फलं दास्यत्येवेत्यस्मिन्नर्थे विलम्बस्त्याज्य एवेत्यत्र उक्तम्। तथा देहे न कर्तव्यमिति। देहे देहत्यागविषये सर्वात्मना प्रभुसन्तोषाभावाद्विलम्बो न कार्यः। यथा दुहितृप्रेषणविलम्बे स्नेहो हेतुः। तन्निराकरणपूर्वकप्रेषणे वरसन्तोषेणोभयकार्यसिद्धिस्तथात्राप्याग्रहहेतुत्यागपूर्वकमाज्ञाकर-णेनोभयकार्यसिद्धिरिति सर्वात्मना प्रभुसन्तोषार्थं देहत्यागविलम्बहेतुर्देहस्नेहस्त्याज्य एव।

ननु यद्यप्यस्मिन्नर्थे हठोऽनुचितस्तथापि भगवदभिप्रेतश्रीभागवतार्थप्रकाशकत्वेन लोके परमोत्कर्षः सिद्ध्यतीति कदाचिदत्र किञ्चिद्विलम्बेच्छा सम्भवति। तथा अपि फल-विलम्बहेतुत्वेन तां निराकुर्वन्ति, लोकवदिति।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

यद्यपि भगवदभिप्रेतश्रीभागवतार्थभाक्त्वेन जैमिनिव्यासादिवत् श्रुत्यविरुद्धालौकिकशास्त्रार्थभाक्त्वेन लोक एवोत्कर्षः सिद्ध्येत् । नत्वलौकिकस्वसिद्धान्तफलानुभवहेतूत्कर्षः सिद्ध्यति । लोकोत्कर्षसिद्धौ जैमिनिव्यासाद्युत्कर्षवदलौकिक एवोत्कर्षः सेत्स्यति, न तु स्वमार्गीयोत्कर्षोऽपि । तस्मात्तदुत्कर्षासिद्धौ मे मम स्वमार्गीयफलभोक्तुः पूर्वोत्कर्षफलविचारस्य स्वमार्गीयफलविलम्बहेतुत्वात्किं फलं स्यान्न किमपीत्यर्थः । स्वमार्गीयफलविचारे पत्र मुक्त्यादीनामपि निःफलत्वं तत्र पूर्वोक्तलौकिकस्यापि फलत्वगणना सर्वात्मना दूरापास्तेति ज्ञापनायोक्तम्, किं स्यादिति । अत एतत्फलतारतम्यविचारेण स्वथापि सर्वात्मना फलसिद्धिविलम्बाभाव एव विचारणीयो न त्वन्योऽपि विचारः कर्तव्य इति ज्ञापनायोक्तम् । विचारयेति ॥ ९ ॥

यद्यपि फलविलम्बाभाव एव विचारणीयस्तथापि बलात्कारेण शरीरत्यागस्य स्वतोऽशक्यत्वात् कथं सम्भवतीति सन्देहनिवारणप्रकारमाहुः । अशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

यद्यपि बलात्कारेण शरीरत्यागः स्वकर्तृकश्चेत्स्यात्तदाऽशक्यः स्यात् । भक्तशरीरत्यागस्तु भगवदिच्छाकर्तृक इति न स्वस्याशक्यत्वम् । यतोऽशक्यादिसर्वदुःखहर्ता यो हरिः स एव सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन स्थित एवास्ति । अत्र हरिपदोक्त्या देहत्यागोऽपि फलान्तरायदुःखदूरीकरणार्थमेव । अतो लोके अशक्यस्याप्यनायासेन साधकत्वमुक्तं भवति । तस्मात्फलविलम्बाभावार्थमेतावत्कर्तरि मोहं मा गाः, मोहं चित्तविक्षेपं मा गाः, न प्राप्नुहि, कथञ्चन केनापि प्रकारेण आज्ञोल्लङ्घनजनितापराधफलविलम्बविषये आज्ञोल्लङ्घनात्पूर्वसामयिकफलानुभवे, आज्ञाकरणानन्तरं फलानुभवतारतम्यविषये च सर्वात्मना वैयर्थ्याभावबोधनायोक्तम्, कथञ्चनेति । अतः परमुक्तार्थमुपसंहरन्ति ॥ १० ॥

एवं प्रबोधनेन सर्वात्मना वैयर्थ्यनिवृत्तचिन्तेति ज्ञापनायाहुः । इतीति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ।
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितमन्तःकरणप्रबोधः समाप्तः ।

इतीति समाप्तौ । श्रीकृष्णदासस्य श्रीकृष्णपदेन भक्तसहितत्वीयत्वसाविष्कृतं ज्ञापितं, तद्दासत्वेन शुद्धपुष्टिमार्गीयफलरूपदास्यं प्राप्तस्य ममापि वल्लभस्य प्रभोः शुद्ध-

पुष्टिमार्गीयफलरूपदास्यप्राप्तानां च वल्लभस्यात्यन्तं प्रियस्य तादृशस्य स्वचित्तं प्रति हितं वचः, हितं हितकारि । वचसि हितमिति पदोपादानेन वचनस्य आप्तवाक्यत्वेन प्रामाण्यावधारणेन चित्तस्य सर्वात्मना वैयग्र्याभावः सिद्ध इति ज्ञापनायोक्तम् । चित्तं प्रतीति । एवं प्रबोधनेन स्वचित्तस्य शुद्धपुष्टिमार्गीयपरमफलानुभवयोग्यतां निःसन्दिग्धामुपपाद्य एतच्छ्रवणेन स्वमार्गीयाणामपि स्वाधिकारानुसारेणापि भक्तिमार्गीयफलं सिद्ध्यतीति ज्ञापनायाहुः, यदाकर्ण्येति । यद्वच आकर्ण्य आसमन्ताच्छ्रुत्वा । यद्यपि वचः श्रुत्वेत्येतावतैव श्रवणसिद्धावपि आसमन्तात्कथनेन साभिप्रायश्रवणं ज्ञापितम् । साभिप्रायश्रवणस्य फलमाहुः, भक्त इत्यादि । भक्तो भगवति स्निग्धो भवति । तदनन्तरमाचार्याणां फलविलम्बहेतुदूरीकरणसामर्थ्यं ज्ञात्वा स्वस्यापि फलविलम्बहेतुचिन्तां दूरीकरिष्यन्तीति चिन्तापरित्यागेन निश्चिन्ततां व्रजेत् प्राप्नोतीत्यर्थः ।

चित्तप्रबोधकाचार्यवचांसि विवृतानि वै ।
तेनाचार्याः प्रसीदन्तु स्वीये मयि सदा स्वतः ।
इति श्रीपितृपादाब्जपरागधनिना मया ।
श्रीवल्लभेन विरचिता विवृतिः पूर्णतामियात् ॥ २ ॥
अर्पिता श्रीमदाचार्यपदाब्जेषु मया स्वतः ।
तेनैव कृतकृत्योऽस्मि इति मे निश्चिता मतिः ॥ ३ ॥

इति श्रीवल्लभविरचितान्तःकरणप्रबोधटीका समाप्ता ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीरघुनाथचरणनिर्मितं विवरणम् ।

व्रजस्त्रीनेत्रनलिनवनालीषु परिभ्रमन् ।
लिप्सुस्तन्मधु योऽलित्वं माप स कृष्णपाश्रये ॥ १ ॥

अथ भगवदीयानामनवरतभगवद्भजनसिध्यर्थं तत्प्रत्यूहदुरितजनितचिन्तासन्तान-दवदहनदमनोपायमन्तःकरणप्रबोधमन्तःकरणं संमुखीकृत्य प्रतिजानते । अन्तःकरणमद्वाक्यं सावधानतया शृणुष्वेति ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

अत्र स्वान्तःकरणव्यपदेशेनान्येषामन्तःकरणं प्रबोध्यत इति ज्ञेयम् । कृष्णात्परं नास्ति दैवमित्यादिवक्ष्यमाणं मदीयं वाक्यं सावधानतया प्रमादराहित्येन शृणु आकर्णयेत्यर्थः । तदेवाहुः, कृष्णात्परमिति । वस्तुतः परमार्थतो विचार्यमाणे 'कृषिर्भूवाचक' इत्यादिनिरुक्तिबलात्कृष्णात्परमन्यद्दोषवर्जितं दैवं देवः सर्वोपास्य ईश्वरो नास्तीत्यर्थः । अत एव गीतायां 'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्य' इति । एवं शृणुष्वेति वाक्यशेषः । ननु भगवदीयानामपि कदाचिल्लौकिकत्वकुबुद्धिरभिमतो दृश्यतेऽन्यथाभिमानेन स्वावमानमाशङ्क्य, अहं भगवति कृतात्मनिवेदीति सर्वं मयि भगवदेककर्तृकमिति विमृश्य मदपमानमपि भगवतैव कृतमिति भगवत्यपि दोषस्फूर्तौ सदृष्टान्तं समाधानमाहुः ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमाने वा मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

अत्र चाण्डालीतिपदं महादोषोपलक्षणपरं, तेन सदोषा या काचन राजपत्नीत्वेन परिगृहीता जाता राज्ञा च सत्कृता, कदाचित्तस्या अपमानेऽपि मूलतः स्वरूपतः क्षतिः हानिः का भवेन्न कापीत्यर्थः । अयं भावः । भगवत्सम्बन्धं विना सर्वेषामन्तःकरणं स्वभावतो दुष्टमेव । तदुत्कर्षस्तु भगवत्सम्बन्धकृत एव, तेन यत्सम्बन्धात्स्वयमुत्कृष्ट इत्य-

भिमन्यते, तत्कृतापमानेपि स्वरूपं तु स्वस्य पूर्वं सदोषमेवेति कुतस्तरां दोषाभावश्च इति । चकारादन्यैरपि राज्ञीत्वेन मानिता पूजिता । दृष्टान्ते एवं ज्ञेयं, सदोषापि अपि चाण्डाल्या राजपरिग्रहात् मानिताया अपि कदाचिद्राजकृततिरस्कारे स्वजातीयपतिकृतसंमानजनो यः राजकृततिरस्कार इति, यथा सम्बन्धगुत्कर्षास्त्योत्कर्षः । एवं भगवत्कृतापमानेपि स्वस्य लाभ एव न हानिरिति भावः ॥ २ ॥

स्वस्यान्तःकरणं स्वयमेव कथं बोधनीयमित्यपेक्षायामाहुः ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

योऽहमिदानीमुत्तमत्वाभिमानेनावमतोस्मीति मन्ये स एतादृशात्मसमर्पणात्पूर्वमपि किं सर्वकालमुत्तम एव स्थित आसम्, प्रत्युत तद्विपरीत एवासमतो मम पूर्वापेक्षयाऽधमता का भाव्या भविष्यति । यतः पूर्वावस्थामनुस्मृत्य पश्चात्तापो भवेदित्यर्थः ॥ ३ ॥

नन्वेवं प्रभुवः समाधानेपीदानीन्तनावमानफलदशायामन्येवं कुर्याद्वेत्तदानीं कथं समाहितिरित्यपेक्षायामाहुः ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यो यथार्थो यः सङ्कल्पो मतं तस्माद्विष्णुः सर्वत्र वर्तमानः फलदशायामप्यन्यथा न करिष्यत्येवेति ज्ञेयम् । तुशब्दो निर्द्धारणे च । स च सङ्कल्पो यथा । 'द्विःशरं नाभिसन्धत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान् । द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते' । 'सकृदेव प्रपन्नो यो तवास्मीति याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' । 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'त्येवमादिषु ज्ञेयः । येन भगवताहं सर्वतः पृथक्कृत्य स्वभजने योजितः स कथमग्रे त्यक्ष्यतीति भावः । स्वस्यावश्यकर्तव्यमाहुः । आज्ञैवेति । सततं निरन्तरमाचार्यद्वारा या आज्ञा सैव कार्या न तु कदाचिदप्यनाज्ञप्तमन्यमतसिद्धं वा । अन्यथा एवमकरणे स्वामिद्रोह एव भवेत् ॥ ४ ॥

नन्वाज्ञातिरिक्तकार्यमात्राकरणे प्राप्ते चिकीर्षितकार्यस्य कथं सम्पत्तिरित्याहुः ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

सर्वस्वनिवेदिभक्तस्यायमेव धर्मो यद् स्वामी प्रभुरेव सर्वमैहिकामुष्मिकं स्वस्य स्वीयभक्तस्य करिष्यतीत्यर्थः । एवमनुसन्धानेन स्थेयमिति भावः ॥ ५ ॥

अत्र विश्वासार्थमाचार्याः स्वानुभवमुक्तावपन्त्याज्ञा पूर्वमित्यारभ्य श्लोकद्वयेन ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ।
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ॥ ६ ॥
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ।
पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा ।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

आज्ञापूर्वेत्यिति । मां प्रति पूर्वं प्रथममाज्ञा देहपरित्यागविषयिणी गङ्गासागरसङ्गमे जाता । यापि पुनरन्या देहपरित्यागविषयिणी मधुवने मथुरायां जाता तदाज्ञाद्वयं मया न कृतमेव । तृतीया या लोकगोचरा लोकविषयिणी लोकानुद्धरस्वेत्येवंरूपा सा कृतेति शेषः ।

तत्राज्ञाद्वयभङ्गरूपेऽपराधे सति कथं मम पश्चात्तापो, यन्मया न कृतमित्येवं रूपः, स न कथमपि सङ्गच्छत इति । अकरणे हेतुः, सेवकोऽहमिति । सेवकस्य सर्वस्वनिवेदिनो या काचन कृतिः सा भगवदिच्छयैवेति निश्चयात् । न चान्यथा अन्यसम्बन्धो नास्तीत्यर्थः ।

ननु लौकिकप्रभूणामिवाज्ञाभङ्गस्यापराधत्वे भगवतोऽपि तथात्वापत्तिरित्यत आहुः । लौकिकप्रभुवदिति । कदाचिदासुरव्यामोहार्थं लोकवदाचरणेऽपि लोकवज्ज्ञातव्यस्तु कदाचिदपि नैव इत्यर्थः । लोकवदाचरणं तु रामायणमौसलादिषु प्रसिद्धम् ॥ ७ ॥

कस्मिन्नप्यंशे चिन्ता न कार्येत्याहुः ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखीभव ।
प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।
लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

सर्वं लौकिकालौकिकसाधारणं स्वीयं भक्त्या स्नेहपूर्वकं समर्पितमेवास्ति, अतः कृतार्थोऽसि कृतकृत्योऽसि सुखी भव, सुखेनैवं वर्तस्व, न मिथ्या चिन्तयेत्यर्थः । आज्ञाद्यकरणादिना भगवदपराधास्पदं स्वशरीरमनुपयुञ्जानं प्रति सदृष्टान्तं दोषमाहुः । प्रौढापीति । प्रौढा वृद्धा, अपि शब्दात्प्रौढापि दुहिता यदा स्नेहवशाद्वरे वरसविधे न प्रेष्यते न याप्यते तदा तत्स्वामी वरस्तां विना प्रकारान्तरेण न तुष्टो भवतीति, यद्यपास्ति तथा निवेदिते देहेऽप्यतिस्नेहवशादनुपयोगो भगवदसन्तोषकारक इत्यर्थः । लोकवदिति ।

साधारणलोकवन्मे यदि स्थितिः स्यात्तदेदानींतनावस्थापेक्षया तदधिकं लोके वेदे च किं स्यान्न किमपि, प्रत्युत सर्वनाश एव भवेदित्येवं त्वमेव विचारय, इदमुपपन्नं न वेति ।

ननु सर्वथा शरीराद्यशक्तौ भजनासम्भवे कथं निस्तार इत्यत आहुः ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

सर्वप्रकारेण कृत्यऽसाध्येर्थे हरिरेवास्ति मम शरणमिति बुद्धिमवलम्बस्व । अस्मिन्नर्थे कथमपि मोहं वैचित्त्यं मा गाः, मा प्राप्नुहि ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ।
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीकृष्णे दास्यं गतस्य वल्लभस्य, श्रीकृष्णदासस्येति जात्यभिप्रायेणैकवचनं वा । श्रीकृष्णदासस्य चित्तं प्रति हितमभीष्टसम्पादकं वल्लभस्येदमभिहितं वचो ज्ञेयम् । कथं तदित्यत आहुः, यदाकर्ण्येति । यद्वचः श्रुत्वा भक्तो नैश्चिन्त्यं प्राप्नुयादिति ॥ ११ ॥

इति * श्रीविट्ठलेश्वरात्मजश्रीरघुनाथविरचितमन्तःकरणप्रबोधविवरणं संपूर्णम् ।

---

* केनचिद्विशेषकेन श्रीमत्प्रभुचरणानां विरचनमिति लिखितं, परमत्र श्रीरघुनाथनामाङ्कितत्वादुपलभ्येऽस्य श्रीमत्प्रभुचरणविरचितटीकाप्रकाशत्वात् इतिरियं श्रीरघुनाथस्यैवेति विभाव्यते ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।



श्रीमन्महानुभावश्रीहरिरायचरणविरचितविवृतिसमेतः ।

अथ श्रीवल्लभाचार्याः कृष्णेनातिदयालुना । निःसाधनजनोद्धृत्यै पुष्टिप्रकटनेच्छुना ॥
स्वास्यरूपाः स्वरसेन प्रभुणा प्रकटीकृताः । जीवोद्धाराय विवृतिं चक्रुर्भागवते मुदा ॥
तथा स्वतन्त्रभजनप्रकारस्योपदेशनम् । ततश्च भगवान्मत्वा स्वमार्गोद्घाटनं हि तैः ॥
आचार्यविप्रयोगं चासहमानोऽखिलेश्वरः । आज्ञाद्वयमदाद्देहदेशत्यागैकबोधकम् ॥
ततः स्वधर्मदिवशतः करुणावशतोऽपि च । तद्द्वयोल्लङ्घनं चक्रुः पश्चात्तापस्ततोऽभवत् ॥
दोषस्फूर्त्या हरौ सङ्गविलम्बात्त्यागजाड्यतः । अङ्गीकृतिगतेश्चापि धर्मत्यागाच्च दुःसहः ॥
बाल्यवत्पूर्वमाज्ञप्तः पश्चाच्चेति यदब्रवीत् । यां तेनास्थिरवाक्त्वं हि हरौ दोषस्तदास्फुरत् ॥
ततः समादधुश्चित्तं वचनैः स्फूर्तिमागतैः ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

अन्तःकरणपदतो बहिरङ्गत्वबोधनम् ॥

दोषसम्बन्धतश्चित्ते*स्वभिन्नत्वं हि मन्यते । आज्ञोल्लङ्घनतो दोषो भगवद्दोषभावनात् ॥
अत एव तदात्मीयं कर्तुमत्र समाहृतिः । अन्यथा मौढ्यदार्ढ्ये तु सर्वभावच्युतिर्भवेत् ॥
मद्वाक्यमिति वाक्येषु स्वसम्बन्धो निरूपितः । निर्दोषभगवद्भावबोधकत्वात्तु सर्वथा ॥
अत एव समासो हि पदयोरत्र बोधितः । वाक्यमित्येकवचनं सर्वैरेकार्थबोधनात् ॥
स्ववाक्यस्य दुरूहत्वाद्भावमौढ्यस्य चेतसः । अर्थानवगमस्तस्मात्सावधानत्वबोधनम् ॥
श्रवणोक्त्या सतात्पर्यमर्थावगमनं मतम् । श्रवणेनैव हि स्वीयविचारान्तरवारणम् ॥
एतच्छ्रवणे दोषोऽपीति विघ्नवतारणम् । पश्चात्तापो द्विधा जातः प्रभुदोषसमागतेः ॥
आज्ञारूपस्वधर्मस्य परित्यागात्स्वदोषतः । तत्र तु प्रथमं दोषः प्रभौ नास्तीति कथ्यते ॥
तदारोपणतश्चित्ते भ्रान्तत्वमपि चोच्यते । न हि कृष्णे सदानन्दे दोषसम्भावनोद्भवः ॥
स्वच्छन्देन यतस्तत्र दोषाभावश्च रूप्यते । सर्वस्यैव तदात्मत्वान्न परं विद्यते ततः ॥

---

* 'स्वस्मिन् रूपम्' पाठः ।

अतो वैषम्यनैर्घृण्ये अपि दोषौ न कर्तरि । नास्तीत्युक्त्या तदन्यस्य सत्ताभावो विबोध्यते ॥
दैवशब्देन पूज्यत्वं सर्वेषां ज्ञापितं हरौ । तस्यैव च परत्वेन सर्वोत्कृष्टत्वबोधनम् ॥
जगत्पूज्ये भगवति दोषसत्ता कथं भवेत् । अन्येषामपि पूज्यत्वं तद्विभूतित्वतोपि हि ॥
भृगवे हरिणा स्वस्य दोषाभावो विबोधितः । निर्दोषपूर्णगुणता सर्वत्रैव निरूपिता ॥
सर्वेषां भाग्यरूपत्वं दैवशब्देन चोदितम् । यथा भाग्यं विना सर्वसाधनं विफलं मतम् ॥
तथा तत्प्रतिकूल्ये न देवानां फलदातृता । अत एवास्मदाचार्यैर्ग्रन्थे सेवाफलाभिधे ॥
तदन्यदेवसेवापि व्यर्थेति विनिरूपितम् । मायाश्रितानि चीर्णानीत्यादिवाक्यानि सन्ति हि ॥
स्वसम्बन्धेन सर्वेषां फलदे दोषवारके । स्वरूपतोपि निर्दोषे कथं दोषनिरूपणम् ॥
ननु भृग्ववतारे तु क्रोधादि दृश्यते हरौ । दैत्यमारणतोनन्तयुवतीनां परिग्रहात् ॥
क्रोधोपि देवस्येत्यादिवाक्यं च खलु दृश्यते । इति चेन्न हरौ दोषः प्रतीत्या न हि वस्तुतः ॥
विचार्यमाणे क्रोधादि हितं पर्यवसानतः । मुक्तिदानाभिमानन्ददानाद्यधिकारतः ॥
दोषा एव न भीर्वेद्यु मधुकारतं स्पृशन्त्यपि । अभिचारा वैष्णवद्तस्तद्दोषवर्जितम् ॥
एवं सतीदृशे नाथे दोषारोपणतः स्वतः । पूर्वं जातोपि चोत्कर्षो नश्येत्तदपमानतः ॥
स्वामिसम्बन्धराहित्याद्भवेत्तु महती क्षतिः । इति चेत्तत्समाधानमग्रिमश्लोकरूपितम् ॥

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

संभावितस्य चाकीर्तिरिति गीतोक्तवाक्यतः । उत्कृष्टस्य पुरा पश्चादपकर्षे क्षतिर्भवेत् ॥
पूर्वं स्वरूपे दृष्टान्तरूपया हीनो निरूपितः । तादृशस्य तथोत्कर्षे मूलं तु भगवान्मतः ॥
पुष्टिमार्गेऽवतौ नैव जीवोत्कर्षो नियामकः । भक्तिहंसे तथा प्रोक्तं मत्प्रभिर्विट्ठलेश्वरैः ॥
पूर्वं जीवगतोत्कर्षोप्यप्रयोजक इत्यपि । मूलतस्त्वपमाने तु न हीनस्य क्षतिर्भवेत् ॥
अपमानभदुःखं तु क्रियते स्वविचारतः । दास्यं स्मर मनः स्वीयं दासानां नापमानभम् ॥
चेदित्यनेन दौर्लभ्यमङ्गीकारे निरूपितम् । जातं पद्राजपत्नीत्वं तच्च याति कथञ्चन ॥
अन्यैर्वा सा न दुर्वाक्यैर्वक्तुं शक्यया वचान्वितैः । न वा तदुपभोगोन्यैः पश्चात्कर्तुं हि शक्यते ॥
अपमाने विलम्बस्तु विरहानुभवार्थकः । बहिः संवेदने पश्चाद्दैन्यपारमसाधकः ॥
तदनन्तरमन्येपि मातृत्वमतयो ध्रुवम् । मानयन्ति यतस्तां हि नापकर्षस्ततो मतः ॥
कदाचिदित्यनेनात्र नित्यता नापमानने । मनःपूर्वकृतित्वेन नित्यताङ्गीकृतौ हरेः ॥
नापमाने यतस्तत्र हरेरिच्छा न तादृशी । शिक्षार्थं दण्डनार्थं वा कुरुते न निजेच्छया ॥
इच्छापूर्वकृतित्वे हि भवेदेव हि नित्यता । दण्डोप्यनुग्रहः मोक्षः सर्वत्रैवाव एव हि ॥
अपि शब्देन तस्यापि मानसाम्यं निरूपितम् । एवं वाक्यैर्बोधयित्वा दृष्टान्तेन च बोधनम् ॥
क्रियते दृढता यस्मात्कृतबोधस्य सिध्यति ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

अहं समर्पणात्पूर्वमुत्तमः किं स्थितो मनः॥

यतो दोषा निवृत्तास्तु सर्वेषां तत्समर्पणात् । सदेत्यनेन हृदये कदाचेशात्कचित्कचित् ॥
जाताप्युत्तमता नैव निरन्तरमभून्मयि । यथा श्रावणशुक्लैकादश्यां कृष्णे पुरःस्थिते ॥
साक्षात्समर्पणे सर्वोत्तमत्वं न तथा पुरा । नन्वात्मपरूपाचार्याणां कथनं नैव युज्यते
ईदृशं कृष्णरूपत्वात्सर्वेभ्योप्युत्तमता यतः । इति चेन्न रसात्मत्वाचार्यस्वरूपं च तथा ॥
यथा भगवतो लीलारसानुभवसिद्धये । मानिनीषु तथारूपं महं त्वाद्यवचोपि हि ॥
तथावतारे भक्ताख्यरसानुभवहेतुकम् । रूपं तथा वचश्चापि स्वाचार्यचरणोदितम् ॥
अतो रसात्मके रूपे न कार्यः संशयस्तथा । यतो रसस्वरूपं हि यत्र यादृक् तथैव तत् ॥
किञ्चाधुना चाधमता का वा भाव्या मम त्वया। यतोधमत्वविचि पश्चात्तापो भवेत्तव॥
ननु सत्यं तथाप्येव कृष्णः सर्वोत्तमः स्वतः । कर्तुं चापि तथाऽकर्तुमन्यथा कर्तुमीश्वरः ॥
अतः कदाचिद्वरणं कुर्याच्चेदन्यथा तदा । का गतिः कुत्र गच्छामि गत्वा वाच्यं कमाश्रये ॥
इयं चिन्ता न कर्तव्या—

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यसङ्कल्पतो हरिः । स्वाङ्गीकृतिं कृपापूर्णो न कुर्यादन्यथा क्वचित् ॥
केषां सत्या कृतिः केषां वाङ् सत्या न विचारितम् । विचारितं हरेः सत्यमतस्तु कथनेन्यथा ॥
कदाचिदासदोषेण नान्यथा तद्विचारितम् । अतो वचःश्रुतौ नैवं चिन्त्यं भयमन्यथा ॥
विष्णुः सर्वत्र सत्त्वेन रक्षकः कथमन्यथा । करिष्यति यतो रक्षा साधारण्या कृतिः प्रभोः ॥
तुशब्देन न भक्तेषु क्वचिदप्यन्यथा कृतिः । करणं चाप्यकरणं तुल्यार्थोस्तु विरुद्धये ॥
नन्वेवं चेत्स्वतन्त्रत्वं किं दासानां न बाधकम् । स्वतन्त्रा गतचिन्तास्तु कुर्युराज्ञाविलोपनम् ॥
तथासति महान् दोषस्तदर्थमिह चोच्यते । आज्ञैव कार्या दासेन न प्रश्नो न विचारणम् ॥
एवकारेण धर्माणामाज्ञात्वेनैव वै कृतिः । कार्यत्वात्रवश्यकत्वार्थमत्ययान्तपदोक्तितः ॥
सेवकत्वात्मकुर्वन् वै प्रत्यवायी हि जायते । निरन्तरं तत्कृतिस्तु स्वधर्मत्वेन बोधिता ॥
स्वधर्मो यादृशस्तस्याकृतौ दोषोपि तादृशः । वाक्यपवेदधर्मस्याऽकरणे वाङ्निरूपितः
नरकादिः, स्वरूपात्मधर्मस्याकरणे हरेः । स्वामिद्रोहो महान् दोषः स्वरूपेण विरोधतः ॥
आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामिति लौकिकवाक्यतः ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।
आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

सेवकस्य हरेः सेवां कुर्वतो मार्गवर्तिनः ॥
धर्मोयमेव नान्योस्ति यदाज्ञाकरणं प्रभोः । तुशब्देनान्यथा धर्मः पुष्टिस्थेषु विलोक्यते,
तदाज्ञालोपमात्रादि तद्धरेर्धर्मवेशनात् । तयैवात्रापि विज्ञेयं न, धर्मोयमितीरितम् ॥
अत एवार्जुनेनोक्तं करिष्ये वचनं तव । न चायमीदृशो धर्मः सन्दिग्धफलसाधकः ॥
यत आज्ञाभिधं धर्मं हरिः स्वीयं करिष्यति । 'अहं त्वा सर्वपापेभ्य' इत्युक्तं हरिणा यतः ॥
अन्ये सर्वेपि ये धर्मास्ते विभूतिपराः कृताः । फलदानं विभूतिभ्यस्तेषु सर्वत्र निश्चितम् ॥
ईदृग् धर्मपरित्यागे स्वस्मिन्नाहुर्मनः मति । पश्चात्तापोप्यतो योग्यः सर्वथेति निरूपितम् ॥
तदेवाहुर्निजाचार्या प्रथमाज्ञात्रयं हरिः * अदात्, यत्र स्थलं पूर्वाज्ञायां च तन्निरूपितम् ॥
यत्र देहपरित्यागः कर्तव्य इति सोऽब्रवीत् । तत्र बीजं तु सान्निध्याद्धरेर्भावात्मकस्य हि ॥
साक्षात्तद्भावसम्बन्धो विना मार्गोपदेशनम् । ततः स्वरूपमाकल्यं पुष्टिमार्गस्थितप्रभोः ॥
*ज्ञानं च नाभिलपितं गूढभावस्य वै हरेः । सर्वत्र सर्वजीवानां *तेनैवं प्रभुरुक्तवान् ॥
ततः प्राकृतवत्कृत्या गार्हस्थ्यादौ विमोहनम् । सम्पाद्य स्वीयसान्निध्यं भक्तानामेव कारितम् ॥
उपदेशनमारब्धमाचार्यैः पुष्टिमार्गगम् । ततो मधुवने सर्वा गूढलीला प्रकाशिता ॥
उपदेशेन भक्तेभ्योऽनभीष्टं तदपि प्रभोः । लीलापारत्वतः स्वस्य तद्वारैव प्रकाशनात् ॥
तद्द्वयं न कृतं कृष्णाऽऽज्ञया रसविशेषतः । श्रीभागवतगूढार्थप्रकटीकरणात्तथा ॥
लीलास्थलदृगासक्तेर्न भयं मोहितो रतेः । तुशब्देनाधुना नैव तादृगाज्ञां ददाति हि ॥
स्वास्थ्यवाक्ये न संन्यासे कुरुते भावघातनम् । 'स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं' इत्यतोऽस्य प्रभोर्वचः ॥
स्थलं च प्रथमाज्ञायाः स्वसंयोगप्रबोधकम् । गङ्गायाः सागरेणात्र यथा योगस्तथा मया ॥
एकीभावेन सम्बन्ध इति स्वामिप्रलोभनम् । पद्ये द्वितीये यः प्रोक्तोऽपिशब्दस्तेन बोधितम् ॥
एतदाज्ञापनमपि स्वसम्बन्धप्रलोभकम् । पश्चाच्छब्देनैवदाज्ञा विलम्बेन समुद्गता ॥
स्थलं मधुवनं प्रोक्तं दुष्टसम्बन्धतस्तथा । तत्र नैवंविधं कार्यं कार्यमित्याशयो हरेः ॥
तत्रत्यानाञ्च विप्राणामतः मौनैव दुष्टता । एतद्द्वयं तु न कृतं तृतीयोऽर्थात्कृतो मतः ॥

---

* अदात्तत्र च पूर्वाज्ञायां तन्निरूपितम् । इति पाठ ।

* एतादृश प्रभुप्राकट्यात्मकं ज्ञानं सर्वत्र सर्वजीवानां स्यादिति गूढभावस्य हरेर्नाभिलषितम् ।

* एव देहत्यागरूपम् ।

त्यागो लौकिकविषयो नामदानादिवर्जनात् । सेवाप्रदर्शनाभावात् सहनादुःखदस्य च ॥
नन्वेवं धर्मगमने पश्चात्तापस्तु संभवेत् । इति चेन्न; यतः सेवाकरणात्सेवकोस्म्यहम् ॥

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

सेवा तु स्वाम्यभिहितकरणेन भवेत्पुनः । स्वामिनैव यदुक्तं मे श्रीभागवतवर्णनम् ॥
पुष्टिमार्गप्रकटनं तदेव क्रियते मया । तदुत्तरं चेत्स्यास्यामि तदा दोषो भविष्यति ॥
न चाज्ञाप्राप्तसेवायाः करणे धर्मनच्युतिः । सेवाकृतेराज्ञयापि स्थितेरन्यविवर्जनात् ॥
तदा केन प्रकारेण पश्चात्तापो भवेन्मम । ननु प्रभूणां लोके तु दृष्टा सेवाकृतावपि
परित्यागकृतिः स्वीयोक्ताज्ञापरिपालने । अत्रापि चेत्तथा भावे पश्चात्तापस्तु सर्वथा
इति चेन्न हरिः कृष्णो द्रष्टव्यो लौकिकेशवत् । स भावाढ्यो हरिर्भाववेत्ता स क्षणिको हरिः
न तथा, स तु दोषाढ्यो हरिर्दोषविवर्जितः । सोऽनित्यस्वीकृतिः कृष्णो नित्याङ्गीकरणो मतः ॥
स दुःखरूपः कृष्णस्तु पूर्णानन्दो निरूपितः । सोल्पदः पूर्णपरमानन्दसन्दोहदो हरिः ॥
कदाचनेतिशब्देन सोऽस्थिरः स्थिरता हरेः । अतस्त्यागप्रापाऽभावादनुतापो निवारितः ॥

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

किञ्च, सर्वं लौकिकं हि वैदिकं च समर्पितम् । अहन्ताममते चापि त्वया तस्य समर्पिते ॥
अतः कर्तव्यताऽभावात् कृतार्थस्त्वमभूस्तव । किमर्थं कुरुषे दुःखं किं तवास्ति सुखी भव ॥
भ्रमादेवाभवद्दुःखं स्वजाश्चितिश्रमाश्रयः । सेवावशादगमने नानुतापोऽलौकिकप्रभोः ॥

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

सेवाप्रियस्य करुणाकरस्य मृदुचेतसः । देहाध्यासादगमने स्वसन्तोषो यथेत्प्रभोः ॥
अतो विवृतते चित्तसमाधानं निदर्शनात् । देहे न सत्ता स्थाप्या हि यथा दुहितरि स्वतः ॥
जामात्रर्थे पोषणं तु हर्यर्थे तद्वदत्र हि । वयोग्यतायां तच्चिन्ता कर्तव्या रक्षणादिषु ॥
प्रौढा चेत्सकला चिन्ता तदर्थेति विलुप्यताम् । अतो न देहाध्यासेन देहाद्यपेक्षणं हरौ
उचितं तद्वत्स्नेहात्स न तुष्येद्यतो वरः भक्ष्यभोक्ता, नाऽज्ञातरसस्यायोग्यवस्तुनः ॥
अतः स तु कथं तुष्येदपेक्षायामनर्पणात् । तदाशयपरिज्ञानमात्रश्चेदर्प्यते स्वतः ॥
तदा विशेषसन्तोषस्त्वाज्ञायां मध्यमः स्मृतः । आज्ञायामपि चेल्लोभो देहादेस्तोषणं कथम् ॥
यदर्थं सकलापेक्षा तदभावेऽखिलं वृथा ।

* 'महाप्रभु' पाठः ।

लौकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

ननु देहादिलोभस्तु लोकोत्पन्नस्य जायते ॥
स्वानभिप्रेतकथने मान्द्योपि भवति प्रिये । मन्दोपि प्रियसौभाग्यात्स्वासाधारण्यबोधकः ॥
जायते दोषभावश्च मत्तो मौढ्यित्वात्मनः । अतः किञ्चित्प्रियेति चेन्नैवं चित्तोचितं मयि ॥
अहं तद्दास्यरूपोस्मि भक्त्यात्मा वह्निरूपधृक् । निर्दुष्टः केवलानन्दकरपादादिसङ्गतः ॥
कृष्णाधरसुधासारः परमानन्दरूपवान् । भक्तिद्रावा समस्तानां स्वीयसान्निध्यमागतः ॥
श्रीकृष्णरसभावात्मा व्रजस्त्रीहृदयस्थितः । लीलाश्रितसमाक्रान्तसर्वाङ्गो विस्मृताखिलः ॥
हृदयस्वामिसहितो ह्याविर्भूतस्तदाज्ञया । एतादृशो ममापि स्याल्लोकवच्चेत्स्थितिर्मनः ॥
इहि किं स्यादिति पुनः स्वयं हृद्येव चिन्तय । तदास्यस्य स्थितौ चैवं प्रभोरपि तथा स्थितिः
इत्यज्ञानं न तद्युक्तं हरेरानन्दरूपिणः । अवाच्यत्वादेतदुक्तं स्वयमेव विचारय ॥
ननु जातेऽपराधे तु किं विधेयमशक्तितः । अज्ञात्वा वाथवा ज्ञात्वा यत्कृतं नाकृतं हि तत् ॥
अतः कथं सोऽनुतापो हृदयात्तु निवर्तते । इतिचेन्न हरिः सर्वदुःखहर्ता ह्युपेक्षते ॥
अशक्ये निजभक्तानां स्वयं सर्वत्र साधकः । यतो गजेन्द्रस्याशक्ये स्वयमाविर्बभूव ह ॥
कार्यं च कृतवान् सर्वमतो हरिपदं यतः । एतेन साधनाभावे दैन्यमात्रोऽत्र्यने पुनः ॥
निःसाधनफलात्मासौ प्रादुर्भवति निश्चितम् । एवकारेण चान्येषां निःसाधनफलात्मता ॥
न वा कृपालुता पूर्णानन्दाभावाद्व्यवस्थितेः । अस्तीति एवतः स्वामे प्रादुर्भावो निरूपितः ॥
अतो मोहं स्वविकल्पं मा प्राप्नुहि मनो मम । एवं स्वान्तःसमाधानं विधाय स्वसदुक्तिभिः ॥

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ।
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः समाप्तः ।

सम्पाद्य स्वस्य नैश्चिन्त्यं स्वीयान् प्रति वदन्ति हि । एवं प्रकारकं वाक्यं हितं फलदमात्तु हि ॥
स्वचित्तं प्रति यत्प्रोक्तं तदाकर्ण्य भजन् हरिम् । स्वदोषेष्वपरित्यागी प्रभुरित्यवबोधतः ॥
परित्यागभयाभावाज्जनो निश्चिन्ततां व्रजेत् । नन्वेवं कथनादेव नैश्चिन्त्यं तु कथं भवेत् ॥
स्वानुभूतेरभावे तु वाङ्मात्रान्न हि सिध्यति । इति चेदुच्यते स्वीयस्तथाधातुं स्वदासता ॥
आविर्भूतस्वरूपस्य प्रोक्तानुभवबोधने । अनुभूयैतदखिलं मयात्र विनिरूपितम् ॥
नात्र कार्यो ह्यविश्वासो भवद्भिः सफलाकिभिः । ननु दासत्वकृष्णत्वे विरुद्धे भवतः कथम् ॥
किं वा विधाय काष्र्ण्यं तथात्वं स्वस्य कथ्यते । महापुरुषवत्तत्र कृष्णत्वं चौपचारिकम् ॥

अथवा भाववशतः स्वस्वरूपस्य विस्मृतिः । विरुद्धधर्मता वापि ब्रह्मवत्तत्र रूप्यते ॥
यद्वा व्यामोहसिध्यर्थमेवं रूपनिरूपणम् । एवं हि संशये कार्या सद्भिरेवं समाहितिः ॥
यथा रसात्मनो रूपं हरेर्यत्र यथाविधम् । वचः क्रियापि सर्वैवानुरूपा यत्र यादृशी ॥
तत्र तादृग्विधं रूपमुच्यते न प्रदर्शनम् । अन्यथा न रसात्मत्वं स्याद्रसोद्भूतं रसज्ञवत् ॥
लोकेऽपि यत्र नाट्यादौ प्रादुर्भवति वेद्रसः । तदावेशादिह तत्रैवमुच्यते सैव वर्तते ॥
एवं हि भगवान् कृष्णो रसात्मा यत्र यादृशः । तद्रसानुभवार्थं हि विशिष्टस्तत्र तादृशः ॥
रसात्मत्वाच्चदास्यं च फलत्वं तादृशं पुनः । अतो दास्यरसार्थापि प्रादुर्भूतं तदात्मना ॥
भक्त्यात्मकं सुखं तत्र रूपमेव हि तादृशम् । वचोऽपि तादृशं तत्र सत्यमेव न चान्यथा ॥
यथा वचो हरेः स्वीयदैन्यभावनिरूपकम् । मानापनोदसमयेऽप्यसम्भोगरसात्मनः ॥
तथाचार्येषु वाक्यानि नात्र कश्चन संशयः । वल्लभस्येति नामोक्त्या विश्वासस्थानमुच्यते ॥
हरेः स्वस्मिंस्तया नास्ति निरया मीतिर्निरूपिता । ईदृक्स्वरूपविश्वासे नैश्चिन्त्यं निश्चितं मया ॥
भाग्यभाजां हि विश्वासो भवेच्छ्रीवल्लभप्रभौ । यथा निवेदने चिन्ता नवरत्ने निवारिता ॥
एवमत्र फले चिन्ता स्वकीयानां समुद्धृता । संयोगयानविरहाभिधभावत्रयं स्वतः ॥
अनुभूतं तु संयोगः सेवया स्यात्ततोऽपरः । आज्ञाकरणतो मानभावोऽत्र सफलीकृतः ॥
स्वरूपस्फूर्तितः पश्चात्पश्चात्तापो निवारितः । इति श्रीवल्लभाचार्यपदाम्बुजरेणुषु—
सक्तचित्तस्य विवृतिर्हरिदासस्य पूर्णताम् । आगमनेन ते स्वीयं दृढं कुर्वन्तु मां सदा ॥
अवद्यमभवद्यं वा विचारयतु मे प्रभुः । यत्प्रसादादिदं सर्वं पूर्णतां याति सर्वथा ॥
सन्तोऽपि कृपया युक्तं मदीयं मूर्खजल्पितम् । श्रीमदाचार्यसम्बन्धात्पश्यन्तु परमादृताः १५१

इति श्रीहरिदासोक्तान्तःकरणप्रबोधविवृतिः

समाप्ता ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

श्रीश्यामलालात्मजश्रीव्रजराजकृतविवरणम् ।

नत्वा स्वाचार्यपादाब्जं सर्वाभीष्टप्रदायकम् ।
तदुक्तबोधवाक्यानि व्याख्यास्ये बोधसिद्धये ॥ १ ॥

* (अथ) श्रीमदाचार्यचरणाः (स्वीयान् प्रति नवरत्ने 'चिन्ता कापि न कार्या' इत्याज्ञाप्य तस्या अन्तःकरणधर्मत्वादन्तःकरणस्य च स्वभावचञ्चलत्वाद्भगवद्ध्यानादिसंभवे पूर्वोक्ताज्ञाभङ्गसम्भवाच्चिन्तेदं कृतमप्यकृतं स्यादिति तदभावाय ममैवचलेन यथा भगवान् भक्तान्तःकरणसम्बन्धी सन् फलप्रकरणे मद्ध्याननिवारणं कृतवाँस्तथात्र) स्वीयान्तःकरणबोधार्थं (तदभिमुखीकृत्य) सर्वोद्दिष्टस्वरूपज्ञापनपूर्वकमन्तःकरणप्रबोधं निरूपयन्त्येकादशश्लोकैरेकादशेन्द्रियबोधकत्वेन । अन्तःकरणेति ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

हे अन्तःकरण ! मदीयानामिति शेषः (समाप्तौ 'भक्तो निश्चिन्ततां भजेदि-त्युपसंहाराद्बोध्यः) मद्वाक्यं सावधानतया सावधानीभूय शृणु शृणुष्वेत्यर्थः । स्ववाक्यत्वेनाप्ततोक्ता । श्रवणे सावधानत्वोक्तिः श्रवणानन्तरं तथाकरणार्थम् । अन्तः-करणस्यैकवचनं स्वमार्गे सर्वेषामेकरूपत्वज्ञापनाय मात्रभिप्रायेण । (अत्र सर्वे भावाः स्वान्तःकरणमेव बोधनीयत्वेनाङ्गीचक्रुः । तदपि श्रीवल्लभाष्टके रूपद्वयेनावतारबोधनावस-रोत्तमे 'स्वास्यं प्रादुर्भूतं परतरे'त्युक्तेश्च, मुखाग्न्यवतारभिप्रायेण सङ्गतमेव,) एवं स्वीयानामन्तःकरणं सम्मुखीकृत्य बोधवाक्यमेवाहुः । कृष्णात्परमिति । कृष्णात् 'कृषिर्भूवाचक' इत्यस्य भावानन्दात्मकतया विवरणेन प्रभावल्लभानां भावात्मकात् (परमुत्कृष्टं दैवं देवानां क्रीडाकृतां समूहो वा, 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यमि'तिकोशा-चासां भाग्यरूपं वा । नास्ति इतरं) भवतीत्यर्थः । ननु किं स्तुतिविशेषमित्याशङ्कायामाहुः, वस्तुत इति । तत्रोत्कृष्ट(ताया वास्तव)त्वार्थे विशेषणमाहुः-दोषवर्जितमिति । दोषै-र्वर्जितं रहितमित्यर्थः । (तथा चेदं व्याख्यातत्वे बीजम् । किञ्च;) कृष्णपदात् सदानन्द

* (   ) चिह्नान्तर्गतं श्रीमत्पुरुषोत्तमचरणैः संशोध्य सम्पूरितं ज्ञेयम् ।

कस्तेन यथा गोपिकार्थे कोटिकन्दर्पलावण्यं प्रकटीकृत्य प्रकटस्तथा सर्वत्रापि तदर्थे प्रकटो भविष्यतीति ज्ञापितम् । तेनान्यत्र क्रीडारूपत्वं नास्त्येवेति जीवानामन्यत्र नायकभावेन भजनं दोषरूपमेवेति भावो दोषवर्जितमित्यनेन ज्ञापितः । अत एव 'वीरयोषिता'मित्यत्र 'व्रजनितम्बिनी'वाक्यव्याख्याने श्रीमदाचार्यैर्'न हि कृष्णादन्य एवं सम्बोधनपदवी'ति निरूपितम् । आद्य श्रीमहिषीभिरपि 'त्वक्श्मश्रुरोमे'तिपद्येनान्यत्र कान्तभावस्य दोषरूपता निरूपिता । (तथा च स्वक्रीडानुरोधेन स्वीयभाग्यरूपतया च स्वयमेवास्माकं करिष्यतीति निश्चित्य चिन्ता न कार्येत्यर्थः ।)

(ननु सत्यमेवं तथापि भगवतो ब्रह्मस्तुत्यादिदुरापचरणरेणुत्वे स्वस्तुच्छत्वे च स्फुरिते सोऽत्यये तैवेति कथं तन्निवृत्तिरित्याकाङ्क्षायां तन्निवृत्त्यर्थमेवं) दोषरहितस्वरूपं विचार्य तत्र मानापेक्षादिदोषराहित्येनाप्येव कार्येति सार्द्धैस्त्रिभिर्वदन्तः प्रथमं (तुच्छत्वस्फूर्तेरकिञ्चित्करत्वाय निदर्शनमाहुः,)चाण्डाली चेदिति ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमाने वा मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

चाण्डाली चेत्कदाचिद्राज्ञा मानिता सती राजपत्नी च जाता । चकारेण स्वस्यापि तथाभिमानोत्पत्तिर्जातेति ज्ञाप्यते । (तदा) तादृश्याः कदाचिदपमाने वा मूलतो राजपत्नीत्वतः का क्षतिर्भवेत् ? न कापीत्यर्थः । माने कारणं राजपत्नीत्वं न तु चाण्डालीत्वम् । राजपत्नीत्वेपि कारणं राजसम्माननं न तु स्वधर्मः कोपि । तस्मात्तत्कृतापमानस्यापि ■ राजपत्नीत्वान्यथाकारित्वशङ्के । येथा राजपत्नीत्वसम्पत्त्यनन्तरमपमानेपि न तद्धानिस्तथात्र समर्पणानन्तरं (परीक्षार्थं) द्वितीयरसपूर्त्यर्थं वा भगवतापमानेपि कृते स्वस्य पुनरन्यभावो न भविष्यति । समर्पणेन यो भावो जातः स तु जात एव, (पुनर्यदा परीक्षादिपूर्तिः) संयोगरसदानेच्छा (वा) भविष्यति तदा पुनस्तथैव मानप्राप्तिरपि भविष्यतीति विचार्यम् । (तथा द्वितीयव्याख्यानरीत्या राजपत्नीत्वमिव समर्पणानन्तरं स्वस्य सेवायोग्यत्वमेव विचार्यं, न तु चाण्डालीत्वमिव स्वतुच्छत्वमपि विचार्यम् । भगवता पुष्टिमार्गस्य स्वार्थे प्रकटितत्वेन स्वोरीचिकीर्षितजीवदोषानादरणपुरःसरं तदङ्गीकरणे अन्यस्य च जीवदोषाद्यासक्तौ भगवानेवेति न्यायेन विलम्बेपि पूर्वात्परबलीयस्त्वन्यायेन नाङ्गीकारतिरस्कारो, नापि दोषप्राबल्यमिति न तुच्छत्वाऽवसर इत्याशयेनाहुः । समर्पणादहमिति ।

१ (किञ्च यथा राजसम्पत्त्यनन्तरं पूर्वस्वरूपं न विचार्यं, तद्विचारे सति स्वहीनत्वे स्फुरिते तस्य रसहानिः स्यात्तथा समर्पणे कृतेपि स्वस्वरूपविचारेण प्रभु कृपां करिष्यति न वेति तीरस्य न विचार्यम् ।) इति श्रीपुरुषोत्तमचरणैरनादृत्य पठ्य स्वहस्ताक्षरयोजितग्रन्थे सन्ति ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणात् पूर्वं किमहं सदा उत्तमः स्थितः ? अपि तु न । तथा च समर्पणात् पूर्वं येन भगवद्क्षमालापेक्षा स्यात्तादृग्भावयुक्तस्तु न स्थितः । तदनन्तरमेव तथाजातस्ते-नापमानेऽपि (मम) काधमता भाव्या (भाविनी, विभावनीया वा) । यतः समर्पणा-नन्तरं पश्चात्तापो भवेत् ? । ....कदाचित्कर इत्यनेनाभासमार्थं स्वसहजधर्मं आगन्तु-कधर्मेण स्मारितः । अतः परमर्द्धेन नित्याङ्गीकाररूपं भगवद्धर्मं तदर्थं स्मारयन्तस्तेन, मत्सुखपानकरणात्मकस्वरूपसम्पत्तिर्भविष्यति, पुनरन्यथा सा न भविष्यत्येव, भगवदङ्गी-कारस्य नित्यत्वादित्याहुः । सत्यसङ्कल्पत इति ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

सत्यसङ्कल्पत्वतो विष्णुर्व्यापकः, अन्यथा तु न करिष्यति । यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते,' 'द्विः स्थापयति नाश्रितान्नि'त्यादिः सङ्कल्पः सत्यो निश्चयाव्यभिचारी, तथा) 'मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न (भूयोऽर्हति शोचितु')मित्यादि(रपि)भगवतः सत्य एव सङ्कल्पस्तेन पुनस्त्वं (प्रपन्नमन्य)था न करिष्यति । (शोकयुक्तं न करिष्य-तीत्यर्थः । किञ्च;) विष्णुर्व्यापकस्तेन वियोगसमयेऽपि रसदानं करिष्यति, 'यथा परोक्षं भजते'त्यिन्यायेनेदि ज्ञाप्यते । एवं (स्वस्वरूपधर्मं भगवद्धर्मञ्च स्मारयित्वा स्वीयसे-वकस्य रक्षणाय यतः) प्रभुरन्यथा न करिष्यत्यतो भावात्मकं समर्पणमनुसन्धाय पापमा-नजं क्लेशं परित्यज्य, भगवान् यथैवेच्छापूर्वकमाज्ञापयति तथैव कार्यमित्याहुः । आज्ञै-वेति । सततं निरन्तरमाज्ञैव कार्या । अन्यथा तदकरणे स्वामिनः प्रभोर्द्रोहो भवेत् । भगवता स्वकार्यकरणार्थं (स्वदासीय)देहकरणात्तदाज्ञाया अकरणे बाधकमेव स्यादिति भावः । ('भगवद्दत्तं देहं भगवत्कार्यार्थं जीवो धृत्वा तिष्ठती'ति गुरुजनोपाख्यानाज्ज्ञेयम् ।)
सिद्धमाहुः । सेवकस्येति ।

सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

सेवकस्यायमेव धर्मो यदाज्ञाकरणम् । तु शब्देनान्यधर्मनिवृत्तिः सूच्यते (एवं पादत्रयेण स्वाज्ञापरिपालनरूपो दासधर्मो भगवत्तोषहेतुरिति, तुना पक्षान्तरनिरासपूर्वकं स मुख्यतयोपपादितः ।) एवं सेवकधर्ममुक्त्वा प्रभुधर्मस्वरूपमाहुः । स्वामी प्रभुः स्वस्य इच्छातः करिष्यतीति स्वमनोभिलषितकरणं प्रभुधर्म एव । सेवकधर्मस्तु तदाज्ञाकरण-

मेवेति तुशब्देन ज्ञाप्यते । (संयोगपृथक्त्वेनात्रापि तु शब्दस्यानुषङ्गः । यद्वा, स्वामी भगवान् स्वस्यात्मीयस्य दासस्य करिष्यति, स्वाज्ञापालनाग्रहं विलोक्य दयया तं धर्मं निर्वाहयिष्यतीत्यर्थः । अतस्तद्धर्मेऽपि न चिन्तावसर इति भावः । एवं सार्धैस्त्रिभिराज्ञैव कार्येति सम्यगुपदिश्य,) एवं भगवदाज्ञाकरणसंतुष्टप्रभुसम्पादितेन स्वस्योत्तमत्वेन कदाचिदाज्ञायान्यथाकरणेऽपि स्वस्य तादृक्सेवकत्वमेव मन्तव्यं, न त्वन्यथा विचारणीयं, पश्चात्तापो वा कर्तव्यो, यतः प्रभुरेव स्वेच्छातस्तथाकारयतीत्याशयेन स्वदृष्टान्तमाहुः । आज्ञेति ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥

या आज्ञा पूर्वं गङ्गासागरसङ्गमे गङ्गासागरसमीपे जाता, पश्चाद्या मधुवनेऽपि जाता, तदाज्ञाद्वयं मया न कृतम् । तु शब्दस्त्वाज्ञाद्वयाकरणस्य भगवदिच्छाविषयरूपत्वज्ञापनार्थः । ननु, आज्ञाद्वयं किं विषयकमित्यपेक्षायामाहुः । देहदेशपरित्याग इति । गङ्गासागरसङ्गमेऽन्यत्र गमनकृतस्वनिकटस्थित्यभावप्रकोपेन देहपरित्यागविषयिणी । सापि पूर्वोक्तप्रकारेच्छाजनितक्षणवियोगासहिष्णुतया जाता । (एवं मधुवने मथुरायां देशत्यागविषयिणी ।) स्वाचार्यैस्तु स्त्रीपशिक्षार्थैकविप्रयोगतापानुभवार्थं दूर एव स्थितिः क्रियते । भगवता स्वार्थे तथाज्ञासम् । श्रीमदाचार्यैः स्वसौभाग्यज्ञापनाय तदाज्ञाद्वयमपि न कृतम् । तृतीया लोकगोचरा लोकपरित्यागविषयिणी जाता, सा कृतेति भावः । (..............पादे, तृतीय आज्ञाविषयः, स चोभयसमुदायरूपः सन्यास इति व्याख्येयम् । तथा च द्वयं न कृतमप्येवं कृतं, तदपि मया सदवतारेण । अतो मन्निदर्शनं पुरस्कृत्य अन्येन तथा न कार्यम्, किन्तु यथा यथाज्ञा तथैव कार्यमितिभावः । यद्वा, न कृतमित्यत्र काकुः । 'दिह' उपचये, 'दिश' अतिसर्जने, देह उपचयः, देशो दानम् । अयमर्थः, भगवता श्रीभागवतार्थप्रकटनाय पूर्वमाज्ञप्तं, तत्सूक्ष्मटीकाकरणेन कृतम् । ततः सुबोधिन्यामुपचयो ग्रन्थबाहुल्यात्मा आरब्धस्तदा देहपरित्याग आज्ञप्तः । ततस्तद्विहाय निरोध एव विवृतः । ततो मुक्तौ विव्रीयमाणायां देशपरित्याग आज्ञप्तः । तदा विमोचने स्वाश्रयमार्गे च विवृते फलं दत्तमेव स्यादितितदभावाय तादृशमाज्ञाद्वयं मयापि स्वाग्रहत्यागेन कृतश्चेदन्येन तु सर्वथा कर्तव्यमेवेति भावः ।)

(एवमाज्ञाया अकरणकरणे उक्त्वा) स्वस्याज्ञाद्वयाकरणजपश्चात्तापाभावायमाहुः । पश्चात्ताप इति ।

पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।
लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥

तत्राज्ञाद्याकरणे पश्चात्तापो मया कथं कर्तव्यः ? । यतोहं सेवकोस्मि । तदपि स्वस्य सेवकत्वमौच्यैव कृतम् । न चान्यथा, न केवलं स्वपौरुषेणेति । तथा च ममेदं (शोभते नत्वन्यस्येतिभावः । यद्वा, आज्ञाद्याकरणान्ममापि पश्चातापश्चेदन्यस्य त्वत्यन्त [illegible] स्यादतस्तथान्येन न कार्यमितिभावः)। ननु सेवकत्वे सति स्वप्रोक्ताया आज्ञाया अकरणे भगवानप्रसन्नो भवेदि(ति कथं भवतां शोभाकरं, यदि शोभाकरं कथमन्येन न कार्यमि)त्याशङ्कय भगवतोऽलौकिकत्वेन तद्भावमाहुः । लौकिकप्रभुवदिति । लौकिकप्रभुवत् कृष्णः सदानन्दः फलरूपः कथञ्चन केनापि प्रकारेण न द्रष्टव्यः । तथा च, यथा लौकिकप्रभूणां स्वोक्ताकरणे क्रोधो भवति भगवतस्तथा न भवति । यतस्तद्रसानुभवार्थं प्रभुरेव तथा प्रेरयति । अत एव भगवता पार्थं प्रत्युक्तं 'कर्तुं नेच्छसी'-त्यारभ्य 'मायये'त्यन्तम् । लौकिकानामतथाभावात् क्रोधो भवति । (अतो भगवदप्रसन्नतापा अभावादस्माकं शोभाकरम् । अन्यस्य तु तादृग्योग्यतापा अभावेन भगवदिच्छाज्ञानाभावादनुचितमेवेत्यर्थः) ।

(एवमाज्ञाकरणतदकरणप्रयत्स्याप्युक्त्वा तेन यत् सिद्धं तद्वदिष्यन्तो,) भगवति सर्वसमर्पणं जीवधर्मः, पश्चात्तु प्रभुः स्वेच्छया यत्करिष्यति तत्करोतु, स्वस्यापि तथैव स्वधर्मः कृतोस्तीति नैश्चिन्त्येन स्थीयतामित्याहुः । सर्वमिति ।

सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।
प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

भक्त्या स्नेहेन सर्वं समर्पितमतः कृतार्थोसि सुखी भव सुखेनैव स्थीयताम् । परिणामे सुखमेवेति सुखी भवेत्युक्तम् । सर्वपदेन लौकिकं रसाधिकरणदेहसम्बन्धिभावरूपमलौकिकमेवेति ज्ञापितम् । समर्पणे कृते देहेपि सम्बन्धस्य भावतारेणैव सेवा कर्त्तव्येति लौकिकरसात्मकनिदर्शनपूर्वक(तत्कर्तव्यतावश्यकत्वमाहुः) । प्रौढापीति । प्रौढापि रसयोग्यापि दुहिता स्वस्य स्नेहाभावस्य वरे यद्वत् प्रेष्यते तथा देहे न कर्त्तव्यम् । स्वस्य देहस्नेहेन भगवत्सेवायां देहस्याविनियोगो न कर्त्तव्यः । किन्तु देहेन लौकिकेन भावात्मकेन च भगवद्रसयोग्यत्वेनैव कर्तव्या । तदकरणे वरः प्रभुरन्यथा न तुष्यति । यथा स वरः स्वस्त्रीं विना न तुष्यति तथा प्रभुरपि न तुष्यति । अत्रापि

समर्पणाऽनन्तरं मुख्यो भावः स एवोच्यते । एतज्ज्ञापनार्थमेव पूर्वं निदर्शने राजपत्नीत्वमुक्तम् । द्वितीयेनापि तथैवोक्तम् ।

(एवं देहस्नेहत्यागपूर्वकं देहेन सेवैव कारणीयेति निर्दार्य पूर्वं भगवता परीक्षार्थं कृते विलम्बे कथं गतिर्भवित्रीति या चिन्ता कृता, सा ते गुणायैव जाता, न तु दोषाय । न ह्येवानङ्गीकृतौ चिन्ता भवति, किन्त्वङ्गीकृतावेवेत्याश्वासनाय दृष्टान्तमुखेन परिचायकान्तरं वदन्त) एतत्सेवाद्यभावे सर्वं व्यर्थमेवेत्याहुः । लोकवदिति ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥

अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ॥ १० ॥

चेत्, समर्पणाभावे मे स्थितिर्लौकवत् सर्वसाधारण्येन स्यात्तदा किं स्यात्, फलमिति शेषः । इति विचारय । किं स्यात् ? न किमपीत्यर्थः । (तथा च, तथा स्थित्यभाव एव गुणपरिचायक इति भावः) । नन्वेतद्दासस्य सर्वफलरूपत्वमस्तीति सत्यम्, तस्य परं मादृशयाशक्यत्वात्तत्प्राप्तिः कथं स्यादि(तिचिन्ता तु भवतीतिचेद्विमेषि तदा तादृशभीते भगवानपि दयालुरेवे)त्याहुः । अशक्य इति । अशक्ये सति हरिरेकारणसर्वदुःखहर्ताऽस्त्येव, शरणमिति शेषः । अतस्तदभावे सर्वं व्यर्थमिति लौकिकेन विचारेण कथञ्चन तत्प्राप्त्यर्थं मोहं मा गाः, मा प्राप्नुहि ।

एवं प्रबोधं निरूप्या(तः परं श्रद्धापिशाच्यनुदयादु)पसंहरन्ति । इतीति ।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ।

चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।

इतीति समाप्तौ प्रकारे वा । श्रीकृष्णे दास्यं गतस्य वल्लभस्य रसरूपत्वेन प्रियस्य चित्तं (स्मृतिजनकमन्तःकरणं) प्रति हितं हितकरं यद्वचोऽस्तीत्यर्थः । यद्वचः आकर्ण्य, आसमन्तात्तात्पर्यपूर्वकं श्रुत्वा भक्तो भूत्वा, निश्चिन्ततां निश्चिन्तस्य भावमलौकिकत्वं व्रजेत् ।

चित्तप्रबोधवाक्यानि स्वाचार्योक्तानि सर्वदा ।
तिष्ठन्तु हृदये येन प्रसीदति हरिः स्वयम् ॥ १ ॥

इति श्रीमत्प्रभुचरणरेणुधन(श्रीश्यामलात्मजश्रीव्रजराज)-
कृतम् अन्तःकरणप्रबोधविवरणम्
सम्पूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितान्तःकरणप्रबोधः ।



श्रीदशदिगन्तजैत्रश्रीपुरुषोत्तमचरणकृतं विवरणम् ।

सन्तु स्वभावदोषोत्थचिन्ताकुलान् स्वकान् ।
अन्तः श्रीमदाचार्याः सन्तु मत्स्वान्तगोचराः ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा उपदिष्टसेवाया निर्दोषत्वाय सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मसम्बन्धेन सेवाकर्तॄणां २ पूर्वेषां देहजीवयोः दोषाणामकिञ्चित्करत्वमग्रे दोषासंसर्गोपायं च भगवदुक्तं निरूप्य, सेवाया आधिदैविकीत्वाय नवरत्ने चिन्तानिवृत्त्युपायकथनमुखेनोद्वेगाख्यप्रतिबन्धकनिवृत्तिप्रकारञ्च निरूप्य तथा सेवाकरणे भगवत्साक्षात्स्वरूपानुभावप्रदर्शनस्य चावश्यंभावात्तस्मिन् सत्यपि यदा प्रारब्धादिवशात्पूर्वतोऽपरोक्षात्कर्म तदा पात्रस्य स्वल्पत्वान्महत्याः कृपायास्तस्मिन्न माने तत्र स्वीकर्षस्फूर्तौ भगवदाज्ञाभङ्गादापराधे जाते भगवतोऽप्रसन्नता भवेत्तथापि भगवद्रूपरूपायाः सेवाया नित्यं क्रियमाणत्वात् 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि,' इत्येकादशे भगवद्वाक्यात् सेवाया नाशाभावेना पराधजनितपश्चात्तापोत्पत्तौ चिन्तासम्भवे क्रियमाणकरिष्यमाणसेवयोरनाधिदैविकीत्वं स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमस्मिन् ग्रन्थे विचारात्मकं साधनमुपदेष्टुं तत्र विश्वासाय स्वाख्यायिकां ग्रन्थे वदिष्यन्तो 'मनोवशेऽन्ये ह्यभवंस्म देवा मनस्तु नान्यस्य वशं समेति, भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः' इति भिक्षुगीतावाक्यान्मनस एव दुष्टत्सुत्पादकतया तस्यैव साधनीयत्वं निश्चित्य स्ववाक्यश्रवणार्थं स्वीयानामन्तःकरणमेवाभिमुखीकुर्वन्ति । अन्तःकरणेत्यादि ।

अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

यद्यप्यन्तःकरणपदं स्वपरान्तःकरणसाधारणं तथाप्युपसंहारे 'भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेदि'तिफलकथनेन ग्रन्थकरणस्य तादर्थ्ये निश्चायिते परान्तःकरणबोधन एव तात्पर्यावगत्या स्वीयानां भक्तानामेव यदन्तःकरणं तद्ग्रहणस्यैवौचित्यात्तदेव ग्राह्यम् । श्रीगो-

---

१ (सन्तु-भवन्तु) २ 'पूर्वेषां देहजीवयोः' इति स्वहस्तलेखपाठः । पूर्वेषां देहजीवयोः दोषाणाम्' इत्यन्यप्रतिष्वपि पाठः ।

कृष्णायास्तु स्वसौभाग्यप्रदर्शनार्थं स्वीयानां भक्तिमार्गप्रदर्शनार्थञ्च श्रीमदाचार्यचरणैः स्वान्तःकरणमेव बोध्यत इत्याहुः । तथैवान्येपि सर्वे । श्रीरघुनाथास्तु स्वान्तःकरणव्यपदेशेनान्येषामेवान्तःकरणं बोध्यत इत्याहुः । ममत्विदमेव रोचते । सौभाग्यप्रदर्शनस्य सुबोधिन्यारम्भस्थेन 'अथं तस्य विवेचितु'मिति श्लोकेनैव कृतत्वात्ततोधिकदर्शनस्य भक्तानुपयोगात् । भक्तिमार्गप्रचारार्थमाविर्भूतत्वेन भक्तान्तःकरणस्यैव साधनीयत्वादिति । तथाचायमर्थः । हे अन्तःकरण ? इन्द्रियान्तरदुर्ज्ञेय ? त्वं मद्वाक्यं 'योन्तर्बहिस्तनुभृतामि'त्येकादशीयपद्यपादा'चार्यचैत्त्यवपुषा' हुताशनरूपेण स्वगति व्यञ्जतो वस्तुतः कृष्णत्वेन चाप्ततमस्य मम वाक्यं वक्ष्यमाणं त्वद्धितकरं ग्रन्थरूपं सावधानतया शृण्वाकर्णयेति । एवमभिमुखीकृत्य ब्रह्मसम्बन्धकरणपूर्वकसेवया स्वस्य व्रजभक्तमार्गीयत्वेन भगवदनुभावदर्शित्वादिना च स्वस्मिन्नुत्कर्षस्फूर्त्या भगवदाज्ञादौ प्रमत्यदृष्टान्तेन प्रमादवन्तं प्रति तदभावाय तेभ्योपि भगवत उत्कर्षं पूर्वं भावयितुमाहुः । कृष्णादित्यादि । वस्तुतः श्रुत्यादिरूपतया निर्गुणसेवया च लोकवेदोक्तदोषवर्जितं दैवं भागवतसक्रीडानां देवीनां कदम्बकं कृष्णात्परं भिन्नं न । उत्कृष्टं वा न । 'तस्मान्न भिन्ना एतास्तु' इति तापनीयश्रुतेः, उत्कर्षस्य निरवधिसदानन्दरूपे भगवत्येव विश्रान्तेश्च । अतस्तदीयतया तद्दृष्टान्तेन स्वोत्कर्षं विभाव्य मौढ्या भगवदनभिमेतं न कार्यम् । तासामप्यागन्तुकदोषोत्पत्तौ ताः प्रत्यपि पञ्चाध्याय्यां 'प्रश्नमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयते'तिवाक्येन भगवत्तिरोधानस्योक्तत्वादिति । अत्र भावनार्थकक्रियापदाभावाद्यपि वाक्यस्य साकाङ्क्षत्वं तथाप्यग्रे उपान्त्ये विचारयेति क्रियाया वक्ष्यमाणत्वादेतेष्वान्तरवाक्येष्वपि दूरतरापि सैव योग्या, न तु क्रियान्तरमध्याहार्यम् । 'दूरान्वयापेक्षयाऽध्याहारस्य गुरुत्वात्' । तथा नेति विचारयेत्यर्थः । एवमग्रे यथायोग्यं बोध्यम् ॥ १ ॥

एवं मौढ्यहेतुं निवार्य्य जीवस्य पुनस्तथात्वाभावाय दैन्यसिद्ध्यर्थं स्वभावतो निकर्षं बोधयितुं दृष्टान्तमाहुः । चाण्डालीत्यादि ।

चाण्डाली चेद्राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता ।
कदाचिदपमानेपि मूलतः का क्षतिर्भवेत् ॥ २ ॥

प्रारब्धवशादतिदुष्टकुलोत्पन्नापि, केनचिद्गुणेन कथञ्चिद्राजपत्नी, राजा पतिर्यस्यास्तादृशी, राज्ञः पत्नीव पत्नी, पतनात् पत्नी, राज्ञो भोग्या सती राज्ञा मानिता च जाता । तस्याः कदाचित् कालविशेषे अपमाने; अर्थाद्राज्ञा कृते चाशब्दादनपमानेपि मूलतो अपमानहेतुभूताच्चाण्डालीत्वादनपमानहेतुभूताद्राजपत्नीत्वाच्च का क्षतिः का हानिर्भवेत् ? न कापीति विचारयेत्यर्थः । एतस्य वाक्यस्याऽऽचार्यविषयत्वं यैरुक्तं; तत्पक्षे तु

*' मृगयुरिव कपीन्द्र'मित्यादौ हेतुवत्शास्त्रथा भक्तैर्भगवति दोष आरोपितस्तथाऽऽचार्यैः स्वस्मिन्निति बोध्यम् ॥ २ ॥

एवं दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिके तत्साम्यं वदन्तस्तादृग्विचारफलमाहुः । समर्पणादित्यादि ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणात् भजनार्थकसंस्काररूपात् स्वसर्वतद्विवाहपनिवेदनाद्राजपरिग्रहस्थानीयात् पूर्वमहं प्राकृतः, चाण्डालीवत्सहजमागन्तुकदोषदुष्टः, किं सदा सर्वकालमभिव्याप्य, उत्तम उत्कृष्टः स्थितः ? । किं शब्दः काकुं स्फोरयति । अपि तु न स्थितः । किन्तु, समर्पणादेवोत्कृष्टो राजपत्नीत्वाच्चाण्डालीवदुत्कर्षवान् जातः । अतः स्वपूर्वस्थितिविचारे राजकृतापमानतुल्यभगवदुपसन्नतायां जातायां मम चाण्डालीवदुत्कृष्टस्याधमता निकृष्टता का भाव्या ? । कतमा भवत्री ? । यतो यया कृत्वा, पश्चात्तापस्तज्जनितखेदविशेषो मे भवेत् ? । नहि प्राकृतरूपा, तस्याः सहजत्वात् । नाप्यभगवदीयरूपा, भगवता अत्यक्तत्वात् । अङ्गीकारात्मकस्यापि भगवद्धर्मस्य नित्यत्वात्, संसारावेशरूपस्य भगवत्त्याग कार्यस्याभावेनाऽऽत्यागनिश्चयाच्च; तेनैवाभिमात्यागानुमितेश्च । अतो जातायामप्युपसन्नतायां पूर्वदशात उत्तमैव दशास्ति; नत्वधमेति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं विचारय । तथा चैवं विचारे भगवत्प्रसादसाधने दैन्यमप्युद्बुद्धं भविष्यतीत्युपसन्नतापि निवर्त्स्येत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं जीवधर्मपुरस्कारेण विचारमुपदिश्य भगवतोऽप्यतिहितत्वानुसन्धानाय भगवद्धर्मपुरस्कारेण तमुपदिशन्ति । सत्येत्यादि ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

विष्णुर्व्यापकः, अन्तर्यामितया सर्वान्तः प्रविश्य यो भगवान् सत्यसङ्कल्पतः सत्यो विषयाव्यभिचारी यः सङ्कल्प आलोचनमिदमेवं करिष्यामीत्याकारकस्तस्मादन्यथा प्रकारान्तरेण न करिष्यति । तु शङ्कानिरासे । भगवान्निवेदितात्मनाम् आत्मेन्यसमदपिप्रेतमेव करिष्यतीति शङ्का न कर्तव्या । यतः स तेषामीश्वरो नियामकोपि; अतस्तेषां विकृतेच्छायां तदनुरोधं न करिष्यति, किन्त्वमोघसङ्कल्पत्वात्स्वालोचितमेव करिष्यति, तद्बोधनार्थम् । अयं तुशब्दोक्तः शङ्कानिरास उत्तरवाक्ये हेतुत्वेन प्रविशति । अत एवं

* (भ्रमरगीते)

शङ्कानिरासाद्धेतोः सततं प्रमादराहित्येन निरन्तरं; आज्ञैव कार्या । अन्यथा प्रमादेनाकरणे स्वामिद्रोहो महानपराधो भवेत् । अत्रापि 'इति विचार्ये'ति पदं सम्बध्यते ॥४॥

सेवकत्वपुरस्कारेण पुनर्विचारान्तरमुपदिशन्ति । सेवकस्येत्यर्द्धेन ।

सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

तु पुनरयं वक्ष्यमाणः सेवकस्य धर्मस्तं व्यक्तीकुर्वन्ति । स्वामी स्वस्य करिष्यतीति । स्वामी भर्ता स्वस्यात्मीयस्य मम करिष्यति, मदर्थं यद्यदालोचितं तत् करिष्यति । अत्रापि तथा सम्बन्धः ।

सेवकत्वविचारस्यावश्यकत्वाय तेनोपदेशे विश्वासार्थं स्वाख्यायिकामुपदिशन्ति द्वाभ्याम् ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥
पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा ।

आज्ञेत्यादि । तुरवधारणे । पूर्वमेव गङ्गासागरसङ्गमप्रदेशे समीपे वा या आज्ञा जाता पश्चात्तदुत्तरकाले मधुवने मथुरायामपि याऽऽज्ञा जाता, तद्द्वयं मया भगवता स्वात्मानुभावप्रकटनार्थं श्रीभागवतगूढार्थप्रकटनार्थं चाज्ञप्तेन न कृतम् । तयोर्विषयः क इत्याकाङ्क्षायां तयोर्विषयमाहुः । देहदेशपरित्यागः । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य परित्यागशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः । तथा च पूर्वा देहत्यागविषयिणी, द्वितीया देशत्यागविषयिणीति सिद्ध्यति । तदकरणे बीजन्तु नाभिमानो न वा शास्त्रविरोधः । किन्तु श्रीभागवतार्थप्रकटनार्थाज्ञाकार्यसम्पत्तिरेव । नहि देहे त्यक्ते साऽऽज्ञा सिद्ध्यति; वाग्व्यापारस्य तद्धेतुकत्वेन तदभावे तस्याप्यभावात् । प्रकारान्तरेणोक्तौ च कलिग्रस्तानां विश्वासाभावात् । नापि भगवद्देशे त्यक्ते देशान्तरस्यानीदृशत्वेनैतद्विचारप्रतिबन्धकत्वात् । तदेतद्द्वयार्थं आचार्यैराज्ञाद्वयं न कृतम् । भगवतस्त्वयमाशयः । देह उपचयः; देशो दानम्; 'दिह उपचये,' 'दिश अतिसर्जने' इति धातुनिष्पन्नत्वाद्यौगिकार्थेतौ शब्दावाशयामुक्तौ । तथा च, उपचयो बाहुल्यं दानञ्च परित्यक्तव्यम् । न च पूर्वाज्ञासम्पूर्तिदोषः । यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साऽऽज्ञा कृताऽस्तु; अधिकं न कार्यम् । रहस्यप्रकाशस्यानभिप्रेतत्वात् । अधिककरणेनानधिकारिणामपि तज्ज्ञानसम्भवेन कृतार्थतापसक्तावधिकार्यनधिकारिविभागभङ्गापत्तेः । इदञ्च सुस्पष्टीकातिरोधानस्कन्धक्रमव्याख्यात्याजनद्वयप्रस्कन्धव्याख्यानानन्तरसामयिकमाधवभट्टकाश्मीरिशरीरशराहतिप्रभृतिभिः कार्ये-

*‘मृगपतिरिव कपीन्द्र’मित्यादौ क्लेशवशाद्यथा भक्तैर्भगवति दोष आरोपितस्तथाऽऽचार्यैः स्वस्मिन्निति ध्येयम् ॥ २ ॥

एवं दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिके तत्साम्यं वदन्तस्तादृग्विचारफलमाहुः । समर्पणादित्यादि ।

समर्पणादहं पूर्वमुत्तमः किं सदा स्थितः ।
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत् ॥ ३ ॥

समर्पणात् भजनार्थकसंस्काररूपात् स्वसर्वसहितात्मनिवेदनात् राजपरिग्रहस्थानीयात् पूर्वमहं प्राकृतः, चाण्डालीवत्सहजागन्तुकदोषदुष्टः, किं सदा सर्वकालाभिव्याप्य, उत्तम उत्कृष्टः स्थितः ? । किं शब्दः काकुं स्फोरयति । अपि तु न स्थितः । किन्तु, समर्पणादेवोत्कृष्टो राजपत्नीत्वाच्चाण्डालीवदुत्कर्षवान् जातः । अतः स्वपूर्वस्थितिविचारे राजकृतावमानतुल्यभगवदुपसन्नतायां जातायां मम चाण्डालीवद्दुष्टस्याधमता निकृष्टता का भाव्या ? । कतमा भवत्री ? । यतो यया कृत्वा पश्चात्तापरतज्जनितखेदविशेषो मे भवेत् ? । नहि प्राकृतरूपायाः तस्याः सहजत्वात् । नान्यभगवदीयरूपायाः भगवता अत्यक्तत्वात् । अङ्गीकारात्मकस्यापि भगवद्धर्मस्य नित्यत्वात्, राजस्थानीयरूपस्य भगवत्त्यागकार्यस्याभावेनात्यागनिश्चयाच्च; तेनैवाग्रिमात्यागानुमितेश्च । अतो जातायामप्युपसन्नतायां पूर्ववशात् उत्तमैव दशास्ति; नत्वधमेति पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थं विचारय । तथा चैवं विचारे भगवत्प्रसादसाधनं दैन्यमप्युद्बुद्धं भविष्यतीत्युपसन्नतापि निवर्त्स्यतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

एवं जीवधर्मपुरस्कारेण विचारमुपदिश्य भगवतोऽप्रतिहतेच्छत्वानुसन्धानाय भगवद्धर्मपुरस्कारेण तदुपदिशन्ति । सत्येत्यादि ।

सत्यसङ्कल्पतो विष्णुर्नान्यथा तु करिष्यति ।
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोन्यथा भवेत् ॥ ४ ॥

विष्णुर्व्यापकः, अन्तर्यामितया सर्वान्तः प्रविश्य यो भगवान् सत्यसङ्कल्पतः सत्यो विषयाव्यभिचारी यः सङ्कल्प आलोचनमिदमेवं करिष्यामीत्याकारकं तस्मादन्यथा प्रकारान्तरेण न करिष्यति । तुः शङ्कानिरासे । भगवन्निवेदितात्मनाम् आत्मेच्छया मदभिप्रेतमेव करिष्यतीति शङ्का न कर्तव्या । यतः स तेषामीश्वरो नियामकोऽपि; अतस्तेषां विकृतेच्छायां तदनुरोधं न करिष्यति, किन्त्वमोघसङ्कल्पत्वात्स्वालोचितमेव करिष्यति, तद्धितार्थम् । अयं तुशब्दोक्तः शङ्कानिरास उत्तरवाक्ये हेतुत्वेन प्रविशति । अत एवं

* (भागवते)

शङ्कानिरासाद्धेतोः सततं प्रमादराहित्येन निरन्तरं; आज्ञैव कार्या । अन्यथा प्रमादेनाकरणे स्वामिद्रोहो महानपराधो भवेत् । अत्रापि 'इति विचारये'ति पदं सम्बध्यते॥४॥

सेवकत्वपुरस्कारेण पुनर्विचारान्तरमुपदिशन्ति । सेवकस्येत्यर्द्धेन ।

सेवकस्य तु धर्मोयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।

तु पुनरयं वक्ष्यमाणः सेवकस्य धर्मस्तं व्यक्तीकुर्वन्ति । स्वामी स्वस्य करिष्यतीति । स्वामी भर्ता स्वस्यात्मीयस्य मम करिष्यति, मदर्थं यद्यदालोचितं तत् करिष्यति । अत्रापि तथा सम्बन्धः ।

सेवकत्वविचारस्यावश्यकत्वाय तेनोपदेशे विश्वासार्थं स्वाख्यायिकामुपदिशन्ति द्वाभ्याम् ।

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे ॥ ५ ॥
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया ।
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः ॥ ६ ॥
पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोहं न चान्यथा ।

आज्ञेत्यादि । तुरवधारणे । पूर्वमेव गङ्गासागरसङ्गमप्रदेशे समीपे वा या आज्ञा जाता पश्चात्तदुत्तरकाले मधुवने मथुरायामपि याज्ञा जाता, तद्द्वयं मया भगवता स्वात्मानुभावप्रकटनार्थं श्रीभागवतगूढार्थप्रकटनार्थं चाज्ञप्तेन न कृतम् । तयोर्विषयः क इत्याकाङ्क्षायां तयोर्विषयमाहुः । देहदेशपरित्यागः । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य परित्यागशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः । तथा च पूर्वा देहत्यागविषयिणी, द्वितीया देशत्यागविषयिणीति सिद्ध्यति । तदकरणे बीजन्तु नाभिमानो न वा शास्त्रविरोधः । किन्तु; श्रीभागवतार्थप्रकटनार्थाज्ञाकार्यसम्पत्तिरेव । नहि देहे त्यक्ते साक्षा सिद्ध्यति, वाक्यपारस्य तद्धेतुकत्वेन तदभावे तस्याप्यभावात् । प्रकारान्तरेणोक्तौ च कलिग्रस्तानां विश्वासाभावात् । नापि भगवद्देशे त्यक्ते देशान्तरस्यानीदृशत्वेनैतद्विचारप्रतिबन्धकत्वात् । तदेतदवधार्य आचार्यैराज्ञाद्वयं न कृतम् । भगवतस्त्वयमाशयः । देह उपचयः ; देशो दानम् ; 'दिह उपचये,' 'दिश अतिसर्जने' इति धातुनिष्पन्नत्वाद्यौगिकावेतौ शब्दावाज्ञायामुक्तौ । तथा च, उपचयो बाहुल्यं दानञ्च परित्यक्तव्यम् । न च पूर्वोक्तासम्पूर्त्तिदोषः । यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साज्ञा कृतास्तु; अधिकं न कार्यम् । रहस्यप्रकाशस्यानभिमेतत्वात् । अधिककरणेनानधिकारिणामपि तज्ज्ञानसम्भवेन कृतार्थतामसक्ताविधिकार्यनधिकारिविभागभङ्गापत्तेः । इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधानस्कन्धक्रमव्याख्यात्याजनदशमस्कन्धव्याख्यानानन्तरसामयिकमाधवभट्टकाश्मीरिशरीरधराहृतिप्रभृतिभिः कार्य-

रत्युपीयते । सोयमाचार्यैर्नाविष्कारितः । न चाचार्याणां भगवदाज्ञार्थानवधारणकथनमयुक्तमिति शङ्कयम् ; भक्तानां पञ्चाध्यायीस्थस्कन्धारोहणवाक्यार्थाज्ञानवत् सम्भवात् । तदा तृतीयाज्ञा जाता । तद्विषयस्तृतीयपरित्यागः स लोकगोचरः । 'लोकस्तु भुवने जन' इति कोशाज्जनविषयः । स च संन्यासेन भव'त्येकचार्यनिकेतः स्यादि'त्यादिवाक्यैः संन्यासे तथात्वात् । तत्र तादृश्यामाज्ञायां जातायां पश्चात्तापो मम जात इति शेषः । स कथं केन प्रकारेणेति विचार्यमाणे, सेवकोहं; अहं सेवक इति सेवकत्वप्रकारेणाज्ञाभङ्गकरणहेतुकः । न पुनरन्यथा न, स्वचिकीर्षितकार्यासम्पूर्त्यादिहेतुको न । अतो मत्कृत्यादिविचारेपि मत्सेवकत्वपुरस्कारेण विचारात् पश्चात्ताप एव युक्त इत्यर्थः ।

* 'आज्ञा पूर्वन्तु या जाते'त्यत्र । अत्रेदं बोध्यम् । प्राकट्यात् पूर्वं हि 'अर्थं तस्य विवेचितुम्' इत्यनेनोक्ताज्ञा जाता, तदनन्तरमाज्ञाद्वयं देहदेशपरित्यागविषयं गङ्गासागरसङ्गमे मधुरायाञ्च जातमिति । एवमाज्ञात्रयं सिद्धम् । तत्र श्रीमदाचार्येष्वतिकरुणत्वमस्ति न वेति लोकानां संशयनिवारणार्थं पुष्टिमार्गस्थत्वात् स्वस्य वा तदर्थं प्राकट्यानन्तरमाज्ञाद्वयमतिकरुणत्वविरोधिमात्रम्, तदाज्ञाद्वयं स्वस्य भगवतश्च स्वाङ्गीकृतेषु अतिकरुणत्वख्यापनार्थं न कृतम्, तत्कृतौ हि सर्वथाज्ञायां न स्थाने च स्वाङ्गीकृतानामनुद्धारः स्यात्, तेन चोभयस्य करुणत्वं न स्यात्, यदि तदेव न स्यात्तदा पूर्वं तदर्थं नाज्ञापयेत् । भगवान् स्वयं च नाविर्भूयात् । नत्वेवम् । अतः परोक्षार्थत्वादन्तःकरणगोचरा । अतो न विशेषगत्यादि कृतमित्यर्थः । न च पूर्वयैव तत्सम्भवे किं देहत्यागविषयिण्या तयेति वाच्यम्, क्रीडादेशे त्यक्ते विरहेण स्वयमेव देहं त्यक्ष्यन्तीति तेनातिकरुणत्वमेव परीक्षितं न भविष्यतीति भगवदभिप्रायः । श्रीमदाचार्यैस्तु तदपि तथैव ज्ञातमिति सापि न कृतेति भावः । मन्मनसेवाशयो भगवतः श्रीमदाचार्याणाञ्च तथैव ज्ञानं जातं, इत्यत्र किं मानमित्यपेक्षायां भगवदादिसर्वसम्मतं हेतुमाहुः । तृतीयो लोकगोचर इति । तद्व्यपेक्षया पूर्वमाज्ञाः सर्वोद्धारः लोकगोचर इति न किञ्चिद् अलौकिकं मानं वाच्यम् । किन्तु सर्वलोकप्रसिद्धमेव मानमित्यर्थः । एवं कृते पश्चात्तापः कथम् ? न कथमपि । यतः सेवकधर्मोन्तःकरणकमाज्ञाकरणम्, न चान्यथा तद्विरुद्धमित्यर्थः । अत एव श्रीमदाचार्यैराज्ञप्तं विवेकधैर्याश्रये 'विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादि'त्यनेनेतिदिक् । (इति स्वतन्त्रलेखः) ॥ ५–६ ॥

ननु युक्तोयं विचारस्तथापि पूर्वापराधजनितभगवदप्रसन्नतायाः अनिवृत्तौ भयरूपोपमुद्वेगः, स कथं निवर्त्ततामित्याशङ्कायां तदर्थं विचारान्तरमुपदिशन्ति । लौकिकप्रभुवदित्यादि ।

* श्रीद्वारकेशचरणानामेतदपि स्वतन्त्रलेख । लिखितश्च स्वहस्ताक्षरैः । अत एवात्र निवेशितः ।

लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ॥ ७ ॥
सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोसि सुखी भव ।

लौकिका हि प्रभवोपराधेनाक्षमाः कस्यचित्प्रसीदन्ति, कस्यचिन्न प्रसीदन्ति, तद्वत् कृष्णो भगवान् कदाचन अवतारकालेऽनवतारकाले च न द्रष्टव्यः । अवतारकाले 'अहो बकीयमि'तिवाक्येन अनवतारकाले च चरणश्रुत्या 'प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्धनिष्येपि परोर्जितमि'ति देवान् प्रति भगवद्वाक्येन चापराधसन्तृत्वपूर्वकसत्फलदातृत्वस्य भक्ते कृपापरत्वस्य च सिद्धत्वात् । त्वया च सर्वं भक्त्या भगवते समर्पितमतो भक्तत्वात् कृतार्थोसि । 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामि'तिवाक्ये भगवता भक्तौ जातायां निरवशेषार्थप्राप्तिकथनात् सर्वं साधनरूपं फलरूपं चार्थं प्राप्तवानसि । अतः सुखी भव, दौर्मनस्यनिवारणेन निश्चिन्तो भवेत्यर्थः । इयं चोक्तविचारात्मकाज्ञाकर्तुः प्रभुभिराशीरेव दीयते ।

अतः परं विद्यमानेपि दैहिके सेवासामर्थ्ये पूर्वोक्तखेदेन वा देहाध्यासेन वा कार्यान्तराभिनिवेशादिना वा दैहिकसेवायां प्रमादान्तं प्रति पुनर्विचारान्तरमुपदिशन्ति । प्रौढापीत्यादि ।

प्रौढापि दुहिता यद्वत्स्नेहान्न प्रेष्यते वरे ॥ ८ ॥
तथा देहे न कर्त्तव्यं वरस्तुष्यति नान्यथा ।

प्रौढा भर्तृसकलकार्ययोग्या तत्समर्थापि दुहिता यद्वत् यथा, स्नेहाद् इयं बाला पतिगृहे महत्कार्यं कर्तव्यं तत् कुर्वन्ती श्रान्ता क्लिष्टा च भविष्यतीति ज्ञात्वा वरे भर्तृसमीपे न प्रेष्यते, तथा तद्वद्देहे स्नेहात् सेवां विना स्थापनं न कर्तव्यम् । तत्र हेतुः । वरस्तुष्यति नान्यथेति । अन्यथा प्रेषणविरुद्धे प्रकारान्तरे वरो न तुष्यति; तथा शरीरेण सेवाया अकरणे भगवानपि न तुष्यति । एतस्य देहस्य भगवता स्वसेवार्थमेव दत्तत्वात्; 'भवाय नाशाये'ति पञ्चमस्कन्धीये वाक्ये तथैव प्रतिपादितत्वात् । अत एवं विचारेण पूर्वोक्तदोषान्यत्कृत्याक्षसेवैव कार्येत्यर्थः ।

अथापराधेन प्रतिबन्धादिना वा देहस्य तदर्थतायां सन्देहे विचारान्तरमुपदिशन्ति । लोकवच्चेदित्यादि ।

लोकवच्चेत्स्थितिर्मे स्यात्किं स्यादिति विचारय ॥ ९ ॥
अशक्ये हरिरेवास्ति मोहं मा गाः कथञ्चन ।

लोका यथा संसारासक्ता नानास्वभावास्तत्र तत्र तेन तेन क्लेशादिना प्रवर्तन्ते, तद्वच्चेन्मे स्थितिः स्यात्; उक्तरीत्या पश्चात्तापो न स्यात् तदा किं स्यात्? लोकतुल्यतैव स्यात् । सा तु मे न जाता, अतो मदुपरि भगवान् दयां करोतीति विचारय ।

तथा चैवं विचार्य देहस्य सेवार्थत्वं निश्चितुहि; निश्चित्य चाज्ञां कुर्वित्यर्थः । एवमुक्तया सेवाकरणेऽपि पुनः प्रतिबन्धसम्भवश्चेत्तत्राप्युपायमाहुः । अशक्य इत्यादि । पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यं चेद् भातं तदा हरिः सर्वसमर्थकर्ता भगवानेवास्ति । 'सर्वधर्मान् परित्यज्ये'तिवाक्ये स्वस्य प्रपन्नसर्वपापनिवारकत्वं वदन् रक्षकोऽस्तीति विचारय । कथञ्चन, केनापि पूर्वमुक्तेन कृतेनानुक्तेन भाविना सम्भावितेन वा प्रकारेण मोहं वैचित्यं प्रयान: परं किं भविष्यतीति मौढ्यात्मकमुद्वेगं मा गाः । एवं भगवतः शरणत्वविचारेणैव सर्वोद्वेगनिवृत्त्या भगवत्कृपाया अभिव्यक्तेरित्यर्थः ।

एवं सर्वं विचारवाक्यमुक्त्वोपसंहरन्ति । इतीत्यादि ।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ॥ १० ॥
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥

चित्तं प्रति अन्तःकरणं लक्षीकृत्य उद्दिश्य श्रीकृष्णदासस्य हितं सुखसम्पादकं वल्लभस्य भगवतो भक्तानां च प्रियस्य वचः विचारोपदेशवाक्यम्, इति एतावद् शरणोपदेशान्तमेव नाधिकं, यदाकर्ण्य श्रुत्वा भक्तः पूर्वोक्तः कृतापराधोऽपि निश्चिन्ततानुद्वेगनिवारणेन चिन्ताराहित्यं व्रजेत् प्राप्नुयादित्यर्थः ।

अनेनैतत् सिद्धम् ।

(१) भगवान् समाऽप्यधिकाराहित्यात् स्वतन्त्रः ।

(२) मार्गप्रवर्तका भक्ताः स्वरूपतो दोषरहिता भगवल्लोकभक्तपक्षपातयाऽपि भगवदधीना एव भगवदभिप्रायज्ञाः स्वस्य तन्मार्गीयत्वेऽपि मार्गप्रवर्तकभक्तवत् स्वस्य भगवदाज्ञाभङ्गोऽनभिप्रेतकरणं च न युक्तम् ।

(३) स्वस्य स्वभावतो दोषसत्त्वेऽपि समर्पणादुत्कर्षो भवतीति कृपाबाहुल्येऽपि स्वोत्कर्षो न भावनीयः ।

(४) भगवतः सत्यसङ्कल्पत्वात् किं चिकीर्षतीति तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् सर्वदा तदाज्ञैव कर्त्तव्या । तदकरणे 'आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामि'तिवद् स्वामिद्रोहात्मको महान् अपराधः स्यात् ।

(५) किञ्च, अहं सेवक इति मदनुरूपं यत् तत् स्वामी एव करिष्यतीति विचारः सेवकस्योचित इत्यतोऽप्याज्ञैव कार्या । नाप्याचार्यकृतिदृष्टान्तेन स्वयं मौढ्यं कर्त्तव्या । तैरपि स्वमौढ्या तथाकृतौ पश्चात्तापत्वस्यैवोक्तत्वात् पश्चात्तापस्यापि सेवकत्वमयुक्तानाया एवोक्तत्वाच्च ।

(६) किञ्च, भगवान् न लौकिकप्रभुवद् अपराधेन कुपितः परित्यजति । भगवद्धर्मरूपस्याङ्गीकारस्यापि नित्यत्वात् । स्वस्य चाङ्गीकृतौ समर्पणादिनानुमितायां

भगवदुक्ततद्धर्माचरणे उपक्रमदशायामपि फलतः साधनतश्च नैगुण्याभावस्योद्धवं प्रति स्वयमेवोक्तत्वात् कृतार्थतैव भवत्रीति भावनीयम् । न तु सन्देग्धव्यम्, 'अश्रद्दधानश्चे'ति वाक्येन भगवता दोषस्यैवोक्तत्वात् ।

(७) किञ्च; देहोपि मौद्दुहितृप्रेषणन्यायेन देहार्थं स्वार्थं न संरक्ष्यः । किन्तु, येन केनचिदुपायेन भगवति एव विनियोक्तव्यः । भगवतास्य देहस्य स्वसेवार्थमेव दत्तत्वात् । तदकरणे लोकतौल्यमेव स्यात् । यदि पुनरस्य तत्र विनियोजने प्रतिबन्धसम्भवस्तदा भगवानेव शरणत्वेन भावनीयः । एतदतिरिक्तस्योपायान्तरस्याभावात् । प्रतिबन्धो हि भगवन्मायया, तस्यास्तत्राधिकृतत्वात् । तच्चरणोपायश्च प्रपत्तिरेव नान्य इति भगवतैव गीतायामाज्ञापनादिति ।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमकृतौ
अन्तःकरणप्रबोधविवरणं सम्पूर्णम् ।



तया चैवं विचार्य देहस्य सेवार्थत्वं निश्चित्य हि; निश्चित्य चाज्ञां कुर्वित्यर्थः । एवमुक्तया सेवाकरणेऽपि पुनः प्रतिबन्धसम्भवश्चेत्तत्राप्युपायमाहुः । अशक्य इत्यादि । पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यं चेद् भातं तदा हरिः सर्वदुःखसर्वाघहर्त्ता भगवानेवास्ति । 'सर्वधर्मान् परित्यज्ये'तिवाक्ये स्वस्य प्रपन्नसर्वपापनिवारकत्वं वदन् रक्षकोऽस्तीति विचारय । कथञ्चन, केनापि पूर्वमुक्तेन कृतेनानुक्तेन भाविना सम्भावितेन वा प्रकारेण मोहं वैचित्यं प्रमातः परं किं भविष्यतीति शोकात्मकमुद्वेगं मा गाः । एवं भगवतः शरणत्वविचारेणैव सर्वोद्वेगनिवृत्त्या भगवत्कृपाया अभिव्यक्तेरित्यर्थः ।

एवं सर्वं विचारवाक्यमुक्त्वोपसंहरन्ति । इतीत्यादि ।

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः ॥ १० ॥
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥

चित्तं प्रति अन्तःकरणं लक्षीकृत्य उद्दिश्य श्रीकृष्णदासस्य हितं सुखसम्पादकं वल्लभस्य भगवतो भक्तानां च प्रियस्य वचः विचारोपदेशवाक्यम्; इति एतावद् शरणोपदेशान्तमेव नाधिकं; यदाकर्ण्य श्रुत्वा भक्तः पूर्वोक्तः कृतापराधोऽपि निश्चिन्ततामुद्वेगनिवारणेन चिन्ताराहित्यं व्रजेत् प्राप्नुयादित्यर्थः ।

अथैतत् सिद्धम् ।

(१) भगवान् समाभ्यधिकराहित्यात् स्वतन्त्रः ।

(२) मार्गप्रवर्तका भक्ताः स्वरूपतो दोषरहिता भगवतोक्तभक्तवश्यतायामपि भगवदधीना एव भगवदभिप्रायज्ञाः स्वस्य तन्मार्गीयत्वेऽपि मार्गप्रवर्तकभक्तवत् स्वस्य भगवदाज्ञाभङ्गोऽनभिप्रेतकरणं च न युक्तम् ।

(३) स्वस्य स्वभावतो दोषसत्त्वेऽपि समर्पणादुत्कर्षं प्राप्स्यतीति कृपायां तुल्यत्वेऽपि स्वोत्कर्षो न भावनीयः ।

(४) भगवतः सत्यसङ्कल्पत्वात् किं चिकीर्षतीति तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् सर्वदा तदाज्ञैव कर्तव्या । तदकरणे 'आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणामि'तिवत् स्वामिद्रोहात्मको महान् अपराधः स्यात् ।

(५) किञ्च, अहं सेवक इति मदनुरूपं यत् तत् स्वामी एव करिष्यतीति विचारः सेवकस्योचित इत्यतोऽप्याज्ञैव कार्या । नाप्याचार्यकृतिदृष्टान्तेन स्वयं मौढ्यं कर्तव्यम् । तैरपि स्वप्रोद्या तथाकृतौ पश्चात्तापस्यैवोक्तत्वात् पश्चात्तापस्यापि सेवकत्वप्रयुक्ततायाः एवोक्तत्वाच्च ।

(६) किञ्च; भगवान् न लौकिकप्रभुवद् अपराधेन कुपितः परित्यजति । भगवद्धर्मरूपस्याङ्गीकारस्यापि नित्यत्वात् । स्वस्य चाङ्गीकृतौ समर्पणादिनानुमितायां

भगवदुक्तसद्धर्माचरणे उपक्रमदशायामपि फलतः साधनतश्च वैगुण्याभावस्योद्धव प्रति स्वयमेवोक्तत्वात् कृतार्थतैव भवतीति भावनीयम्। न तु सन्देग्धव्यम्, 'अश्रद्दधानश्चे'ति वाक्येन भगवता दोषस्यैवोक्तत्वात्।

(७) किञ्च; देहोपि मौढदुहितृप्रेषणन्यायेन देहार्थं स्वार्थं न संरक्ष्यः। किन्तु, येन केनचिदुपायेन भगवति एव विनियोक्तव्यः। भगवतास्य देहस्य स्वसेवार्थमेव दत्तत्वात्। तदकरणे लोकतौल्यमेव स्यात्। यदि पुनरस्तस्य तत्र विनियोजने प्रतिबन्धसम्भवस्तदा भगवानेव शरणत्वेन भावनीयः। एतदतिरिक्तस्योपायान्तरस्याभावात्। प्रतिबन्धो हि भगवन्मायया, तस्यास्तत्राधिकृतत्वात्। तत्तरणोपायश्च मत्प्रपत्तिरेव नान्य इति भगवतैव गीतायामाज्ञापनादिति।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमकृतौ
अन्तःकरणप्रबोधविवरणं सम्पूर्णम्।

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतो-अष्टमो

विवेकधैर्याश्रयः

चतसृभिष्टीकाभिः समलंकृतः

१. श्रीरघुनाथाना दीपिका
२. श्रीगोपेशाना विवृतिः
३. श्रीगोकुलोत्सवाना विवृति
४. श्रीव्रजरायाणा विवृति

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-सप्त-
पीठान्तर्गत- सप्तम- पीठाधिष्ठित- नित्यलीला- स्थित-
गोस्वामिश्री १००८ श्रीरमणजी-महाराजश्रीत्पेतेषा-
-स्मृतो-तदात्मजे -गोस्वामिश्री १००८
श्रीरघुनाथलाल-महाराजश्रीत्येतै
प्रकाशित

प्रकाशक
गोस्वामिश्री १००८ श्रीरघुनाथलालमहाराज
मनुभवन, भगतसिंह मार्ग,
पार्ले (पश्चिम) बम्बई ४०० ०५६ भारत

साधारणसंस्करण २,००० प्रति

राजसंस्करण १,००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक
स्टूडियो वहार, २३-ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,
बम्बई-४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्री रमणजी महाराज

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

ग्रन्थ-परिचय

कब कहाँ और किस प्रसंगमे विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थका प्रणयन हुआ यह पता नही चलता.

वैसे तो विवेक धैर्य तथा आश्रय का सम्बन्ध प्रपत्तिमार्गके साथ अधिक घनिष्ट है किन्तु भक्तिमार्गमें प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोके लिए विवेक धैर्य तथा आश्रय भगवत्सेवामें भी उपयोगी होते ही है वास्तविकता तो यह है कि इन तीनोकी कर्म ज्ञान एवम् भक्ति रूप तीनों ही मार्गमें अपेक्षा रहती है. 'विवेक' 'धैर्य' या 'आश्रय' शब्द सामान्य अर्थोमे श्रीमहाप्रभुको विवक्षित नहीं है अपितु एक निश्चित पारिभाषिक अर्थमें ही विवक्षित है.

यथा :

(१) विवेक = हरिः सर्वं निजेच्छातो करिष्यति

(२) धैर्य — त्रिदुःखसहनमामृते सर्वत सदा

(३) आश्रय = ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरण हरिः

इन्ही पारिभाषिक अर्थोमे विवेक धैर्य तथा आश्रय पुष्टिमार्गीय कृष्णसेवामे उपयोगी बनते है

कृष्णसेवामे प्रवृत्त पुष्टिभक्त किन-किन परिस्थितियोमे कृष्णसेवाकर्तीके लिए आवश्यक विवेक धैर्य या आश्रय को खो सकता है तथा किन उपायोसे इनकी रक्षा सम्भव है आदि विषयोका निरूपण इस ग्रन्थमें हुआ है.

सिद्धान्तमुक्तावलीमे उपदिष्ट सेवाके बाह्य अंगोका निरूपण हमे सिद्धान्तरहस्यमे तथा आभ्यन्तर अंगोका निरूपण नवरत्नमे मिलता है. इन्ही बाह्य तथा आभ्यन्तर साधनोकी सांगोपांगता विवेक-धैर्य-आश्रयके सम्पन्न होनेपर सम्भव होती है. अन्तःकरणप्रबोध ग्रन्थद्वारा जो अन्तरात्माका प्रबोधन किया गया उस प्रबोधनके लिए भी विवेक-धैर्य-आश्रयकी निरतिशय अपेक्षा है.

इन विवेक धैर्य तथा आश्रय का परस्पर सम्बन्ध विलक्षण है जिसे भगवत्स्वरूपमें आश्रय सिद्ध हो जाता है उसे विवेक और धय स्वत ही सिद्ध हो जाते है, अन्यथा विवेक और धैर्य के बिना आश्रय दृढ नही हो पाता. हमारे अविवेक और अधैर्य हमें भगवदाश्रयसे विचलित कर सकते हैं अत अपने जागृत विवेक तथा धैर्य के द्वारा अदृढ आश्रयकी रक्षा आवश्यक होनी है इस तरह विवेक धैर्य एक कोटी हैं तथा आश्रय दूसरी कोटी हैं

यह आश्रय पुष्टिभक्तिका आवश्यक अग होनेपर भी केवल पुष्टिभक्ति ही नही अपितु कर्म-ज्ञान-भक्ति सभी मार्गोंका अनुकल्प है कर्म ज्ञान भक्तिके अनेकविध उपायोको दिखलानेके बावजूद भगवान्ने गीताके अन्तमें– "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज" के महान् उपदेशद्वारा एक पृथक् शरणमार्गके रूपम इसी आश्रयको समझाया है भागवतके एकादशस्कन्धम भी इसका स्पष्टीकरण मिलता है– 'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदना प्रतिचोदना प्रवृत्ति च निवृत्ति च श्रोतव्य श्रुतमेव च मामेकमेव शरणमात्मान सर्वदेहिना याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयम् ' अर्थ श्रुतिस्मृतिम उत्सग अपवादके रूपमें कहे गये विधि निषध और तत्परित विविध कर्मोमें प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा विविध ज्ञानमार्गीय श्रोतव्य श्रुत विषयोके श्रवण-मनन निदिध्यासन आदि किसी भी प्रणालीकी अपेक्षा रखे बिना केवल एकमात्र भगवान्की शरणमे सर्वात्मभावके साथ जाना चाहिये

यहाँ भी इसी आश्रय या पृथक्शरणमार्ग का विवेचन अभीष्ट है

एवमाश्रयण प्रोक्त सर्वेषा सर्वदा हितम् ।
कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दु साध्या इति मे मति ।।

अर्थ इस तरह आश्रय सभीके लिए सर्वदा हितकारी सिद्ध होता है क्योकि कलियुगमें भक्ति आदि मार्ग दु साध्य होगये हैं

कर्म ज्ञान या भक्ति के मार्गपर चल सकनेवाले जीवोके लिए विवेक धैर्य आश्रय अच्छी तरह चल पानेमें सम्बल बन जाते है जो इन मार्गोपर चल नही पाते उनके लिए आश्रय ही मार्ग भी बन जाता है और चल पानेका बल भी ।

आश्रयका सुलभतम स्वरूप श्रीमहाप्रभुने इस तरह समझाया है•

यथा कथंचित् कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि।
किंवा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्॥

अर्थः जैसे भी जो भी छोटे-बडे या अच्छे-बुरे कार्य व्यक्ति करता हो परन्तु किसी भी समय श्रीकृष्ण ही मेरे एकमात्र सहारा--शरण हैं, यह भावना मनसे दूर नहीं होनी चाहिये.

मूलतः गीतामें जिस तरह--"अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच" या भागवतमें जिस तरह--"मया स्या ह्यकुतोभयम्" में भगवान्ने अपने श्रीमुखसे शरणागतोको अभयदान दिया हैं वही इस आश्रय या प्रपत्ति की क्रिया एवम् भाव को पृथक-शरणमार्गकी पदवी प्रदान करता है. अतएव श्रीमहाप्रभु भी यहा षोडशग्रन्थके अन्तर्गत विवेकधैर्याश्रयमें भगवत्सेवाके अंग-रूपसे तथा अनुकल्परूपसे आश्रयका निरूपण करते हैं जो स्वयम् अनुकल्प हो सकता हो वह यदि अंग बन जाये तो भगवत्सेवाके स्वरूपमें एक विशिष्ट निखार आना स्वाभाविक ही है. अतएव श्रीमहाप्रभु उपदेश देते हैं विवेक धैर्य की रक्षा सतत करनी चाहिये इसी तरह आश्रयकी भी.

विवेक

विवेकके वैसे तो अनेक अर्थ तत्तद् शास्त्रोंमे उपलब्ध होते हैं. यहा परन्तु 'विवेक'का विवक्षित अर्थ इतना ही है कि जो कुछ जहां जब जैसे घटित हो रहा है वह सर्वदु:खहारी भगवान् श्रीहरिकी अपनी इच्छासे ही हो रहा है ब्रह्माण्डके सारे क्रिया- कलाप भगवान्की क्रीडाके अंग हैं. भगवान् जो कुछ करते है उसमें किसी न किसी तरह हमारा हित ही निहित होता है, हमारे हृदय और बुद्धि मे यह भावना और धारणा सर्वदा ही बनी रहनी चाहिये यही 'विवेक' कहलाता है.

"भगवान् सर्वसमर्थ है सर्वात्मा तथा सर्वान्तियामी हैं" ऐसे भाव भगवद् धर्मके विचारमें 'विवेक' कहलाते हैं मैं भगवान्का अंश हू, दास हू, भगव-त्क्रीडाका अंग हू तथा मेरी अहन्ता-ममताका कोई अर्थ नहीं है इत्यादि मनोभाव जीवधर्मके विचारसे 'विवेक' कहलाते है. इस तरहके विवेकसे सम्पन्न होनेपर हममें से चतुर्विध अविवेक दूर हो जायेगा हमारे भीतर चार प्रकारकी

वृत्तियां अविवेकके कारण घर कर जाती है. वे अविवेकजन्य वृत्तियां इस तरह है:

१) प्रार्थनाकी वृत्ति

२) अभिमानकी वृत्ति

३) हठकी वृत्ति

४) आग्रहकी वृत्ति

१) हमें थोडा सा कष्ट होने लगता है या कोई कामना उत्पन्न हो जाती है तो हम अपने कष्टोको दूर करनेके लिए अथवा हमारी क्षुद्र कामनाओकी पूर्तिके लिए भगवानसे प्रार्थना करने लग जाते हैं. मानो भगवान् सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी या सर्वात्मा ही न हो! भगवान् तो हमारी प्रार्थनाके बिना भी सब कुछ जानते है कि हमारी क्या अपेक्षायें हैं तथा किन कामनाओकी पूर्तिमे हमारा हित निहित है और किनमे अहित हम पहचान नही पाते पर परमात्मा तो हमारी आत्मामे निवास करते ही है अत हमारे स्वामी हमें क्या और कितना देना चाहते है उसे जाने बिना हम मागनेकी भूल कर बैठते है हमारे हितमे ही परमात्मा कुछ हमे देता है या नही देता परन्तु हम हमारे हिताहितके ज्ञानके बिना ही मागनेकी बेसब्री कर बैठते हैं। अत भगवान् सर्वज्ञ है सब कुछ देनेमे समर्थ है पर देंगे वही जिसमे हमारा हित निहित हो, ऐसे दृढ विश्वासको मनमे रख कर प्रार्थना —कष्टनिवृत्ति या कामनापूर्ति की याचना—न करना विवेकका प्रथम लक्षण है

२) यह प्रार्थनात्याग पूर्वोक्त भावभूमिपर किया जाये तभी 'विवेक' कहलाता है. अन्यथा पुरुषार्थवादी अहकारयुक्त मनोवृत्तिसे अथवा अनीश्वरवादी अश्रद्धाकी मनोवृत्तिसे या किंकर्तव्य-विमूढ बुद्धिसे प्रार्थना न करना विवेकका लक्षण नही है. अत प्रार्थनात्यागकी तरह अभिमानका त्याग भी आवश्यक है अभिमान केवल हमे अपने स्वामीका होना चाहिये—अपने पुरुषार्थपर या परमात्मासे भिन्न किसी जडशक्ति यथा प्रकृति काल कर्म स्वभाव माया शैतान आदिका नही क्योकि इनके कारण यदि कुछ सुख-दु ख हमे होता है तो वह भी परमात्माकी वैसी इच्छा होनेके कारण हो अन्यथा ये सभी प्रभावहीन होते है यह विवेकका द्वितीय लक्षण है

३) मिथ्याभिमान तथा प्रार्थना रहित जीवनप्रणालीमें यह सहज सम्भव है कि हमारे अन्दर अकर्मण्यताका एक ऐसा हठीलापन पनप जाये कि सामान्य-विशेष परिस्थितिके विवेकके बिना केवल हाथपर हाथ धरके बैठे रहना ही हमें आदर्श लगने लग जाये अभिमानत्याग तथा प्रार्थनात्यागके साथ ही साथ विवेकरहित अप्रवृत्तिको हठका त्याग भी अतएव आवश्यक होता है भक्तकी प्रवृत्ति किन्तु अपने दैहिक स्वार्थोकी पूर्तिसे प्रेरित नही होती. भक्तकी प्रवृत्ति होती है जब उसके अन्त करणमें विशेष भगवदाज्ञाका अनुभव होने लगे एसी विशेष भगवदाज्ञायें अवसर—विशेषपर किसी भक्तविशेषसे किसी विशेष भगवत्कार्यको पूर्ण करानेके लिए होती हैं भगवदाज्ञाके अनुसार यह कार्य मुझे ही पूर्ण करना है ऐसे भगवदीय अभिमानके साथ तथा अकर्मण्यताकी हठको छोडकर उस विशेष कार्यको सम्पन्न करना चाहिये

सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है इस सिद्धान्तकी सहज स्वीकृति तथा असहज हठीलेपनसे उसमें साथ चिपक जानेमें बहुत अन्तर पड जाता है अवसरविशेषपर स्वधर्म —— भगवत्सेवा या उससे सम्बन्धित किसी कर्तव्य —— को विशेष आयास-प्रयाससे पूर्ण करनेकी भगवदाज्ञाजन्य प्रेरणा जब हमारे अन्त करणमें उठती हो, तब जो होगा सो भगवदिच्छाके अनुसार होगा, ऐसी अकर्मण्यताकी हठ रखते समय हम यह भूल जाते हैं कि उक्त प्रेरणा भी तो विशेष भगवदाज्ञासे हुई है. अत हठवादितापूर्ण सिद्धान्तके दुरुपयोगका त्याग विवेककी तीसरी पहचान है

(४) एक बार किसी अवसर विशेषपर "सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है" इस सिद्धान्तको हठवादितासे न लेनेका तात्पर्य यह नही हो जाता कि सैद्धान्तिक आग्रहोसे सर्वथा मुक्त ही हो जाना चाहिये व्यवहारमें सिद्धान्तत. क्या धर्म है तथा क्या अधर्म है इसका विचार प्राथमिक होना चाहिये. तदनुसार ही किसी कार्यमें प्रवृत्त या निवृत्त होना चाहिये अत आपद्धर्म या अवसरोपात्त किसी विशेष कार्यरीतिको सार्वदिक माननेका आग्रह भी नही रखना चाहिये अत हठत्याग भी आग्रहरहित होना चाहिये. आग्रहसहित नही !

यही विवेकका वास्तविक एवम् परिपूर्ण स्वरूप है इस ग्रन्थके एक व्याख्याकार श्रीगोपेशजीके अनुसार श्रीमहाप्रभु नवविध विवेकका यहा उप-

देश करते है, जिसे इनकी व्याख्यामे इन्होने भलीभाति समझाया है यहा विस्तारभयसे हम अनुवाद नही दे रहे है

धैर्य

जन्यसे मृत्युपर्यन्त सभी तरहके दु खोको सहन कर लेना धैर्य है. दु खोको सहन करनेका मतलब होता है उन्हें स्वीकार लेना—उनका प्रतिकार न करना कभी एकाद दु ख सह लेना और कभी विचलित हो जाना धैर्यका स्वभाव नही है निरन्तर सभी तरहके दु खोको सर्वदा सहना ही पूर्ण धैर्यका स्वभाव है

दु ख अनेक प्रकारके हो सकते है यथा—रोगादिजन्य कायिक या भौतिक दु ख होते है कामक्रोधादिजन्य–इन्द्रिय और मन से सम्बन्धित आध्यात्मिक दु ख होते है. सेवार्थ उपयोगी वस्तुओके अभाव अथवा ऐसे अन्य भगवत्सम्बन्धी दु खोका आधिदैविक दु ख कहा जाता है इस तरह धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थोके सम्पादनके लिए लौकिक आयास आधिभौतिक, वैदिक आयास आध्यात्मिक तथा भगवदर्थ आयास आधिदैविक दु ख माने जाते है कभीकभी काल कर्म-स्वभाव-जन्य दु खोसे भी हम पीडित हो जाते हैं इन सभी तरहके दु खाको सहन करना धैर्य कहलाता है

धैय धारण करनेके चार उपाय होते है

१) अनाग्रह

२) सहन

३) त्याग

४) असामर्थ्यभावना

१) दु खोको सहन करना चाहिये पर स्वयम् चलाकर दु खी होनेके काम नही करने चाहिये अपने प्रयत्नके बिना स्वत भगवदिच्छासे दु ख दूर हो जाते हा तो जान-बूझकर दु खी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहकी भी कोई महत्ता नही है अतएव समागत दु खोका प्रतिकार सहज-सरलतया हो जाता हो सहनेकी कोई आवश्यकता नही और न होता हो तो विचलित भी नही होना चाहिये यही धैर्यका वास्तविक स्वरूप है

दुःख सहनेको उद्यत रहनेपर भी दुःखी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहसे बचनेका उदाहरण अधोलिखित कथाश्लोक द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है

तक्रवत् धैर्यधारण

> हत्वा नृप पतिमवेक्ष्य भुजगदष्ट
> देशान्तरे विधिवशाद् गणिकास्मि जाता ।
> पुत्र पतिं समधिगम्य चिता प्रविष्टा
> शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रम् ॥

अर्थ मुझे हठात् रनिवासमे पकड रखनेवाले राजाकी हत्या करके अपने सच्चे पतिके पास जब पहुची तो सर्पदंशके कारण उसे भी मृत पाया देश देशान्तरोंमे भटकती हुई वेश्यावृत्ति अपनानेको बाधित हुई तो एक दिन स्वयम् अपने पूर्वपतिसे जात पुत्रको सम्पन्न ग्राहक मानकर आमन्त्रित कर बैठी. वास्तविकताका ज्ञान होनेपर अपने पुत्रके साथ प्रायश्चित्त हेतु आत्मदाहको उद्यत हुई तो पुत्र जलकर मर गया परन्तु मै कथञ्चिद् बच गयी बचानेवाले ग्वालेकी पत्नी बनकर छाछ बेंचती हू सो आज वह भी ढुल गई अब बताओ कि कितने दुःखोंको रोऊं? इस छाछके ढुल जानेके दुःखको कहा तक रोऊ ?

जीवनमे एकसे बढकर दूसरे कष्ट आते है किन किनको रोया जाये और कब तक रोया जाये ? ग्वालेकी पत्नी अपने पूर्वानुभूत कष्टोका विचार कर नित-नये आनेवाले दुःखोको झेल जाती है जब भी जैसे जीवन यापनके अवसर सामने आते है, उन्हें स्वीकार लेती है न तो दुःखसे विचलित होती है और न दुःखी बने रहनेकी निराशा या कुण्ठा से ग्रस्त ही होती है न दुःखोंके आनेका कोई आग्रह और न दुःखोके जानेका कोई आग्रह ! 'प्रतीकारो यदृच्छातो सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्"

२) धैर्य धारण करनेका दूसरा उपाय है— दुःखोंको कष्टोको या तिरस्कारोको सह लेना हमे यह सोचना चाहिये कि जो हमे कष्ट है वह अन्य किसीका भी हो सकता है हमारा कष्ट किसी दूसरेके लिए सुख भी हो सकता है हमारी सुख दुःखकी अनुभूतिके हम अकेले ही दावेदार नहीं है परन्तु अनेक दावेदार है फिर अकेले हमारे उद्विग्न होनेकी क्या तुक है ?

देहवत् धैर्यधारण

देहं किमन्नदातुर्वा निषक्तुर्मातुरेव वा ।
मातुर्पितुर्वा बलिन क्रेतुरग्ने शुनोपि वा ।।

अर्थ इस देहपर सच्चा अधिकार किसका है ? क्या उसका जो हमें अन्न देता है, या हमारे जनकपिताका, या गर्भधारण करनेवाली माताका, या बलपूर्वक जो अधीन कर ले उसका, या धन देकर जो हम खरीद ले उसका, या देहको भस्मसात् करनेवाली अग्निका, या उसे खानेके भूखे कृमी-कीट-पशु-पक्षियोंका !

जब हमारे देहके दावेदार अकेले हम ही नही — इतने सारे है सभीके किसी न किसी तरह के कष्ट और आनन्द हमारे देहके साथ जुडे हुए हैं ऐसी सार्वजनिक सम्पत्तिसे अकेले हमारे दु खी होनेकी क्या आवश्यकता है ?

इसी तरह हमारे सुख-दु खमे भी हमारे परिवार समाज राष्ट्र मानव-मात्र और प्राणिमात्र का कुछ न कुछ या किसी न किसी तरहका हिस्सा तो है ही फिर अकेले हमे ही अपने कष्टोंको असह्य क्यो मानना चाहिये ? किसीका कष्ट जैसे हमारे लिए सुख बन जाता है, इसी तरह हमारा कष्ट किसी दूसरेके लिए सुख होगा बनस्पतीका कष्ट बकरीका सुख है—बकरीका कष्ट सिंहका सुख है— सिंहका कष्ट शिकारी मानवका सुख होता है इत्यादि अत हमारे पारिवारिक सदस्य पत्नी आदि या अन्य भी असाधु पुरुषो द्वारा किया गया तिरस्कार हमे सह लेना चाहिये

३) धैर्य धारण करनेका तीसरा उपाय है त्याग त्यागका अर्थ है अपनी ओरसे सभी इन्द्रियोके व्यापारोंको स्थगित कर देना. उन्हे काया वाणी और मन के अभिनिवेशसे मुक्त करना

जडवत् धैर्यधारण

जैसे जडभरत अपनी मस्तीमे बैठे हुए थ जब राजाके सैनिक उन्हे पालकी ढोनेके लिए ले गय तो आनाकानी किये बिना पालकी ढोने लग गये ठीकसे न ढो पानेके कारण राजा गाली देने लगा तो वह भी मस्तीम सुन ली. पूछनेपर बुद्धिमत्ता पूर्ण उत्तर दिया और राजा चरणोंम पड गया तो उसी पुरानी मस्तीसे ज्ञानोपदेश भी कर दिया !

इस तरह जडवत् व्यवहार करके भी धैर्य धारण किया जा सकता है

४) धैर्य धारण करनेका चौथा उपाय है स्वयम् अपनी असमर्थताकी भावना करना

गोपभार्यवत् धैर्यधारण

कृष्णके विरहमे गोपिकाओने तथा अन्य भी व्रजवासियोने अपनी असमर्थताके बोधद्वारा धैर्य धारण किया था, रासके प्रकरणमे तथा मथुरा-गमनके प्रसगमें भी भगवान्पर जब बस नही चलता तो अपनी असमर्थताकी भावनाद्वारा धैर्य धारणके अलावा और कोई उपाय भी नही रह जाता है

इस तरह भगवदिच्छाका ओर अपनी असमर्थताका विचार कर आधि-दैविक दु खोको सहन कर लेना चाहिये

ये सारे उपाय जो शक्य या सुकर नही लगते हो तो सर्वदु खहर्ता हरिका आश्रय ग्रहण करना चाहिये. क्योकि भगवान्के आश्रयसे अशक्य भी सुशक्य हो जाता है सारी दुर्लभ बातें भी सुलभ बन जाती हैं इस तरह धैर्यका निरूपण किया गया. अब आश्रयका स्वरूप समझना चाहिये

आश्रय

ऐहिक पारलौकिक सभी बातोमे सर्वथा एकमात्र हरिका ही सहारा स्वीकारना आश्रय कहलाता है आश्रयको दृढताके भी चार उपाय है

१) मन और वाणी से निरन्तर शरणभावना
२) कायिक वाचिक और मानसिक रूपमे अन्याश्रयका त्याग करना
३) मेघपर चातकके दृढ विश्वासकी तरह भगवान्पर सर्वदा दृढ विश्वास रखना—स्वयम् प्रयुक्त ब्रह्मास्त्रपर स्वयमेव मेघनादकी तरह भगवान्पर कभी अविश्वास न करना.
४) सुखसे या दु खसे जो भी मिल जाये उसका ममतारहित उपभोग करना

१) हमारे जीवनमे अनेक प्रकारकी विषम स्थितिया सामने आती रहती है जिन उद्वेगजनक परिस्थितियोमे हम विचलित हो जाते हैं, उन परि-स्थितियोमे यदि हमारे मन और वाणी से हम शरणभावना बनाये रखें तो आश्रय दृढ हो जाता है जीवनमें अनेकविध आधिभौतिक आध्यात्मिक एवम् आधिदैविक कष्ट आते हैं ऐसे समय बहुधा हम विवेक और धैर्य

निभा नहीं पाते- पर मन और वाणी मे यदि शरणभावना बनाये रखनेमे सफल हो पायें तो आश्रय दृढ हो जाता है

चाहे कोई भी परिस्थिति हमारे सामने आ पडे--पापकी, भयकी, अपूर्ण कामनाओकी, भक्तद्रोहकी, भक्ति-अभावकी या भक्तोसे तिरस्कृत होनेकी- सभी स्थितियोमे भगवद्शरणभावना एक कारगर उपाय है जब किसी अशक्य कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पडता है तब उद्वेग आशंका एवम् कुण्ठा के कारण हम भगवान्को भूल जाते है जब कोई सुशक्य कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पडता है तब सफलताकी आशा उत्साह और अहंकार के कारण हम भगवान्को भूल जाते हैं कार्य चाहे अशक्य हो या सुशक्य भगवान्की शरणभावना सर्वदा मन-वाणीपर बनी रहनी चाहिये हमारा अहंकार जब प्रबल हो रहा हो -- हमपर जो आश्रित हो उनके रक्षणपोषणके समय अथवा हमपर आश्रित व्यक्ति या सम्बन्धी जन जब हमारे अहम्को ठेस पहुचा रहे हो अथवा हमारे शिष्य भी जब हमारा तिरस्कार कर रहे हो, तब शरणभावनाको बनाये रखना बहुत आवश्यक होता है

मानसी सेवा, व्यसनदशा, निरोध या सर्वात्मभाव के अनुभव योग्य अलौकिक मनकी सिद्धिके लिए भी एकमात्र श्रीहरि ही हमारी शरण होते है मनवाणीसे निरन्तर अष्टाक्षर मन्त्रका अनुसन्धान बनाये रखना चाहिये यह आश्रयको दृढ करनेका प्रथम उपाय है

२) काया वाणी और मन से अन्याश्रयका त्याग करना चाहिये श्रुतिमे नित्यकर्मके रूपमे विहित न हो तब भी किसी अन्य देवादिका व्रत चलाकर — निष्काम या सकाम भजन करना अन्याश्रय है कही जाते समय मार्गमे किसी अन्य देवका मन्दिर मिल जाये तो दूसरी बात है, अन्यथा स्वयम् अपनी ओरसे चलाकर किसी अन्य देवके दर्शनार्थ उनके मदिरमे जाना अन्याश्रय है मार्गमे जाते हुए अन्य देवका मन्दिर मिल जाये तो नमनद्वारा आदरभाव प्रकट करना अन्याश्रय नही है किसी लौकिक या अलौकिक प्रयोजनवश किसी अन्य देवताकी प्रार्थना करना अन्याश्रय है 'अन्यदेव' का अर्थ है — भगवान्के ऐसे देवरूप कि जिनको पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमे मान्य नही किया गया है अन्याश्रयके त्याग करनेसे भी आश्रय दृढ हो जाता है

३) भगवान्‌पर अविश्वास कभी नही करना चाहिये—सर्वदा चातकका सा दृढ विश्वास रखना चाहिये लकामे हनुमानजीको जब ब्रह्मास्त्रसे बाधा गया तब स्वयम् बाधनेवाले राक्षसोको ही ब्रह्मास्त्रपर अविश्वास हो गया था. अतः वे जब ब्रह्मास्त्रके अलावा रस्सी या अगेला से बाधने लगे तब उनके अविश्वासको जानकर दोनो ही बन्धनोको तोडकर हनुमानजी मुक्त हो गये. अतएव अविश्वास कदापि नही करना चाहिये जल बरसे या न बरसे पर चातकका विश्वास स्वातिबिन्दुके बारेमे कभी खण्डित नही होता ऐसा दृढ विश्वास प्रभुपर रहना चाहिये दृढ विश्वाससे भगवदाश्रय दृढ होता है

४) हमे जो कुछ जैसा और जितना प्राप्त होता है, उसके ममतारहित उपभोगका व्रत यदि हम लेलें तो न प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे हर्ष होगा और अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे विषाद ही इस तरह प्राप्त वस्तुके ममतारहित उपभोगसे भी भगवदाश्रयकी दृढता सिद्ध होती है.

उपसंहार

किसी भी तरह हो आश्रयकी दृढता अपेक्षित है. छोटे-बडे अच्छे-बुरे किसी भी तरहके कार्योको करते हुए यदि हम शरणभावनाको हृदयमे जगाये रखनेमे सक्षम हो जाते है तो अन्य सारी बातें शनै शनै स्वतएव सिद्ध होने लगेगी. इस तरह हमने देखा कि कलियुगमे भक्ति आदि मार्गपर चल पाना दु साध्य हो गया है, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय सभीके लिए सर्वदा हितकारक होता है.

एक दृष्टिसे देखा जाये तो मार्ग तो कर्म ज्ञान और भक्ति रूप तीन ही है परन्तु जो जीव इन मार्गोपर चल नही पाते या चलते हुए थक कर बैठ जाना चाहते है, उनकी साधना अधूरी रह जाती है पर थके हुए या बिन थके जो जीव भगवान्‌के चरणोमे बैठ जाते है, वे बिना चले भी गन्तव्यतक पहुच जाते है. भगवान्‌के चरण या शरण अपने आपमे मार्ग भी हैं और गन्तव्य भी "एवमाश्रयण प्रोक्त सर्वेषा सर्वदा हितम् "

प्रस्तुत विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थ वि स १९८३ मे प्रकाशित सस्करणका ऑफसेट प्रोसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है वह सस्करण श्रीमद्-गोस्वामिकुल-भूषण-विद्यानिधि-श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजकी श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत महासभा (सूरत) द्वारा प्रकाशित हुआ था सम्पादन श्रीचीमनलाल ह शास्त्रीजीने किया था इन दोनो महानुभावोके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते है

उपकारस्मरण.

આ વિવેકધૈર્યાશ્રય માટે નીચે પ્રમાણે પ્રતિ ઉપલબ્ધ થઈ હતી.

(१) श्रीरघुनाथचरणविवृति—

१	क	ગો૦ શ્રીજીવનેશાચાર્યાત્મજ શ્રીરણછોડલાલજી કોટાના તરફથી મળેલી–સુદર્શનમાં ખાસ ઉપયોગી	શુદ્ધ છે. વાંચેલી અને પ્રાચીન
२	ख	,, ,, ,, ,,	પ્રાય શુદ્ધ
३	ग	ગો૦ શ્રીવ્રજરત્નલાલજી મહારાજ, સુરત તરફથી મળેલી	અપૂર્ણ અશુદ્ધ
४	घ	શ્રીગટ્ટુલાલજીની [illegible] શ્રીયુત મૂળચન્દ તેલીવાળા તરફથી ..	પ્રાય શુદ્ધ પ્રાચીન

(२) गो० श्रीघनश्यामात्मज–श्रीगोपीशजी महाराजकृतविवृति

१	क	ગો૦ શ્રીરણછોડલાલજી મહારાજ તરફથી	શુદ્ધ વાંચેલી, નૂતન
२	ख	,, ,, ,,	,, પ્રાચીન
३	ग	જુનાગઢની, ગો૦ શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજ તરફથી	નૂતન, પ્રાય શુદ્ધ
४	घ	ગો૦ શ્રીરણછોડલાલજી મહારાજ તરફથી સં. ૧૮૫૮	પ્રાચીન પ્રાય શુદ્ધ
५	ङ	ગો૦ શ્રીવ્રજરત્નલાલજી મહારાજ સુરત તરફથી	અપૂર્ણ
६	च	,, ,, ,,	વાંચેલી શુદ્ધ
७	छ	,, ,,	અપૂર્ણ
८	ज	શ્રીગટ્ટુલાલજીની, શ્રીયુત મૂળચન્દ તેલીવાળા તરફથી	પ્રાય શુદ્ધ
९	झ	,, ,, ,, ,, ,,	,, ,,
१०	ञ	ગો૦ શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજ મુંબઈ તરફથી	અશુદ્ધ
११	ट	,, ,, ,, ,, ,,	નૂતન પ્રાય શુદ્ધ
१२	ठ	ગો૦ શ્રીવ્રજરત્નલાલજી મહારાજ સુરત તરફથી	વાંચેલી શુદ્ધ

(३) श्रीगोविन्दरायात्मजश्रीगोकुलोत्सवविवृति.

१	क	ગો૦ શ્રીરણછોડલાલજી મહારાજ મુંબઈ તરફથી	પ્રાય શુદ્ધ પ્રાચીન
२	ख	,, ,, ,, ,, ,,	શુદ્ધતર વાંચેલી પ્રાચીન
३	ग	ગો૦ શ્રીરણછોડલાલજી મહારાજ મુંબઈ તરફથી	શુદ્ધતર સં ૧૭૭૦
४	घ	,, ,, ,, ,, ,,	
५	ङ	ગો૦ શ્રીવ્રજરત્નલાલજી મહારાજ સુરત તરફથી ...	,,
६	च	,, ,, ,, ,, ,,	શુદ્ધ–નૂતન

विवेकधैर्याश्रयः।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः।
विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥
प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात्।
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥
अभिमानश्च संत्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात्।
विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥
तदा विशेषेणेत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात्।
आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥
अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम्।
विवेकोऽयं समाख्यातो धैर्यं तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥
त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा।
तक्रवद्देहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥
प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥
स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत्।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥
अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत्।
एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोऽतो निरूप्यते ॥ ९ ॥
ऐहिके परलोके च सर्वथा शरणं हरिः।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥१०॥
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥११॥
अहंकारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥१२॥
अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्थो शरणं हरिः।
एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥१३॥
अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च।
प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत् ॥१४॥
अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥१५॥
यथाकथंचित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि।
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥१६॥
एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्।
कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥१७॥
इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितो विवेकधैर्याश्रयः समाप्तः

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमदखण्डभूमण्डलाचार्यवर्यश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीरघुनाथचरणप्रकटिता दीपिका ।

स्वगोकुलपरित्राणसम्भ्रमेणोद्धृताचलम् ।
क्रीडल्लोपाङ्गनापाङ्गसङ्गिणोपाल्यपाश्रये ॥ १ ॥
मन्मानसेऽस्तु सततं श्रीविट्ठलपदाम्बुजम् ।
संसारभयभीतानां यत्स्मृतिर्भयनाशिनी ॥ २ ॥

अथ भगवन्मार्गीयभक्तानामैकान्तिकभक्तानां भक्तिं सिसाधयिषूणां तत्साधनोपायान् विवेकधैर्याश्रयान् स्वस्वासाधारणलक्षणलक्षितान् विवेकमादौ तानसाधारणस्वशब्देन निर्दिशन्ति ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।
विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

रक्षणीये स्वीकार्ये । तत्र विवेकादयः कीदृशा इति स्वरूपजिज्ञासायां प्रथमोद्दिष्टस्य विवेकस्य फलितस्वरूपमाहुर्विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यतीति । तुशब्दः प्रसिद्धिद्योतनार्थः । अन्यथाऽप्रामाणिकत्वं स्यात् । हरति त्रिविधमपि भक्तदुःखमिति व्युत्पत्त्या सकलदुःखहारित्वसमभिव्याहारिहरिपदेन, 'भगवान् करिष्यति न वे'त्यविश्वासो निरस्तो वेदितव्यः । हरिपदनिर्वचनन्तु महाभारते स्फुटम् । तद्यथा, 'हराम्यघं हि स्मर्तॄणां हविर्भागं क्रतुष्वहम् । वर्णश्च मे हरिश्चेष्टस्तस्माद्धरिरहं स्मृत' इति । सर्वमैहिकं पारलौकिकं निजेच्छातो जीवादृष्टप्रयत्नादिनिरपेक्षाल्लौकिकस्वेच्छात इत्यर्थः । एवं वाक्यार्थानुसन्धानेन स्थेयमिति तात्पर्यम् ।

'ननु लोके भगवद्भक्तानामपि प्रौढदुःखदूरीकरणार्थं भगवान् प्रार्थनीय एव । तस्मादशक्यार्थोपदेश एवायं पङ्गोर्गिरिलङ्घनवद्विवेकोपदेश इत्यत आहुः ।

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

वेति विकल्पे विवेकास्फूर्तिदशायाम् । ततः प्रार्थनातः किं स्यात् किमपीत्यर्थः । कुत इत्यपेक्षायां, स्वाम्यभिप्रायसंशयादिति । स्वामी प्रभुः, तस्याभिप्रायस्य चिकीर्षितस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् संशयो भवत्येव । यत्र 'फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इवे'त्यादिषु लौकिकप्रभ्वभिप्रायोपि पूर्वं ज्ञातुमशक्यस्तत्र किं वाच्यमलौकिकप्रभोरभिप्रायस्येति । ननु भक्तेच्छापूरणाय भगवानशक्यमप्यर्थं सम्पादयति, तच, बहुप्रयाससाध्यमस्मदादिकल्पनागम्यत्वोपि कदाचित् स्यादिति तदर्थं पुनः पुनः प्रार्थनया भगवान् स्मार्यते । (भगवतस्तत् कार्यं स्मार्यते) इत्यत आहुः सर्वत्रेति । सर्वस्मिन् काले देशे च यत्किञ्चिद्वस्तुमात्रं तत्सर्वं तस्य भगवत एवेत्यर्थः । हिशब्दः प्रसिद्धौ । सा च 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभव' इत्यादिषु ज्ञेया । ननु भक्तार्थं भगवतोप्यकालवस्तुसम्पादनप्रयाससाध्यं भविष्यतीति चेत्तत्राहुः सर्वसामर्थ्यमेव चेति । न हि भगवतोपि कालमपेक्ष्यैव कार्यकरणं सम्भवति, प्रत्युत कालस्यैव भगवदधीनत्वाज्जन्यत्वाच्च तदसापेक्षत्वम् । चकारात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यमपि द्योत्यते ॥ २ ॥

कदाचिदप्यनपेक्षितमपि कार्यं भगवांश्च करोति, तेन भक्तमनस्यभिमानो भवेन्मया भजनार्थमपि प्रयत्नो न कर्तव्य इति, तत्र कार्यमित्याहुरभिमानश्च सन्त्याज्य इति ।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।
विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥
तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।
आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

चकारात् कार्यानिष्पत्तिनिमित्तम्लानिरपि । सम्यगित्यनेन वाचाऽप्यनारम्भेच्छाराहित्येन त्यागः सूचितः । तत्र हेतुः, स्वाम्यधीनत्वभावनादिति । सर्वस्वनिवेदनेनान्तःकरणमपि निवेदितमेव । अभिमानश्चान्तःकरणधर्मः । स च सुतरां न कार्य इति भावः । एवं स्वतः कार्यमात्रं न कर्तव्यमिति प्राप्ते भगवदाज्ञायां विशेषमाहुर्विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादिति । देहसम्बन्धि देहनिर्वाहकं कार्यं दैहिकमित्युच्यते । तच, सर्वदाप्यनिषिद्धमेव ।

विशेषतो विशेषनिमित्तात् विशेषकार्यकरणार्थमपि यावत् । सापि न वाचना, किन्त्वन्तःकरणगोचरान्तःकरणपूर्विका यदि स्यात्, तदैव दैहिकाद्भिन्नं विशेषगत्यादि भाव्यं कार्यमित्यर्थः । गतिपदेन क्रियामात्रं लक्ष्यते । आदिपदेन प्रार्थनमपि कार्यमध्ये क्वचिदसम्भवति चेत् तत् कर्तव्यमेवेति सूच्यते । ननु विशेषाज्ञायामपि यदि-

स्कालादिवशाद् भगवदाज्ञप्तकार्यानिष्पत्तिस्तदापि किं भगवदाज्ञामितिकृत्वा प्राणादिभयं सोढ्वापि हठेनाशक्यमपि कार्यं कर्त्तव्यमेवोत नेति प्राप्त आहुरापद्गत्यादिकार्येष्विति । भगवदीयानामेवंविधदशायामसौ भगवानेव हेतुरिति भगवदाज्ञोल्लङ्घनदोषोपि न भवतीति ज्ञेयम् । 'गति'शब्देन प्राप्तिरुच्यते । 'आदि'पदेनाशक्यार्थ उच्यते । तेनाऽऽपत्कालीनाशक्यकार्येष्वपि सर्वेषु हठ आग्रहः सर्वथा सर्वप्रकारेण त्याज्यः । चकारादापन्निवृत्तौ पुनराग्रहः स्वीकार्य एवेत्यर्थः, । यद्वा, आपद्गतिरादिर्येषु कार्येषु कृतेषु भवति तेष्वाग्रहो न कार्य इति । भगवदनुक्तेष्वपि कार्येष्वनापद्यपि स्पृहा न कार्येत्याहुरनाग्रहश्च सर्वथेति । कर्तव्यान्तरमप्याहुर्धर्माधर्माग्रदर्शनमिति । धर्मश्चाधर्मश्च तयोरग्रं पर्यवसितफलं तद्दर्शनपर्यालोचनं तदनुसन्धानम् । विहितेपि कार्ये यस्मिन् कृते स्वधर्मत्यागः सम्पाद्यते, तन्न कार्यम्, स्वधर्मत्यागस्याधर्महेतुत्वात् । स्वधर्माविरोधिनश्च धर्महेतुत्वात् तत्कार्यमितिभावः ॥ ४ ॥

उपसंहरन्ति—

विवेकोयं समाख्यातः

क्रमप्राप्तं धैर्यं निरूपयन्ति—

धैर्यन्तु विनिरूप्यते ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।

तक्रवद्देहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

त्रयाणां दुःखानां समाहारस्त्रिदुःखम् । दुःखस्य त्रिविधत्वं त्वाधिभौतिकादिभेदेन कायिकादिभेदेन वा कालकर्मस्वभावैर्वा । तस्य सहनं तत्प्रतीकारं विनानुभवः । तदन्त्यामृतेः । मृतिर्मरणं वर्तमानदेहत्यागः, तं मर्यादीकृत्य । तदपि न यत्किञ्चित् परिगणितनिमित्तात्, किन्तु, सर्वतो भगवदिच्छातो यद्यदुपस्थितं तत्तत्सर्वं सोढव्यमेवेतिभावः । तदपि न कालनैयत्येन, किन्तु सर्वदा । 'आमृते'रित्यनेन सार्वकालीनत्वे सिद्धेपि सर्वदेति पुनः स्पष्टार्थं वचनम् । नन्वनवरतदुःखसहनेन शरीरशोषात् तन्नाशोपि स्यात्, तन्नोचितमिति न दुःखं सोढव्यमिति चेत्तत्राहुस्तक्रवद्देहवद्भाव्यमिति । देहहानौ शोको न कार्य इत्यर्थे भावकं दृष्टान्तत्रयं ज्ञेयम् । तच्च त्रयं, तक्रवज्जडवद्गोपभार्यवदिति । अन्वयस्तु, देहवता भाव्यं देहवद्भाव्यम् । यच्च देहवता पुरुषेण शरीरादिकमेवात्मीयत्वेन भाव्यमनुसन्धेयं दृश्यते, तादृशन्तु न कार्यम् । तत्र कीदृगनुसन्धानं कार्यमित्यपेक्षायां तक्रादिषु यथा तेषामनुसन्धानं तथा स्वदेहेपि कार्यमित्यर्थः । तत्राख्यायिका तु, "हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदष्टं देशान्तरे विधिवशाद्-

णिगापि जाता। पुत्र पतिं समधिगम्य चिता प्रविष्टा शोचामि गोपगृहिणी कथमत्र तत्कम्" इत्यादौ प्रसिद्धा। जडो जडभरतस्तदाख्यायिका पञ्चमस्कन्धतोऽवगन्तव्या। गोपैर्ध्रियते धार्यते पोष्यते चेति गोपभार्यो, (देहः) गोपीनां भगवत्सम्बन्धात् पूर्वकालीनः प्राकृतो देहस्तद्गमने यथा गोपीनां न शोकस्तथा स्वदेहेपि कार्यमित्यर्थः। अत्र गोपभार्याशब्दे उच्यमाने पुंवद्भावानुपपत्तिः तेनान्यथा व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

भगवदिच्छातः प्राप्ते दुःखे यथाऽप्रतिकारस्तथा सदिच्छाभावे स्वयं न विनैव दुःखमतीकारेपि मम सुखं नास्तीति बुद्ध्या दुःखाभावसम्पादकहेतुनिष्पत्त्याग्रहं न कुर्यादित्याहुः प्रतिकारो यदृच्छात इति।

प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

भार्यादीनामिति। भार्या आदिर्येषां पुत्रादीनां तथैवान्येषां पोष्यवर्गाणां, असतश्च भार्यादिमध्ये स्वतोऽत्यन्तनिकृष्टस्य सदोषस्याप्याक्रमं तत्कृततिरस्कारमपि सहेतेत्यर्थः। अत्र सहेदिति परस्मैपदं 'सह मर्षणे' इत्यात्मनेपदिनो न सङ्गच्छते यद्यपि, तथापि सहनं सह इति व्युत्पत्त्या 'अच्'प्रत्यये कृते, पश्चात्सहं करोतीत्यर्थे णिचि सहयतीति वा परस्मैपदं ज्ञेयम्।

तथा पूर्वं भगवदिच्छया प्राप्तस्य स्वयत्नं विनैव सुखदुःखादेः सहनमुक्तमिदानीं स्वकृतिसाध्यं सुखादिकं न कार्यमित्याहुः स्वयमिति।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत्।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

इन्द्रियकार्याणि। तत्तदिन्द्रियसाध्यविषयभोगं। स तु कायेन वाचा मनसा त्यजेदित्यर्थः। कायवाङ्मनसेत्यत्र द्वन्द्वैकवद्भावेकवचनं ज्ञेयम्। दुःखशोकसहनाक्षमेणापि तदर्थं वृद्धसेवनवैराग्यादिकं कर्तव्यं, न त्वाहत्य धैर्यमेव। तत्र हेतुः, स्वस्यासामर्थ्यभावनादिति। भावनं परिस्फुरणमानसमिति।

कर्तव्यान्तरमाहुरशक्य इति।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत्।

सर्वप्रकारेणाशक्येऽर्थे हरिरेवास्ति मम शरणमिति बुद्धिमाश्रित्य तिष्ठतः सर्वमैहिकं पारलौकिकं च भवेदित्यर्थः।

उपसंहरन्ति—एतदिति।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोऽतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

क्रमप्राप्तमाश्रयं निरूपयन्ति-आश्रयोऽत इति। अत इति धैर्यनिरूपणानन्तरमित्यर्थः। आदौ फलितं रूपमाहुः-ऐहिकेति ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।
दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥
अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

इहास्मिन् जन्मनि तदुपलक्षिते काले वा भवदैहिककार्यमुच्यते । परोऽस्माद्भवः, अन्तरिक्षलोकमारभ्य ब्रह्मलोकपर्यन्तः । परत्रान्तरालगत्यादिरूपा कदाचित्स्वर्गभोगः सम्भाव्यते चेत्तत्रापि सर्वप्रकारेण कायेन वाचा मनसा च हरिरेव शरणं ममेति चित्ते निश्चित्य स्थेयमित्यर्थः । भगवद्दीयानां नरकः स्वर्गादिरेव न तु तामिस्रादिः । अत एव विष्णुपुराणेऽप्युक्तम् "वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु, तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिक फलम्" सामान्यतः सर्वकार्येषु शरणगमनमुक्तम्, इदानीं तदेव पुनर्निमित्तविशेषेष्वप्युच्यते । तानि निमित्तानि 'दुःखहानौ,' इत्यारभ्य 'सर्वथा शरणं हरिरि'त्येतत्पर्यन्तोक्तानि ज्ञेयानि । दुःखस्य हानौ आप्तायामपि हर्षवशेन शरणविस्मरणं न कार्यमित्यर्थः । एवं सर्वत्र योज्यम् । पापे प्रारब्धवशाज्जाते, भये शत्र्वादिकृते, काम इच्छा लौकिकालौकिकसाधारणी, आदिपदेन धर्मादिरपि, तेषामपूरणेऽनिष्पत्तौ भक्तेषु द्रोहे जातेऽपि, अन्यत्र भक्ति दृष्ट्वा स्वस्य भक्तिराहित्येन स्पृहायामपि, भक्तैः स्वस्यातिक्रमे कृतेऽपि तेषु मातिकृत्यं न कार्यमितिभावः । अशक्ये स्वयमप्रयत्नाद्वारा वा कर्तुमयोग्येऽर्थे, सुशक्येऽनायासेन कर्तुं योग्येऽर्थे, उभयत्रापि वा शब्दोऽप्यर्थे । अहङ्कारेण कृतेऽहङ्कारकृते, पोषणञ्च रक्षणञ्च पोषणरक्षणे । पोष्याणां पोष्यवर्गाणां पोषणरक्षणे अहङ्कारेण कृतेऽपि । चकारः सर्वत्र समुच्चयार्थः । पोष्यवर्गस्य दैववशादतिक्रमे सति । अन्तेवासी भगवन्मार्गजिज्ञासुः शिष्यः । सर्वार्थे सर्वस्मिन्नुक्तानुक्तरूपेऽर्थेऽपि हरिरेवाश्रयणीय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।
एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अलौकिकमनःसिद्धाविति निमित्तमन्यम् । तेनालौकिकमनःसिद्ध्यर्थमेव सर्वार्थे हरिरेवाश्रय इत्यर्थः पर्यवसितः । एवमिति । विवेकादीनां स्वरूपं यदत्रमुक्तं यत्रे

णिनापि जाता । पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचाम्रि गोपगृहिणी कथमन्र तत्कम्" इत्यादौ प्रसिद्धा । जडो जडभरतस्तदाख्यायिका पञ्चमस्कन्धतोऽवगन्तव्या । गोपैरिन्द्रियैर्यत्ने धार्यते पोष्यते चेति गोपभार्यो, (देहः) गोपीनां भगवत्सम्बन्धात् पूर्वकालीनः प्राकृतो देहस्तदपगमे यथा गोपीनां न शोकस्तथा स्वदेहेपि कार्यमित्यर्थः । अत्र गोपभार्याशब्दे उच्यमाने पुंवद्भावानुपपत्तिः तेनान्यथा व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

भगवदिच्छातः प्राप्ते दुःखे यथाऽप्रतिकारस्तथा मदिच्छाप्राप्ते स्वप्रयत्नं विनैव दुःखप्रतीकारेपि मम सुखं माऽस्त्विति बुद्ध्या दुःखाभावसम्पादकहेतुनिवृत्त्याग्रहं न कुर्यादित्याहुः प्रतिकारो यदृच्छात इति ।

प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

भार्यादीनामिति । भार्या आदिर्येषां पुत्रादीनां तथैवान्येषां पोष्यवर्गाणां, असतश्च भार्यादिमध्ये स्वतोऽत्यन्तनिकृष्टस्य सदोषस्याप्याक्रमं सत्कृततिरस्कारमपि सहेतेत्यर्थः । अत्र सहेदिति परस्मैपदं 'सह मर्षणे' इत्यात्मनेपदिनो न सङ्गच्छते यद्यपि, तथापि सहनं सह इति व्युत्पत्त्या 'अच्'प्रत्यये कृते, पश्चात्सहं करोतीत्याचरतीति वा परस्मैपदं ज्ञेयम् ।

तथा पूर्वं भगवदिच्छया प्राप्तस्य स्वप्रयत्नं विनैव सुखदुःखादेः सहनमुक्तमिदानीं स्वकृतिसाध्यं सुखादिकं न कार्यमित्याहुः स्वयमिति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

इन्द्रियकार्याणि । तत्तदिन्द्रियसाध्यविषयभोगः । तं तु कायेन वाचा मनसा त्यजेदित्यर्थः । कायवाङ्मनसेत्यत्र द्वन्द्वैकवद्भावादेकवचनं ज्ञेयम् । दुःखं सोढुमशक्तेनापि तदर्थं वृद्धसेवनवैराग्यादिकं कर्तव्यं, न त्वाहत्य धैर्यमेव । तत्र हेतुः, स्वस्यासामर्थ्यभावनादिति । भावनं परिदृश्यमानत्वमिति ।

कर्तव्यान्तरमाहुरशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

सर्वप्रकारेणाशक्येऽर्थे हरिरेवास्ति मम शरणमिति बुद्धिमाश्रित्य तिष्ठतः सर्वमैहिकं पारलौकिकं च भवेदित्यर्थः ।

उपसंहरन्ति—एतदिति ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोऽतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

क्रमप्राप्तमाश्रयं निरूपयन्ति-आश्रयोऽत इति। अत इति धैर्यनिरूपणानन्तरमित्यर्थः।
आदौ फलितं रूपमाहुः-ऐहिकेति ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।
दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥
अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

इहास्मिन् जन्मनि तदुपलक्षिते काले वा भवदैहिककार्यमुच्यते । परोऽस्मादन्यः, अन्तरिक्षलोकमारभ्य ब्रह्मलोकपर्यन्तः । चकाराद्भगवदिच्छया कदाचिन्नरकभोगः सम्भाव्यते चेत्तत्रापि सर्वप्रकारेण कायेन वाचा मनसा च हरिरेव शरणं ममेति चित्ते निश्चित्य स्थेयमित्यर्थः । भगवदीयानां नरकः स्वर्गादिरेव न तु तामिस्रादिः । अत एव विष्णुपुराणेऽप्युक्तम् "वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु, तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम्" सामान्यतः सर्वकार्येषु शरणगमनमुक्तम्, इदानीं तदेव पुनर्निमित्तविशेषेष्वप्युच्यते। तानि निमित्तानि 'दुःखहानौ,' इत्यारभ्य 'सर्वथा शरणं हरिरि'त्येतत्पर्यन्तोक्तानि ज्ञेयानि । दुःखस्य हानौ भाक्षात्प्राप्तावपि हर्षवशेन शरणविस्मरणं न कार्यमित्यर्थः । एवं सर्वत्र योज्यम् । पापे प्रारब्धवशाज्जाते, भये शत्र्वादिकृते, काम इच्छा लौकिकालौकिकसाधारणी, आदिपदेन धर्मादिरपि, तेषामपूरणेऽनिष्पत्तौ भक्तेषु द्रोहे जातेपि, अन्यत्र भक्तिं दृष्ट्वा स्वस्य भक्तिराहित्येन स्पृहामात्रेपि, भक्तैः स्वस्यातिक्रमे कृतेपि तेषु मात्सर्यं न कार्यमितिभावः । अशक्ये स्वयमन्यद्वारा वा कर्तुमयोग्येऽर्थे, सुशक्येऽनायासेन कर्तुं योग्येऽर्थे, उभयत्रापि वा शब्दोऽप्यर्थे । अहङ्कारेण कृतेऽहङ्कारकृते, पोषणञ्च रक्षणञ्च पोषणरक्षणे । पोष्याणां पोष्यवर्गाणां पोषणरक्षणे अहङ्कारेण कृतेऽपि । चकारः सर्वत्र समुच्चयार्थः । पोष्यवर्गस्य दैववशादतिक्रमे सति । अन्तेवासी भगवन्मार्गजिज्ञासुः शिष्यः । सर्वार्थे सर्वैरिप्युक्तानुक्तरूपेर्थेपि हरिरेवाश्रयणीय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।
एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अलौकिकमनःसिद्धाविति निमित्तसप्तमी। तेनालौकिकमनःसिद्ध्यर्थमेव सर्वार्थे हरिरेवाश्रय इत्यर्थः पर्यवसितः । एवमिति । विवेकादीनां स्वरूपं यादृगुक्तं तादृ-

सदा चित्ते सम्यगनुसन्धयेत् । वाचा च वचनेनापि परबोधनार्थं स्वार्थमेव वा परिकीर्त्तयेत् परितः सर्वतः कीर्त्तयेत् । चकारात् कायव्यापारयोग्यं कुर्यादपि ॥ १३ ॥

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।
प्रार्थना कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥
अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥
यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥
एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।
कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितो विवेकधैर्याश्रयग्रन्थः सम्पूर्णः ।

अन्यस्य भजनं तत्रेति । तत्र तस्मिन्नाश्रयरूपेर्थे सम्पन्ने, अन्यस्य भगवद्भक्तव्यतिरिक्तस्य भजनं सेवनं स्वतो गमनं स्वस्यानाकारितस्य स्वस्य तत्समीपे गमनम् । चकारात्तेन सह शारीरसम्बन्धोपि न कार्यः । कार्यमात्रेपि कर्तुं विहिते स्वधर्माऽविरोधिनि कर्तव्येर्थे प्रार्थना कार्येतिशेषः । प्रार्थनीयो भगवान् तद्भक्तो वा । अत एव विष्णुधर्मोत्तरे शङ्करगीतासु "अपृष्ट्वा यस्तु मां काञ्चित् क्रियां नारभते हरिम्, असम्भिन्नार्यमर्यादस्तस्य तुष्यति केशव" इति । तथान्यत्रेति । यथा भगवति प्रार्थना तथाऽन्यत्र विरोधिनि विशेषेण (ता) वर्जयेत् । यद्वा, भगवति विहिते कार्ये स्वधर्माविरोधिनि प्रार्थना, तथा अन्यत्र स्वधर्मविरोधिनि (कार्ये) न कार्येति । ननु भगवत्प्रार्थनायामपि भगवाँस्तु साक्षान्न वदत्येव किमपि, किन्त्वाचार्योक्तसङ्केतग्रहेणानुमीयते, इदमुक्तमिदं नोक्तमिति । तत्र जीवानामविश्वासः सम्भावित इति चेत्तत्राहुरविश्वासो न कर्तव्य इति । आचार्योक्तमार्गे यद्यविश्वासस्तदा कृतं सर्वं व्यर्थं भवेदित्यर्थः । अविश्वासस्य महाबाधकत्वानुसन्धानेन सर्वथा स न कार्य एवेत्यर्थः । विश्वासदार्ढ्यार्थं किञ्चित्स्मरणीयमाहुर्ब्रह्मास्त्रचातकाविति । ब्रह्मास्त्रञ्च चातकश्च तौ भाव्यौ, विश्वासार्थं स्मरणीयौ । अत्रायं भावः । यथा हनुमान् ब्रह्मास्त्रेणाप्रतिकार्येण बद्धोपि बन्धकानामविश्वासेन मुक्तः । पश्चादुद्यमः सर्वोपि व्यर्थो जातः । अत्राविश्वासस्य महादोषहेतुत्वे ब्रह्मास्त्रं दृष्टान्तः । विश्वासमात्रस्य सर्वकार्यसम्पादकत्वे चातको दृष्टान्तः । स यथा चातकः कश्चन पक्षी यथा वर्षासु महज्जलमप्यनास्वाद्य स्वातिजलमल्पमप्यास्वाद्य पुनर्वर्षपर्यन्तं तत्प्रतीक्षया जीवन् यथा पूर्वमेव

तिष्ठति । तस्य तु सर्वं स्वातिबिन्दुविश्वासेनैव योगक्षेमादिनिर्वाहो यथा, तथा सर्वं विहायाचार्योक्तमार्गविश्वासेन सर्वं भवेदेवेत्यत्र तात्पर्यम् । प्राप्तं स्वमार्गमर्यादया कर्तव्यत्वेन प्राप्तं सेवेत कुर्यादित्यर्थः । निर्ममो निरहङ्कार इत्यर्थः । स्वयं बहुज्ञत्वाद्यभिमानेनाचार्योक्तौ कुसृष्टिरूपत्वं न कार्यमितिभावः । यथाकथञ्चिदिति । लोकवेदकुलाचारप्राप्तानि कर्माणि येन केनापि प्रकारेण कुर्यान्न तु परित्यजेत् । उच्चञ्च, अवचञ्च, उच्चावचं, तानि उच्चावचानि, उत्कृष्टनिकृष्टानि । यद्यपि भगवद्धर्मापेक्षया सर्वाण्यन्यानि कर्माणि हीनान्येव, तथापि लोकानुसारेणोच्चावचत्वं ज्ञेयम् । ईदृशान्यपि सर्वथा करणं भगवानेवाह, 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्' । आश्रयस्य विवेकधैर्यापेक्षयाऽत्यावश्यकत्वं कर्मज्ञानोपासनादिभ्योपि सर्वथा मायस्त्वश्चाहुः किं वेति । वेति पक्षान्तरे । विवेकधैर्याद्यसमस्य महापापपतितस्यापि यथोक्ताश्रयाश्रयणेनैव सकलपुरुषार्थसिद्धिरित्यर्थेन बहुना प्रोक्तेन पुनः पुनर्वचनेन किम् ? न किमपीत्यर्थः ।

उपसंहरन्ति एवमिति । एवममुना प्रकारेण यदाश्रयणं तत् प्रोक्तम् । आश्रयणरूपं वस्तु प्रोक्तमित्यर्थः । सर्वेषां पतितापतितस्त्रीशूद्रसाधारणाम् । अत एव भगवताप्युक्तम्, 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः, स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिमि'त्यादिना । सर्वदा समयानियमेन । हितमतिसौख्यसम्पादकम् । ननु भक्तिज्ञानकर्मादिषु सत्सु सर्वं विहाय कथं तदेकपरतया स्थेयमित्यत आहुः कलाविति । भक्त्यादिर्येषां, कर्मज्ञानाद्यो दुःसाध्या देशकालद्रव्यादिसाद्गुण्येन कर्तुं न शक्या इत्यर्थः । हिशब्दो लोकवेदप्रसिद्धिद्योतनार्थः । ननु लोके भवतु भवदादीनामस्माकं तत्करणे किमायातम् ? इति विशेषजिज्ञासायां स्वमस्मन्निपरिमित्यर्थं विश्वासार्थमाहुर्मे मतिरिति । मतिः सम्मतिरित्यर्थः ।

न शक्यं मे विवेकादिनिरूपणमथापि तु ।
स्वसदाम्बुजसन्ध्यानात्प्रसादाः कृतवानहम् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणशरणश्रीमद्रघुनाथकृता
विवेकधैर्याश्रयदीपिका
समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

श्रीमद्भगवद्वदनानलावतारश्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितः

विवेकधैर्याश्रयः।

श्रीगो० श्रीगोपीशविरचिता विवृतिः।

श्रीमदाचार्यचरणनखचन्द्ररुचे नमः।
हृदि प्रविश्य यद्ध्वान्तं निर्धूतं मे यया स्वतः॥ १॥
यत्कृपातो विवेकादिधर्माः स्वीये भवन्ति हि।
तत्पादतत्सम्बन्धिरेणुः शरणमस्तु मे॥ २॥

अथ भक्तिमार्गाङ्गीकारेण भगवतो दासत्वं प्राप्तस्य सेवायां प्रवृत्तस्य सेवानिर्वाहार्थं भक्तिदार्ढ्यार्थं नवरत्नोक्तचिन्ताराहित्यसम्पादने विवेकधैर्याश्रया यद्यपि तदुपदेशेन उत्पन्नास्तथापि विवेकादीनां विशेषविज्ञानाभावे सेवायां तादृशी दृढता न भविष्यतीति स्वीयानां विशेषेण तद्दार्ढ्यार्थं श्रीमदाचार्यचरणा विवेकधैर्याश्रयान् विस्तरतो निरूपयन्ति विवेकेति।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः।
विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति॥ १॥

सेवायां प्रवृत्तस्य प्रथमं विवेकः सर्वथापेक्षितः। ततो धैर्यम्। एतद्द्वयसिद्ध्यर्थमाश्रयश्चेति क्रमः। एवं सति सर्वात्मनाश्रय एव कृते सर्वं सेत्स्यतीत्यन्ते तन्निरूपणम्। तत्र प्रथमं विवेकस्वरूपं निरूपयन्ति विवेकस्त्विति। हरिः सर्वदुःखहर्ता। सर्वं लौकिकं स्वप्रयत्नसाध्यं योगक्षेमादि। अलौकिकं भगवत्सेवौपयिकं च स [illegible] करिष्यति, न तु सेवां विहाय स्वप्रयत्नादिकं कर्त्तव्यमिति प्रथमो विवेकः। यतः सर्वेषामपि दुःखहर्ता [illegible] एव। मम स्वाङ्गीकृतस्यापेक्षितं करिष्यत्येवेति विश्वासेन सेवैव कार्या, न तु प्रयत्नादिकम्। तत्करणे बाहिर्मुख्यं सेवाविक्षेपादिकं भवतीति एतदेव "चिन्ता कापी"ति श्लोके निरूपितं नवरत्ने। ननु प्रार्थनायाते कथं करिष्यतीति तत्राहुर्निजेच्छात इति। स अलौकिकः प्रभुः स्वकीयानामपेक्षितं जानाति। सेवामपि जानातीति

तथा न भविष्यती'त्युक्तं श्रीप्रभुचरणैः। किञ्च। यथा स्वदेहादिष्वभिमानस्त्याज्यस्तथा देहादिसम्बन्धिभार्यापुत्रादिष्वपि स त्याज्यः । तेपि स्वात्मना सह भगवतैवाङ्गीकृता इति तदधीना इति तेषामपि योगक्षेमं प्रभुरेव करिष्यतीति सर्वदानुसन्धानेन तदर्थमपि प्रयत्नादिकरणं न भविष्यतीत्यपि भावो ज्ञापितः। तत्राप्यभिमानः सम्यक् सवासनस्त्याज्यो यथा तद्वासनापि न तिष्ठति । एतदेव "चिन्ता कापी"तिश्लोके 'लौकिकपरलौकिकी च सा त्याज्ये'त्युक्तम् ।

एवं श्रीमदाचार्याज्ञया विवेकादिना सेवाकरणे स्वापेक्षितवस्तुज्ञापिका भगवदाज्ञा, तं मर्यादाचार्याज्ञातो विशिष्टा चेज्ज्ञायते, तदा साज्ञा कर्तव्या, तदाहुर्विशेषत इति ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥
तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

चेद्विशेषतः सेवाविषयिण्याज्ञा स्यात्तदा भगवदपेक्षितार्थज्ञाने तद्विशेषगत्यादि कार्यं कर्तव्यम् । नो चेदाचार्याज्ञानुसारेणैव कृतिः कार्या सेवायामितिभावः । ननु साज्ञा कथं ज्ञायते? तत्राहुरन्तःकरणेति । भगवदीयस्यान्तःकरणे गोचरः, साज्ञा भवति, स्वमद्द्वारा ता ज्ञापयतीत्यर्थः । अथवा, एवं सेवाकरणे यतः स प्रभुरन्तःकरणगोचरो भक्तानामन्तःकरणे मनस्यात्मनि वा, अन्तःकरणं ज्ञानादिकार्यकरणं येनेत्यन्तःकरणे आत्मा तत्र स्थितो भवतीति शेषः ॥ ३ ॥

एवं सति तादृशप्रकारेण सेवाकरणे भक्तस्य सर्वांशे आत्मस्वरूपत्वेन भगवानेव स्फुरतीति साज्ञापि ज्ञायत इति। तदा विशेषगतिर्भगवत्स्वरूपलीलयोः सम्बन्धिनी या विशेषगतिः सेवाया ज्ञाता भवेत्, तदादि सर्वं स्नेहभावेन भाव्यं कर्तव्यं, नो चेदाज्ञानुसारेणैवेत्यर्थः । एतदेव "सेवाकृतिरि"तिश्लोके निरूपितं भक्तिवर्धिन्यां[1] । ननु कदाचिल्लौकिककार्येष्वपि भगवदाज्ञा विशेषेण भवेत्तत्राहुर्भिन्नमिति । दैहिकाद्देहसम्बन्धिपुत्रादिविवाहोपनयनरूपात्क्रियं यथा भवति तथाज्ञा भवति, न तु लौकिककार्ये विशिष्टाज्ञा । तेन लौकिकं तु सर्वसमर्पणानन्तरं सर्वस्य वदीयत्वानुसन्धानेन तत्प्रसादत्वेन तावन्मात्रमेवावश्यकं यत्कर्तव्यं, न तु विशेषोत्साहेन धनादिव्ययादिकं कर्तव्यमपि त्यादिरूपः षष्ठो विवेको निरूपितः । अथवा, भिन्नमिति विशेषगत्यादिविशेषणम् । तेन दैहिकाद्भिन्नविशेषगतिविवरणकथनेन विशेषाज्ञापि दैहिकविषयिणी न भवत्येवेत्युक्तं भवति, अनर्थरूपत्वात् ।

---

१ मनेदिति पाठः ।

ननु सेवायामपेक्षितधनादिसाधनाभावे सा कथं निर्वहति? तदा ऋणादिकमपि कृत्वा सामग्र्यादिकं कार्यं (सम्पादनीयं) न वेति, तत्राहुरापद्गत्यादीति ।

आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥
अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।
विवेकोयं समाख्यातो धैर्यं तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

आपत्प्राप्तौ यानि कार्याणि भगवद्विषयकाणि, तेषु हठो न कार्यः । ऋणं कृत्वापि मया सर्वं कर्तव्यमेवेति हठो न कार्यः, किन्तु यथालाभसन्तोषेण अयत्नाभावेन यत्सम्पन्नं भवति, तदेव समर्पणीयम्, नान्यत् । मार्गस्थितया यदेव समर्पयिष्यति तदेव साक्षादङ्गीकरिष्यतीतिभावः । एतदेव 'प्राप्तं सेवेत निर्मम' इत्यग्रे वक्ष्यन्ति च । यत्र भगवत्कार्येष्वपि हठो न कार्यस्तत्र लौकिककार्येषु किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायोपि सूचित इति सप्तमो विवेकः ॥ ४ ॥

ननु वैदिकेषु का व्यवस्था? तत्राहुरनाग्रह इति । सर्वत्र स्मार्तश्रौतादिधर्मेषु अनाग्रह एव कर्तव्यः । भगवत्सेवामपि विहाय स्मार्तश्रौतादिधर्माचरणं सर्वथा कर्तव्यमित्याग्रहो न कर्तव्यः । किन्तु भगवदाज्ञया मानमात्रपरकं कर्म सेवानवसरे कर्तव्यमित्यर्थः । चकारात्साक्षाद्भगवत्सम्बन्धिव्यतिरिक्तसर्वेष्वप्यनाग्रह एव कर्तव्य इत्यष्टमो विवेकः । ननु वैदिककर्मस्वनाग्रहः कथं भवेत्तत्राहुर्धर्माधर्मेति । धर्माणां स्मार्तादीनामधर्माणां तत्तदकरणजनितानामग्रदर्शने पर्यवसानविचारः कर्तव्यः, यस्मिन्कृते अधर्मो भवेत् स न कर्तव्य इतिभावः । स्मार्तश्रौतभगवद्धर्मास्तु उत्तरोत्तरबलिष्ठाः, तत्र यथा श्रौतविधौ स्मार्तत्यागे न दोषस्तथा भगवद्धर्मकरणे उभयविधस्यापि त्यागे न दोषः, सर्वाधिकबलवत्त्वादिति विचार्य तद्धर्माणां गौणत्वात्स्वधर्मत्वाभावाच्चानाग्रह एव कर्तव्य इति नवमो विवेक उक्तः । यत्तु कर्मादिकरण तद्भगवदाज्ञया मार्गेऽप्रामाण्यशङ्काभावायेति ज्ञेयम् । एवं भगवत्सेवाविषयकविवेकाननुक्त्वोपसंहरन्ति विवेकोयमिति । भगवत्सेवायां मद्भक्तस्यायं विवेकः सम्यक्प्रकारेण विस्तरेण आख्यातः । एतादृशविवेकेन भक्तस्य सेवानिर्वाहो भविष्यतीति भावः । एवं विवेकेन सेवायां महत्त्वस्य बहिर्भजनसिद्धिमकारसुरन्ता धैर्यं विना सेवा न सिद्ध्येदिति मुख्यमान्तरमिति तत्सिद्ध्यर्थं धैर्यं निरूपयन्ति धैर्यमिति । पूर्वमपि "चिन्तोद्वेगादि"त्यादिना धैर्यं निरूपितं, साम्प्रतन्तु विशेषेण निरूप्यत इति विशब्दार्थः । तुशब्दः धैर्योपक्रमज्ञापकः ॥ ५ ॥ तल्लक्षणमेवाहुः त्रिदुःखमिति ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।
तक्रवद्देहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

त्रयाणामाधिभौतिकादीनां दुःखानां सहनं धैर्यमुच्यते, तत्र देहसम्बन्धजनितं दुःखं भौतिकं, कामादिजनितमिन्द्रियसम्बन्धि तद् आध्यात्मिकं, परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा भगवत्कृतं भगवद्दर्शनस्यापेक्षितकरणविलम्बजनितं तदाधिदैविकम् । तेषामसहने चित्तव्याकुलतया सेवा न सिद्ध्येत्तदभावे सेवकस्य स्वधर्महानिरेवेति सेवासिद्ध्यर्थं तत्सहनमेव कार्यमिति धैर्यमुक्तम् । तदप्याप्तेः मरणपर्यन्तं, अथवा यावदायुरपि चेद्रूपेक्षावदपि धैर्यमेवै रक्षणीयम्, न त्वन्तर्निष्ठा हेया । तदपि सर्वतः देहेन्द्रियादिसर्वसम्बन्धिष्वप्येकस्य द्वयोर्वा सहनं यथास्ति, किन्तु सर्वतः । तदपि सदा निरन्तरं तत्सहनमिति धैर्यलक्षणमुक्तम् । अतः परं देहाभिमानस्य विद्यमानत्वाद् दुःखसहनं दुष्करमिति दृष्टान्तेन तदभिमानाकर्तव्यत्वनिरूपणात् तदुपपादयन्ति तक्रवदिति । तक्रं यथा निःसारं भवति हेयत्वेन तत्र नाभिमानः । कदाचित्तन्नाशेऽपि न दुःखं भवेत् । नवनीतन्तु तत्सारं तत्राभिमानो जायते तन्नाशेऽपि दुःखमिति तद् गृह्यते, तथा देहादिषु तत्सम्बन्धिषु च निःसारत्वेन हेयत्वबुद्ध्या तत्राभिमानस्त्याज्यः । तत्त्यागेन तत्कृतमानापमानदुःखेष्वपि अभिमानत्यागेन दुःखं न भविष्यतीत्याशयेनोक्तं तक्रवद्देहवदिति, तक्रवद्देहवत्ता देहादिषु तत्सम्बन्धिषु च भाव्यमिति । अनेन भगवत्सम्बन्धिकार्येष्वेव नवनीतवदभिमानो रक्षणीय इति सूचितम् । तेन भगवदीयानां प्रभुसेवाकरण एव सुखं, तदभावे दुःखम् । न तु देहादितत्सम्बन्धिकृतं तद्भवतीति ज्ञापितम् । एवं भौतिकदुःखसहने दृष्टान्तं निरूप्याध्यात्मिकतत्सहने दृष्टान्तमाहुः, जडवदिति । आध्यात्मिकं दुःखं इन्द्रियादिसम्बन्धिकामक्रोधादिजन्यम् । तत्सहने जडस्य भावना कार्या । जडस्य यथा सकलेन्द्रियाणां भगवद्भावाविष्टत्वाद् न तदिन्द्रियजन्यदुःखमानम्, जडत्वं च जातम् । तथा सेवायां महत्त्वस्यापि सकलेन्द्रियाणां तदीयात्वानुसन्धानेन स्वाभिमानाभावात् भगवत्त्वेन विनियोगकरणे निरन्तरं तत्सेवागुणकीर्तनस्मरणावेशेन न कामादिजनितदुःखं भवेदित्याशयेनोक्तं जडवदिति । एवं सति यावत्पर्यन्तं जडवद्भावनया निरन्तरं भगवदाविष्टत्वं भवेत्तावत्पर्यन्तं तत्तदिन्द्रियदुःखसहनेन सेवा कार्या । न तु विषयभोगादिकं कार्यमिति । अतितुच्छत्वात्तदावेशेन भगवदावेशाभावाच्च । एवमाध्यात्मिकं निरूप्याधिदैविके दृष्टान्तमाहुर्गोपभार्यावदिति । प्रारब्धभोगार्थं परीक्षार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते तदा गोपभार्याणां भावना कार्या । यथान्तर्गृहगतानां जारत्वबुद्धिहेतुकप्रारब्धभोगार्थं विलम्बः कृतस्तद्भोगानन्तरं तत्प्राप्तिर्जाता तथा ममापि प्रारब्धभोगानन्तरं भगवान् दास्यत्येवेति धैर्येण दुःखं सोढव्यमितिभावः । अत एवाप्तेरित्युक्तम् । तासां गुणमयदेहत्यागानन्तरमेव फलं

१ तदपि सहनमेव कर्तव्यमिति पाठ क्वचित्के ।

जातमिति तद्वदत्रापि परीक्षार्थं चेद्विलम्बते, तदा तद्व्यतिरिक्तानां भावना कार्या । यथा तासां रासारम्भे आगमनानन्तरं निषेधवाक्यश्रवणेपि यज्ञपत्नीवदन्यथाभावो न जातः, किन्तु स्वापेक्षिताभावजनितदुःखभरेण स्थाणुवत्स्थितानां व्याकुलसकलेन्द्रियाणामपि तद्दुःखं सोढ्वा धैर्यमवलम्ब्य तच्छरणागतिभक्तिमार्गानुसार्युत्तरदानमेवाभूत्, न तु गृहादिषु प्रत्यागमनेच्छा जाता । तथात्रापि तादृग्भावनया विलम्बजनितदुःखसहनेन निरुपधिस्नेहेन मार्गस्थितौ भगवान्फलं दास्यतीतिदुःखं सोढव्यमित्युक्तं गोपभार्यावदिति । किञ्च, गोपानां भार्याः, भार्यापदेन भर्तुं योग्या यद्यपि तथापि तासां तत्कृतभरणपोषणादिकं नापेक्षितं किन्तु भगवत्कृतमेव । भगवत्कृततदभावे तासां जीवनमेव न भवति । यतस्तदुपयोगाभावे सर्वमेव भरणपोषणादिसाधनं गृहादिकं त्यक्तं भवति । एतदुपयोग एव तद्योग्यत्वेन गृहीतो भवतीति । तथा प्रभुविलम्बकरणेपि तद्व्यतिरिक्तदेहादिसम्बन्धि पूर्वोक्तं किमपि न भावनीयं, किन्तु प्रभुः मम भरणपोषणादिकं करिष्यत्येवेतिनिश्चयेन धैर्येण स्थातव्यमिति गोपभार्यापदेन ज्ञाप्यते । किञ्च, श्रीमदाचार्याणां साक्षात्पुरुषोत्तमास्यत्वेन तदुक्तवाक्यानामुपनिषद्रूपत्वादत्र भार्यापदे ह्रस्वश्छान्दसो ज्ञेयः । स्वकीयानामेतादृश्येव बुद्धिर्भविष्यति, परन्तु कस्य सिद्धान्तस्याशङ्का भवेत्तदभावार्थं पक्षान्तरमुच्यते । यद्वा, गोपानां भार्यः भरणपोषणयोग्यः, अर्थाचेषामेव भार्यजन इति यावत् । यद्वा, गोपभार्यः भार्याणां समूहो भार्यः, गोपानां भार्यस्तत्समूह इत्यर्थः । एवं दृष्टान्तत्रयभावनया तत्तद्दुःखसहनेन कायमनोवाक्त्रयशुद्धिर्भवेत् । तथा च देहसम्बन्धिभौतिकदुःखसहने प्रथमं सेवायां प्रवृत्त्या कायिकी भक्तिर्भवेत्, इन्द्रियसम्बन्ध्याध्यात्मिकदुःखसहने मनो भगवन्निष्ठं भवेदितितत्त्वपत्तिः । ततो भगवत्सम्बन्धितत्सहने भगवत्कृतविलम्बस्य विरहात्मकत्वेन तत्स्वभावात् निरन्तरं गुणगानकरणे वचोपि तन्निष्ठं भवतीति त्रिधा प्रपञ्चनिरूपिता । अत्रेदं ज्ञेयं, देहेन्द्रियादिसम्बन्धिनश्चेत्प्रतिकूला भवन्ति, तदा सेवान्तरायत्वेन तेषां परित्यागः कर्तव्य इति सेवाप्रकरणे तत्त्वार्थदीपे निरूपितं "भार्यादिरनुकूलश्चे"दिति, तेन तत्त्यागे स्वोपयोगाभावाचे तिरस्कारादिकं कुर्वन्तीति लोके दृश्यते । तथा सति भगवदीयस्य तु तेषु कोपादिकरणे बाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिबन्धो भवेदिति तत्सर्वं प्रभुसेवार्थं सोढव्यमित्यत्र तत्सहनमुक्तमन्यथा तदभावे दुःखस्यैवाप्रातत् किं सहनं स्यादिति भावः ॥ ६ ॥

ननु तिरस्कारादिना ते चेद् दुःखं न प्रयच्छेयुस्तदापि किं तेषां त्याग एव कर्तव्य इति चेत्तत्राहुः प्रतीकार इति ।

प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७

भगवदिच्छया प्रतीकारः सिद्धश्चेद्भार्यादयो ह्यनुकूला उदासीना वा भवेयुस्तदा तत्त्यागे आग्रहवान् न भवेत्किन्तु अनुकूलत्वे भार्यादिभिरपि सेवां कारयेदुदासीनत्वे स्वयं कुर्यात्। परन्तु तेषां तथापि योगक्षेममात्रं कर्तव्यं न तु त्यागः। प्रतिकूलत्वे त्याग एव कर्तव्य इत्याशयेनोक्तं नाग्रहो भवेत्। प्रतिकूलत्वाभावेपि सर्वथा त्याग एव कर्तव्य इत्याग्रहवान् न भवेत्। हठेन त्यागकरणे समीचीनानामपि भार्यादीनां क्रोधावेशेन स्वाक्षिप्तविक्षेपकर्तृत्वं संभवतीति तेन सेवायां प्रतिबन्धकः स्वयमेव भवतीति तत्र कर्तव्यमितिभावः। भौतिकदुःखप्रतीकारे परमियं व्यवस्था। आध्यात्मिकदुःखप्रतीकारेपि व्यवस्थोच्यते। सकलेन्द्रियाणां स्वस्वविषयभोग्यवस्तुत्यागे दुःखं भवति। तद्भगवदिच्छया स्वभोगार्थं तेषु पुरैव प्रवृत्तिरेव न भवेत् चेत्तदा तज्जनितसेवान्तरायाभावात्तत्त्यागे आग्रहवान् न भवेत्। यतस्तादृशस्य स्रक्चन्दनादिसकलभोगसामग्री स्वप्रभुनिमित्तत्वेनावश्यमपेक्षितेति तदुपयोगे जाते तदचनमहाप्रसादत्वेन स्वसौभाग्यरूपत्वेन तदुपभोगकरणे बाह्याभ्यन्तरशुद्ध्या भगवद्धर्माविष्टत्वं भवतीति न तत्त्यागः। एवं सति विषयभोगार्थं सर्वस्यापि त्यागस्तदभावे तस्यालौकिकत्वे फलरूपपातित्वान्न तत्त्याग इति सूचितम्। इदमेवोक्तं सेवाफले, 'अलौकिकभोगस्त्वि'त्यादि, आधिदैविकदुःखप्रतीकारव्यवस्थामाहुः। प्रारब्धभोगानन्तरं परीक्षानन्तरं वा भगवान् कृपया सेवोपयोगि धनादिकं दातुमिच्छेच्चेत्तदा साक्षात्परम्परया च तदिच्छया स्वप्रयत्नं विनैव तत्प्राप्तं भवति, तदपि निरुपाधिकं विहितं शुद्धं चेद् भवेत्तदा तत्त्यागे आग्रहो न कर्तव्यः। जन्मान्तरे प्रतिबन्धाभावार्थं मम प्रारब्धादिभोग एव भवतीति, प्रारब्धस्यापि तदधीनत्वात्। किन्तु भगवता स्वोपभोगार्थमेवेदं दत्तमिति मत्वा सर्वं भगवदर्थमेवोपयोक्तव्यं न तु स्वार्थमिति भावः। तथा चोक्तमपि, 'निजेच्छातः करिष्यती'त्यत्र स्वीयानामविकृतेच्छात इति। सिद्धान्तमुक्तावल्यामपि 'भजनोपयोग्यर्थापेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पाद्यत इति, तथा "कृष्णं परं ब्रह्म"त्यस्य विवरणे। एवं सामान्यत आधिभौतिकादिदुःखसहनमुद्देशत उक्तम्। अतः परं देहादिसम्बन्धिनः क इत्याकाङ्क्षायां प्रथमं देहसम्बन्धिनो विशेषत आहुः भार्यादीनामिति। भार्यादयो भरणपोषणयोग्यास्ते देहसम्बन्धिषु स्वसमानास्तेषां भरणपोषणमेवापेक्षितं न तु धर्मः, भरणपोषणं नाम सर्ववस्तुनो देहादिपर्यन्तस्य स्वविषयको विनियोगस्तदकरणे तेतिक्रमं कुर्वन्ति, तदा तत्सर्वं सहनमेव कुर्यान्नतु क्रोधादि, तत्करणे तदावेशेन सेवान्तरायो बाहिर्मुख्यं स्यादिति। तथान्येषां बान्धवानां मित्रादीनामुदासीनानां बहिर्मुखानां च पूर्वसाम्पायिकनित्यमिलनव्यवहाराकरणेनेर्ष्यया तेप्यतिक्रमं कुर्वन्ति, तत्रापि सहनमेव कर्तव्यम्। अथवा भक्तत्वेपि बान्धवानां बन्धुत्वस्वभावाद् विभागादिजनितद्वेषेणापि अतिक्रमः सम्भवति। अत्र च, असत्सङ्ग स्वदासतोपि, यथा भार्यापुत्रादयो देहसम्बन्धिनस्तथा दासो धनसम्बन्धी पोष्येष्वन्तर्भवति, तेषां सङ्गेन

सोपि चेदतिक्रमं कुर्यात्तदपि (दुःखं) सह्यमेवेत्यर्थः। एते तु प्रतिकूला धर्मविरोधिन उक्ताः। चकारात् स्वधर्मानुरोधिनः शिष्यभक्तादयोपि ज्ञेयाः। प्रमादतो जीवस्वभावात् शिष्योप्यतिक्रमं चेत्करोति, भक्तोपि वदा स्वप्रारब्धादिभोग एवायमिति भावनया धैर्येण तद्दुःखसहनमेव कर्तव्यं, न तु क्रोधादि। क्रोधादिकरणे तु आसुरावेशेन सेवाप्रतिबन्धो बाहिर्मुख्यञ्च स्यात्। किञ्च, शिष्यभक्तयोरपि प्रभुसम्बन्धो वर्तते इत्युक्त एव, पुनस्तत्र क्रोधकरणे तदनिष्टं कृतं भवेत्, न हि भगवदीयानामयं स्वभावो यत् (स्वकीयानां) स्वाङ्गीकृतानामनिष्टं कुर्वन्ति इति तत्सहनमेव कर्तव्यमिति भावः।

एवं सेवाप्रतिबन्धकत्वेन भार्यादीनां त्यागेन तत्कृतातिक्रमसहनं निरूप्य सेवाप्रतिबन्धकत्वेन भोगत्यागेपि तत्तदिन्द्रियजनितस्याध्यात्मिकदुःखस्य सहनमाहुः स्वयमिति।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत्।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥८॥

स्वयं स्वभोगार्थं इन्द्रियकार्याणि त्यजेत् सेवायां प्रतिबन्धकत्वात्। तानि च त्रिधा, कचित् कायिकानि, कचिद्वाचिकानि, कचिन् मानसानि भवन्ति। तत्त्यागकथनेन प्राकृतविषयास्त्यागविषयाऽलौकिकेषु तेषु तानि योजनीयानीति भावः। एवं सति यावत्पर्यन्तमलौकिकेषु युक्तानि भवेयुस्तावत्पर्यन्तं तत्त्यागजनितदुःखं भवतीति तत्सहनमुक्तमिति ज्ञेयम्। एवमाध्यात्मिकं निरूप्याधिदैविकं तदाहुरशूरेणापीति। प्रारब्धभोगार्थं परीक्षार्थं वा विलम्बकरणे स्वापेक्षितवस्तुप्राप्त्यभावाद्दुःखं सोढुं यद्यप्यशूरो धैर्यरहितः, यथा दरिद्रः प्राप्तधिक्रमस्याभावे, तथाप्यशूरेणापि तद्धैर्यं कर्तव्यम्। तत्र हेतुः, स्वस्येति। स्वस्यासामर्थ्यं भावनीयं, पूर्वोक्तदुःखसहने स्वप्रयत्नोप्युक्तः। भगवत्कृतविलम्बे प्रयत्न एव न, तत्करणेपि विघ्नः प्रभुकृतो भवेदिति, स्वप्रयत्नसाफल्याभावात्। स्वस्यासामर्थ्यभावनया 'तथैव तस्य लीलेत्य'नुसन्धानेन धैर्यमेव कर्तव्यमितिभावः।

ननु स्वशक्यमपि पूर्वोक्तदुःखसहनमशक्यं, इतरतरां यत्र स्वस्य सामर्थ्यमेव नास्ति तत्सहनमिति किमर्थमशक्योपदेश इत्यत आहुरशक्य इति।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत्।

एतत्सहनमत्रोक्तम्,

सेवायां प्रवृत्तस्य विवेकधैर्यादिरियमशक्तिर्भवेत्तदा हरिरेव शरणमस्ति नान्य इति मनसि भावनीयम्। विवेकधैर्यादिसम्पादनकरणेपि चेदशक्तिस्तदा तदर्थं प्रभुशरणगमने दयया स एव सर्वं सम्पादयिष्यतीति भावः। यतः हरिः सर्वदुःखहर्ता, तदेवाहुः सर्वमाश्रयत इति। आश्रये कृते सर्वं सेत्स्यति। अशक्यमपि शक्यं भवेत्। विवेकोपि भविष्यति, धैर्यमपि भविष्यतीति भावः। यद्वा, तस्मिन्कृते सर्वं स्वशक्यं सर्वथा

यदशक्यं च तत्सर्वं भवेदन्यथा तदभावे स्वशक्यमपि न भवेदित्यर्थः । किञ्च, प्रयत्नरूपेऽपि तदेव सिद्ध्येन्नत्वन्यत् । निःसाधनत्वेन शरणागतौ तत्कृपया सर्वं युगपदेव सिद्ध्येदित्यपि ज्ञापितम् । अनेन सर्वसिद्ध्यर्थमाश्रय एव कर्तव्यो नान्यत् किञ्चिदिति निश्चितम् । एतदेवोक्तं कृष्णाश्रये 'विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्ये'ति । एवं धैर्यलक्षणमुक्त्वोपसंहरन्ति एतदिति । अत्र भक्तिमार्गे पूर्वोक्तप्रकारेणोक्तं मद्वचनस्वरूपमेवम् । अतः परमाश्रयो निरूप्यते ।

आश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

निनरां विशेषेण रूप्यते स्वरूपतः कथ्यत इत्यर्थः । यद्वा, यत एतद्विवेकादिकं सर्वमाश्रयं विना मशक्यमत आश्रयो निरूप्यते । यस्मिन्कृते सर्वं भवतीति प्रथमं समुदायेनाश्रयस्वरूपमाहुरैहिक इति । भक्तिमार्गाङ्गीकृतस्य सेवायां प्रवृत्तस्य प्रभुसेवाव्यतिरिक्तकर्मकरणस्यास्वधर्मत्वेनैवैहिकपारलौकिकसाधनकरणाभावात् सेवायामप्यन्तरायबाहुल्येन तथात्वाभावाच्च तदुभयमपि कथं सेत्स्यतीति तत्सिद्ध्यर्थं शरणमेव सर्वात्मना भावनीयं न तु सेवां विहाय किञ्चित्साधनान्तरं कार्यम् । शरणगतौ प्रभुः स्वयमेव सम्पादयिष्यति । यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता, स्वकीयानां निरुपधिभगवत्सम्बन्ध्यपेक्षिताभावजनितदुःखं हरिष्यत्येवेति भावः ।

एवं समुदायेनाश्रयमुक्त्वा तत्रापि प्रत्येकभेदेन विशेषत आश्रयस्वरूपमाहुर्दुःखहानाविति ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामार्थपूरणे ॥ १० ॥
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

भक्तिमार्गीयस्य सेवायां प्रवृत्तस्य पूर्वोक्तदेहेन्द्रियादिसम्बन्धरूपाधिभौतिकादिदुःखहानौ धैर्येण तत्कृतचित्तोद्वेगाद्यभावार्थं शरणमेव भावनीयं, तेनैव सर्वं सेत्स्यतीति प्रत्येकं तत्तत्कार्ये भावनीयमित्यर्थः । तथा पापे पापनिवारणे पूर्वसामयिके प्रमादाज्जायमाने च, सेवायां भगवद्विषयके देहेन्द्रियादिभगवदपराधादिरूपे च तदेवोक्तं "अहं त्वां सर्वपापेभ्य" इति । न तु तदर्थं प्रायश्चित्तादिकं कर्तव्यं, तत्करणे शरणधर्मो गच्छेदित्यर्थः । तथा भये राजचौरादिजनिते, पापादिविषये प्रभ्वपराधविषये च आधिभौतिकादित्रयं सर्वत्र ज्ञेयम् । कामार्थपूरणे इति । कामनाभिप्रायाणां येषां पदार्थानां, ऐहिका भगवत्सम्बन्धिनश्च । तत्राप्यैहिकं द्विविधं, दैहिकमैन्द्रियकञ्च, तत्पूरणे च, तत्रापि विशेषमाहुर्भक्तद्रोहे इति । प्रमादतो जीवस्वभाववशाद्भक्तस्य द्रोहे जातश्चेत् सोपरायः

केनापि दूरीकर्त्तुं न शक्यते मर्यादायामपि, किं पुनः पुष्टिमार्गे । यथा दुर्वाससोऽम्बरीषविषये तपास्यापि । तथा सम्भवे शरणमेव भावनीयं नतत्वन्यत् । भक्त्यभावे सेवायां महत्त्वस्यापि स्वस्ये खेदो न जायते, तदर्थं भक्तैश्च स्वस्यातिक्रमे कृते सति, नहि भगवदीयानामयं स्वभावो यन्निमित्तं विना यस्य कस्याप्यतिक्रमं कुर्वन्ति । तत्करणे तु स्वदोषमेव विचार्य शरणं भावनीयं तद्दोषनिवृत्त्यर्थम् । किञ्च, अशक्ये चेति । स्वस्य कर्तुमशक्ये कार्ये शरणं भावनीयम् । अशक्य इत्युक्ते शक्यत्वे स्वयमेव कार्यमिति न ज्ञेयं, तत्राहुः सुशक्य इति । सर्वथा शरणं हरिः । स्वस्य सुकरं शक्यमपि, तथापि शरणमेव भावनीयं, प्रभुस्मरणेनैवेदं सिद्धं नान्यथेति । प्रभोर्विपातकरणे स्वस्य सामर्थ्याभावात्स्वकृतेनाभिमानाच्छरणधर्मोऽपि गच्छेदिति सर्वात्मना तदीयत्वानुसन्धानेन शरणमेव भावनीयम् । यतः प्रभुः हरिः सर्वदुःखहर्ता अशक्यादिदुःखं हरिष्यत्येवेत्यर्थः । अथवा, अशक्ये भगवत्सम्बन्धिनि साधनासाध्ये, सुशक्ये साधनसाध्ये लौकिकेऽपि तदेव भावनीयं, न तु स्वप्रयत्नः कर्त्तव्यः, तत्करणे शरणधर्मो नश्येदिति ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

किञ्च, अहङ्कारकृते चैव जीवस्वभाववशात्केनापि उदासीनेन भक्तेन च सहाहङ्कारः कृतस्तदा तेनासुरावेशो भवत्येवेति, पश्चाद्विवेके जाते पश्चात्तापो जायते मयाऽसमीचीनं कृतमिति, तद्दोषपरिहारार्थं शरणमेव भावनीयम् । यद्वा, प्रभुकृपाभरेण मौढ्या प्रभुणा सहैवाहङ्कारः कृतस्तदापि दोषपरिहारार्थं तदेव भावनीयम् । किञ्च, पोष्याणां पोषणं रक्षणं च, तत्करणेऽपि तदेव भावनीयं, न तु प्रयत्नः कार्यः । पोष्यातिक्रमणे चैव । पोष्यादीनां भार्यादीनां चकाराद्न्येषां बन्धुदासपर्यन्तानामप्यतिक्रमे, तथान्तेवासी स्वशिष्यस्तत्कृतेऽप्यतिक्रमे शरणमेव भावनीयं, न तु क्रोधादिकम्, तत्करणे आसुरावेशसम्भवात् । किञ्च, तदुपरि स्वस्य क्रोधकरणे शिष्यस्यानिष्टं भवेत् इति सुकृतिना नायं स्वभावो यदहीकृतं त्यजन्तीति । तस्य दण्डादिकं प्रभुरेव करिष्यतीति तत्राभिमानेन न स्वधर्महानिः कार्येति भावः ॥ १२ ॥

ननु प्राकृतानां चित्तादीनामप्यासनिरचिरतिकठिना, तदभावे सर्वमेव कठिनमिति चेत्तत्राहुरलौकिकेति ।

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्थे शरणं हरिः ।
एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

मन इत्युपलक्षणम् । किन्तु सर्वेषां देहेन्द्रियादीनां प्राकृतांशनिवृत्त्या यथा अलौकिकत्वं भवति तत्सिद्धौ तदनन्तरं सर्वार्थेऽलौकिकमन्यत्सर्वमप्यपर्यमपि हरिरेव

शरणं भावनीयो नान्यत्, तदेवाहुरेवमिति । एवं प्रकारेण चित्ते ज्ञानरूपे, न तु जडे, सदा निरन्तरं भावना कार्या । अथ च वाचापि परितः कीर्त्तयेन्निरन्तरं मुखेन कथयेदित्यर्थः । क्षणमात्रास्मरणे वदैवासुरभावप्रवेशः इत्यादिष्वुक्तं सदेति । चित्तस्य ज्ञानरूपस्याभावेऽपि कीर्त्तनस्यावश्यकमिति कीर्त्तनमुक्तम् । एतदेवोक्तं नवरत्ने 'तस्मात्सर्वात्मने'त्यत्रा'न्तःकरणे तथाभावेऽन्यथाभावे वा वदनमावश्यकमि'ति । यद्वा, चकारात् कायेन सेवापि कर्त्तव्या, मनसा भावना, वाचा कीर्तनमिति त्रिविधापि प्रपत्तिर्निरूपिता । एवं सति सर्वमेव पूर्वोक्तं शक्यं भविष्यतीति भावः ॥ १३ ॥

नन्वेवमपि सति महत्यशक्य एवार्थे हरिः शरणं भावनीयः स्वशक्यार्थे भगवति भारः किमर्थं देय इति तदर्थं देवान्तरभजनं चेत् कुर्यात्तत्राहुरन्यस्येति ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।
प्रार्थनाः कार्यमात्रेऽपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अन्यस्य देवान्तरस्य भजनं स्वतस्तदर्थं गमनमपि वर्जयेन्न कुर्यात् । चकारादन्यप्रेरणयापि तत्र न गच्छेत् । यदि न वर्जयेत्तदा शरणशब्दार्थो गच्छेदित्यर्थः । इदमेवोक्तं 'न्यासादेशेषु'इत्यत्र 'मद्धितरभजनापेक्षणमि'ति । ननु प्रभौ प्रार्थनाया अनुचितत्वात् कदाचित्तदार्यापेक्षायां देवान्तरादौ प्रार्थना मात्रं कुर्यान्न तु भजनगमनादिकं तत्राहुः प्रार्थना इति । यथा अन्यस्य भजनगमनादिकं न कुर्यात्तथा कार्यमात्रे महति स्वल्पेऽपि वा प्रार्थना अपि विवर्जयेत् । विशेषेण सर्वथा न कुर्यात्, कापि प्रार्थना न कार्येति बहुवचनमुक्तम् । * अत्र केचन पूर्वपक्षं कुर्वन्ति, प्रार्थनारहिता न केऽपीति, यतो लौकिकं पारमार्थिकं वा सर्वेषां प्रार्थनीयमस्ति । परमविरक्ता अपि पारमार्थिकं प्रार्थयन्त्येव । केचन मुक्त्यादिकमपि न वाञ्छन्ति, तथापि भगवच्चरणारविन्दानुरागरूपां भक्तिं प्रार्थयन्त्येव । ते तु तादृग्भक्त्युदयानन्तरं किमपि न प्रार्थयन्तीति चेत्तादृशयत्नं परमप्रेमासक्तिव्यसनवन्तो व्रजवासिनस्ते तु स्थले स्थले प्रार्थितवन्तः । अन्ये तु मुक्त्यादिकं प्रार्थयन्ति । व्रजवासिनां तु दानलीलादृष्ट्यादिभिन्नितलौकिकप्रार्थना विद्यत इति तद्रहितभक्तजनाभावात् प्रार्थनानिषेधः कथं क्रियते ? तत्रोच्यते । रे दुर्विदग्ध ! सन्दिग्धमनसैव विदग्धंमन्योऽसि, यतो यद्ब्रह्मादीनां मनसाप्याकलयितुं न शक्यं तत्स्वरूपे ये शुद्धिमन्तः प्रेमासक्तिव्यसनिनः येषां तद्व्यतिरिक्तं लौकिकं पारमार्थिकं वा न किञ्चनास्ति । तेषां लौकिकनिषिद्धप्रार्थनादिकं ब्रवीषि । यद्वै वदसि धार्ष्ट्यैरुक्तं, तत्रोच्यते । एतत्स्वरूपानभिज्ञ ! स्वरूपनिष्ठः सन् शृणु । येषां तदन्तराये त्रुटिर्युगायते तेषां तदन्तरायस्यासहिष्णुत्वात्

* अत्र पूर्वपक्षोत्तरे सम्प्रदायस्थप्राचीनेषु लिखितपुस्तकेषु न स्तः । अर्वाचीनपुस्तकद्वये वर्तेते । अतः केनाप्याधुनिकेन विदुषा क्षिप्ते ते स्याताम् ।

स्वानिष्टे सम्भवे संभवतीति प्रार्थनं व्यसनस्वभावेन न तु स्वानिष्टं भवतीति कुतो लौकिकनिमित्तप्रार्थनसम्भावनापि । यद्यपि तादृशानां मध्ये अनिष्टं न सम्भवति, तथापि तत्र क्रीडारसावेशेन यत्किञ्चिदपि प्रभौ स्वसाम्याधिक्यज्ञाने तन्निरोधार्थं प्रभुणैव क्रियत इति ज्ञेयम् । अन्यथा तन्निरोधो विशेषरसानुभवश्च न भवेत् । एतदेव दावानलप्रस्तावे गोपेषु भगवति लौकिकभानेन स्वसाम्येनैव क्रीडासक्तेषु, गोषु च तृणलोभेन भगवन्तं विस्मृत्य वनगह्वरं प्रविष्टासु मपचिहीनैः सह भगवत्क्रीडा न भवतीति तन्निरोधार्थं प्रभुणैव वनाग्निरुत्थापितः । अन्यथा तादृशप्रभुक्रीडायां विघ्नकरणे कः समर्थः । अत एव तत्प्रपत्त्यनन्तरमेव तस्य या शान्तिः कृता सापि प्रभुणैव कृता न तु साधनैः । तत्रैवम् स्वीयत्वं ज्ञापनाय, इतरप्रकारे स्वीयत्वाभावात् । अग्रे तैरपि तथैव विज्ञापितम् तद्यथा, 'नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुं, वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः' इति । अस्यार्थस्तु ये केवलं त्वद्बान्धवा एव तेपि नावसीदन्ति, किं पुनः प्रपन्ना इति । स्वप्रपत्तिं ज्ञापयन्ति वयमिति । अत्रायं गूढाभिसन्धिः । केवलं बन्धुत्वेन तत्स्वभावात् कदाचित् स्वसाम्येनापि प्रभुणा सह क्रीडादिकं संभवति, एवमिदं तत्प्रपन्नानामनिष्टकारकं तदस्माकं पूर्वं जातमिति स्वापराधनिवेदनं, तथापि सा क्रीडास्माकं त्वां विना न भवति, किन्तु, त्वया सहैव, त्वद्व्यतिरेकेण जीवनमेव न भवेदिति विशेषणद्वयेन द्योत्यते । अतः सर्वात्मना प्रपन्नानां नो वनाग्निभयं न भवति, किं तर्हि, पूर्वोक्तापराधेन मदनिष्टे सति स्वस्वरूपान्तरायस्तु ततोप्यभूद् इति प्रार्थनमिव कुर्वन्तः स्वापराधं प्रपत्तिं च ज्ञापयन्ति । अत एव पूर्वश्लोके सर्वथा प्रार्थनाया अनौचित्यमित्यभिप्रायेणैव त्रातुमर्हथेत्युक्तं, न तु "त्राही"ति । पूर्वमपि कालियह्रदस्नानानन्तरं दावानलोद्गमे 'न शक्नुमस्त्वच्चरणं सन्त्यक्तुमकुतोभयमि'त्येवोक्तम् । दाहस्तु सोढुं शक्यो न तु चरणवियोग इति विवरणे विवृतं, न हि व्यसनव्यतिरेकेणैवं वचनं सम्भवतीतिभावः । ननु पूर्वमेवं कथमेतादृशी प्रपत्तिर्न कृता तत्राहुः 'सर्वधर्मज्ञे'ति । सर्वं धर्मं त्वमेव जानासि, वयं तु मूढा अतोस्माकं तदुपदेशाभावेन तदज्ञानात् क्रीडारसावेशेन स्वप्रतिपत्तिविस्मृतिर्भवतीत्यर्थः । इदानीं प्रमेयबलादेव तज्ज्ञानं जातमिति सर्वथा प्रपन्नानामस्माकं त्वत्स्वरूपान्तरायो मा भवत्विति स्वरूपाशक्तिस्वभावेनैव प्रार्थनमिव कुर्वन्तः स्वशरणगतिरेव ज्ञापितेति सर्वमनवद्यम् । नन्वेतावदपि प्रार्थितमिति चेदत्रोच्यते । रे कुतर्काभिनिविष्टमते! शृणु । श्रीगोकुलं तु केवलं तदेकपरं, तेषां भावोपि तादृश एवेति तादृशस्य तस्य प्रभुरपि स्वयं तदेकपर एवेत्युभयोः परस्परैकपरत्वमेव लोके ज्ञापयितुं तन्निष्पन्नत्वेन प्रभुणैव तथा प्रेरितं यथा तैः प्रार्थितं, तदनन्तरं सदैव स्वयमेव साक्षात्तन्निवृत्तिं न कृतवानिति न तत्फलप्रार्थनेतिनिर्णयः । प्रकृतेपि प्रपत्त्यभावे कुतोऽपि प्रार्थने तन्न करोतीति स्वस्य तादृशं प्रति तत्परत्वाधान एव ज्ञाप्यत इति भावः । प्रार्थनादिनिषेधस्तु साधनदशायां न तु फलानुभवे । तथा च, श्रीगोकुलं तु फलरूपं फलोपयोगिसर्वरसात्मकं

भगवता स्वलीलार्थं स्वस्वरूपेणैव साक्षात्प्रकटीकृतम् । सा लीला बहिर्लौकानुसारिणी, अन्तस्त्वलौकिकी, बहुप्रयोजनगर्भितेति यथा यथा तत्तद्रसात्मिकास्तादृशा लीला भवेयुः, ततः स्वमाहात्म्यगुणादिकं सर्वजनीनं च भवेत्तथा तथा भगवानेव सर्वं करोति, न तु तेषां तत्स्वरूपव्यसनवतां तदन्यत्किञ्चिदपेक्षितम् । अत एव द्विजपत्न्यनुग्रहं कर्तुं पनसैव तादृशानां क्षुधामुत्पादितवान् । अन्यथाऽऽकस्मिकी तादृशी दुःसहा सा कथमुत्पन्नेव । एवं सति श्रीगोकुले तत्तन्निरोधार्थं सर्वं भगवानेव करोतीति न किञ्चित्पूर्वपक्षावसरः । किञ्च, तेषां स्वरूपापेक्षापि आसक्तिव्यसनस्वभावत एव न तु कृत्रिमा । तादृशी चेद् प्राप्तौ शाम्येत । इयं तु तत्प्राप्तावपि उत्तरोत्तरं वर्द्धत इत्येतस्याः सर्वतो भिन्नैव रीतिर्नान्यमार्गीयपूर्वपक्षादिना खण्डयितुं योग्येति दिक् । किञ्च, प्रार्थनं तु यावन्मनोरथं भवति, प्रकृते मनोरथान्तमानन्दं दत्तवान् इति प्रार्थनानपेक्ष एव सर्वं करोतीति विषयं प्रार्थनं भवेद् । यत्र दृश्यते तत्र हेतुः पूर्वमुक्त एवेति सर्वं सुस्थम् । एवं सति श्रीगोकुलस्वरूपस्थीलाद्भुतानायज्ञानात् तत्प्रार्थनावलोकनेन तदितरस्यापि प्रार्थना कर्तव्येतिपक्षो निरस्तः ।

प्रस्तुतमाहुः । ननु सर्वेषां देवानां धर्माणां च त्यागेन केवलं भगवच्छरणगमनेऽपि को वेद भगवानपेक्षितं दास्यति वा न वेति चेच्चेत्तदुरविश्वास इति ।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

अस्मिन् शरणगमनेऽविश्वासो न कार्यः, यः सर्वथा बाधकः । बाधकान्तरापेक्षयाऽयमधिकबाधक इति सर्वथेत्युक्तम् । यतोऽविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे शरणधर्मो गच्छेद्, इदमेवोक्तम् 'अन्यसंमेलने वा ब्रह्मास्त्रस्याव वक्तं' इति तेन विश्वास एव कर्तव्य इतिभावः । अतः परं विश्वासे फलं अवन्यविश्वासे नेत्यत्र दृष्टान्तं निरूपयन्ति ब्रह्मास्त्रेति । अविश्वासे ब्रह्मास्त्रं भाव्यं भावनीयमित्यर्थः । यथा हनुमद्विषये बद्धमपि तेषामविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे तनो निर्गम्यमानाय यथात्राप्यविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे शरणमन्त्रो यास्यति शरणधर्मो न स्थास्यति स न कर्तव्य इतिभावः । विश्वासे चातको भाव्यः । स्वातिजलविश्वासेन चैत्य तिष्ठति यदा मेघो वर्षत्येव, स च पिबतीतिभावनया विश्वास एव कर्तव्यो नत्वविश्वासः । शरणगतौ विश्वासे भगवान् सर्वं करिष्यतीतिभावः । एवं विश्वासेन शरणस्थितौ भगवदिच्छया प्रयत्नं विना यदेव प्राप्तं भवेदनायासेन स्वल्पमपि तदेव प्राप्य, तत्रापि निर्ममः भगवदीयत्वाभावात् ममतारहितः सन् प्रभुसेवां कुर्यान्न तु स्वीयार्थं यत्नं कुर्यादित्याहुः प्राप्तमिति । निर्मम इतिपदेन तत्सर्वं भगवद्रूपमुक्तमेव कुर्यान्न तु स्वार्थमिति सूचितम् ॥ १५ ॥

ननु धर्मान्तरसम्बन्धे शरणशब्दार्थो भवत्वन्यादृशप्रकारेणौकिकवैदिककर्मणामपि त्यागे कदाचिदप्रामाण्यशङ्का स्यान्मार्गे, तदभावार्थं तत्करणप्रकारमाहुरुपायकथनं विदिति ।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥
एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

यथाकथमपि मार्गे लोकानामप्रामाण्यशङ्का न भवेत्तथोच्चावचान्यावश्यकलौकिकवैदिकसम्बन्धीनि कार्याणि मार्गप्रामाण्यार्थं प्रभोराज्ञां ज्ञात्वा तानि कार्याणि, न तु स्वधर्मत्वेनेति । यथा "करिष्ये वचनं तवे"ति पार्थेन भगवदाज्ञा कृता तथेत्यर्थः । एवं सति शरणपदार्थो न गच्छेत् । इति पूर्वोक्ता शङ्का निरस्ता । तदेवोक्तं, पुष्टिप्रवाहमर्यादायां "लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथे"ति । अथवा, तदर्थमपि कर्माकरणे न दोषः, शरणपदार्थस्यैव तावद्रूपत्वात्तदाहुः किं वेति । बहुना प्रोक्तेन किम्, न किञ्चित्सिद्ध्यति, किन्तु सर्वत्र शरणमेव भावनीयं न तु लोकसङ्ग्रहार्थमपि कर्मकरणम् । तदर्थमपि विधित्वेन कर्मकरणे शरणपदार्थाभाव इति भावः । एतदेवोक्तं 'धर्मसम्मेलनं' चेत्यत्र । एवं सति प्रभोराज्ञां मत्वा कर्मकरणमावश्यकं नान्यथेत्यर्थः । ननु एवं सर्वात्मना हानेन कदाचित्पापं सम्भवेत्तत्राहुर्हरिरिति । स हरिः सर्वदुःखहर्ता तत्सम्भावनायां स एव पापादिकं दूरीकरिष्यतीति भावः । एतत्सर्वं 'सर्वधर्मान्' इत्यस्य निरूपणे व्यासादेशेऽत्र द्रष्टव्यम् । अतः परमुपसंहरन्ति एवमिति । एवं प्रकारेणाश्रयणमाश्रयस्वरूपं प्रकर्षेण साङ्गमुक्तम् । तावता किमिति चेत्तत्राहुः सर्वेषामिति । सर्वेषां जीवानामाश्रयणा वर्णानां सर्वदा क्रियमाणं सत् हितं हितकारि, साधनं विनाप्यैहिकपारलौकिकसम्पत्तिसाधकमित्यतः परं किमवशिष्यते ।

ननु सर्वयुगेषु साधनैरेव फलं भवतीत्यधुना तानि विहाय केवलं शरणमेव कथमुच्यते, तत्राहुः कलाविति ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितो विवेकधैर्याश्रयग्रन्थः सम्पूर्णः ।

अन्ययुगेषु धर्मस्यैव प्राधान्याद्धिंसादीनां साधनसाध्यत्वात् तैरेव विहितभक्त्युपासनाकर्मादीनां फलं भवति । कलौ तु पापप्रधान इति साधनानामसम्पत्तेः हिंसामत्स्यादिमार्गा दुःसाध्याः, प्रत्युत यत् किञ्चित्करणेऽपि पापस्पर्शेन पापमपि जायत इति सर्वथा दुःसाध्याः, यतो यत्र साधनसाध्या अपि भक्त्यादिमार्गाः कलौ दुःसाध्यास्तत्र कृतादियुगेष्वपि यो भक्तिमार्गः साधनासाध्यः केवलभगवदनुग्रहैकलभ्यस्तस्य कलौ सुतरामेव साधनासाध्यत्वेन दुःसाध्यत्वमिति सर्वात्मना शरण-

यतो भगवान् तादृशे भक्तिमार्गेऽप्यनुग्रहं करिष्यतीति, सर्वात्मना शरणमेव भावनीयं, नान्यत्कर्तव्यमिति स्वसिद्धान्तज्ञापनायोक्तं मे मतिरिति। मे मतिरियेव। तेन स्वमार्गीयाणामिदमेव कर्तव्यं नान्यदितिभावः।

श्रीमदाचार्यचरणशरणस्मरणेन मे।
इयायाता प्रणालीयं ग्रन्थस्याश्वानुसारिणी ॥ १ ॥
भक्तिमार्गे स्वकीयस्य दार्ढ्यार्थं सर्वथा इमे।
अपेक्षिता विवेकाद्यास्तेनदर्थं तदाश्रयः ॥ २ ॥
श्रीमदाचार्यचरणैरिति ते वर्णिताः स्फुटम्।
अतस्त एव चरणास्तदर्थं शरणं मम ॥ ३ ॥

॥ इति श्रीघनश्यामात्मजश्रीगोपीशचरणविरचिता
विवेकधैर्याश्रयविवृतिः
सम्पूर्णा ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितश्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीगोविन्दरायात्मजश्रीगोकुलोत्सवविरचिता विवृतिः ।

यत्पादाम्बुजाश्रयादासन् सर्वे पूर्णमनोरथाः ।
तमेव गोकुलाधीशं सर्वसिद्ध्यै समाश्रये ॥ १ ॥

अथ सकलकर्मादिमार्गाधिकारेषु सत्सु भक्तिमार्गानुसारेण भगवदाश्रय एव सर्वपुरुषार्थसाधकस्तदाश्रये च विवेकधैर्ये हेतू । तथाहि । विवेके सति सर्वोत्तमत्वं भगवति ज्ञात्वा तदाश्रयं करोति जीवः । धैर्ये च सति दार्ढ्यं भवति, तेन विवेकधैर्याभ्यामविरतं भगवदाश्रयो भवति तत्र स्वीयानां भक्तिसिद्ध्यर्थं विवेकधैर्याश्रयान् आचार्या निरूपयन्ति विवेकधैर्ये इति ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।
विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

विवेकधैर्ये निरन्तरं रक्षणीये । आश्रयो भगवदाश्रयः सोपि तथा निरन्तरं रक्षणीय इत्यर्थः । एतेषां रक्षणञ्चैतदनुसन्धानपूर्वकमेव तदनुकूलकृतिकरणम् । मुख्यो भगवदाश्रयः । तदङ्गे च विवेकधैर्ये इति ज्ञापनाय विवेकधैर्ययोरेकपदेन निरूपणम् । आश्रयनिरूपणं चान्येन । तत्र विवेकस्य प्रथमोद्दिष्टत्वात्प्रथमं विवेकं लक्षयन्ति विवेकस्त्विति । विवेकस्त्वयमेव, नत्वन्य इत्यन्ययोगव्यवच्छेदार्थस्तुशब्दः । विवेकस्वरूपमाहुर्हरिरिति । हरिः सर्वदुःखहर्ता, तेन यत्करिष्यति तद्रूपमेव करिष्यतीति भावः । तदपि कियत्कार्यं कृत्वा निवर्तिष्यत इति नाशङ्क्याहुः सर्वमिति । निजेच्छातः स्वेच्छातः । तथा च न प्रार्थनीय इत्यर्थः । अत एव प्रह्लादवचने, 'नान्यथा तेऽखिलगुरोर्घटेत करुणात्मनः' । 'यस्तु आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्,' अत एव

'नकारमतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीयाः, येऽन्योन्यतो भागवत-प्रधानाः सभाजयन्ते मम पौरुषाणी'त्यादिवाक्यानि ॥ १ ॥

ननु सेवकैः प्रभुः प्रार्थनीय एवेति चेत्तत्राहुः प्रार्थिते वेति ।

पार्थितेपि ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

प्रार्थितेपि ततः प्रार्थनात् किं स्यान्न किमपीत्यर्थः । तत्र हेतुः स्वाम्यभिप्रा-येति । यतः प्रभोरभिप्रायः पूर्वं ज्ञातुमशक्यः, प्रभुश्च स्वाभिप्रेतमेव करिष्यति । लौकिका अपीश्वराः स्वतन्त्रा भवन्ति किं पुनः सकललोकमहेश्वरः । ननु निजेच्छानन्तरं करि-ष्यति यदि सामग्री सद्घटिता स्यात् । नह्यसम्भृतसामग्रीकः किमपि कर्तुं शक्नोतीति चेत्तत्राहुः सर्वत्रेति । तस्य भगवतः सर्वत्र सर्वस्मिन्नेवोपयोग्येपि देशे सर्वयोनिषु च सर्वं वस्तु सिद्धमेवास्ति, अप्रतिहतेच्छत्वात् । अत एव किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने' इत्यादि । ननु सम्भृतसामग्रीकोपि यदि स्वयमसमर्थः स्यात् तदा कथं कुर्या-दित्यत्राहुः सर्वेति । 'यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरि'तिश्रुतेः । सर्वप्रकारकं सामर्थ्यं विद्यत इति साधनन्यूनत्वे साधनमपि सम्भाव्य फलं दातुं समर्थः । साधनं विनापि फलं दातुं समर्थ इत्यर्थः । अत एव व्रजवासिभ्यो निःसाधनेभ्य एव फलं दत्तवान् । 'तेनाधीतश्रुति-गणा नोपासितमहत्तमाः । अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः । केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसे'त्यादिवाक्यात् । अत एव निर्द्धारक एवकारः । चकारादिच्छापि । नहीच्छां विना कोपि किमपि करोति ॥ २ ॥

भगवद्धर्मान् विविच्य जीवधर्मान् विवेचयन्त्यभिमानश्चेति ।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।
विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

सेवकैः सर्वदा स्वाम्यधीनत्वमेव मनसि भावनीयं दासधर्मत्वात् । ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च स्वाम्यधीनत्वभावनं प्राप्य अभिमानः सर्वथा सम्यक् त्याज्यः । सर्वात्मनस्त्याज्य इत्युपसर्गः । अथवा, लौकिकस्त्याज्यो नत्वलौकिक इति विवेकार्थ-मुपसर्गः । चकारादन्येपि कामक्रोधादयः । ननु भगवदीयानां लौकिकं वैदिकं वा यदि विशेषतः कार्यं कर्तव्यं स्यात् तदा केन प्रकारेण कर्तव्यमिति चेत्तत्राहुर्विशेषतश्चेदिति । यदि विशेषतो भगवदाज्ञा स्यात्, तदा विशेषः प्रकारः सर्वोपि कर्तव्यः । ननु

१ उक्तानिरूपण आवश्यक २ "अनार्याेति" इति पाठः ग पु.

भगवदाज्ञां विना । साप्यन्तःकरणपूर्विका न तु क्रोधेन परिहासेन वा, तदाहुरन्तःकरणगोचर इति । अजहल्लिङ्गमिदं पदम् । तेन लौकिके आवश्यके व्यवहारे नाज्ञापेक्षा, वैदिकेऽपि नित्यकर्मणि वेदरूपसामान्याज्ञयैव तत्करणम् । तस्माद्भगवदीयानां लौकिके वैदिके च विशेषकार्ये कर्तव्ये भगवदाज्ञापेक्षा ।

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।
आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥ ४ ॥

अत एव राजसूयोद्यतेन धर्मराजेन विज्ञापितं 'यज्ञे विभूतीर्भवत' इति । लौकिकेऽपि यावदावश्यकं तावदेव कर्तव्यमधिकन्तु भगवदाज्ञातः । गतिर्गमनम्, तेन विशेषगतिस्तीर्थादियात्रा । आदिपदादन्यदप्यागन्तुकम् । तथा च, यत्किञ्चिदप्यागन्तुकं कार्यं, तत्र भगवदाज्ञापेक्षा । तत्पत्त्यर्थस्य* भूधातोर्ण्यै, तस्य भाव्यमुत्पाद्यतीत्यर्थः । तथा च भाव्यते क्रियत इति भाव्यं कर्तव्यमित्यर्थः । ननु पुत्रादीनामुपनयनविवाहादावाज्ञामपेक्षेत न वेत्याशङ्क्य, नेत्याहुर्भिन्नन्तु दैहिकादिति, दैहिकाद्भिन्नं विशेषकार्यमाज्ञया कर्तव्यं नतु दैहिकमित्यर्थः । तु शब्दः सन्देहवारकः, तेन पुत्रादीनामुपनयनविवाहादिकरणे नाज्ञापेक्षा, किन्तु निर्वाहमात्रं कर्तव्यं । न त्वधिको वृथा व्ययादिः कर्तव्यः । ननु विपदादौ कथं व्यवहर्तव्यमिति चेत्तत्राहुरापद्गत्यादीति । आपद्गतिरापत्प्राप्तिस्तत्र यानि कार्याणि तेषु हठो न कार्यः, किन्तु यथा सौकर्यमेव विधेयम् । आदिपदाद्भगवदाज्ञा, आचार्याज्ञा, भगवदीयानामाग्रहः । तेष्वपि स्वकीयो हठो न कार्यः । ननु विपदादौ हठेऽपि का क्षतिः, भगवतैव तद्धठनिर्वाहात् । न हि भगवान्कदाचिदपि स्वकीयानुपेक्षते, 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति भगवत्प्रतिज्ञानादिति चेत्, सत्यम् । परन्त्वन्यथैव कार्यसम्भवे प्रभौ सङ्कोचदानस्यानुचितत्वात् । हठविषयस्य भगवदनभिमेतत्वे निर्वाहाभावाच्च । ननूक्तमेव यथा भगवान् कदाचिदपि प्रपन्नं नोपेक्षत इति तत्कथमनिर्वाह इति चेत्, सत्यम् । यदि सर्वथा प्रपन्नः स्यात्, परन्तु भगवदनभिमेतस्य करणे प्रपत्तेरेव न्यूनत्वात् । न हि सर्वथा प्रपन्नो यः स भगवदनभिमेतं कदाचिदपि करोति । तेन सर्वथा प्रपत्त्यभावे भागवतोऽपि भवत्वस्य हठनिर्वाहः । नन्वनभिमेतत्वं तेन कथं ज्ञातव्यमज्ञाते तु न तस्य दोष इति चेत्, सत्यम् । तथापि सन्देहेऽपि हठस्यानुचितत्वादित्यलं विस्तरेण । एतत्सर्वमभिसन्धायाहुः सर्वथेति । सर्वथा सर्वैः प्रकारैः । तथा च केनापि प्रकारेण हठो न कर्तव्य इत्यर्थः ॥४॥

एवं भगवत्कृत्येषु विचार्य लौकिकेषु व्यवस्थामाहुरनाग्रहश्चेति ।

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।
विवेकोऽयं समाख्यातो धैर्यन्तु विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

* दैत्यनि च १-१-२६

सर्वत्र लौकिके व्यवहारोऽनाग्रहेण कर्त्तव्यः । किन्त्वौदासीन्येन व्यवहर्त्तव्यं, न केवलमौदासिन्यमेव कर्त्तव्यं लौकिके, किन्तु भक्तिविरोधिलौकिकांशस्य त्यागोपि कर्त्तव्य इति चकारार्थः । किञ्च, धर्माणामधर्माणां च पर्यवसानविचारेण तदनुसारेण व्यवहर्त्तव्यमित्याहुर्धर्माधर्माग्रदर्शनमिति । एके स्मार्त्तधर्मा अपरे श्रौतधर्मा अन्ये भगवद्धर्माः, ते सर्वेपि सम्प्रदायपत्तिभेदेन द्विविधाः उत्तरोत्तरबलिष्ठाः । तत्र स्वाधिकारो विचार्यः । यदि भगवदाज्ञा भवति, तदा सापि विचार्या, भगवदिच्छा च विचार्या, आचार्याज्ञा च विचार्या । तथा च धर्माधर्माणां बलाबलमेतत्सर्वं च विचार्य यथा क्रियमाणे पर्यवसाने उत्तमं भवति तथा करणीयम् । तेनैवं पदयोजनिका । धर्माणामधर्माणाञ्च यदग्रं पर्यवसानं तस्य दर्शनं विचारः कर्त्तव्य इति शेषः । उपसंहरन्ति, विवेकोयमिति । अयमेव विवेको नत्वन्य इति ज्ञापनायायमिति । सविस्तरमवान्तरभेदनिरूपणपूर्वकमिति समिति । आख्यातः कथितः । उद्देशानुसारेण धैर्यं रूपयन्ति धैर्यमिति । विवेकानन्तरं धैर्ये विलम्बो न कार्य इति ज्ञापनाय अव्यधानेन पूर्वोपसंहारोत्तरोपक्रमयोर्निरूपणम् । तुशब्दः प्रकारभेदज्ञापकः विशेषेणविस्तरप्रकारेण निरूप्यते ॥ ६ ॥

धैर्यस्वरूपमाहुस्त्रिदुःखेति ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।
तक्रवद्देहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

त्रयाणामाधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकानां दुःखानां सहनम्, लौकिकायास आधिभौतिको, वैदिक आध्यात्मिको, भगवदर्थ आधिदैविकः । मरणपर्यन्तं सहनमित्याहुराम्रतेरिति । तत्रापि मध्ये मध्ये विच्छिद्य सहनं न साधकमित्याहुः सदेति निरन्तरमित्यर्थः । सर्वस्मात्सहनं न तु तत्र हीनमध्यमत्वादिकं भावनीयमित्यर्थः । अभ्यासनिष्ठचौ धैर्यं सुकरमिति देहाद्यध्यासनिवृत्तिप्रकारमाहुस्तक्रवदिति । देहवदिति, देहवत्ता सह्यानि तक्रवद्भावना कार्या । तथाहि, अत्रैवमाख्यायिका । काचिद्राज्ञी केनचित्पामरेण सम्बद्धचित्ता सती तेन सह सङ्केतं कृतवती राजानमहं मारयिष्यामि, तव भार्या भविष्यामिति । ततः कस्मिंश्चिद्दिने तं स्थापयित्वा स्वभवनमागत्य रात्रौ राजानं हत्वा तद्वनं प्रतिष्ठा । तत्र च पतित्वेन कल्पितं तं पुरुषं सर्पदष्टं दृष्टवती । तदन्तरमितस्ततो भ्रष्टा सती कुत्रचिद्देशे गणिका बभूव । तत्र चाज्ञानात् स्वपुत्रेण सम्भुक्ता । तदनन्तरं च प्रसङ्गात् ज्ञातवती ममायं पुत्र इति । तदनन्तरमत्यन्तग्लानिभाजा शरीरं त्यक्तुं चितां प्रविष्टा । तत्रापि, वह्नितापमसहमाना ततो निर्गत्य कुत्रचिद्देशे कस्यचिद्गोपस्य भार्या बभूव । तत्र च,

१ ग्येनैवेति पाठः ग घ

गोरसविक्रयेण जीविकां चकार । सा नैकदा स्वसमानाभिर्वधूभिः सह तक्रविक्रयाय निश्चक्राम । मध्येमार्गं केनचित्पथ्यूहेन पतितानि सर्वासां भाण्डानि भग्नान्यभवन् । तदान्याश्चुक्षुभुः, सा तु जहास । तदा हसन्तीं तां सर्वाः पप्रच्छुः, कथं त्वं न क्षुभ्यसि किमिति च हससीति ?। तदा सा स्ववृत्तान्तकथनेन पद्येनैकेनोत्तरमदात् । तथाहि,

हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदष्टं देशान्तरे विधिवशाद्गणिकास्मि जाता ।

पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रमि"ति ॥

तद्वाद्युक्तनाट्यादिति । सप्तम्यर्थे वतिः, तेन यथा तस्याख्यके उदासीनभावमात्राभिमानः, तथा सङ्घाते भावनीयमित्यर्थः । इयमाख्यायिकाऽन्यत्र प्रसिद्धेति सुप्रसिद्धपौराणं दृष्टान्तमाहुर्जडवदिति । तृतीये जन्मनि भरतो जडस्तद्वत् यथा सङ्घाते नाभिमानस्तथा भावनीयमित्यर्थः । यथा जडः स्वबन्धुषु सङ्गं स्वतनावुदासीनोऽपि रहूगणे च सङ्गं कृतवान्, तथा श्रीमत्प्रभुचरणारविन्दानुपयुक्तेषु बन्धुष्वपि सङ्गो न कार्यः, श्रीमत्प्रभुचरणारविन्दानुरक्तेषूदासीनेष्वपि सङ्गः कार्य इति जडदृष्टान्तेन सूच्यते । अत एव कर्दमं प्रति विज्ञापयन्त्या देवहूत्या सङ्गो यः 'संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितो धिया । स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते' (भा० ३-२३-५५) इत्युक्तम् । अत एव कपिलदेवेनाप्युक्तम्, 'प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतमि'त्युक्तम् (भा० ३-२५-२०) । अत एव वृत्रेणापि प्रार्थितम्, "ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्य"मिति (भा० ६-११-२७) । यथा च भगवत्पुराणेऽपि जडे भरतस्याश्रीसम्बन्धी विघ्नो न जातस्तथा सर्वेष्वेव भगवदीयेषु देवान्तरकृतो विघ्नो न भवतीत्यपि सूच्यते । अत एव गर्भस्तुतौ, "त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकप मूर्धसु प्रभो' इति देववचनं गीयते । किं बहुना, कालोऽपि न प्रभुत्वं कर्तुमिष्टे । अत एव कपिलदेवेनोक्तम्, "[1]न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मे निमिषो लेढि हेतिरि"ति (भा० ३-२५-३८) । अनिमेषो हेतिः कालः । अत एव यमेनाप्युक्तम् 'ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः । तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे' इति (भा० ६-३-२७) वयः कालः । अत एव द्वितीयस्कन्धे द्वितीयाध्याये । न यत्र कालेति । (भा० २-२-१७) एवं मध्ये सुप्रसिद्धं पौराणं दृष्टान्तमुक्त्वा पूर्वोक्तगोपिकायाः सम्बन्धज्ञापनाय पुनस्तमन्यन्यिनमेव दृष्टान्तमाहुर्गोपभार्यावदिति । गोपेन भ्रियते पोष्यत इति गोपभार्या, तस्या देहस्तत्र यथा तस्या उदासीनबुद्धिस्तथा देहादौ भाव्यमित्यर्थः । ननु तत्र विषयस्योत्काभावरूपनाशरूपविषयस्यौदासीन्यं तस्या आसीदित्युक्तं, परन्तु देहादौ तस्या उदासी-

१ "[illegible]" इति पाठः ।

नभावः कथं निर्धारीति चेत्, सत्यम्, यदि देहादावासक्तिलक्षणः स्यात्तदा तक्रविक्रयेण जीवन्त्यास्तस्या देहादिपोषके तक्रे कथमौदासीन्यं स्यात्? तेन ज्ञायते तस्या उदासीनबुद्धिरेव देहादौ। ननु प्रतिकाराशक्त्या कुतोऽपि शोको व्यर्थ इति शोकं न कृतवती, नत्वनासक्तिर्देहादाविति चेन्नैवम्। प्रतीकाराशक्तिं ज्ञात्वा प्रतीकारोद्यमं मा कुर्यात्, शोकाभावस्तु दुर्निवारः। यो देहो राज्यदशायामनेकदेहपोषकः सर्वसम्पत्तिसम्पन्नः सर्वसुखसन्दोहनिधानमासीत्स एव देहः पश्चात्पामरेण गोपेन पोष्यः, सर्वसम्पत्तिशून्यः, सर्वदुःखनिधानमजनीति ज्ञापनाय गोपभार्यात्वेन निर्देशः। तथा च, यदर्थं धैर्यं त्यक्तव्यं ताः सम्पदश्चञ्चला इव चञ्चला इति। किमिति। सर्वदा स्थायिसकलपुरुषार्थमतिक्षणपोषकं मत्पादपद्मं (कथं) परित्यक्तव्यमितिभावः। तथा च देहवता तक्रवञ्चवद्गोपभार्यावत् स्वदेहादौ भाव्यमित्यर्थः पर्यवसन्नः। देहवता भाव्यमिति तृतीयासमासः। देहवता देहाभिमानवता तेन यत्किञ्चिदभिमानोऽपि संरक्ष्यः। तथा च भगवत्सेवादिविषयकः सर्वथा संरक्ष्यो, लौकिकविषयकस्त्याज्य इति भावः, यद्वा, देहवतेति मनुष्याधिकारकत्वनियमो व्यावर्तितः। तेन पश्वादिशरीरेऽप्येवं भाव्यमितिभावः। अत एव भरतस्य हरिणजन्मन्यप्यध्यासनिवृत्तिः। तदुक्तम्, तस्मिन्नपि कालं समीक्षमाणः सङ्गाच्च भृशमुद्विग्न आत्मसहचरः शुष्कतृणपर्णवीरुधा वर्तमानो मृगत्वनिमित्तावसानमेव गणयन्मृगशरीरं तीर्थोदकं क्लिन्नमुत्ससर्जेति तस्मिन्पुलहाश्रमे। अथवा। त्रिदुःखसहनमिति। भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्त्युपायाकरणेन त्रयाणां कायिकवाचिकमानसिकानां दुःखानां देहपातपर्यन्तं सर्वेभ्यः सहनं धैर्यमित्यर्थः। स्वशरीरस्वीयवस्तुनोरासक्त्याधिक्ये दुःखाधिक्यसम्भवाद्धैर्यमशक्यं स्यादिति तादृश्यासक्तिर्न कार्येति दृष्टान्तैराहुस्तक्रवदित्यादि। जडेन तुल्यं जडवत्, तृतीयासमर्थाद्वतिः। देह इव देहवत्, सप्तमीसमर्थाद्वतिः। जडभरतेन स्वदेह इव देहेऽप्यासक्तिः कार्येत्यर्थः। गोपभार्यावद्गोपभार्यया तुल्यं, गृहे स्थितायाः स्त्रिया भरणीयत्वात्। भार्यात्वाभावाद्वस्तुत्वेन नपुंसकत्वानिर्देशः। तक्रवदिति सप्तमीसमर्थाद्वतिः। गोपभार्यया स्वतक्र इव स्ववस्तुन्यासक्तिः कार्येत्यर्थः। तेन स्वशरीरवस्तुनोर्निर्वाहार्थमासक्तिं कृत्वा जडभरतेनेव भगवत्परतया स्थेयमितिभावः।

ननु यदुक्तं त्रिदुःखसहनं धैर्यमिति तत्र यदि कदाचित् स्वत एव दुःखप्रतीकारः सिद्धस्तदापि किं तं प्रतीकारं निवार्य दुःखं सोढव्यमेवाहोस्वित्प्रतीकारेण तद् दुःखमपोह्यम्? इति सन्देहे निर्णयमाहुः प्रतीकार इति॥

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत्॥ ७॥

यदृच्छातः, अनायासेन चेद् यदि प्रतीकारः दुःखप्रतीकारः सिद्धः सम्पन्नः

स्यात्तदा आग्रही भवेदं दुःखं सोढव्यमेवेत्याग्रहवांश्च भवेत्। इदमत्राकूतम्, अत्र हि भगवदाश्रयसिद्ध्यर्थं विवेकधैर्ये उच्येते। तेन त्रिदुःखसहनरूपं यद् धैर्यं निरूपितं तदपि यदि भगवदाश्रयनिमित्तं तदा कर्त्तव्यं, नोचेत्प्रयोजनं विना किमिति तत्कर्त्तव्यं? 'न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्त्तेत' इति न्यायात्। अत एव केनचिदुक्तम् 'अनिषिद्धसुखत्यागी पशुरेव न संशय' इति। न केवलं प्रयोजनाभावमात्रं, प्रत्युत विपरीतत्वमासुरत्वञ्च। अत एव गीतासु भगवताप्युक्तम्, 'अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपोजनाः। दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः। कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः। मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयानि'ति। यदृच्छात इति, स्वयं तदर्थमायासो न कर्त्तव्य इति सूचितम्। तदर्थमायासकरणे स्वसर्वस्वप्रभुचरणारविन्दविस्मरणं यतः। 'भूमिनिन्दाप्रशंसा नित्ययोगे तिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादय' इति वाक्यात्क्लिन्दायामिति मत्वर्थोऽत्र। तथा चासदाग्रहवांश्च भवेदित्यर्थः। तेनायमर्थः पर्यवसन्नः। यदि किञ्चिदपि भगवतो भगवदीयानां वा कार्यं सिद्ध्येत्, तदा स्वतः सिद्धेऽपि प्रतीकारे दुःखं सोढव्यमेव। तत्राग्रहस्यासत्त्वाभावात्। न हि येन भगवतो भक्तानां वा सेवा सिद्ध्यति, तस्य कदाचिदप्यसत्त्वं भवति। यतो नन्वनो लाभः स एव यद्भगवतो भक्तानां वा कार्यसाधनम्। इदमपि लोकस्यापरिपाकदशायामुच्यते। परिपाकदशायां यथा यथा स्वयं क्लेशं सोढ्वा भगवतो भक्तानां वा साधयति, तथा तथा परमसन्तोष एवेति दुःखमेव नास्ति किं सोढव्यम्?। अभिमानस्यैव संसारत्वादपमानजनितदुःखसहनमतिकठिनम्। तत्रापि स्वापेक्षया हीनैः कृतोपमानसुतरां सोढुमशक्यः। तत्रापि स्वस्वाधीनैः कृतस्ततः सुतरां सोढुमशक्यस्तेन तत्सहने कदाचित्कस्यचिच्छिथिलता स्यादिति "त्रिदुःखसहनमि"ति सङ्क्षेपेणोक्तमपि पुनर्विशेषत माह—भार्यादीनामिति। भार्या आदिर्येषामिति। सर्व एव बान्धवास्तेषामाक्रमं तत्कृततिरस्कारं सहेत्। आसमन्तात्क्रमः पादनिक्षेपः, शिरसि पादप्रहारपर्यन्तमपि तिरस्कारं सहेदित्यर्थः। पुत्रा अपि कदाचिद्विभागादिना स्वतन्त्रा भवन्ति। भार्या तु केवलं भर्त्रधीनैवेति तत्कृतस्तिरस्कारो भर्तुरतिदुःसहस्तादृशोऽपि सोढव्य इति ज्ञापनाय प्रथमं भार्याया निर्देशः। यथैतादृग्दुःसहोऽपि तिरस्कारः सोढव्यस्तदान्यसहने किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायोऽप्यनेन सूचितः। तथा च, प्रभुचरणनलिनयुगलसमाश्रयणाय किं न कर्त्तव्यमिति भावोऽप्यसूचि। यतो ह्याश्रयनिरूपणायैव विवेकधैर्ये निरूप्येते। यद्यप्येकस्य द्वयोर्वा सोढव्यो नास्ति, किन्तु सर्वेषामिति ज्ञापनाय बहुवचनम्। ननु "षह"मर्षणे, इति धातोरनुदात्तेत्त्वात्सहेदिति परस्मैपदं कथं सङ्गच्छत इति चेद्, इत्थम्।

---

१ "क्लन्दे" इति ग ग्रे।

"चक्षिङ् व्यक्तायां वाचो"त्यत्रेकारसत्त्वेपि ङकारग्रहणं यत् , तत् ङितामेवात्मनेपदं नित्यमनुदात्तेतान्तु अनित्यमिति ज्ञापयति । तेन अनुदात्तेतां कदाचित् परस्मैपदमपि भवति, अत एव पण्डितप्रवरेण वोपदेवेन कविकल्पद्रुमधातुपाठे अयम् उभयपदयुक्तः । अत एव महाकविना शाकल्यमल्लेनाप्यधिमत्समेतुमसहन्नुपयन्ताविफलो भवेति प्रयत्नानमशासीदिति प्रयुक्तम् । अत एवानुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः इतिप्रयोगः । ननु उदासीनाश्चेत् केपि तिरस्कुर्युस्तदा किं करणीयम् इत्याशङ्क्य, तत्रापि यदि तदसहने आश्रये कथनान्तरायः स्यात्, तदा सोढव्यमित्याहुस्तथान्येषामिति । यथातिदुःसहोपि बन्धूनां तिरस्कारः सोढव्यस्तथोदासीनानामपि तिरस्कारः सोढव्यः इत्यर्थः । ननु नीचश्चेत् कोपि तिरस्कुर्यात् तदा किं कार्यमित्याशङ्क्य पूर्ववदेवाहुरसत इति । असतो जात्यादिहीनस्येत्यर्थः । यदि भगवत्सेवादिकं निर्वहति तदा तदर्थं म्लेच्छादीनामपि तिरस्कारः सोढव्यः इत्यर्थः । न केवलं तेषां तिरस्कारमात्रं सोढव्यं, प्रत्युत यदि तैः प्रभुसेवादिकं निर्विघ्नं निर्वहति तदा वान्यथा उदासीना म्लेच्छादयश्च त्रयोपि अनुसर्तव्या इति चकारार्थः ।

यथा भगवदर्थमतिदुःसहोपि तिरस्कारः सोढव्यः, तथा प्रभुचरणसमाश्रयणाय प्रतिबन्धरूपः सर्वोपि सुखभोगः सुदुस्त्यजोपि त्यक्तव्य इत्याहुः स्वयमिति ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

"स्वयं"पदात् श्रीमत्प्रभुप्रसादत्वेन प्राप्तस्य विहितत्वेन प्राप्तस्य च मिष्टान्नादेः परित्यागाभावः सूचितः । अत एव "त्वयोपभुक्त"त्यादि । इन्द्रियकार्याणि सर्वेन्द्रियविषयभोगात् कायेन वाचा मनसा च स्वयं प्रयत्नेन त्यजेदित्यर्थः । अयमभिसन्धिः, "तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशये"दिति सप्तमे नारदवचनान्निरन्तरं भगवद्भावनादिरेव परमपुरुषार्थः । अत एव "तस्माद्भारत सर्वात्मे"त्यादि । "तस्मात्सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशव । म्रियमाणोह्यवहितस्ततो याति परां गतिम्" । अतस्तत्साधक एव परमलाभकरस्तद्विघातक एव परमहानिकरः । यतश्चिन्तनादिविच्छेदक एव परमहानिकरः । अत एव सा हानिः "कालोस्ति यन्न आयुर्हरति वै पुंसा"मित्यादि । भोगश्च स्मरणादिविघातकः । अतः परमहानिकरत्वेन भोगास्त्यक्तव्या इत्यर्थः ॥

नन्विदमसङ्गतम् , तथाहि, अन्येषां यथा तथास्तु, भक्तानान्तु विषया न बाधकाः । यतः सत्स्वपि विषयभोगेषु भक्तिरेव सर्वसाधिकास्ति । अत एव "बाध्यमानोपि मद्भक्तः" "अपि चेत्सुदुराचार" इत्यादि । अत एव भियव्रतमहाराजाम्बरीषादीनामपि

राज्यादिकरणम् । न हि स्मरणादिविघातकेषु ते प्रवर्तन्ते । अतः कथं भगवद्भावविघातका विषया इति चेत् ? स्वानुभवं जानन्नप्येवं वदन् निरपत्रपोऽसि । न हि त्वया भोगं भुञ्जानो भगवच्चरणारविन्दाभिनिविष्टचित्तः कश्चिद्दृष्टचरः श्रुतो वा । ननु श्रुता एव बहवः प्रियव्रतप्रभृतय इति चेत् ? रे मूर्ख ? तेषु भोगस्य नामधानम्, न हि ते विषयेष्वासक्तचित्ताः, किन्तु, केवलं प्रभुचरणपरायणा एव । अतः प्रभोराज्ञया ते राज्यादिकं कृतवन्तो न तु भोगं भुञ्जानाः । नन्वनुभवेन कथं निर्द्धारः प्रमाणसम्मतिं विनानुभवस्य प्रमात्वयोः सन्देहादिति चेत् ? वत्स ? विमलमतिस्ते, यतः प्रमाणसम्मतिमपि श्रोतुकामोऽसि । अवहितः शृणु । प्रथमं तावद्गीतासु श्रीमद्यदुकुलजलधिसमुद्भवश्रीकृष्णचन्द्रोक्तमवधारय । तथाहि, 'विषयान्ध्यायतः पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते । क्रोधाद्भवति सम्मोहः-सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति' । सङ्ग आसक्तिः, कामोऽभिलाषः, क्रोधः' कोपः, सम्मोहो विवेकाभावः, स्मृतिविभ्रमो भगवच्चरणविस्मरणम्, बुद्धिनाशः सुबुद्धिनाशः, प्रणाशः स्वरूपज्ञानाभावः । मुक्तौ लीलाप्रवेशे वा स्वरूपज्ञानस्तदभावः संसारः । अत एव कपिलदेवैरप्युक्तम्, 'चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् । गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये, इति । (भा-३-२५-१५) गुणेषु रूपरसादिषु पञ्चस्वपि विषयेष्विति यावत् । अत एव "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोरि"त्यपि । अत एव विषयाविष्टचित्तानां कृष्णावेशस्तु दूरत" इत्यपि । भोगेष्वपि स्त्रीसंभोगः सुतरां बाधकः, तत्क्षणमेव बुद्धिविपर्यासकरत्वात् । अत एव कपिलदेवैरपि 'न तथाऽस्य भवेन्मोह' इत्याद्युक्तम् । 'भोगानभ्यस्य यः सर्वांश्च जातु काम' इत्यादि ययातिवचनम् । 'यदस्तेवाद्वास्थानु'रित्यादि ऋषभवाक्यम् । ननु तर्हि 'बाध्यमानोऽपि मद्भक्त, (भा. ११-१४-१८) इत्यादिना विषयाणामबाधकत्वं कथमुच्यत इति चेद् ? अत्र वदामः । केवलं भजनं कुर्वाणः कदाचिदिन्द्रियनिग्रहं कर्तुमशक्नुवन्विषयैः स्वतः क्लिश्यते, तस्यावश्यमेव भगवान् स्मरन् इति । न तस्य तत्पापभोगो भवति । अत एव कृपयाहं तथा मन्मादयामीति ज्ञापयितुं स्वपक्षपातज्ञापकं 'मद्भक्त' इति पदमुक्तवान् । अत एवा"जितेन्द्रिय" इति तस्याऽशक्ति (दृष्टा) दपायां हेतुमुक्तवान् । अजितेन्द्रियः इन्द्रियजयं कर्तुमशक्तः । ईश्वरः केनापि न नियन्तुं शक्य इति कदाचिदेतादृशोऽपि न क्षमां करोति, तदा तेन पापेन सोऽभिभूयत एवेतिभाव इत्युक्तम् । प्रायो बाहुल्येन नतु सर्वथा नियमः । भक्तिरपि भगवत्या नेदृशं प्रासा भवति, नोनेष्व क्षमते । तेनैवं पदयोजना, इन्द्रियजयं कर्तुमशक्तः सन्निरपवेशो यो मद्भक्तः स विषयैः पराजितो न भवति परमया भक्त्या । तथा च अनेनापि भक्तिरुच्चरोत्तरमधिका कार्या, यावत्तावदपि इन्द्रियनिग्रहश्च कर्तव्य इति सूचितम् । यद्वा, पूर्वमजितेन्द्रियः सन् स विषयै-

बाध्यमानोपि, यदा तत्सर्वं परित्यज्य प्रबलभक्तिमान् भवति तदा नाभिभूयत इति। अथवा, मौढ्यप्रकारमेव प्रभुराह 'बाध्यमानोपी'ति । तथाहि, प्रभुर्द्वेधाप्यङ्गीकरोति मर्यादया पुष्ट्या च। तत्र पुष्ट्या यमङ्गीकरोति स नाभिभूयते, प्रगल्भया पुष्टिमार्गीयया। एवमङ्गीकारे निमयाभावात्'स्वयं' इति । यथा राजानोतिकृपापात्राय यत्किञ्चिदपि कार्यमकुर्वाणायापि सर्वस्वं ददति, तस्य सहस्रमप्यपराधान्न मन्यन्ते, गालिदानेपि परिहासं मन्यन्ते । अन्यस्मै च कार्यमकुर्वाणाय किमपि न प्रयच्छन्ति, वचैर्मार्पणेपि दण्डं विदधति, इतरत्रा एतः, तथा भगवानपि यस्मै अतीव कृपयति तस्मै निःसाधनायापि सर्वस्वं ददाति, तस्य सहस्रमपि दुराचाराम्न मनुते । यत्र क्षुद्राः खण्डमण्डलाधिपतयोपि स्वैरचारिणो भवन्ति, तत्र किं वाच्यं त्रिभुवनपरिवृढस्य पुरुषोत्तमस्य स्वच्छन्दाऽऽचरणे। यद्यपि प्रभुः कदाचित्साधनं नापेक्षतेपि, तथापि मर्यादा कदापि कस्यापि न हेया, किन्तु कार्यैव । सर्वेषां प्रभोरिच्छा दुर्ज्ञेया, यतः को वेद भगवान्कथं वा मनुते, कदाचित्प्रभुः लोकसङ्ग्रहार्थमपि कारयति, कदाचिदेवमपि । अतः करणे न बाधकमकरणे तु कदाचित्प्रभुकोपोपि सम्भावितः । तस्मात् "पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय" इति न्यायेन करणीयैव मर्यादा । यदि च मर्यादात्यागे प्रभोरिच्छां जानीयात्तदा त्यागेपि न क्षतिः । अत एव गुर्वादिहननं विदधानोपि पार्थो न दोषभाग् जातः । यदा च ज्ञानस्य भक्तेर्वा माधुर्येण देहाद्यनुसन्धानमेव निवर्त्तते तदा त्यागे न दोषः । अत एव ऋषभदेवजडभरतादीनां तथैवाऽऽचरणम् । यदा च भगवद्वार्तादिषु व्यसनं स्यात्तदा ज्ञात्वापि मर्यादात्यागे न दोषः । अत एव "तावत्कर्माणी"त्यादि । यदा च तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते तदापि न दोषः । अत एव "पि चेदसि पापेभ्य" इत्यादि । तस्मात्साधनरूपमिन्द्रियनिग्रहः कर्त्तव्य इति सिद्धम् । अत एव "सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च" ।

तत्र भगवदिच्छया यदा भविष्यति तदा भवत्विति प्रकारकमालस्यं न कार्यं, किन्तु स्वयमुद्यम्येन्द्रियनिग्रहः कर्त्तव्य इति ज्ञापनाय स्वयमिति ॥

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

बहुवचनेन सर्वेन्द्रियभोगस्त्याज्य इति सूचितम् । यद्वा, भोगानत्यजन्तमन्यं दृष्ट्वा कदाचित्कश्चिदालस्यं कुर्यात्तत्राहुः स्वयमिति, अन्यस्त्यजतु, मा वा, स्वयन्तु त्यजेदित्यर्थः । न ह्यन्यत्रापकर्षं दृष्ट्वा स्वयमप्यपकृष्टेन भाव्यं, किन्त्वन्यत्रोत्कर्षं दृष्ट्वा स्वयमुत्कृष्टेन भाव्यम् । अत एव तैत्तिरीयोपनिषत्स्वाचार्येण शिष्यशिक्षणप्रकारे "यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणी"त्युक्तम् । भोगस्य सामग्र्यां सत्यां धैर्यं दुष्करमिति पूर्वमेव सामग्रीमेव न सम्पादयेदिति ज्ञापनायेन्द्रियकार्याणीति ।

अन्यथा 'भोगांस्त्यजेदि'त्येवोक्तं स्यात् । अत एव "मात्रा स्वस्ये"त्यादि । तेन समूलघातं भोगं हन्यादिति पर्यवसितोऽर्थः । अत एव शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वेत्यादि । त्यागे प्रकारमाहुः कायेति । कायेन वाचा मनसा चेत्यर्थः । द्वन्द्वसमासोऽयम् । "सर्वो हि द्वन्द्व" इत्येकवद्भावः । यद्वा, "कायवाग्भ्यां सहितं यन्मन" इति मध्यमपदलोपी समासः । तेन कायवाचोर्गौणत्वं तृतीयया सूच्यते । तथा च मुख्यो मानस एव त्यागः । कायिको वाचनिकश्च गौणः । अत एव गीतासु "कर्मेन्द्रियाणि संयम्ये"त्यादि । नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति । यतः कठिनतम इन्द्रियनिग्रहः । अत एव गीतासु, "इन्द्रियाणि प्रमाथीनी"त्यादि । उपदेशश्चासम्भवः । न हि शास्त्रमप्यशक्यमुपदिशति । अतः कथमुपदेश इति चेदत्राहुरदूरेणापीति । अशूर इन्द्रियजयं कर्तुमशक्तः । तादृशेनापि यथाशक्तीन्द्रियदमनं कर्तव्यम् । तत्र हेतुः, स्वस्येति भावनात्, विचारणात् । अयमभिसन्धिः । यदि जीवः स्वयं स्वदोषाभिराकर्तुं समर्थः स्यात्तदा मर्यादोल्लङ्घनेन जनितदोषान्निवार्य सुखी स्यात्, परन्तु, स्वयमसमर्थः न हीश्वरमर्यादां मनसाप्यन्यथा भावयितुं कोऽपीष्टे । अत एव 'ईशस्य हि वशे लोक'-इत्यादि । तथा च, विचारे क्रियमाणे निग्रह एवेन्द्रियाणां कार्यः । अत एव "वेन्द्रियाश्वविनिग्रहे" इत्यादि विचारश्चावश्यकः । न हि विना विचारं कोऽपि कुत्रापि प्रवर्तते । "न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तत" इति न्यायात् । कुतस्तराञ्च विवेकी । पदसम्बन्धस्तु, स्वरूपासामर्थ्यविचारणाददूरेणापीन्द्रियनियमनं कर्तव्यमिति ॥ ८ ॥

ननु निग्रहः सर्वथावश्यक इति सत्यं, परन्तु यदि कथमपि कर्तुं न शक्नोति तदा किं तस्य नाश एवाहोस्वित्कश्चिन्निस्तार इत्याशङ्कायामाहुरशक्य इति ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।
एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

अशक्येऽर्थे हरिरेवास्ति । रक्षक इतिशेषः । तत्र हेतुः, सर्वमिति । आश्रयतः भगवदाश्रयं कुर्वतः पुरुषस्य सर्वं भवेत् । आश्रयत इति पञ्चमी वा । इदमाकूतम्, यदि सर्वथाऽऽश्रयं ज्ञात्वा केवलं भगवच्चरणमेव भावयति तदा स्वयम् भगवानेव तस्य सर्वं साधयति, अतो भगवदाश्रयात् सर्वसिद्धिः । अत एव "किरातहूणे"त्यादि । अतो न तस्य नाशः । अत एव "कौन्तेय प्रतिजानीही"त्यादि । सर्वदुःखहर्ता हरिः । तेन दीने परमदयालुरितिपक्षस्थं कार्यं साधयत्येवेति ज्ञापनाय हरिपदम् । एव कारेणान्यव्यवच्छेदः । न ह्यन्यः सर्वेषां सर्वदुःखानि निवार्य सर्वानन्दं दातुं शक्तः । एवं सर्वथाऽशक्ये रक्षकत्वेन भगवद्भावनमपि गौणः पक्षः । मुख्यपक्षे तु भगवान् किमपि करोतु, स्वेन तद्भावनमपि न कर्तव्यम् । न लेशतोऽपि सङ्कोचः प्रभो

दातुमुचित इति ज्ञापनाय रक्षक इति विधेयपदस्याप्रयोग एव, किन्त्वध्याहारः। "ब्रह्मवर्चसकामस्त्वि"त्यादिवाक्यात्तत्तन्नियतकार्यसाधका अन्ये, भगवाँस्तु सर्वं साधयति, "अकामः सर्वकामो वे"ति वाक्यात् । यदाहुः सर्वमिति । अत एव "किमन्यच्छ्रयमि"त्यादि । आश्रयत इत्यासमन्तात् श्रयतः सेवां कुर्वतः "श्रिञ्सेवायां," सेवा च चित्तस्य तदेकपरता, "चेतस्तत्प्रवणमि"ति लक्षणात् । तदनुकूला च या काचन कृतिः, सा सर्वापि सेवैव । अत एव "मानसी सा परा मते"ति । तादृश्येव च कृतिः सन्तोषजनिका, सेवा च सन्तोषजनिकैव । "यद्भयें"ति वाक्यात् । लोकेऽपि तात्पर्यपूर्विकैव कृतिः सन्तोषजनिका । तथा च, स्वज्ञानानुसारेण प्रभुसन्तोषजनिकां ज्ञात्वा निरन्तरं कृतिः कार्येति सिद्धम् । शत्रुप्रत्ययेनाश्रयत्यागे किमपि न सिद्ध्यतीत्यप्यसूचि । अत एव "पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रय" इत्यादि । अशक्य इति पदाच्छक्यत्वेऽवश्यमिन्द्रियनिग्रहः कर्तव्य इति सूचितम् । शक्तौ सत्यां मर्यादोल्लङ्घने प्रभुरपि क्रुद्ध्यति । अशक्यत्वे दयाविष्टः सन्सर्वमेव साधयतीति निगर्वः । अत एव सकलदुःखदूरीकरणज्ञापितपरमदयालुत्वज्ञापकं हरिपदं प्रयुक्तवन्तः । अत एव "समस्तदुःखात्ययमाशुधत्त" इत्यादि । ननूपक्रमे त्रिदुःखसहनं धैर्यमित्युक्तम्, उपसंहारे च विषयभोगरूपसुखस्य त्याग उक्तः तथा चोपक्रमोपसंहार विरोध इत्याशङ्क्य निराकुर्वन्त उपसंहरन्त्ययेनदिति । अत्र धैर्यप्रकरणे एत'त्रिदुःखसहनमि'त्यारभ्य पञ्चिरूपितं तत्सर्वं सहनमेवोक्तमित्यर्थः । न हि दुःखमसोढ्वा भोगत्यागः कर्तुं शक्यते, तेन भोगत्यागेनापि पर्यवसन्नं दुःखसहनमेवोक्तमिति नोपक्रमोपसंहारविरोधः । नन्विदं न सङ्गच्छते । तथा हि, भवद्भिः सहनमेव धैर्यमुच्यते, तच्चासङ्गतं, वचनविरोधात्, वचनेषु सर्वत्रोभयोर्भेदात् । तानि च "तेजो बलमि"त्यादीनि । अत एव श्रीमदुद्धवैः पृथक् पृष्टं, श्रीमद्दुर्वंशजलधिरत्नेनापि तथैवोत्तरितम् । तस्मादुभयोरैक्यं कथं घटत इति चेद्, अत्र वदामः। अन्यत्र यथा तथास्तु, अत्रास्मिन्ग्रन्थे एतद्धैर्यमेव सहनमुक्तं न ‖ भिन्नमिति पदसम्बन्धः । वस्तुतस्तु द्वयोरैक्यमेव । उक्तप्रश्नोत्तरयोर्भिन्नतया कथनन्तु अवस्थाभेदमाश्रित्य । ननु समाधृत्योर्भेदः । अत एवोत्तरे 'तितिक्षा दुःखसम्मर्ष'इति सामान्यतः सहनमुक्तम् । 'जिह्वोपस्थजयोधृतिरि'ति विशेषतः । न हि जिह्वोपस्थयोर्जयस्तदुभयसम्बन्धिदुःखसहनादन्योऽस्ति । ये हि तदुभयजयनिमित्त यतन्ते ते तयोर्निग्रहे क्रियमाणे जिह्वाविषयस्य सुस्वाद्वन्नादेरुपस्थविषयस्य स्त्र्यादेरलाभेन यद् दुःखमापन्ने, तत्त्वीदृशमपि कठिनं सहन्ते नत्वन्यत् किञ्चित्कुर्वन्ति । यथा यथा चाभ्यासस्तथा तथाऽनायासेन सहन्ते । अत एव गीतासु क्षात्रस्वाभाविककर्मसु "शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यमि"ति धैर्यं गणितम् । न हि जिह्वोपस्थयोर्जयः क्षत्रियाणां सहजो धर्मः, किन्तु, दुःखसहनमात्रम् । अत एव गीतासु,(११)"धृतिं न विन्दामि गीतासु (१८)"धृत्या यया" । उद्देशक्रमानु-

सारेणाश्रयमाहुराश्रयेत इति। अत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी। अत इदं द्वयं निरूप्येत्यर्थः।
तेनैवं पदसम्बन्धः । अतः विवेकधैर्ये निरूप्य तदनन्तरमाश्रयो भगवदेकशरणत्वं
नितरां विविच्य रूप्यते कथ्यत इति । तथा चातः परमाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः ।
यद्वा, हेतौ पञ्चमी । अत आभ्यां विवेकधैर्याभ्यां हेतुभ्यामाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः ।
यद्यपि भगवदनुग्रहं विना नाश्रयः सम्भवति, तथापि, यदा साधनद्वाराङ्गीकरोति
तदा विवेकधैर्येऽपि साधने । अत इति सहार्थे तृतीया । सार्वविभक्तिकस्तसिल् ।
तथा च, विवेकधैर्याभ्यां सहाश्रयो निरूप्यत इत्यर्थ । तृतीयया विवेकधैर्य-
योरप्राधान्यं, प्राधान्यं चाश्रयस्यैवेति निरूप्यते। अथवा, एतद् विवेकसहितं सहनं
धैर्यमत्रास्मिन्ग्रन्थे उक्तं कथितम् । अतो हेतोराश्रयो निरूप्यते अयमभिसन्धिः ।
आश्रयनिरूपणार्थमङ्गत्वेन विवेकधैर्ये उक्ते, तेन यद्याश्रयो न निरूप्यते, तदा विवेकधैर्य-
निरूपणं व्यर्थं स्यात् । तथा चैवं पदसम्बन्धः । यतः कारणादाश्रयनिरूपणार्थमङ्गत्वेन
विवेकधैर्ये उक्ते, अतो हेतोर्विवेकधैर्ययोर्निरूपणस्य सार्थकत्वाय विवेकधैर्यनिरूपणान-
न्तरमाश्रयो निरूप्यत इति। बुद्धिस्थवाचकत्वात्सर्वनाम्नां पूर्वं च विवेकसहितमेव धैर्य-
मुक्तमिति विवेकसहितमेवैतत्पदेनोच्यते । यद्वा, एतद्विवेकसहितं सहनं धैर्यम्, अत्राश्रये
उक्तमभिहितमतो हेतोस्तदुभयनिरूपणानन्तरं यत्रेदं द्वयं निरूपितं स आश्रयो निरू-
प्यत इति । तथाहि, अत्र हि भगवदाश्रये क्रियमाणे यादृशे विवेकधैर्ये अपेक्षिते तादृशे
निरूपिते, स आश्रयस्तदुभयनिरूपणानन्तरं निरूप्यत इति । आश्रयः आसमन्तात्
श्रयः सेवनम्, श्रिञ्सेवायाम्, अस्मात् घञ् । सेवा च चित्तस्य तदेकपरत्वम्, अत एव
"चेतस्तत्प्रवणं सेवे"ति लक्षणमुक्तमाचार्यैः । यद्यपि, मनोवाग्देहैः सेवा त्रिविधा,
तथापि, मुख्या मनोऽर्पणरूपस्नेहात्मिका । अन्या तु सेवा तत्साधनरूपा । अत एव
"चेतस्तत्प्रवणं सेवे"तिलक्षणमुक्त्वा "तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजे"ति सेवान्तरस्य तत्साधन-
त्वमुक्तम् । मनोवचनरूपायास्तु "मनसी सा परा मते"ति मुख्यत्वमुक्तम्, इयमेव
भक्तिरित्युच्यते । शाण्डिल्यसूत्रे "सा परानुरक्तिरीश्वरे" इति लक्षणात् । अत एव
नारदपञ्चरात्रे "स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्त" इति लक्षणमुक्तम्, तत्र माहात्म्यज्ञानपूर्वकं
तु अपराधनिवृत्त्यर्थम्, न तु लक्षणे प्रविष्टम् । श्रवणादिलक्षणा तु भक्तिस्तत्साधन-
रूपा, अत एव 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये'ति। अतः सेवामार्गो भक्तिमार्गश्चैक एव ॥९॥

प्रतिज्ञातमाश्रयं पद्यचतुष्टयेन लक्षयन्ति, ऐहिक इत्यादिना ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।
दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥
अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।
एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

एवं चित्त इत्यनेनान्वयः । "मुख्यो मानस" इति पूर्वमानसोक्तिः । तत्र सङ्क्षेपत आश्रयस्वरूपमर्द्धेन पद्येनाहुरैहिक इति, ऐहिके इह लोक सम्बन्धिनि, परलोके परलोकसम्बन्धिनि कार्यमात्रे सर्वथा सर्वैः प्रकारैः हरिः श्रीकृष्णः शरणं रक्षकोस्तु। एवं चित्ते सदा भाव्यमित्यग्रिमेणान्वयः । रक्षणं चात्र हितकारित्वं, न तु प्राणरक्षकत्वमात्रम्, लोकेपि महाशास्त्युपस्थितौ धनादिमोषे वा उपस्थिते तस्मान्निवारणे कृते अनेनायं रक्षित इति प्रयोगः । तेनैहिकपारलौकिकयोरर्थयोः सर्वैः प्रकारैस्त्वमेवास्मद्धितकारी भवेति प्रार्थना । जीवाः प्रायेण स्वस्य हितमपि न विदन्ति । हितज्ञानेऽपि प्रबलेषु स्वदोषेषु विद्यमानेषु प्रबलैः प्रत्यूहैः कृत्वा स्वहितं कर्तुं न शक्नुवन्ति । तस्मात्त्वमेव सर्वान्दोषान्निवार्य हितं साधयेति भावः कटाक्षितः । केचनैतादृशा ये किमपि न प्रार्थयन्ते, उत्तमाश्च त एवेत्यपि ज्ञापयितुमस्त्विति प्रार्थनार्थकक्रियापदस्याप्रयोगः । नन्वेतादृशाः के सन्ति, येषामैहिकं पारलौकिकं च किमपि न प्रार्थनीयमस्ति । न हि परमविरक्ता अपि पारमार्थिकाद्विरज्यन्त इति चेद्, अत्र वदामः । येषां प्रभुचरणारविन्दे व्यसनमस्ति ते मुक्त्यादिकमपि नेच्छन्तीति पारमार्थिकमपि न प्रार्थयन्ते । अत एव "न नाकपृष्ठं" "नैकात्मतामि"त्यादिवचनानि । ननु ये मुक्तिं न वाञ्छन्ति, तेपि प्रभुचरणारविन्दानुरागरूपां भक्तिं वाञ्छन्त्येव, न हि भगवदीयास्ततोपि निरपेक्षा भवन्ति । अतः सा भक्तिरेव परमार्थिकी प्रार्थनीयास्तीति प्रार्थनानिरपेक्षाः सर्वदुर्लभा इति चेत्, सत्यम्, दुर्लभा एव, कः सन्देहः, परन्तु, दुर्लभा एव, नत्वलभ्याः, तथाहि, ये चरणारविन्दे व्यसनिनस्ते ततोपि निरपेक्षाः । यदि तावदप्यपेक्षितं स्यात्तदा तद्व्यसनमेव न स्यात् । व्यसनं हि तदेव यत्र तद्विना स्थातुमेव न शक्नोति, इदमेव (व्यसनं) तत्र प्रवृत्तिनिमित्तं, नत्वन्यत् किञ्चित् । अत एव लौकिकेपि द्यूतादौ ये व्यसनिनस्ते स्थातुमशक्ता एव तत्र प्रवर्त्तन्ते, नत्वन्यन्निमित्तमस्ति । ननु धनाशैव निमित्तमस्तीति चेत्, रे हृदयशून्य ! यदि धनाशैव निमित्तं स्यात् तदा मुहुर्मुहुः पराजिता अपि कथं प्रवर्तेरन् ? । सन्देहादेव प्रवर्तन्त इति चेत्, ज्योतिर्विद्भिः समूलघातं सन्देहे हतेपि प्रवर्त्तन्त एव । न ह्युपायसहस्रेणापि तत्तद्व्यसनिनः कथमपि तेभ्यो निवर्त्तन्ते क्वचित् । किञ्च, इदमपि द्युते आशङ्कितं स्यात्, व्यसनान्तरेषु का गतिः, न हि पापर्द्धिपरायणा मैरेयमत्ताः परदाररताश्च धनाशया प्रवर्त्तन्ते, प्रत्युत भस्मलीभूतसर्वस्वास्ते । तस्माच्चरणारविन्द-

व्यसनिनोपि निमित्तनिरपेक्षा एव, अत एव कपिलदेवेनापि "अनिमित्ता भागवती"ति फलभक्तिलक्षण मुक्तम् । यदि किमपि निमित्तं तत्र विद्यते तदा अनिमित्तत्वं कथं वदेत् ? अग्रे च "अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे" इत्युक्तम् । "कुर्वन्त्यहैतुकिमपि" । अत एव कौण्डिन्यप्रभृतयस्तथाभूताः । अत एव व्रजवासिनामपि तथा भावः । ननु यदि व्यसनिनः किमपि न प्रार्थयन्ते, सर्वनिरपेक्षत्वात् तदा व्रजवासिनः कथं प्रार्थितवन्तः ? न हि तदपेक्षयाप्यन्ये व्यसनिनः सन्ति, "क्षणं युगशतमिवे"त्यादि वाक्यात् । प्रार्थ्यते च तैरनारतमेव । ननु कैरुक्तं तैः प्रार्थ्यत इति ? शुकादिभिरेव । कुत्र ? श्रीभागवतादावेव । तथाहि, ॥ १२ ॥ "राम ! राम !" ॥ १६ ॥ "कृष्ण ! कृष्ण !" ॥ २० ॥ "राम ! राम !" ॥ "कृष्ण ! कृष्ण !" ॥ २६ ॥ "मैवं विभो" ॥ ४४ ॥ "मनसो वृत्तयः" ॥ ७९ ॥ "आहुश्च ते," इत्यादिषु तत्कर्तृकप्रार्थना श्रूयते । न च तत्र प्रार्थनं किन्तु, कथनमात्रमिति वाच्यम्, "इति विज्ञापितो गोपैरि"त्यादि शुकोक्तिव्याकोपात् विज्ञापनं प्रार्थनमेव, अपि च, अन्ये तु मुक्त्यादिनिमित्तं प्रार्थयन्ते, न लौकिकनिमित्तम् । एते तु क्षुधादिनिवृत्त्यर्थमपि प्रभुं प्रार्थयन्ते । अल्पतमे क्षुन्निवृत्त्यादावपि यदि प्रभुं प्रार्थयन्ते तदा किमुवाच्यं महति कार्ये, यत्र निरुपमनिरुपधिनिरवधिस्निग्धा व्रजवासिनोऽप्यसमर्थयन्ते तत्रान्यः को वा सनाथः स्वनाथं न नाथेत् । तस्मादपार्थः प्रार्थनारहितान्वेषणप्रयास इति चेद्, अत्रोच्यते । प्रथमं तावत्प्रार्थनास्वरूपं विचारय, प्रार्थना नाम कः पदार्थः । ननु ममेदमपेक्षितमित्यपेक्षितकथनं प्रार्थनेति चेत्, न, राज्ञः सेवकं प्रत्येवं वचनमपि प्रार्थना स्यात्, न हि सा प्रार्थना, किन्त्वाज्ञा । तथा मित्रं प्रति अन्यं कश्चिदुदासीनं प्रति तादृग्वचनमपि प्रार्थना स्यात् । न हि सा प्रार्थना किन्तु, कथनमात्रम् । ननु तस्य प्रार्थनात्वे किं बाधकमिति चेत्, प्रयोगाभाव एव, न हि तत्र राज्ञा मित्रेण वा इदं प्रार्थ्यत इति कश्चित्प्रयुङ्क्ते । ननु लाभहेतुकं वचनं प्रार्थनेति चेत्, न, प्रार्थनानन्तरं लाभे तद्वचनस्य प्रार्थनात्वं न स्यात् । लाभरूपकार्याभावेन पूर्ववर्तित्वादिरूपकारणत्वाऽभावात् । न च सा न प्रार्थनेति वाच्यम्, प्रार्थितमनेन न दत्तमिति प्रयोगात् । ननु लाभेच्छया वचनं प्रार्थनेति चेत्, न, प्रजाभ्यो धनं गृह्यतामिति राजाज्ञाया अपि प्रार्थनात्वप्रसङ्गात् । करादिसञ्ज्ञया प्रार्थने अव्याप्तेश्च । न च तत्प्रार्थनमेव न भवतीति वाच्यम्, हस्तेनायं याचत इति प्रयोगात् । गृहीतमौनव्रतस्य भोजनादावपि तथात्वात् । स्यादेतत् । न वयं वचनपर्यन्तं वदामः, किन्तु लाभेच्छया यत्क्रियते तत्सर्वं प्रार्थनेति, तस्माल्लाभार्थमुद्यमः प्रार्थनेति चेत्, मैवम् । एवमत्राप्यव्याप्त्यावर्तनेपि राजाज्ञायामतिव्याप्तिर्वज्रलेपायितैव । ननु दयोत्पादकं वचः प्रार्थनेति चेत्, मैवम् । ननु शृण्वतां दयोत्पादकं "दुष्टेनमाशु मारये"ति महादारुणवचसोपि याच्ञात्वप्रसङ्गात् । ननु

सम्बोध्यस्य दयोत्पादकं वचः प्रार्थनेति चेत्, न, आज्ञप्तस्य दयालुत्वे उक्तवचनेऽतिव्याप्तेः । निर्दयं प्रति प्रार्थने व्याप्तेश्च । अश्रवणे चाव्याप्तेः । न चेदं द्वयमपि न याञ्चेति वाच्यम्, निर्दयोपगतप्रार्थनां न मनुते, व्यग्रोपगतप्रार्थनां न शृणोतीति च प्रयोगात् । किञ्च, "अयं देवदत्तो भृशमक्लेशीदि"ति प्रासङ्गीकोक्तावप्यतिव्याप्तेः । अथ स्वस्मिन्सम्बोध्य दयोत्पादकं वचस्तथेति चेत्, न, "सखे भृशमहमक्लेशिषमि"-तिवृत्तवृत्तान्तवचनेऽतिव्याप्तेः । न हि सुहृत्क्लेशश्रवणेपि नानुकम्पते मनः । अथ दयार्थ-मुक्तिः प्रार्थनेति चेत्, न, किं स्वस्मिन्दयार्थमाहोस्वित्परस्मिन्नुत सामान्यतः । न प्रथमः । परार्थं प्रार्थनेऽव्याप्तेः । न द्वितीयः । स्वार्थं प्रार्थनेऽव्याप्तेः । न तृतीयः । "निर्दयमेनं सदयं कुर्वि"त्युक्तेन देवदत्तेन पूर्वराजकृपादिभिः कृते क्रूरराजप्रबोधनेऽति-व्याप्तेः । न च या च नैव सेति वाच्यम् । राजानमयं पुराणादिभिः प्रबोधयतीति वद्याचत इत्यपि प्रयोगापत्तेः । तस्मात् मीमांसितव्यमेवैतदिति चेत्, न, धात्वर्थविचारेण याचनैव प्रार्थना, न च राजादिवचनादावतिप्रसङ्गः । तत्राऽपकर्षाद्यभावेपि प्रार्थना-त्वस्येष्टत्वात् । अत्र निरपेक्षत्वमपि भगवत्स्वरूपभजनातिरिक्तनिरपेक्षत्वमेव । न हि भगवदीया भगवति निरपेक्षाः, तथा सति ज्ञानमार्गपातात् ॥ १३ ॥

शरणसिद्ध्यर्थमाहुरन्यस्येति ।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।
प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

देवान्तरस्य भजनं, तत्र देवान्तरसमीपे मार्गत्वाद्यभावेपि स्वेच्छया गमनम्, चकारात्तदर्थमन्यप्रेरणं च विवर्जयेत् । भगवति च कार्यमात्रे अल्पेपि कर्त्तव्ये अथवा सर्वेषु कर्त्तव्येषु प्रार्थना वर्जयेत् । अत्यशक्यार्थे प्रभौ प्रार्थनायां कृतायामपि मुहुः प्रार्थना न कार्येति बहुवचनम् । तथा प्रभुवद् अन्यत्र देवान्तरे प्रार्थना विशेषेण वर्जयेत् ॥ १४ ॥

नन्वेवं सति कथमिष्टसिद्धिः? प्रभुरपेक्षितं कुर्यान्न वेति चेत् तत्राहुरविश्वास इति ।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

भक्तिमार्गे अविश्वासो न कर्त्तव्यः, "ये यथा मां प्रपद्यन्त" इति वाक्यात्, सः सर्वथा बाधकः । विश्वासस्तु कर्त्तव्यः । अनयोः (विश्वासाविश्वासयोः) क्रमेण बाधकत्वसाधकत्वयोर्ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यावनुसन्धेयौ । लङ्कायां राक्षसैर्ब्रह्मास्त्रेण बद्धो हनुमान्न चलितवान्, ततस्तैरन्यैः पाशैर्बद्धमारब्धो ब्रह्मास्त्रे राक्षसानामविश्वासं दृष्ट्वा स्वयमपि ब्रह्मास्त्रमर्यादामुल्लङ्घ्य ततश्चलितवान् । ततो ब्रह्मास्त्रं व्यर्थमभूत् । एवं भक्तिमार्गाऽ-

विश्वासे भक्तिमार्गीयं सर्वं व्यर्थं भवति । चातकः पक्षिविशेषः, स्वातिर्वर्षिष्यति स्वातिजलमेव मया पेयमिति विश्वासेन महदन्यत् जलं विहाय तिष्ठति, तद्यं स्वातिर्वर्षति स पिबति । एवं भक्तिमार्गे हरिः सर्वं करिष्यतीति विश्वासेन भक्तिमार्गमर्यादां गृहीत्वा यस्तिष्ठति, तस्य योगक्षेमनिर्वाहं प्रभुः करोति, "तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" इति वाक्यात् । सर्वं भगवत एव, अहं भगवद्दासो भगवदर्थमेव भगवते समर्पयामीति ममत्वं त्यक्त्वा प्राप्तं सेवेतेत्याहुः प्राप्तं सेवेत निर्ममः इति ।

नन्वेवं ममत्वाभावे भगवत्कार्यातिरिक्तं कार्यं न कर्तव्यमिति चेत्तत्राहुर्यथाकथञ्चिदिति ।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥

उच्चावचान्यनेकप्रकारकाणि, वैदिकानि लौकिकान्यप्यविरुद्धानि कार्याणि । यथा कथञ्चिद् न विस्तारेण कुर्यात्, व्यवहारोपयोगित्वाद्, व्यवहारस्य परम्परया भगवज्जनोपयोगित्वादित्यर्थः । कियन्तः प्रकाराः वक्तव्या इति सङ्क्षेपेणाहुः किं वा प्रोक्तेन बहुनेति । धर्मैर्भिर्न मम निस्तारः, किन्तु, भगवदाश्रया कृतैः भगवान्सत्कः शरणं भवत्विति भावयेदित्याशयेनाहुः शरणं भावयेद्धरिमिति ॥ १६ ॥

नन्वाश्रयनिरूपणेऽन्यस्य भजनवर्जनादिकं किमित्युक्तमित्याशङ्क्याहुरेवमाश्रयणमिति ।

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।
कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्वैश्वानरश्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितो
विवेकधैर्याश्रयः सम्पूर्णः ।

"यावदन्याश्रयस्तावद्भगवानपि तं जनम् । आलोकयेन्न कृपया, अनन्यजनवत्सल" इति प्रह्लादवाक्यात् । अन्यभजने सम्यगाश्रयणमेव न सिद्ध्येदिति तदभावस्याङ्गत्वात् प्रथमाधिकारस्थत्वात् । अनेन प्रकारेण साङ्गमाश्रयणमेव प्रोक्तं तत्सर्वेषां वर्णानामाश्रमाणां च सर्वकालं सुखकारि । ननु मुख्या भक्तिः कुतो नोच्यत इति आशङ्क्य, "प्रायेणाल्पायुषः सूत कलावस्मिन्युगे जनाः । मन्दाः सुमन्दमतयो मन्द-

भाग्या ह्युपद्रुता" इति कलावेतादृशा जनाः किं साधयेयुः ? अशक्योपदेशो वाऽनाप्तत्वं स्यात् । इत्येवमाश्रये क्रियमाणे भगवान्कृपया भक्तिमपि दास्यतीत्याशयेनाहुः कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिरिति। भक्तिरादिर्येषां ते भक्त्यादयः। तेन च ते मार्गाश्च भक्त्यादिमार्गाः । प्रावाहिकभक्तिमार्गो मर्यादाभक्तिमार्गः पुष्टिभक्तिमार्गश्चेत्यर्थः ॥ १७ ॥

विवेकधैर्याश्रयाणां विवृतिः कृतिमर्पणे ।
श्रीगोविन्दसुतेनोक्ता गोकुलोत्सवसूरिणा ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीगोविन्दरायात्मजश्रीगोकुलोत्सवविरचिता विवेकधैर्याश्रयविवृतिः सम्पूर्णा ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीवैश्वानरावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीश्यामलसुतश्रीव्रजरायचरणविरचिता विवृतिः ।

यत्कृपामात्रतो नूनं रतिः स्याद्गोकुलाधिपे ।
स श्रीमदाचार्यपादरेणुर्मेऽद्य प्रसीदतु ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा निबन्धे वैदिकयोः कर्मज्ञानमार्गयोर्भक्तिमार्गस्य च सम्यक्प्रपञ्चितत्वेऽपि कलौ तेषां दुःसाध्यत्वं विमृश्य तत्रासमर्थानामर्थं सङ्क्षेपेण 'जगाध्ये विट्ठले वे'त्यत्रोक्तं प्रपत्तिमार्गं हृदि सिद्धवत्कृत्येदानीं तं प्रपञ्चयिष्यन्तस्तस्य मार्गस्य पूर्वोक्तमार्गत्रयोपकारकत्वञ्च बोधयिष्यन्तो विवेकधैर्याभ्यामाश्रयस्य सिद्धिं बोधयितु तत्साधने विवेकधैर्ये रक्षितुं नियुञ्जन्ति, तद्रक्षणस्यावश्यकत्वं वा बोधयन्ति । विवेकेत्यादि ।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।
विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥ १ ॥

सततं निरन्तरं रक्षणीये इति श्रेये भाग्यकाले वा अनीयस्तेन नियोग आवश्यकत्वञ्च समञ्जसम् । रक्षणे नैरन्तर्योक्त्या आश्रयोत्तरपपि तद्रक्षणावश्यकत्वं बोध्यते । रक्षणञ्चात्र तबाधकनिवारणेन तपोपणम् । एतदेव साम्प्रदायिकैः स्वीकारत्वेन तदनुसन्धानपूर्वकतदनुकूलाकृतिकारणत्वेन च बोधितम् । तेन 'फलमादुस्तथात्र' इति । तथाकृते आश्रयः सिद्ध्येदित्यर्थः । यद्वा, ते तथा तेन प्रकारेण रक्षणीये यथा आश्रय सिद्ध्येदित्यर्थः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् क्रियापात्रस्यैवाध्याहारः । आश्रये क्रियासम्बन्धस्य कण्ठतोऽनुक्त्या पृथगुपादानेन च स्वकृत्यसाध्यत्वं तदेकदानसाध्यत्वञ्च ज्ञाप्यते । "सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीशमन्ये" इत्यक्रूरस्तुतौ सुबोधिन्यां तथा प्रपञ्चनात् । अत्र साम्प्रदायिकाः । अध्याहारापेक्षयाऽनुसङ्गस्य वचनविपरिणामस्य च लघुत्वात्तथा आश्रयो रक्षणीय इत्येवं योजनं उपायो भव्या केचन

त्रयाणां दण्डचक्रादिन्यायेन भक्त्युपायत्वसामान्यात् समप्राधान्यं रोचयन्ते । केचन पूर्वयोरेकपदेन कथनात् तृतीयस्य पृथगेवोपादानात्पूर्वयोरुत्तरहेतुत्वं सुकमुत्पश्यन्ति । केचन त्रयाणां क्रमेणोक्तेः सेवायां महत्त्वस्य पूर्वं विवेक आवश्यकस्ततो धैर्यम्, आश्रयस्तूभयनिर्वाहक इति तात्पर्यं प्रकाशयन्ति । यद्यप्येवं मतत्रयमप्युपपन्नं, तथापि, सर्वात्माश्रयस्य फलत्वस्यावबोधनात् स्वस्याभिसंहितरूपेणाश्रयस्यैव मुख्यत्वप्रकाशनाध्याहारेण योजनाप्यदुष्टैव । न च गौरवं शङ्कनीयम् । तत्पक्षेप्यनुषङ्गविपरिणामयोर्द्वयोरङ्गीकारेण तौल्यात् । किञ्चैवं "पृथक् शरणमार्गोपदेशे"ति नामापि सुष्ठार्थं भवति । अन्यथा तु निबन्धे सङ्क्षेपेण निरूपणात्सुबोधिन्यादावन्यथोपलम्भेन क्वचित् सङ्कीर्णत्वादत्र तत्र किञ्चित् किञ्चित् कथनेन विप्रकीर्णत्वाच्च 'पृथक्'पदमपुष्टार्थं स्यात् । न चैवं सति भक्त्यङ्गत्वभङ्गात् सुबोधिन्यादौ तथात्वेन निरूपणं विरुद्ध्येतेति वाच्यम् । उपकारकत्वेन गौण्यापि तत्सम्भवात् । किञ्चायं शरणमार्गो न भक्तिमार्गाद्विविक्तः, पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थे पृथक् तदनुक्तेः । किन्तु, प्रवाहादन्तर्गतं विविक्तो भगवति स्वस्वामित्वस्य सर्वदानुसन्धानान्मर्यादाया अपि विविक्तः, पुष्ट्या सङ्कीर्णः । तेन प्रयोजनैक्यादत्र मिश्रभेदेष्वेतन्निविष्टत्वानुक्तेरग्रे च प्रपत्त्याश्रयकथने "कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति" मार्गत्रयदुःसाध्यत्वस्य हेतुत्वकथनेनास्य भक्त्यादिमार्गानुकल्पत्वबोधनाच्च स्वरूपभेदात् त्रितयसजातीयः स्वफलसाधनेन तदुपकारकश्चेति सिद्ध्यति । तत्रानुकल्पत्वं "नामान्यनन्तस्ये"त्यत्र प्रथमस्कन्धपद्ये प्रपञ्चितम् । यद्यपि, तद्विरक्ताधिकारित्वं तथापि, गीताया द्वादशेऽध्याये "अथैतदप्यशक्तोसि कर्तुमुद्योगमाश्रित" इत्यत्र "सर्वधर्मानि"त्यत्र च, गृहस्थमर्जुनं प्रति कथनाद् गृहस्थाधिकारिकत्वमपि सिद्ध्यति । अनुकूलस्योपकारकत्वञ्च पूर्वतन्त्रसिद्धम् । एतावानयं विशेषस्तत्र फलोपकारकत्वं सिद्धमत्र तु स्वरूपोपकारकत्वमप्यस्तीति । तेन येषां यथा भातस्तैस्तथा विवृत इति कोपि क्वापि विरोधः । ननु निबन्धोक्तस्यैवायं विस्तार इति कथं ? निगन्तव्यमिति चेत्, इत्थम् । तत्र पूजाप्रवाहस्य भगवत्सान्निध्यगमकत्वमुक्त्वा तत्र तत्परत्वेन स्थितिः प्रपत्तिरितिमार्गस्वरूपं निष्कृष्टम् । परन्तु, तच्छरीरप्रविष्टं तत्परत्वं न विचारितम् । तदत्र सिध्यतीति तथा विनिगम्यते । किञ्च, प्रपत्तिपदार्थः शरणगमनम् । "कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् प्रपन्नभयभञ्जन, वयं त्वां शरणं याम" इति मागधरुद्धराजवाक्यसुबोधिन्यां प्रपन्नभयनिवारकत्वं तवावश्यकं, "अतो वयं प्रपन्ना भवाम" इत्युक्त्वा "वयं त्वां शरणं याम" इति शरणगमनस्य प्रपन्नभजनत्वेन व्याख्यानात् । तथात्र स्फुटमतोपि

---

१ अनुकूलस्योपकारकत्वं "अपि सम्पन्नं सुमन्त्रणि" इत्येकादशेऽप्रपञ्चितम् । २ "अधिकारिकम्" इति पाठः क ।

तयेतिदिक् । प्रकृतमनुसरामः । एवमुभयोर्विवेकधैर्ययो रक्षणं, तस्य फलसम्बन्धश्च बोधयित्वा तयो रक्षणप्रकारमाश्रयस्य च मार्गं वक्तुं तेन तत्स्वरूपञ्च वक्तुमुद्देशानुसारेण प्रथमं विवेकस्य स्वरूपमाहुः विवेकस्त्वित्यादि । साम्प्रदायिकास्तु, 'विवेकोयं समाप्त इतः' 'एतत्सहनमत्रोक्तम्' 'एवमाश्रयणं प्रोक्तमि'त्युपसंहारदर्शनात् सामान्यविशेषभावेन विवेकधैर्याश्रयाणां स्वरूपस्यैव निरूपणमत्र ग्रन्थनाम्ना समासव्यासधारणस्य विद्वन्निष्ठत्वेन च तथा कथनस्यौचित्याचेत्याशयेन व्याकुर्वन्ति । तथा सति रक्षणप्रकारस्यार्थात् सिद्धिः । एवन्तु वचनादिति शेषः । प्रकृतमनुसरामः । विवेकशब्दः पृथक्त्वे तज्ज्ञाने वा प्रसिद्धः । यथा नित्यानित्यवस्तुविवेक इति । शीलविशेषे च यथा उचितसत्कारकर्तरि विवेकीति । "विवेकः पुनरेकान्ते जलद्रोणीविचारयो"रिति कोशात्त्रिषु रूढश्च । तदत्र किमपि न विवक्षितमिति ज्ञापनाय तुशब्दः । कस्तर्हि ? । हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति । हरिः सर्वदुःखहर्ता सर्वं स्वीयानां लौकिकालौकिकं, निजेच्छातः स्वतन्त्रेच्छातः, क्रीडेच्छातो वा, निजानामिच्छातो वा, करिष्यति । अपश्च नि॰॰॰निर्देशस्तेनैतद्विषयकमनुसन्धानं विवेक इत्यर्थः । अत्र हरिपदेन गजेन्द्रमोक्षकर्तृत्वस्फोरणात्पशुवदज्ञानामत्यन्तदुःखहारित्वं सूच्यते । निजेच्छात इत्यनेन "क्रीडाभाण्डमिदं विश्वं" "क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतमि"त्यादिवाक्योक्तं जगतः क्रीडाभाण्डत्वं स्मार्यते । इच्छाविशेषणीभूतनिजपदेन स्वस्य विशेषतस्तदीयत्वञ्च । अतः स्वस्याक्षरे क्रीडाभाण्डत्वे वा स्फुरिते, "विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः, क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थ" इत्यादिरूपेणानुसन्धेयम् । विशेषतस्तदीयत्वस्फूर्तौ "अहं भक्तपराधीनः", "मयि ते तेषु चाप्यहं," "आत्मारामोप्यरीरमदि"त्यादिवाक्योक्तं भगवतो भक्ताधीनत्वं परोक्षेण हितकारित्वं स्वनिकटवर्तित्वं स्वरूपमर्यादामप्यतिक्रम्य भक्ताभिलाषपूरकत्वं यथाधिकारमनुसृत्य भाविहितकारित्वमनुसन्धेयमिति तस्य तस्य तात्कालिकानुसन्धानं विवेक इति भावः । करिष्यतीति भविष्यदर्थकप्रयोगो भाव्यर्थचिन्ताया ज्ञापमानत्वात्तन्निष्ठत्वार्थो, न [illegible] भूतवर्तमानयोर्भगवत्कार्यत्वानुसन्धानव्यावृत्त्यर्थः । तेन फलोत्पत्त्यर्थं करिष्यतीति प्रेमाप्यनुसन्धानं विवेक इति फलति ॥ १ ॥

एवं स्वरूपं विवेकस्य निरूप्य रक्षणप्रकारं वदिष्यन्तस्तत्प्रसङ्गेन कामनापारतन्त्र्यसाधनस्य च तत्साधकत्वं इदिकृत्य गजेन्द्रवत् प्रार्थनस्यापि प्रार्थनस्यबाधकत्वञ्च इदिकृत्य ततो रक्षितुं प्रार्थनस्य फलव्यभिचारित्वं युक्त्या समर्थयन्ति प्रार्थितेवेति ।

पार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंश्रयात् ।
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥ २ ॥

चेत्यनादरे, अभ्युपगम्य दूष्यते, प्रार्थिते प्रार्थनकृते ततः प्रार्थनात् किं स्यात्? न किमपीत्यर्थः। न हि गजेन्द्रस्य प्रार्थनातो मोक्षदानं, किन्तु स्वेच्छातः। यदि ततः स्यात् प्राग्जन्मन्येव स्यात्, "जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितमि"ति वाक्यात्तदानीमपि प्रार्थनस्य तुल्यत्वात्। किन्तु, विचारितस्य मर्यादास्थापनस्य भक्त्या तोषस्य स्वसर्वात्मत्वज्ञापनादेश्च कार्यस्य जातत्वेन स्वेच्छात एव। अन्यथा "नय मामि"-त्यत्र नान्तर्दध्यात्। अथाऽपेक्षितदानप्रापकत्वात् प्रार्थनयैव चेदाद्रियते तदापि, कालविलम्बेन फलव्यभिचारेण चान्यथासिद्धत्वम्। अथ सापि चेत् कथञ्चित् परिह्रियेत तर्हि, सा भगवदभिप्रायनिश्चयकृता प्रार्थना, न तु स्वाम्यभिप्रायसंशयकालीना। तथा सति तत्रापीच्छैव कारणत्वेन पर्यवस्यतीति तत्र प्रार्थनाया व्यापारतामात्रं सेत्स्यति। संशयकालीनायास्तु तदपि न। प्रत्युताधीरत्वज्ञापकतया क्रोधोपेक्षावहतया वा बाधकत्वञ्च। एतेनैव भ्रमकालीनापि व्याख्यातैव। किञ्च, यथा तथास्तु, स्वस्य जीवत्वेनाल्पज्ञत्वात् स्वमनोरथस्याप्यल्पत्वात्प्रार्थितस्तावदेव दास्यति कुब्जाया इव। कुमनीषित्वञ्चाधिकं भविष्यति। अप्रार्थितस्तु प्रभुरलौकिकत्वाच्चतोऽनन्तगुणं दास्यति। तदुक्तं "मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुरि"ति। तदेतदुक्तं प्रार्थिते वा ततः किं स्यात्स्वाम्यभिप्रायसंशयादिति। तथा च प्रार्थनेन दाने विवेकस्य सामर्थ्यनाशः, अदाने खेदात् स्वरूपनाशस्ततोऽस्माद्बाधकादेवं विचारेण स रक्षणीय इति भावः। एतेन कामनायाः पूरकं साधनान्तरं कैमुतिकादेव निरस्तम्। प्रार्थनैव चेन्निष्फला काम्यकर्माणि किमुतेति। 'सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा, विन्देत भूयस्तत एव दुःखं यदत्र युक्तं भगवान्वदेन्न" इति तृतीयस्कन्धे काम्यकर्मणां फलव्यभिचारस्यानिष्टहेतुत्वस्य च विदुरेणैव दर्शितत्वात्। न च साङ्गाद्वैदिककर्मणः फलावश्यंभावनियमात्फलव्यभिचारो न प्रस्तावसर इति शङ्क्यम्, दक्षयज्ञादिवत् साङ्गताया एव दुर्घटत्वात्। इदं यथा तथा "कर्मणां गहनागतिरि"त्यत्र निबन्धे प्रपञ्चितमिति ततोऽवधेयम्। नन्वस्त्वेवम्, तथापि निन्दावाक्यात्कुब्जादावप्यभिप्रायाज्ञानादेव प्रार्थनस्य तथात्वं, ज्ञाने तु न तथा दोष इति स्वाभिलाषपूर्त्यर्थं प्रभुर्विज्ञापनीय एवेति चेत्तत्राहुः सर्वत्रेत्यादि। सर्वत्र ब्रह्माण्डे अन्तर्बहिश्च तस्य स्वामिनः सर्वं वस्तुमात्रमस्तीति शेषः। ह्रीतियुक्तं क्रीडार्थत्वात्, सर्वसामर्थ्यञ्च तस्यैव, "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः," "सर्वस्य वशी सर्वस्येशान," इत्यादि श्रुतेः। तथा च यदि दित्सेत् सर्वज्ञत्वादस्मदभिलाषं ज्ञात्वा तदैव दद्यात्। यदि जीवे तत्फलानुभवासामर्थ्यं पश्येत्तदपि विदध्यात्। तन्मनोभिलषितप्रकारेणैव स्वस्मिन्नपि तथात्वं प्रकटीकृत्य वा तन्मनोरथं पूरयेत्। एतदपि, "एवं सन्दर्शिताध्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता, गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यत्," दर्शयंस्तद्विदां

लोक आत्मनो भृत्यवश्यतामि"त्यादिभिरुक्तम् । एवं सत्यपि यच्च ददाति तस्माद् दित्सतीति निश्चितम् । निश्चिते चाभिप्राये प्रार्थना न प्रस्तावसरेति न प्रार्थनीय इत्यर्थः । एतदेवाभिसन्धाय श्रीमत्प्रभुचरणैरुक्तं, "यथा वयं तदीयाः स्युस्तथा सोऽपि निसर्गतः, अस्मत्प्रभुस्ततश्चिन्ता नैहिके पारलौकिके" इति । एवं कामितपूरकाद्रक्षणप्रकार उक्तः । अतः परं कामनातो रक्षणप्रकारो वक्तव्यस्तं वक्तुमाहुरभिमान इत्यादि ।

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।
विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ॥ ३ ॥

अभिमानो गर्वः । यौगिकार्थग्रहणे अभितः उभयतो मानोऽभिमानः, स्वतः परतश्च चित्तसमुन्नतिः पूजा वा । तत्सर्वमत्राभिमान इत्यनेन सङ्गृह्यते । चकारात्तत्साधनादिश्च । ॥ सम्यक् लौकिकप्रकारेण त्याज्यः । तत्र हेतुः, स्वाम्यधीनत्वभावनादिति । ल्यब्लोपे पञ्चमी । स्वस्य स्वाम्यधीनत्वं विभाव्य त्याज्य इत्यर्थः । कामनामूलं हि गर्वश्चित्तोन्नतिः पूजा च । अहमीश्वरः, ईशकुलोत्पन्नः, ईशैश्च प्रशस्यः, इत्याद्यनुसन्धान एव । तदनुरूपकामनादर्शनात् । तदनुत्पत्तिर्निवृत्तिश्च स्वाम्यधीनत्वभावनया, तद्धेतूनां तददर्शनात् । किञ्च, गर्वादिजनकस्य स्वोत्कर्षस्यापि तदधीनत्वमेव, तस्य सर्वकारणत्वाद्भावनीयम् । तथा सति यथेदं सम्पादितवान् तथाऽन्यदपि सम्पादयिष्यतीत्यपार्या कामना, तन्मूलो गर्वादिर्भेदादिभावनेन तन्निवार्य विवेको रक्षणीय इति भावः । एतेनेदमपि ज्ञापितम्, भक्तानां दासत्वात्स्वतोऽभिमानासम्भवः, किन्तु, दुःसङ्गादिवशात् । सोऽपि दासधर्मस्य स्वाम्यधीनत्वस्य भावनात्त्याज्यः । कदाचित्प्रभुः कृपया तदधीनत्वं स्वस्मिन् प्रदर्शयेद्वया वा सेवां कारयेत्तदापि, तद्भावनात्तेन न कार्यस्त्याज्यश्च । यदि वा स्वतन्त्रेच्छत्वाद्दण्डं कुर्यात्तदा खेदोऽपि त्याज्य इति चकारोऽनुक्तसमुच्चायकः । अत्र हेतुवचनादेहाभिमाननिवृत्तिस्तु न विवक्षितेति प्रतिभाति । अथ विवक्षिता तदा सेवनशरणागतमतिहृल्लेखाप्यासनिवृत्तिर्भविष्यतीति न विवादलेशः । एवमान्तरो रक्षणप्रकार उक्तः । अतः परं बाह्यं वदिष्यन्त उक्तरीत्याभिमानत्यागेन रक्षणे दवित-द्वयभिज्ञापकं भगवदाज्ञारूपमवान्तरफलमिव प्रदर्शयन्तस्तस्यां स्वाज्ञाविरुद्धायामप्रपत्तः पाशारज्जुरिति शङ्कामपि वारयन्तः, प्रयोजकविभागेन स्वरूपविभागेन विषयविभागेन च व्यवस्थामाहुर्विशेषत इत्यादि ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ।
तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् । ॥ ४ ॥

उक्तहेतुर्हेतुपञ्चम्या अत्राप्यन्वेति। अन्यथास्य मन्यस्याकरिफलता स्यात्। सेवादेर्हेतुत्वपक्षेऽपि स्वाम्यधीनत्वभावनस्य तत्राप्यावश्यकत्वात्सहकारित्वमदण्डवारितमेव। तथा च तस्मात्तत्सहकृतसेवादेर्विशेषतः श्रीमदाचार्याज्ञातो विशेषमाधिक्यं विषयीकृत्य वाऽऽग्रहबोधकप्रकारतो वा दैहिकाद्याधिक्यं वैलक्षण्यं विषयीकृत्य च चेद्भगवत आज्ञा स्यात्, तदा तत्प्रयोजकं विचारणीयं, किमयमन्तःकरणगोचरो न वा। अभ्रहल्लिङ्गमिदम्। अन्तःकरणमभिप्रायस्तस्य गोचरः विषयभूता अभिप्रायप्रयुक्ता न वेति। किञ्च, अन्तःकरणस्य गोचरः, अन्तःकरणे विषयत्वेन भाता, न तु स्वामी, न वान्यद्वारिकेतिस्वरूपमपि विचारणीयम्। न चैवं सकृदुच्चारितः शब्दः सकृदर्थं गमयतीति नियमभङ्ग इति शङ्क्यम्, मायिकत्वात्। अन्यथा श्लिष्टप्रयोगोच्छेदप्रसङ्गात्। अर्थोर्थद्वयमप्यत्र सङ्ग्राह्यम्। तत्र यद्यन्तःकरणप्रयुक्तत्वेनान्तःकरणे भाता स्वामीप्रभृतित्वदुष्टत्वेन च भाता, तदा तु दैहिकादेहसम्बन्धिनो भिक्षाद्यां विशेषगत्यादि भाव्यमुत्साधं कार्यमिति यावत्। तथा चायमर्थः। आज्ञाविषयविचारेण तत्प्रयोजकं निभेयम्, यदि दैहिकविषया तदा नाभिप्रायपूर्विका, किन्तु, परीक्षार्था, तदा ततोऽवगतं विशेषगतिसाधनादिकं न कार्यम्। यदि स्वसेवाविषया, यदि वा सेवाप्रतिबन्धकनिवर्तकविषया तदा साभिप्रायपूर्विका, ततस्तदवगतो विशेषः सामर्थ्यादिविषयस्तादृशी गतिस्तीर्थदेशान्तरादिविषया, आदिपदेन तादृशं तत्साधनञ्च कार्यम्। तेन यावतो रक्षणमान्तरस्य स्वतुष्टिस्त्वाभिज्ञानमाज्ञाद्वयं विरोधपरिहारश्चेति सर्वं सामञ्जस्यमिति भावः। पुष्टिमार्गस्य नानाविधस्यापि कृपात एव प्रकटनात्। "सर्वधर्मान् परित्यज्य," "तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य," "मम तथाखिलसेव्यपाथिपि"त्यादिवाक्यैः शरणागतौ सेवायां च भगवत्तात्पर्यात्। "अनन्याश्चिन्तयन्तो मामि"तिवाक्येन भगवत एव जीवस्याखिलनिर्वाहकत्वावगतेश्च नात्र कोपि शङ्कालेशः।

ननु दैहिकातिरिक्तविषयाया भगवदाज्ञायां जातायां यदि तद्विरोधिनी काचिदापदन्तरा समागता, तदा आज्ञायाः करणे निर्वाहाभावादाज्ञायाऽसिद्धिः, अकरणे तद्भङ्गात् स्वामिद्रोह इत्युभयतः पाशारज्जुरित्यतस्तत्रोपायमाहुरापदित्यादि।

आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा।
अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम्॥ ५॥
विवेकोयं समाख्यातः

उक्तहेतुरत्राप्यनुवर्तते, आपदो गतिः आश्रितापद्गतिः, सा आदौ येषां, तादृशानि यानि कार्याणि, अत्र शर्या इति यावत्। तेषु "स्वाम्यधीनत्वभावनात्" हठस्त्या-

ज्यश्चाग्रहस्त्याज्यः । चोऽप्यर्थे । अयमाशयः, निर्वाहो ह्यभिप्रायस्य लिङ्गम् । प्रतिबन्धकाभावे निर्वाहाभावात्साऽऽज्ञा नाभिप्रेता, परीक्षार्थैवेति निश्चेयम् । नहि भगवतो भक्ताऽऽपदभिप्रेता, [redacted] वा कालादयस्तत्र प्रभवन्ति, "ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहमि"ति वाक्यात् । अत आपत्पराभूताया आज्ञायाः परीक्षार्थत्वेनानभिमतत्वान्नोक्तदोषः । किञ्च, हठेऽनिष्टसम्भवात्सेवायामतिबन्धः पर्यवस्यतीत्यतो हठो न कार्य इति ज्ञापनाय सर्वथेति । उक्तसमुच्चयार्थश्च । एतेनैतद्करणे हेत्वनुसन्धानप्रावल्यादभिमाननाशे विवेकपोषणम्, हठे तु तन्नाश इति द्वितीयं कायिकं हठत्यागेन करणरूपं रक्षासाधनमुपदिष्टम् । अथ दैहिकादिविषये व्यवस्थामाहुरनाग्रह इत्यादि । सर्वत्र दैहिके चोनुक्तकार्यान्तरसम्बन्धिसम्बन्धिन्यन्यस्मिंश्च कार्ये अनाग्रहः, "कार्य" इति शेषः । सायासम्पौदान्वरसमुच्चायकः । तथा च, स्वतःसिद्धावतिसुखसाध्ये च न विचारः । सायासं चेत्सौन्येन कार्यं, तेन विवेकपोष इति भावः । अत्र हेत्वनुक्तिर्बोध्या । नन्वस्त्वेवं लौकिके, परं वैदस्य तु सामान्याज्ञाविषयत्वादाग्रहः प्रसज्येतैवेति चेत्तत्रोपायमाहुर्धर्मेत्यादि धर्माधर्मयोर्विहितनिषिद्धयोरग्रं पर्यवसितं परिणामस्तस्य दर्शनं विचारस्तत्कार्यमिति शेषः । पौराणस्मार्तश्रौतानामुत्तरोत्तरमुत्सर्गतो बलिष्ठत्वं, तथैव शारीरात्मभागवतधर्माणाम्, तेषु स्वयं तादृशे भगवद्धर्मे निष्ठितस्तदविरोधिपरिणामकः कार्यः, इतरो न कार्यः । तथा अधर्मोऽपि म्लेच्छसम्भाषणानुसरणादिरूपो बुद्धिमक्लुपयन् स्वधर्मनिर्वाहाय चेद्युक्त्या कार्यः, इतरस्तु न कार्य इति । तत्रापि "स्वाल्पधीनस्य मावनाद्यपातस्सिद्धिस्तथा विवेकरक्षणमनुसन्धेयमिति भावः । एवं सपरिकरं विवेकं निरूप्योपसंहरन्ति । विवेकोयं समाख्यात इति, अयं न लभ्यो विवेकः । सम्यक् रक्षाप्रकारोपदेशपूर्वकमाख्यातः प्रमाणयुक्तिगर्भाभिरुक्तिभिः कथित इत्यर्थः ।

एवं विवेकं निरूप्यातः परं प्राप्तावसरं धैर्यं निरूपयन्ति धैर्यन्तु विनिरूप्यते इति ।

धैर्यन्तु विनिरूप्यते ।

पूर्वोक्तरीत्या विवेकरक्षणे जिह्वोपस्थनयनादिरूपस्य धैर्यस्य प्रसङ्गत एव सिद्धेस्तन्निरूपणं न प्राप्तावसरमिति शङ्कानिरासाय तुशब्दः । विवेकस्वरूपे हृदयारूढे धैर्यं स्वत एव भवेत्, परं याथात्म्येन स्वरूपे अज्ञानेऽरक्षणे च कदाचिदिन्द्रियच्छिद्रपेयादपि, अतस्तदर्थं विशेषेण निरूप्यते रक्षणोपायसहितं कथ्यत इत्यर्थः ।

विवक्षितं धैर्यस्वरूपमाहुस्त्रिदुःखेत्यादि ।

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।

तक्रवद्देहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥ ६ ॥

आमृतेः सर्वतः, "मृति" शब्दो मरणकाललक्षणः। "मृति" मनर्क मर्यादीकृत्य सर्वस्मात् सदा सर्वकाले त्रिदुःखसहनं श्रयाणामाधिदैविकादिभेदभिन्नानां कायिकादिभेदभिन्नानां कालकर्मस्वभावजानां "त्रैवर्गिकापायविघाते"ति तन्त्रवाक्यात् त्रिवर्गसम्बन्धावच्छिन्नानाञ्च सहनं यर्पणश्रुपेक्षणयप्रतीकारयुक्तोऽनुभवो धैर्यमित्यर्थः। ननु भगवदीयानामाधिदैविकादिदुःखसम्भावनैव नास्ति, यतः कालादयोपि न, तद्दुःखहेतवो भवन्ति इति कथं तत्सहनोक्तिः, इति चेत्—भगवता धैर्यपरीक्षार्थं कालाद्यस्तथा प्रेर्यन्ते, अतः पूर्वं भगवद्रूपादेव न मद्वित्तिस्ततस्तदाज्ञयाऽऽज्ञाभङ्गभयात्मद्वृत्तिरपि सम्भवति, यतो भगवतैवोच्यते "भयाद्वाति वातोयमि"त्यादि, श्रुतिश्च "भीषास्मादि"त्यादि। अयं न्यायः कालादावपि तुल्यः, भगवन्नियम्यत्वस्य तत्रापि समानत्वादिति। ननु भगवतः सर्वज्ञत्वेन परीक्षाकरणमपि न सम्भवति तत्कथं परीक्षार्थं तथा करणम्, किञ्च, परीक्षार्थं भक्तेषु दुःखं ददातीत्यपि नोचितमिति चेद्, अत्रापि वदामः। भगवति सर्वज्ञत्वादिधर्मास्तु ज्ञानादिमार्गे साधारणेच्छायां प्रकटाः। पुष्टिमार्गे विशेषरमणेच्छायां तद्रीत्यैव सर्वं करोतीति नानुपपत्तिः। यतः "स्वागतमि"त्यादिना अन्तरङ्गभक्तेष्वपि परीक्षैव कृता। द्वारकालीलायामपि "अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु, क्वचिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सये"ति श्लोकरीत्यापि तथाकरणमुक्तम्। अपरञ्च, "मद्गम्यते न भासन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी"ति भगवता भक्तिमार्गरीत्या भक्ताविरिक्ताज्ञानं स्वस्योक्तम्, तेन ज्ञायते भक्तिमार्गे लौकिकरीतिमेव भूयः प्रदर्शयतीत्यतोपि नानुपपत्तिः काचित्। किञ्च, दुःखदानस्यायुक्ततायामप्युच्यते। साक्षात्स्वरूपात्मकाभयदानार्थमेव धैर्यपरीक्षा क्रियते इति माताध्यापनार्थताडनवत्, पर्यवसानतः सुखरूपत्वमेवेतिनोक्तशङ्कालेशः। प्रकृतमनुसरामः। धैर्यस्वरूपमुक्त्वा दृष्टान्तपुरःसरं तद्रूपप्रकारमाहुस्तक्रवदित्यादि। भाव्यमित्यस्य पिण्डश्चान्वयः। तक्रवतो राजकलत्रस्य देहस्तक्रवदेहस्तेन तुल्यं स्वदेहादौ भाव्यमित्यर्थः। इयञ्चाख्यायिका—

"हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदष्टं
देशान्तरे विधिवशाद्गणिकास्मि जाता।
पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा
शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रमि"ति

श्लोके प्रसिद्धा। तथा च, तया यथा स्वदेहादिपोषणसाधनीभूते तक्रे गते स्वदेहावस्थामनुसन्धाय शोकाभावपुरःसरमप्रतीकारेण दुःखमेव सोढं, तथा स्वस्याधि-

१ दुःखदाने समर्थाः, न भक्तावपकारस्येत्येव तथा, वेदरेणितिति तात्पर्यं, यत्नयासावसत्र भगवदीयत्वस्य तुल्यत्वात्। तत्र कथं त्रिदुःखसहनोक्तिरिति चेदं। इत्यधिकं क्वापि।

भौतिकलौकिकसाधनीभूतधनपुत्रादिगमनेपि शोकमकृत्वा अप्रतीकारेण दुःखसहनार्थं तथा भावनीयम् । वैष्णवत्वलाभानन्तरं तेषां हेयत्वैव यतः । अत एव निबन्धेपि श्रीमदाचार्यैः "प्रतिकूले गृहं त्यजेदि"त्यादिना त्याग एव तेषामुक्तः । अथवा दृष्टान्तद्वयमिदम् । तत्र पूर्वो व्याख्यातः । द्वितीयस्तु, देहः किमन्नदातुर्वा निषेक्तुर्मातुरेव वा ? मातुः पितुर्वा बलिनः क्रेतुरग्नेः शुनोपि वे"ति देहः साधारणो नात्मीयस्तथा सर्वेपि तत्तद्देहसम्बन्धित्वात्साधारणा इत्येवं तदर्थमनुसन्धेयमित्यर्थः । भौतिककायिक-कर्मैश्वार्थिकदुःखसहने दृष्टान्त उक्तः । आध्यात्मिकसहने दृष्टान्तमाहुर्जडवदिति । यथा जडभरते मुक्तिसाधनसत्त्वेपि तेन पूर्वं मृगशरीरमासितमध्यं ततो भ्रातृमात्रादिकृतं भद्रकालिबलिदानभयपर्यन्तं, ततो रहूगणशिबिकावाहनसामयिकं सोढं, तथा आध्यात्मिककालज्वरादिदुःखं सोढुं, तद्वदाख्यम् । किञ्चैतद्देहानन्तरं * साक्षात्सेवोपयोगिदेहे वियोगादिदुःखेपि तत्सोढुं जडवदधुना भावनीयमित्यर्थः । किञ्च, भाव्यमित्यनेन अवश्यं भाव्यत्वमपि द्योत्यते । तेनाप्रतीकार्यत्वात्तन्निवारणार्थं यत्नो न कर्त्तव्य इत्यपि सूच्यते । आधिदैविकस्वाभाविकादिसहने दृष्टान्तमाहुर्गोपभार्यावदिति । भार्याणां समूहो भार्यम्, गोपानां भार्यं गोपभार्यं, तेन तुल्यं भाव्यम्, यथान्तर्गृहगतो गोपानां भार्यासमूहो भगवद्विरहेणाधिदुःखं सोढ्वा ततो ध्यानप्राप्तभगवत्सान्निध्यसुखमनुभूया-पुण्यपुण्योपरमे निर्गुणदेहेन भगवन्तं प्राप्तस्तथाहमपि भरत्यादिसम्भवमुभयं सोढ्वा प्राप्स्यामीति दुःखसहनार्थमनुसन्धेयम् । एवं प्राप्ते प्राधिरत्वनिरासाय समूहदृष्टान्त इति सर्वं सुस्थम् ॥ ६ ॥

अतः परं यदृच्छातः प्रतीकारोपस्थितौ यदि सहनाग्रहस्तदा विवेकहानिराग्रहश्च, यदि तूष्णीकत्वं तदा दुःखनिवृत्त्यसहनाभावेन धैर्यहानिराश्रयभङ्गश्चेत्युभयतः पाशायां रज्जौ समाधानार्थमाहुः प्रतीकार इत्यादि ।

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥ ७ ॥

यदृच्छातो भगवदिच्छातः स्वकृतोपायं विनेति यावत् । आग्रहीति निन्दायामिनिः । "भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने, संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादय" इत्यभियुक्तोक्तेः । तथा च, भगवदिच्छया सिद्धे प्रतीकारे निन्दिताऽऽग्रहवान्न भवेत् । परमानाग्रहेऽभिमत्याभावाद्धैर्यस्य निवृत्तिर्भगवदिच्छानुसन्धानाद्विवेकस्य भङ्गः करणादाग्रहोऽप्यभङ्ग इति सर्वं सामञ्जस्यमिति भावः । यद्वा योग्यम् । अक्रमं दोष-

* [illegible] साक्षात्सेवोपयोगिदेह इति पाठान्तरम् ।

भार्यवत् प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्ध्येच्चाग्रही भवेदिति । तथा च, यथा जडो भगवदिच्छया रहूगणेन संवदन् शिबिकावाहनार्थं नाग्रहवान् जातः । यथा च रासमण्डलमण्डनायितं गोपभार्यं वियोगतापे भगवदिच्छया गुणगानस्मरणरूपदर्शनादिरूपप्रतीकारोपस्थितौ भगवदिच्छानुरूपमेव व्यवहृतवत्, तथा स्वयमपि स्वाधिकारानुसारेणानाग्रही भवेदित्यर्थः । तत्समूहस्याऽनाग्रहोऽपि श्रीमदाचार्यैः "गत्या ललितयोदारे"त्यत्राभासे "यदा पुनरि"त्यारभ्य "स्वयमाविर्भूत"इत्यन्तेन "त्वयि धृतासव" इत्यत्र "त्वदर्थमेषे"त्यारभ्य "सदैव त्यक्षन्ती"त्यन्तेन, "दुस्त्यजस्तत्कथार्थ" इत्यत्र च स्फुटीकृतः । चेदित्यनेन तादृक्तापे शीघ्रं स्वाश्रयं दातुं प्रभुरेव प्रतीकारं सम्पादयति । न सम्पादयति चेदिति स्वयं तदर्थं न यतेत । तथा सति प्रभोरनभिप्रेतत्वेन कोपादेरपरीत्यापत्तिरित्यपि सूच्यते । अतः परं कायिकं रक्षासाधनमुपदिशन्ति भार्यादीनामित्यादि । भार्यादीनामिति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तेन येऽत्यन्तस्वनियम्यास्तेषाम् । अन्येषां विभक्ताविभक्तबान्धवादीनामुदासीनानाञ्च, असतो दुर्जनस्य, "दुःसहमिदं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रममि"ति वाक्याद् दुःसहत्वात्पृथग्निर्देशः । एतेषामाक्रमं तिरस्कारं सहेत । आक्रमपदस्य योगेन पादप्रहारपर्यन्तता बोध्यते । सहेदिति अनुदात्तेत्वलक्षणस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात्परस्मैपदम् । ब्रह्मचारिप्रभृतीनामन्येषामेकाकिनाञ्च भार्याद्यभावादुक्तत्र्यभावाच्च त्रितयनिर्देशः । तेषां सेवाप्रतिकूलत्वे त्यागरूपमेव सहनम् । स्वाविवेकमात्रप्रातिकूल्ये च तत्प्रतीकारेण तिरस्कारमर्पणमेव सहनं तदापरेदित्यर्थः । अत्रोपायो निबन्ध उपदिष्टः । "सर्वं सहेत परुषं सर्वेषां कृष्णभावनादि"ति । "एतदन्तः स्थितः कृष्ण एवास्मानुपदिशती"ति च व्याख्यातम् ॥ ७ ॥

एवमाक्रमसहनोपदेशो गृहस्थितिरागता । तथा सतीन्द्रियकार्यकरणमर्पाक्षिप्तं, तत्राऽऽसक्तौ न धैर्यस्वरूपस्य सामर्थ्यस्य वा नाश इति तन्निवृत्त्यर्थं साधनान्तरं रक्षणस्योपदिशन्ति स्वयमित्यादि ।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥ ८ ॥

स्वयमित्युभयत्र आग्रहेणेति यावत् । इन्द्रियकार्याणि ज्ञानक्रियाप्रधानान् भोगान् कायवाङ्मनसो कायवाग्भ्यां सहितं मनस्तेन सर्वात्मना त्यजेत् । क्रीडायामपि नाददीत, तेषामत्यन्तबाधकत्वादित्यर्थः । बाधकत्वञ्च, "विषयान्ध्यायतः पुंस" इत्यादिना गीतायां स्फुटमेव । कायेन त्यागो भोग्यानुपादानम् । वाचा त्यागः शुभा-

१ सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाषैकवत् ।

शुभत्वाकीर्तनम् । मनसा त्यागस्तन्निःस्पृहत्वम् । न चैवमुपयम्य त्यागे आग्रहापातेन विवेकहानिः प्रसज्येतेति शङ्कनीयम् । आग्रहस्योपभोगयत्नांश एवोपसंशेण विवेकभङ्गाऽसमर्थत्वात् । ननु "स्वयं त्यजे"दित्यनेन यादृच्छिकस्याऽत्यागः प्राप्तः, उचितं चैतत् । अन्यथा शरीरयात्रानिर्वाहाभावेन साधनस्याप्यनुष्ठानाशक्तिप्रसङ्गात् । अत्यक्ते च यादृच्छिके तस्यापि विषयत्वेन बन्धनस्वभावत्वादिन्द्रियाण्याकर्षणीयानि, तथा सती"न्द्रियैर्विषयाऽऽकृष्टैरि"ति प्रमाद्या सर्वनाशप्रसङ्गः । न च ततो रक्षार्थं स्वभावो विजेतुं शक्यः । आरम्भदशायां तादृक् सामर्थ्याभावात् । "स्वभावविजयः शौर्य"मिति वाक्येन तस्य शूरकार्यत्वात् । अतः कथं धैर्यरक्षेत्यतस्तत्रोपायमाहुरङ्कुरेणापीत्यादि । स्वभावमिन्द्रियाणि च जेतुमसमर्थेनापि स्वस्यासामर्थ्यं भावयित्वा इन्द्रियकार्यत्यजनं कर्तव्यम् । किं करोमि, मन्दभाग्योऽहमसमर्थ एतावत्पर्याप्तं मया पालयितुं न शक्यते, इत्यादि भावनीयम् । एवं प्रयतमानस्य ज्ञानाद्विन्द्रियाणां कौण्ठ्यं, विषयैरपि तथा अनाकर्षात् क्रमेण तत्सिद्धिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

अत्राप्यशक्तौ पुनरन्यमुपायमाहुरशक्य इत्यादि ।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।
एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ॥ ९ ॥

एवमप्यशक्ये हरिरेवास्ति शरणमिति शेषः । नन्वेवं शरणोपदेशेन कथं तत्सिद्धिरित्याकाङ्क्षायामाहुः सर्वमाश्रयतो भवेदिति, "सर्वधर्मान्परित्यज्ये"ति शरणोपदेशवाक्ये स्वस्यैव पापमोचनस्वकथनेन शोकनिवारणेन च आश्रयादेव सिद्धिबोधनात्तथेत्यर्थः । एवं धैर्यं सपरिकरं निरूप्योद्देशक्रमेणाऽऽश्रयनिरूपणस्य प्राप्तावपि शरयन्ति एतदित्यादि । अत्र शरणमार्गे एतदुक्तसाधनरूपनान्ते धैर्यमुक्तम् । तथा "अशक्य" इत्यादिना यदाश्रयणमुक्तं तदपि धैर्यासङ्गतोपसंहारार्थत्वेनोक्तःप्रायेण, नन्वाश्रयरूपमित्यर्थः । अतः परं क्रमप्राप्तं प्रधानपाश्रयं निरूपयन्ति आश्रयोतो निरूप्यत इति । अतः तावता चारित्रार्थोऽपासादावरूपस्याप आश्रयो निरूप्यत इत्यर्थः । आश्रयशब्द आधारे योगरूढः । सेवने यौगिकः, आमदन्तान् श्रवणं सेवनमाश्रय इति । तत्र प्रकृते किं विवक्षितमित्याकाङ्क्षायां तस्य स्वरूपमाहुरैहिक इत्यादि ।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।
दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥ १० ॥

"इदाश्चयं हि स्पर्शं गां हरिर्यातिं प्रगुणत्वम्, यथा मे हरिरेव शरणमिति" "इदानीम्-इति भारते भगवद्वाक्यान्युक्तानि पारमार्थिकस्योर्गणां गतिरेवान्ता नमिताः" "इतातान्

वक्ष्यामी"ति श्रुत्या स्वतः श्यामवर्णः पुरुषोत्तमो हरिः, ऐहिके एतज्जन्मसम्बन्धिकार्ये फलभोगे स्वमनोऽभिलषितसेवादिसाधने तत्सम्पादने च, परलोके एतज्जन्मान्तरभाविनि जन्मनि, चकारात्तत्र सुखदुःखफलभोगे भगवदिच्छानुरूपसत्त्वादिसाधने तत्सम्पादने सर्वथा "शरणं रक्षणे गेहे वध रक्षकयोरपी"ति कोशात् । तदस्ततः प्रमादादिभ्यो रक्षणात्मा, तत्र तत्र गेहात्मा, तत्तत्प्रतिबन्धनिवृत्त्यात्मा, तत्र तत्र ततस्ततो रक्षकश्च, स्वयमेवास्तीत्यनुसन्धानमाश्रय इत्यर्थः । तेनात्र चित्तस्यैवं भगवत्प्रवणत्वरूपसेवाविशेषात्मा स्वीकृतः । अन्यैरपि " मामाश्रित्य यतन्ति ये," मां हि पार्थ व्यपाश्रित्ये"त्यत्र चित्तसमाधानत्वेन इतरवैमुख्यपूर्वकशरणागतित्वेन आश्रयतया ग्रहणत्वेन व्याख्यातः । शरणागतिश्च रामानुजाचार्यैस्तमेव शरणं गच्छे"त्यत्रानुवर्तितत्वेन व्याख्यानात् । शङ्करभाष्ये तु " मामेकं शरणं व्रजे"त्यत्र भगवदनतिरिक्तानुसन्धानत्वेन व्याख्यातः । मधुसूदनीये तु "अस्यैवाहं" "ममैवायं" "स एवाहमि"ति त्रिधा, भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकत" इति भक्तिपूर्वकमेवमनुसन्धानत्वेन । अत्राप्येतदेव स्वीकृतम्, परन्तु, मायावादनिरासाद् ब्रह्मवादेनाऽविहितभक्तेराधिक्येन चेति विशेषः । एवं प्रकारेण सदा येषां भावो भवेत्तदा तेषां भगवता आश्रयो दत्त इति ज्ञातव्यम् । कदाचित्कदाचिद्विच्छेदे तु साधनावस्था, कदाचिद्भवनेऽप्यारम्भदशा, रक्षकत्वमात्रभाने त्वाश्रयस्य भावित्वमित्याद्युक्तम् । अयमेवाश्रयो भक्त्यधिकारिणां भक्तिं पोषयन्नुत्तमः । तां जनयन् भक्तिमार्गीयः जनयिष्यन् भक्तिमार्गानुकल्परूपः । एवमेव ज्ञानाधिकारिणां ज्ञानपोषणादि कुर्वन् तन्मार्गीयः । कर्मकल्पस्य वैराग्यस्य पोषणादिकं कुर्वंस्तन्मार्गीय इति ज्ञातव्यम् । एवं स्वरूपं निरूप्याश्रयलक्षणप्रकारमाहुः दुःखेत्यादि । एवं चित्ते सदा भाव्यमित्यादिना अभिप्रेणान्वयः । तथा च दुःखहान्यादौ हरिः सर्वथा शरणं भाव्य इत्यर्थादाधिके कर्मयोगे सिद्धे दुःखहानावित्यादौ कश्चित् कश्चिन्निमित्तात् कर्मयोग इत्यनेन सप्तमी । तेन दुःखहान्यर्थं शरणं गतस्य शरणदानाज्ञानजनितं जीवबुद्ध्या दुःखे, तद्धान्यर्थं तथेत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । साम्प्रदायिकाभिमते विषयसमीपस्थे तु दुःखहानिविषये तथेत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । दुःखनिवृत्तौ आश्रयविस्मरणाऽभावार्थमुपदेश इति श्रीरघुनाथचरणाः । भक्तिमार्गीयस्य सेवायां महत्तस्य दुःखप्रतीकाराकरणाद् दुःखहानौ धैर्येण चित्तोद्वेगादिसम्भवात् तदभावार्थं शरणभावनमेव कर्तव्यमित्येतदर्थमिति श्यामगोपीवराः । गोकुलोत्सवास्तु नात्र किमपि व्याचख्युः । एवं सर्वत्र तत्तद्धान्यादिविषयोऽप्यरेयः । तत्रापि भक्तिं पोषयन् सपरिकर आश्रयो गोपीशैर्विवृतः । भक्तिं जनयन् जनयिष्यंश्चेत्युभयविधः प्रकारभेदेन श्रीरघुनाथचरणैर्गोकुलोत्सवैश्च विवृतः । अत्र त्वाधुनिकानां श्रीमदाचार्यमार्गप्रविष्टानामपि स्वभावभेदेन तत्तद्विषयनात्तत्तदधिकारानुसारेण तत्फलसिद्ध्यर्थे सर्वप्रकारको दिग्मात्रं प्रदर्श्यत इति न कोऽपि क्वापि विरोधः । तथा

पाप इति । सेवादिप्रतिबन्धकपापे दैवाज्जाते वा भगवदपराधे चेत्यर्थः । भये, स्वस्य जीवस्य तुच्छत्वात्कथं ब्रह्मादिदुरापचरणरेणोः प्राप्तिरिति भये, भयान्तरे च । कामाद्यपूरणे, काम आद्यो येषां, तद्गुणसेवाविज्ञानः, अलौकिककाममुख्यामुख्यगुणज्ञानात्मकपोषाणां पूरणे पूर्त्यर्थं कामादेरपूरणे वा ॥ १० ॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥ ११ ॥

स्वस्य कामादिपूर्त्यै तस्या अन्यत्रादर्शने पश्चाद् अवज्ञायां, प्रकारान्तरेण वा द्रोहे, भक्तद्रोहापराधो मर्यादायामपि न दूरीकर्तुं शक्यते, यथा दुर्वाससोम्बरीषयोः विषये, किं पुनः पुष्टिमार्गे । अतस्तन्निवृत्त्यर्थमयमुपदेशः । स्वस्य, स्वीयानां चोत्कटानुत्कटभक्त्यनुत्पत्तौ दुःसङ्गादिना तन्नाशे च । भक्तैश्चातिक्रमे कृते तत्सहनार्थमयमुपदेशः । ते विना निमित्तं सर्वथा कमपि नातिक्रामन्ति । अपातिक्रामन्ति तदा स्वस्मिन्कोपि दोषोस्ति । ततस्तन्निवृत्त्यर्थमयमिति व्याख्यानोपीशाः । अशक्ये वा सुशक्ये, वा शब्दोप्यर्थः । स्वकृत्यसाध्ये स्वकृतिसाध्ये च सर्वथा व्याप्यव्यापककारेण कायवाङ्मनोभिर्वा सर्वदुःखहर्तैव शरणम् । सुशक्ये शरणोपदेशोऽहङ्काराभावार्थ इति भावः । एवं विशेषेणायं सर्वोप्युपदेशो विवेकाभावेपि आश्रयस्यासहायशूरत्वार्थ इति मम प्रतिभाति । धैर्याभावेपि तथात्वार्थमङ्गुरहङ्कारेत्यादि ।

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ॥ १२ ॥

अहङ्कारकृते अभिमानेन कृते, तद्दोषनिवृत्त्यर्थमभिमाननिवृत्त्यर्थञ्चायमुपदेशः । चकारः सर्वत्रानुक्तसजातीयसमुच्चयार्थः । एवकार उपायान्तराद्युपदेशव्युदासार्थः । पोष्यपोषणरक्षणे सम्भावनेन तद्रक्षणस्य लौकिकत्वात्करणे स्वस्य सेवादिवियानादूरत्वे भगवत्पोष्याणां तेषामुभयसामञ्जस्यार्थमिदम् । पोषणविधावपि रक्षणविधायां ■ पोष्यातिक्रमणे । पोष्यैः सह निर्वेदितैः कृते, स्वयं वा तेषां कृतेऽतिक्रमणे आसुरं भावं विना तदभावात्तदपि तन्निवृत्त्यर्थं स्वस्यस्वन्यायार्थं चेदम् । तथान्तेवास्यतिक्रमे, अत्रापि तथा, । तस्मिन्स्वकृतोपकारानुसन्धानेन सर्वांशनिवृत्त्यभावादपि निवृत्त्यर्थं पृथगुपदेशः ॥ १२ ॥

---

१ कोऽपि पुरातनग्रन्थो नोक्तो देव तत् पोष्यपोषणस्य, अतस्तस्यौचित्योत्पत्तिविषयिणी सम्प्रत्ति, इत्यपि च ।

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।
एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥ १३ ॥

अलौकिकमनः सिद्धौ, निमित्तसप्तमी। "मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धञ्चाशुद्धमेव च। अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितमि"ति श्रुतेः। कामसङ्कल्परहितमनःसिद्ध्यर्थं सेवाद्यर्थमनुकूलमनःसिद्ध्यर्थमित्यर्थः। सर्वार्थं पुष्ट्यादिमार्गीयसकलपुरुषार्थार्थम्, अतिदीनभावसिद्ध्यर्थोऽयमुपदेशः। शरणं हरिः व्याख्यानमेतत्। एवं विषयमुपदिश्य रक्षणप्रकारमाहुरेवमित्यादि। चित्ते भावनेन भगवानाश्रयं ददाति। क्षणमात्रमप्यातुरत्वेऽशाभावार्थं सदेति। वाचा परितः कीर्तनेन मार्गः प्रचलति। तेनोभयोपदेशः ॥ १४ ॥

कायिकमाहुरन्यस्येत्यादि।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।
प्रार्थनाः कार्यमात्रेऽपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अन्यस्य भगवदतिरिक्तस्य भजनं वर्जयेत्। अन्यं देवत्वेन कामपूरकत्वादिबुद्ध्या वा न सेवेत। तत्र स्वतो गमनमेव च, तत्स्थानभूते तत्र तत्समीपे स्वत उद्यम्य गमनञ्च वर्जयेदेव। "यावदन्याश्रयस्तावद्भगवानपि न तनुम्, निरीक्षयेन्न दयया ह्यनन्यजनवत्सल" इति वाक्यादन्याश्रये भगवानाश्रयमपि न दद्यादिति ज्ञापनार्थं चकारः। कौतुकार्थमप्यविशकालयापने नन्दग्रामस्योक्तत्वात्। मध्येमार्गं सामीप्ये जाते तद्दर्शनं न कुर्यात्, भगवत्सेवकत्वाज्जगत्त्वादिकं भावयेदित्यपि सूचितम्। प्रार्थनाः कार्यमात्रेऽपि वर्जयेत्। तेन कार्येऽप्यामोहे भगवति प्रार्थना कदाचित् सकृत्कुर्यादपीति सूच्यते। श्रीरघुनाथचरणैस्तु प्रार्थनापदं प्रथमान्तं प्रार्थैत्यध्याहृत्य व्याख्यातम्। "अप्रार्थितानि वस्तूनि या काचित्क्रियमारभते हरिम्। अप्रार्थितानि मर्यादस्तस्य तुष्यति केशव" इति विष्णुधर्मीयसङ्कटगीतावाक्येनोपष्टम्भश्च। तथा च प्रार्थनापदं विज्ञापनपरमिति तेषामाशयः। एवञ्च न पूर्वग्रन्थविरोधोपीति युक्ततरमेव वैविध्यम्। याचनक्रियायां साधारणकारणीभूतः कायादिव्यापारोऽयं ददात्वित्यभिसन्धिपूर्वको वा सः प्रार्थना। तदकारणपनयिषांहिन स्वज्ञातवस्तुस्वरूपस्य कथनं विज्ञापनमिति तयोः स्वरूपभेदाद्युचितं चैतत्। स्वाम्यधीनत्वदार्ढ्यं न विवेकोपष्टम्भात्। आज्ञाया विलम्बे धैर्यस्याप्युपष्टम्भादाश्रयदार्ढ्येन तस्य शीघ्रं स्वकार्यक्षमत्वसिद्धेरिति। तथान्यत्र विवर्जयेत्। यथा भगवति सकृत्प्रार्थनं सर्वविज्ञापनञ्च, तथेतरेषु विशेषेण वर्जयेत्, तदुभयमपि सर्वथा न कुर्यादित्यर्थः। मनसाप्यविचारणं वर्जने विशेषः। एवं कायिकमुपदिष्टम् ॥ १४ ॥

अतः परमेकः सर्वसिद्ध्यर्थं बाधकत्यागोऽवश्यं कर्तव्यस्तमाहुरविश्वास इति ।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥ १५ ॥

"मदुक्तावि"ति शेषः । "आश्रय" इति वा । सर्वथेति, स्वरूपतः फलतश्च । तु पूर्वपक्षनिरासकः । "यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ती"ति श्रुतिम्, "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यती"त्यादिस्मृतिञ्च प्रमाणत्वेनाक्षिपति । तर्हि अविश्वासनापोपायो वक्तव्य इत्यत आहुः ब्रह्मास्त्रेत्यादि । ब्रह्मास्त्रं चातकश्चेत्युभौ अविश्वासस्य बाधकत्वे विश्वासस्य साधकत्वे च यथा यथं भाव्यौ चिन्तनीयौ, तयोर्वृत्तान्तः स्मर्तव्य इत्यर्थः । यथा लङ्कायां राक्षसैर्ब्रह्मास्त्रेण हनुमान् बद्धस्तत्परं बद्धं निश्चेष्टमालोक्य ते रज्जुभिर्बध्नुमारब्धवन्तस्तदा तेषां विश्वासाऽभावं दृष्ट्वा ब्रह्मास्त्रं ततो निर्गतं, हनुमान्मुक्तश्चासो रज्जुबन्धनानि बभञ्ज । तेन तेषां प्रयोगप्रयासो व्यर्थोऽभूत् । तथात्राविश्वासे भगवानपि त्यजति भक्तिमार्गे शरणमार्गे च प्रवृत्तिरपि तथा भवतीत्यविश्वासे दृष्टान्तः । चातकः पक्षिविशेषः, स च स्वातिबिन्दुप्राप्त्याशयावर्षपर्यन्तं, विश्वासेन तिष्ठति, तेन तस्य क्षेमं निर्वहति, पुनश्च स्वातौ पर्जन्यो वर्षत्येव । तथात्र श्रीमदाचार्योक्तौ विश्वासे, तथा भगवति मार्गे च विश्वासे सर्वं सिद्ध्यतीति विश्वासे दृष्टान्तः । तथा चाविश्वासं परित्यज्य विश्वासं कृत्वा प्राप्तं सेवेत निर्ममः, लौकिके ममतां परित्यज्य यदृच्छया प्राप्तं सुखं वा दुःखं वा तत्साधनं वाऽनुभवेत्त तत्राभिनिवेशेदित्यर्थः ॥ १५ ॥

अनभिनिवेशे लौकिकादिनिर्वाहप्रकारमाहुर्यथा कथञ्चिदित्यादि ।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥ १६ ॥

उच्चानि सेवार्थानि, अवचानि लौकिकार्थानि, उभयान्युभयविधानि वा यथा कथञ्चित् कुर्यात् न तु ऋणादिना, नापि लौकिकप्रकारमार्गेणेत्यर्थः । यद्यपि कथञ्चिन्निर्वाहसम्भवे तत्राप्युपायमाहुः किं वेत्यादि । बहुना प्रोक्तेन किं, न हि पारन्तः प्रकाराः कालकर्मस्वभावप्रकर्षादिनिबन्धना आनन्त्याद्वक्तुं शक्यन्ते । तस्मादिष्टाप्रेक्षितेषु यः प्रतिविधानोपायः पूर्वमुक्तस्तमेव सर्वथानुसन्धानादिरूपेणानुसन्दधन् शरणं भावयेद्धरिमिति । "सर्वधर्मान्परित्यज्ये"त्यत्र "तमेव शरणं गच्छे"त्यत्र च भगवता गीतासु निर्धारितत्वाच्छरणागतेषु तेनैव निर्धारितप्रकारेषु सन्यासनिर्णयादिषु दर्शनादित्यर्थः । एतेनाज्ञाभावेऽप्याश्रयत्वमात्रवत्मा निर्धारिता ॥ १६ ॥

एवंमार्गत्रयादिष्वपि संभवेऽप्येवमित्यादि।

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्।
कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः॥ १७॥

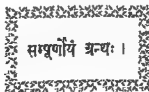
एवमुक्तप्रकारेण आश्रयणं मार्गरूपं प्रोक्तं, सर्वेण विवेकधैर्यसाहित्येन कैवल्येन प्रोक्तम्। तदिदं सर्वेषां वर्णाश्रमयुक्तानां तद्रहितानां च सर्वदाऽपि कलियुगे युगान्तरे च भगवदासक्तानां च हितम्, यथाधिकारमुक्तफलजनकम्, "मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य," "स्त्रियोऽनुग्रहादये"त्यादिवाक्येषु तथैव निर्धारात्। ननु तर्हि भगवता "योगास्त्रय" इत्यत्र त्रय एव निरूपिताः। पुनरयं कुत उक्त इत्यत आहुः कलावित्यादि। तेषां साधनसापेक्षत्वाद्दोषबहुले, अयं तु निरपेक्षोऽनुकूलतरश्चेतरेभ्यो विलक्षणश्च। एवं भगवदाश्रयवदं ज्ञानार्थम्याद्युपैर्निरिति। यथा चैतद्ग्रन्थं महाशास्त्रम-नुसन्धायाश्रयं कुर्वतां सर्वथा भगवानाश्रयं ददातीत्याशयः।

रम्या विवेकधैर्याद्या वल्लभार्ये रतिर्गुरुवरम्।
व्रजनाथं रचितरसवरं सततं निधाय मदीयमनः॥ १॥
विवेकधैर्याश्रयाणां विवृतिस्तु यथामति।
कृता तेन प्रसीदन्तु स्वाचार्याः सततं मयि॥ २॥
त्वदीयमनसाद्धाद्यायांशलिखितं मयात्र तत्।
भूयात्स्वाचार्यमोदाय वाक्यार्थस्य यथा पितुः॥ ३॥

इति श्रीमदाचार्यचरणैकतानश्रीश्यामलसूनुश्रीव्रजराजविरचिता
विवेकधैर्याश्रयविवृतिः सम्पूर्णा।

---

१ "मामहाश्रयम्" इति पाठः पुस्तकान्तरे। अस्मत्पुस्तकेऽत्र यथा स्वीकृतस्तथा समीचीनो भाति।



श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतं-नवमं

कृष्णाश्रयस्तोत्रम्

षड्भिष्टीकाभिः समलंकृतम्

१. श्रीरघुनाथानां विवरणम्
२. श्रीकल्याणरायाणां प्रकाशः
३. त्रिगृहश्रीगोविन्दराजभट्टानां प्रकाशटिप्पणम्
४. श्रीद्वारिकेश्वराणां विवृतिः
५. श्रीव्रजराजानां विवरणम्
६. केषाञ्चित् विवरणम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-प्रवर्तित-शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायस्य-सप्त-
पीठान्तर्गत-षष्ठ-पीठाधिष्ठित-गोस्वामि श्री १००८ श्री
श्रीव्रजरत्नलालजी — महाराजश्रीत्येतैः प्रकाशितम्

प्रकाशक :

गोस्वामिश्री १००८ श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज (षष्ठपीठाधीश्वर)
मोटु मन्दिर, भागातलाव, सूरत, ३९५००३. भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति

राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द ५०३

ग्रन्थ-परिचय लेखक: गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक:

स्टूडिओ बहार, २३ ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,
मुम्बई-४००००७



गोस्वामिश्री १००८ श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नम ॥

ग्रन्थ--परिचय

कृष्णाश्रयस्तोत्रका प्रणयन अडैलमे श्रीमहाप्रभुने लाहोरके बूला मिश्रके लिए किया था यह उल्लेख चौरासी वैष्णवनकी ४६वी वार्ताके भावप्रकाशमे मिलता है इसका रचनाकाल वि स १५७० कहा जाता है [१]

बूला मिश्रका जन्म सारस्वत ब्राह्मणके घरमे हुआ था बूलाके पिता पुरोहिताईका काम करते थे -- परन्तु और किसी तरह पढे-लिखे नही थे बूला जब दस वर्षके हुए तो पिताने बुला कर कहा--"बेटा! तुम ब्राह्मणकुलमे जनमे हो. कुछ थोडा-बहुत शास्त्रोका अध्ययन करोगे तो सम्मानपूर्ण जीवन जी पाओगे अन्यथा मेरी तरह अनपढ ही रह जाओगे"

पिताने जिस पण्डितजीके पास अपने पुत्रको विद्योपार्जनके लिए भेजा वह पूरा 'लाभपूजापरायण' पण्डित था चेला पटते देखकर बोला-- "अच्छी तरह पढना हो तो पहले पाच-दस रुपया भेंटके रूपमे लाकर मेरी पूजा-भक्ति करो!' (पाच-दस रुपया आजसे पाच सौ वर्ष पूर्व बहुत महगा था)

बूला मिश्र घबरा गये. भागकर घर आ गये मोहे तानकर पिताने पूछा-- "क्यो लौटकर घर आगये न? अरे, यहा घरमे पडे रहे तो औरतोका काम चूल्हा फूकना ही सिर्फ सीख पाओगे क्यो गुरुजीके घरम रहनेमे क्या लज्जा आती है?" बूला बोल--"अरे, यह पण्डितजी तो पढानेसे पहले ही गुरुदक्षिणा माग रहे है! और यहा तो किसीके भी पास जाऊ, गति यही होगी सो मै तो काशी जाऊगा पढने." बूलाके पिताजीने ताना कसा-- 'घरके बाहर निकलनेकी हिम्मत है नही और बेटा काशी पढने जायेगा!"

ठेस लग गयी इस बातसे बूलाके मनपर. बूलाने अपने पिताजीके पैर छुए और घरसे बाहर निकल गये भीख मागकर पेट भरते हुए किसी तरह काशी पहुचे वहा भी भिक्षावृत्तिके अलावा कोई चारा न था पर एक पण्डितजीने पढानेकी दयालुता बूलाको दिखलाई बूलाके कठोर परिश्रमके बावजूद भी तीन वर्षकी अवधिमे कोई विशेष विद्यार्जन हो नहीं पाया होना हो निराश

---

१ श्रीनागरदास बोमणिया--लिखित लेख वैष्णववाणी म ६ ४ वर्ष १९७९

हो गये, अध्यापक भी और विद्यार्थी भी एक रोज पण्डितजीने साफ-साफ कह ही दिया—"बूला ! तुम्हारे भाग्यमे सरस्वती नही है. व्यर्थ परिश्रम क्यो करते हो ?"

बेचारे बूला मिश्र खिन्न हो गये. पण्डितजीकी पाठशालासे निकलकर शहरके बाहर गगाके तटपर अन्न-जलका त्यागकर बैठ गये ब्राह्मणोचित महत्त्वाकाक्षाको लिये हुए एक ब्राह्मणबालक काशीमे तीन वर्षतक रहकर भी विद्यार्जन न कर पाये तो दूसरा मार्ग और क्या हो सकता था? बूलाने सोचा कि या तो इस तपस्यासे सरस्वती प्रसन्न होगी, नही तो फिर इसी तरह प्राण-त्याग देना उचित है तीन दिन बाद सरस्वतीकी वाणी सुनायी दी कि सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है भगवदिच्छा होनेपर चाण्डाल भी विद्वान् हो सकता है और भगवदिच्छा न होनेपर ब्राह्मण भी मूर्ख ही रह जाते है

'विवेकस्तु हरि सर्वं निजेच्छात करिष्यति"
"प्राकृता सकला देवा गणितानन्दक बृहत्,
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम"

बूला मिश्रके भीतर विवेक तो जागा परन्तु धैर्य छूट गया बूलाने सोचा कि यदि सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार ही होता हो तो भगवान्‌की इच्छाको बदलनेके लिए भगवान्‌के नामपर ही भूखहड़ताल करनी चाहिये ! ऐसा विचारकर बूला "विष्णु विष्णु विष्णु" जप करते हुए भूखे प्यासे बैठे रहे अधीर होकर ही सही पर भगवन्नाम लेनेपर बूला मिश्रको भगवत्साक्षात्कार हुआ और श्रीमहाप्रभुके पास अडल जानेकी भगवदाज्ञा भी हुई. बूला मिश्र भगवदाज्ञा पाकर अड़ेल पहुचे श्रीमहाप्रभुने इनका स्वागत किया और कहा "बूला ! तुम धन्य हो तुमने भगवद्दर्शन पाये !" बूला मिश्रने सविनय निवेदन किया—"महाराज ! भगवत्साक्षात्कार आपकी कृपाका फल है परन्तु भगवद्दर्शन होनेके बावजूद भगवत्स्वरूपानन्दका अनुभव मुझे नही हुआ !" श्रीमहाप्रभुने समझाना चाहा—"एकबार भी भगवत्साक्षात्कार हो जानेपर सासारिक मोहके बन्धनका भय नही रह जाता, जीव मुक्त हो जाता है' इसपर बूला मिश्रने विनती की—'महाराज! मुझे मुक्ति नही चाहिये—भक्ति चाहिये अत कृपाकर आप अपनी शरणमें मुझे लें।"

श्रीमहाप्रभुने प्रसन्न होकर बूला मिश्रको यमुनाजीमे स्नान करनेकी

आज्ञा दी और पश्चात् अष्टाक्षर तथा ब्रह्मसम्बन्ध का दान दिया. समग्र शास्त्रोंके गुह्यतम रहस्यके उपदेश तथा मानसीसेवोपयोगी मनकी सिद्धि के लिए श्रीमहाप्रभुने कृष्णाश्रयस्तोत्रकी रचना की और उसे बूला मिश्रको पढाया

'आश्रय' शब्दके दो अर्थ होते हैं : १) सहारा देनेवाला २) सहारा लेनेकी क्रिया. अतएव विवेकधर्याश्रय ग्रन्थमें जब--"श्रीहरिके आश्रयसे सारे असाध्य कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं (अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेद्)" कहा तो वहा 'आश्रय' का अर्थ शरणागति या सहारा लेनेकी क्रिया है. इसी तरह भागवतके द्वितीयस्कन्धके -- "जगत्के उत्पत्ति एवम् प्रलय के कर्ता तथा उपादान रूप परब्रह्मको 'आश्रय' कहा जाता है (आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते स आश्रय पर ब्रह्म परमात्मेति शब्दयते)" इस वचनमे 'आश्रय' शब्द आधार या सहारा बननेवालेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. 'आश्रय' शब्दके इन दोनो अर्थोंको लेकर ही "कृष्ण एव गतिर्मम" में 'गति' शब्द प्रयुक्त हुआ है. अर्थात् भगवान् ही साधन हैं और भगवान् ही फल भी --भगवान् ही मार्ग हैं और गन्तव्य भी-- भगवान् श्रीकृष्ण सभी अर्थोंमे हमारे आधार --आश्रय--गति हैं. अतएव "कृष्ण एव गतिर्मम" का अर्थ -- कृष्ण ही हमारे आश्रय हैं और कृष्णका ही हमे आश्रय लेना चाहिये--दोनो तरहसे लिया जा सकता है.

इस जगत्में अनेक प्रकारकी जीवात्मायें हैं कुछ जीवात्माओमे लौकिक फलोंकी प्राप्तिके लिए लौकिक साधनोके आश्रयकी वृत्ति प्रबल होती हैं प्रवाही जीवात्माओंका यह प्रमुख स्वभाव होता है. कुछ जीवात्माओमें वेदादि--शास्त्रीय फलोंकी प्राप्तिके लिए केवल शास्त्रीय साधनोंके ही आश्रयकी वृत्ति प्रबल होती है मर्यादामार्गके अन्तर्गत कर्ममार्गीय जीवोंमे यह स्वभाव बलवान् होता है कुछ वैदिक फलोंकी प्राप्तिके लिए वैदिक साधनोंके साथ-साथ भगवान्को भी आश्रयके रूपमे अपनाते हैं मर्यादामार्गके अन्तर्गत ज्ञानमार्गीय उपासनामार्गीय तथा मर्यादाभक्तिमार्गीय साधकोमे यह स्वभाव पाया जाता है कुछ जीवात्माओंको भगवान्के अलावा अन्य किसी फलकी कामना होती नही है अत वे साधनके रूपमें भी केवल हरिका आश्रय स्वीकारते हैं ऐसे जीवोको पुष्टिजीव समझना चाहिये (दृष्टव्य भागवतार्थ-निबन्ध ५-६/१२). अतएव "कृष्ण एव गतिर्मम" मनोभाव पुष्टिजीवका परम लक्षण है

भागवतके बारहवें स्कन्धका वर्ण्य-विषय भी आश्रयलीला ही है. भागवतार्थ-निबन्धमें 'आश्रय' शब्दके अनेक अर्थ दिखलाये गये हैं.

यथा—भागवतके द्वितीय स्कन्धसे लेकर ग्यारहवें स्कन्धतक भगवान्की जिन सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध और मुक्ति रूप लीलाओंका वर्णन किया गया है, उन लीलाओंके कर्ता-आश्रय एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं. ये नवविध लीलायें लक्षण हैं और इनसे लक्षित लक्ष्य-आश्रय एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं. इन नवविध लीलाओंका वर्णन भागवतकारने इसी हेतुसे किया है कि जिन-जिन विभूतिरूपोंको धारण कर सर्गलीलासे लेकर ईशानुकथातक की लीलायें भगवान् करते हैं उन सभी रूपोंके साथ भगवान्का कार्य-कारणरूप शुद्धाद्वैतरूप सम्बन्ध है. अर्थात् एक ही ब्रह्मका नाम-रूपमें विस्तार यह समग्र ब्रह्माण्ड है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म). कार्यरूप सभी लौकिक या अलौकिक विभूतिनामों तथा विभूतिरूपों को धारण करनेवाला कारणरूप परमात्मा एक ही है, ऐसा शुद्धाद्वैत-बुद्धिसे समझना आवश्यक है. हृदयसे स्नेह या आश्रय किन्तु विभूतिनाम अथवा विभूतिरूप का नहीं प्रत्युत मूलरूप श्रीकृष्णके ही नाम-रूपका होना चाहिये (ब्रह्मरूपं जगत् ज्ञातव्यं ब्रह्म जगतोतिरिच्यते इति न तथाश्रित कर्तव्या). अतः प्रथमस्कन्धसे लेकर नवम स्कन्धतक वर्णित लीलायें अन्याश्रय छुडानेके लिए हैं तथा दशम स्कन्धसे लेकर द्वादश स्कन्धतक की लीलायें कृष्णाश्रयके दृढीकरणार्थ हैं. हमने कह दिया है कि द्वादश स्कन्धका मुख्य वर्ण्य-विषय आश्रयलीला है. भागवतार्थ निबन्धके द्वादशस्कन्धार्थ-प्रकरणमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "कृष्ण एवाश्रयो मतः" यही वाक्य इस कृष्णाश्रयस्तोत्रमें "कृष्ण एव गतिर्मम" के रूपमें रखा गया है

एवकार इतरव्यावर्तक माना जाता है श्रीकृष्णके मूलरूपके अलावा अन्य सारे विभूतिरूप—लौकिक हो या अलौकिक—जड हो या चेतन—देव दानव मानव पशु पक्षी इत्यादि सभी रूपोंको भक्तिमार्गीय एवम् प्रपत्तिमार्गीय आश्रयके दृष्टिकोणसे इतर माना जाता है. ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे शुद्धाद्वैतवादके अनुसार ये सर्वथा अभिन्न ही है परन्तु इस अभेदबुद्धिसे ये विभूतिरूप आश्रयणीय नहीं किन्तु केवल ज्ञातव्य हैं अतएव सभी विभूतिरूप एवकारद्वारा व्यावर्तनीय माने जाते हैं. इस "कृष्ण एव गतिर्मम" के एवकारको ही

व्याख्या श्रीमहाप्रभुने– "अन्यस्य भजन तत्र स्वतो गमनमेव च, प्रार्थना कार्यमात्रेपि ततोन्यत्र विवर्जयेत्." इस विवेकधैर्याश्रयकी कारिकामें दी है

अन्याश्रय-रहित केवल श्रीकृष्णका आश्रय ही उचित है, यह दिखलाने के लिए अन्योंके आश्रयकी विफलताका बोध आवश्यक है. तदनुसार इस स्तोत्रके प्रथम तीन श्लोकोमें लोकाश्रयकी विफलताका निरूपण किया गया है तथा द्वितीय तीन श्लोकोमें धर्माश्रयकी विफलताका तृतीय तीन श्लोकोमें कृष्णाश्रयकी महत्ताका निरूपण क्रमशः कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तथा भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे किया गया है अन्तिम दो श्लोकोमें पृथक्शरण-मार्ग अथवा प्रपत्तिमार्गके उपदेशद्वारा गीताकी तरह श्रीमहाप्रभुने भी सम्पूर्ण निर्भयताका वरदान दिया है

एक अन्य रीतिसे प्रारम्भके छह श्लोकोंमें काल देश द्रव्य कर्ता मन्त्र तथा कर्म जो धर्मके आवश्यक छह अंग हैं, उनकी विफलता दिखलाते हुए, द्वादश स्कन्धके वर्ण्य-विषय पञ्चविध आश्रय – कृष्णाश्रय जगदाश्रय वेदाश्रय भक्ति-आश्रय तथा भागवताश्रय–के अनुरूप पाच श्लोकोमें भगवदाश्रयकी महत्ताका निरूपण किया गया है.

एक तृतीय रीतिसे देखनेपर प्रारम्भके नौ श्लोकोमें नवविध लीलार्थ गृहीत विभूतिरूपोंका अन्याश्रय छुडानेके लिए नौ श्लोकोंमें–"कृष्ण एव गतिर्मम" कहकर इतराश्रयका वारण किया है तथा दसवें श्लोकमें कृष्णाश्रयको सुदृढ किया गया है. ग्यारहवें श्लोकमें इस कृष्णाश्रयस्तोत्रकी फलश्रुति कही गयी है.

इस एक ही स्तोत्रमें वाक्पति श्रीमहाप्रभुने अनेक विवक्षाओंसे अनेकधा कृष्णाश्रयका निरूपण बूला मिश्रको समझाया है.

१) कलियुगके कारण धर्मानुष्ठानमें भी या तो आंतरिक दुराशयकी प्रचुरता ही सर्वत्र दिखलायी देती है, या फिर ईश्वर-भजन-विरोधी उपधर्मो अनीश्वरवादी ज्ञान वैराग्य अहिंसा दया लोकोपकार इत्यादि – के पाषण्डका ही प्रचुर प्रचार दिखलायी देता है इससे भगवत्प्राप्तिके कर्म ज्ञान और भक्ति मार्ग अवरुद्ध हो गये हैं. तथापि जिन्हें साधन और फलके रूपमें एकमात्र श्रीकृष्णका ही आश्रय है उन्हे किसी तरहका भय नहीं रह जाता. अतः इस कलियुगमें एकमात्र श्रीकृष्ण ही गति हैं.

२) सारा देश तामसी म्लेच्छ शक्तियोंसे आक्रान्त हो गया है लोभ-लालच कामुकता-व्यभिचार लूट खसोट हिंसा-अत्याचार जैसे पापोंके अनैतिक अड्डे ही सर्वत्र चल निकले है स्वधर्म-पालनका जो थोड़ा-बहुत प्रयास करते भी है उन्हे अनेकविध पीडा और क्लेशो से सन्त्रस्त किया जाता है ऐसी स्थितिमे सज्जनोंका व्यग्र हो जाना स्वाभाविक बात है ऐसी स्थितिका सामना करनेके लिए केवल श्रीकृष्ण ही हमारे सम्बल हो सकते हैं

३) सभी पवित्रस्थल मन्दिर आश्रम वन पर्वत सरोवर गंगा आदि तीर्थ, धनलोलुप तथा दुष्कर्म-निरत धर्मध्वजी उपदेशक पण्डा पुजारी पुरोहितों से घिर गये है अत इन पवित्र स्थलोका जैसा आधिदैविक प्रभाव प्रकट होना चाहिये वह दिखलायी नही देता परन्तु जिन भक्तोंमे श्रीकृष्णकी लालसा है उनकी कभी दुर्गति नही होगी

४) कर्ता धर्मका चतुर्थ अंग माना जाता है. वर्तमान युगमे धर्म-भावनासे धर्मानुष्ठान करनेवाले कर्ता दुर्लभ हो गये हैं. सारे धार्मिक अनुष्ठान पण्डित-म्मन्य लोगोद्वारा राजसी-तामसी प्रकृतिके म्लेच्छोंके अनुसरण और अनुकरण मे रूपमे किये जा रहे हैं और तिसपर भी धन और यश की लोलुपता ही इनका मुख्य हेतु होता है फिर भी बुद्धिप्रेरक श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंका जिन्हे आश्रय है उन्हें ऐसी क्षुद्र लालसाओंसे श्रीकृष्ण ही बचायेगें

५) धर्मके पांचवे आवश्यक अंग मन्त्रोंमे भी अब वह प्रभाव नही रह गया है किसी योग्य अधिकारी गुरुके समक्ष प्रणिपात परिप्रश्न और परिचर्या की शास्त्रीय विधिके अनुसार तत्तद् मन्त्रोंके विभिन्न न्यास तात्पर्य और विनियोग के परिज्ञान तथा मन्त्रार्थ अपेक्षित व्रत एवम् शुद्धि के पालनपूर्वक दीक्षाग्रहण करनेसे मन्त्रोंमे प्रभाव उत्पन्न होता है इसके विपरीत आजकल अयोग्य-अनधिकारी व्यक्तियोंसे अशास्त्रीय विधिसे न्यासादिके परिज्ञानके बिना तथा मन्त्रार्थ अपेक्षित व्रतादि शुद्धिके बिना ही मन्त्रग्रहणकी रीति चल पड़ी है अत मन्त्रकी आधिदैविक प्रभावशक्ति तिरोहित हुयायी है. फलत सभी मन्त्र प्रभावहीन और निष्फल हो गये हैं परन्तु श्रीकृष्ण तो मन्त्रशक्तिके अधीन नही हैं. प्रत्युत सभी मन्त्रशक्तियां श्रीकृष्णके अधीन हैं अत श्रीकृष्णका ही आश्रय लेना चाहिये

६) धर्मके छठे आवश्यक अंग कर्मका भी स्वरूप भ्रष्ट हो गया है. क्योंकि जगत्मे अनेक प्रकारके वाद चल निकले है जो कर्म शास्त्रदृष्टया आवश्यक होते है उन्हे ये वाद निरर्थक मान लेते है. जो कर्म शास्त्रीय दृष्टिसे बहुत आवश्यक नही होते उन्हे ये वाद अनिवार्य सिद्ध करते है. जो वाद शास्त्रोका प्रामाण्य मानते है वे भी अर्थश्रद्धासे शास्त्रोके मन कल्पित अर्थ निकाल लेते है शास्त्रोके इस तरहके अन्यथा व्याख्यानके कारण भ्रान्त अनुयायी शास्त्रीय कर्मोका अनुष्ठान भी अन्यथा रीतिसे करने लग जाते है. जैसे अकरणसे कर्मोका स्वरूपत नाश होता है वैसे ही अन्यथाकरणसे कर्मोका फलत. नाश होता है. प्राय यथाविधि कर्मोका अनुष्ठान करनेवाले भी केवल दुनियाको दिखानेके लिए कर्मानुष्ठानका पापण्ड ही करते है अतएव कर्मोका प्रभाव ही क्षीण हो गया है फिर भी अन्याश्रय-दोषरहित होकर श्रीकृष्णमे आश्रयभाव रखना कभी निष्फल नही जाता अत कृष्ण ही अब केवल आश्रयणीय रह गये है.

इस तरह प्रथम तीन श्लोकोमे लोकनाश एवम् द्वितीय तीन श्लोकोमे धर्मनाशके निरूपणके बाद, अब जैसे कि भागवतके बारहवें स्कन्धमे पञ्चविध आश्रयका निरूपण माना गया है, तदनुसार श्रीकृष्णकी आश्रयरूपताका भी पाच ही श्लोकोमे वर्णन किया गया है सातवे श्लोकमे कर्ममार्गीय दृष्टिकोणसे, आठवे श्लोकमे ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे, नौमे श्लोकमे भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे तथा दसवें-ग्यारहवे श्लोकमे प्रपत्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे भी एकमात्र श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय है, यह दिखलाया जा रहा है

७) कृष्ण सर्वोद्धारक है अत सुसाधन नि.साधन एवम् दुष्टसाधन जीवोका भी उद्धार करनेमे समर्थ है अजामिलका उपाख्यान भागवतके छठे स्कन्धमे उपलब्ध होता है.कि कैसे-कैसे निन्दित कर्मोमे निरत होनेपर भी भगवदनुग्रहवशात् उसके सारे कर्मदोष बिना नरकयातनाके ही नष्ट हो गये अत कर्ममार्गीय दृष्टिसे केवल श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय है,अजामिलके प्रसगमे जैसे भगवान्ने स्वयम्के नामका माहात्म्य प्रकट किया इसी तरह श्रीकृष्णके ध्यान अर्चन आदिका भी माहात्म्य वहा दिखलाया गया है मूलत कृपा ही साधन है. बाकी उद्धारका व्यापार या व्याज तो भगवान् शास्त्रत विहित अविहित या निषिद्ध कर्मोको भी बना सकते है श्रीकृष्णका यही तो माहात्म्य है कि वे

काम भय द्वेष सम्बन्ध स्नेह या भक्ति किसी भी भावमूलक कर्मको अपने अनुग्रह-के प्रकट होनेका निमित्त बना सकते हैं. अतः "कृष्ण एव गतिर्मम."

८) ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे भी आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र एवम् प्रजापति; अथवा अग्निसे लेकर ब्रह्मा-विष्णु-शिव पर्यन्त तेतीस कोटी देव सभी भगवान्के अंश-कलावतार-रूप हैं तथा भगवान्की सर्वभवन-सामर्थ्यरूपा माया या प्रकृति के द्वारा लिये गये भगवद्रूप हैं. अतः वे स्वयम् आविर्भाव-तिरोभावशाली हैं. अक्षरब्रह्म यद्यपि देशतः कालतः तथा स्वरूपतः अपरिच्छिन्न एवम् पुरुषोत्तमसे अविच्छिन्नतया स्थित होता है तथापि अक्षर ब्रह्म भगवान्का ज्ञेयरूप है भजनीय रूप नहीं. अतः अक्षरब्रह्मका गणितानन्दकी तरह अनुभव होता है, पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी तरह अगणितानन्दके रूपमें नहीं. अतः उपासनामार्गीय देवोंकी और ज्ञानमार्गीय अक्षरब्रह्मकी तुलनामें भी उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन या भजनीयत्वेन भी एकमात्र श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय हैं.

९) भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे भी पूर्ण विवेक धैर्य या भक्ति आदिके अभावमें भी — मन कितना भी पापासक्त क्यों न हो परन्तु दैन्यके साथ एकबार जीव शरणागत हो जाता है तो मुदुराचारीको भी साधु-पुरुष बना देनेवाली श्रीकृष्णकी भक्तिका लाभ हो ही जाता है.

(१०-११) प्रपत्तिमार्गमें तो स्वयम् प्रभुने — "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच" कहा है. अतः कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ — सर्वसमर्थ तथा भक्तोके अखिल मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले श्रीकृष्ण यदि शरणागत जीवोका उद्धार नहीं करेंगे तो और कौन करेगा ? अतः श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिजीवोंको आश्वस्त करना चाहते हैं कि इस कृष्णाश्रयस्तोत्रका जो श्रीकृष्णकी सन्निधिमें पाठ करेगा उस पाठकर्ताके श्रीकृष्ण आश्रय बनेंगे. जैसे अखिल ब्रह्माण्डके नाथ होनेपर भी अपने आश्रित व्रजभक्तोंके लिए छोटेसे गोकुलके नाथ श्रीकृष्ण बने ही है !

बूला मिश्रको हम देख सकते हैं कि इसी कृष्णाश्रयस्तोत्रके कारण न केवल विद्वद्दुर्लभ वाक्सिद्धिकी प्राप्त हुई अपितु मानसी-सेवोपयोगी अलौकिक मन भी सिद्ध हो गया (अलौकिकमनःसिद्धौ शरणं भावयेद् हरिम्). विवेक-

धैर्याश्रय ग्रन्थमें कहे गये विवेक और धैर्य सिद्ध हों या न हों पर ऐहिक-पारलौकिक सभी विषयोंमें श्रीकृष्णका आश्रय सभीके लिए सर्वदा हितकारी ही होता है. इसी कृष्णाश्रयको दृढ करनेके लिए इस स्तोत्रकी रचना की गयी है.

"कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत्कृष्णः इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥

प्रस्तुत संस्करण वि सं. १९८३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उक्त संस्करण गोस्वामिकुलभूषण श्रीरणछोडलालजी महाराजके 'श्रीजीवनेशाचार्य पुष्टि सिद्धान्त कार्यालय'से प्रकाशित हुआ था तथा उसके सम्पादक थे श्रीहरिकृष्णजी शास्त्री. इन दोनों महानुभावोंका हम पुनर्मुद्रणावसरपर कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

प्रास्ताविकम्

साहित्योद्धृतिविषये स्वपितृपादाननुकुर्वन्तीति प्रत्यक्षमेव सर्वेषाम् । एतेषां समाश्रयेणानेके साम्प्रदायिकाः प्रबन्धा बहिरवतेरुः । षोडशग्रन्थानां सेवाफलादि ग्रन्थाष्टकं नवमं कृष्णाश्रयस्तोत्रं चैतेषामेव प्रयत्नबलेन लब्धावतारं श्रीमदाचार्यवाक्सुधापिपासूनां मनोरथपूरकं भवतीति महान् प्रमोदावसरः । अपि चैतादृक्सत्प्रवृत्तौ योग्यविधित्सया परप्रेरणया दशवर्षाणि मे सर्वविधसाहाय्यं दत्तवद्भ्यो गोस्वामिश्रीगोकुलनाथजिदेशिकवरेभ्यः साञ्जलि कार्तज्ञ्यमावेदयामि ।

अस्मिन् संशोधने दृष्टिदोषतो मुद्राक्षरयोजकप्रमादतो वा जातानि स्खलितानि संशोध्य तास्ता अशुद्धीर्बोधयित्वानुगृह्णन्तु दयालवो विद्वांसो मामिति प्रार्थयति—

विद्वच्चरणाभिलाषी—
हरिकृष्णः शास्त्री,
'शुद्धाद्वैतविशारदः'।

कृष्णाष्टमी
संवत् १९८१

श्रीकृष्णाय नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥
म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥
गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥
अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥
अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥
नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥
अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥
प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥
विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥
सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥
कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रादुर्भावितं कृष्णाश्रयस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

---

१ 'सत्धर्मिणि' इतिपाठः । २ 'कृष्ण' इतिपाठः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्रघुनाथचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

य आविरासीद्घोरेऽस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः ।
निजदास्यं स नो देयाद्व्याऽपि दुराश्रयात् ॥ १ ॥

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । सर्वे कर्मज्ञानोपासनादयस्ते मृग्यन्ते तत्तत्फलार्थिभिरिति मार्गा इष्टप्राप्त्युपायास्तेषु सर्वेषु नष्टेषु तिरोहितेषु सत्सु । अनेन जीवानां सर्वथैवागतिकत्वं सूचितम् । एवंविधेऽप्यशक्येऽर्थे मम सर्वस्वनिवेदिनो दासस्य कृष्ण एव गतिः शरणं, प्राप्तव्योऽर्थ आश्रयणं च । अत्रास्त्विति पदं व्याख्यानेऽध्याहार्यम् । एवकारेणान्यनिषेधः सूचितः । किं च, कालकृतोपद्रवेणाप्यगतिकत्वं कलौ चेत्यनेनाह कलाविति । बहिर्धर्मरूपाभासोऽन्तर्दोषमयस्तो धर्मः खलो भवति, तादृशो धर्मो यस्मिन्कलौ । खलानां दाम्भिककैतवकपाषण्डिनामेव धर्मो यस्मिन्निति वा, क्वचि'त्खर-धर्मिणी'त्यपि पाठः श्रूयते, तत्रापि खरो रौद्रो धर्मो यस्येति, अत्रैवं व्युत्पत्तिः-खरश्चासौ धर्मश्चेति कर्मधारये कृते पश्चान्मत्वर्थीय 'इनि'प्रत्ययः, नो चेद्बहुव्रीहौ 'क'-प्रत्ययः प्रसज्येत । चकारात्कर्मज्ञानाद्यतिरोधानेषु कल्यतिरिक्तकालेऽपि । किञ्च, पाषण्डो वेदबाह्यो धर्मः, स प्रचुरः अधिको यस्मिन्, एवंविधे लोके व्यवहार्ये जनतायां सत्यां, सर्वप्रकारेण कृष्णाश्रयणं विना निस्तारो नास्त्येवेति सर्वस्यापि फलितार्थो ज्ञेयः । अत एव 'बृहन्नारदीये'ऽप्युक्तं, 'हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम् । कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथे'ति । अत्र सर्वत्रापि क्वचिन्निमित्तसप्तमी, क्वचि 'द्दर्शन' कर्तृत्व' इत्यनेन सप्तमी ज्ञेया ॥ १ ॥

धर्मोक्तौ बाह्याभ्यन्तरभेदेन बाधमुद्भावयन्तो निष्प्रत्यूहं श्रीकृष्णाश्रयणं विदधति ।

---

१ शाश्वते इति पाठः ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । धर्मार्थिभिर्निवासयोग्येषु देशेषु कुरुक्षेत्रगङ्गातटादिषु म्लेच्छैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु सत्सु, अत्रोभयथा म्लेच्छा ज्ञेया जात्या कर्मणा च । नन्वेवंविधेष्वपि देशेषु पुण्यात्मानो यदि स्थास्यन्त्येव तैः सह धर्माचरणं कुतो नेत्यत आहुः—पापैकेति । कलिना पापस्यात्यापरर्यवैश्वस्य निलयाः स्थानभूता जाताः । एवंविधेष्वपि । एतेन धर्मादिषु साधनसाधननिष्ठचित्ता । सर्वाभ्यन्तरसाधनं स्मरणादि कुतो नेत्यत आहुः—सत्पीडेति । सतां सत्पुरुषाणां धार्मिकाणां भगवत्परायणानामपि यादृशी पीडा नोचिता तादृशा अपि दर्शनादन्येषां विश्वासशैथिल्येन व्यग्रेषु विक्षिप्तचित्तेषु कर्धेयपनामृतेषु लोकेषु सत्सु । कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥ २ ॥

ननु गङ्गादिषूक्तपुण्यदेशानां वस्तुसामर्थ्येन शोधकत्वं कुतो नेत्यारुह्य वस्तुसामर्थ्यतिरोधानाम् तथात्वमिति समाहितपूर्वकं कृष्णाश्रयमाहुः—

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकादिभेदेन त्रैविध्यं तीर्थादीनामस्तीति, तत्र 'पुरुषस्याधिदैवत'मिति वचनाद्भगवद्रूपमेव तीर्थानां सामर्थ्यरूपमाधिदैविकं मन्तव्यं, तच्च भगवदिच्छयेदानीं बहुधा तिरोहितं, न तु सर्वथा, अत एवंविधेषु गङ्गादितीर्थवर्येषु तीर्थश्रेष्ठेषु म्लेच्छादिभिः [illegible] सत्सु, इह अस्मिन् भूखण्डे काले वा कृष्ण एव गतिर्ममेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारेति । किञ्च, वयं सर्वतः के [illegible] [illegible] इत्येवंविधाहङ्कारेण विमोहिता मूढेषु मार्गीयाचारणाचारशून्येषु, 'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' इत्युक्तेः । किञ्च, सत्सु सत्पुरुषेषु पापे [illegible] [illegible] इति यावत्, तदनुवर्तनमनुतिष्ठन्ति ये ते पापानुवर्तिनः, एवंविधेषु सत्सु, [illegible] सत्सु पापानुवर्तिषु निषिद्धाचरणपरेषु । किंविशिष्टेषु तेषु लाभपूजेति । लाभो द्रव्यादेः पूजा

[illegible]

स्वोन्नतिपूर्वकं लोककृतसन्मानं, अर्थः स्वप्रयोजनं, एतन्निनयसिद्ध्यर्थमेव यत्न उद्यमो येषां तेषु सत्सु, कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञानेति । वेदाध्ययनगुर्वाद्युपसत्त्यभावेन[1] विद्योपदेशात्पाठार्थविनियोगादीनामपरिज्ञानेन मन्त्रेषु नष्टेषु वीर्यरहितेषु सत्सु, पुनः किंविशिष्टेषु अव्रतयोगिषु अव्रतेषु व्रतभ्रष्टेषु योगः स्थितिरस्ति एषामेतेनैवंविधेष्वतिरोहितानामप्यकिञ्चित्करत्वमेव । यद्वा, स्वस्वाश्रमस्था योगिन उच्यन्ते तेष्वव्रतेषु सत्सु । पुनः किंविशिष्टेषु तिरोहितार्थदेवेषु । तिरोहितः गुप्तः अर्थो मन्त्रार्थः, देवोऽधिष्ठात्री देवता, एतद्द्वयं येषां मन्त्राणां न ज्ञायते तैः कियानर्थः सेत्स्यतीति भावः ॥ ५ ॥

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादेति । कुतार्किकबौद्धाद्यागमोक्ता ये वादा वाग्जालरूपाः 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेदि'त्येवंरूपाः, तैः कृत्वा वैदिकागमाद्युक्तसर्वकर्मव्रतादिषु विनष्टेषु विशेषतो नष्टेषु नास्तिक्येन पराङ्मुखेषु सत्सु । किञ्च, पाषण्डेषु वेदादिविरुद्धार्थेष्वेव एकः असाधारणः प्रयत्नः पुनः पुनरुद्यमो येषां, एवंविधेषु लोकेषु सत्सु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

विश्वासार्थं सदृष्टान्तमाश्रयणमाहुः—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणामिति । शूद्रीभर्तृब्राह्मणघोराजामिलनाम्नो दोषाणां महापातकानां नाममात्रेण नाशकोऽस्माकमनुभवे स्थितः, शास्त्रानुभवे अन्तःसाक्षित्वेन वा स्थितो विषयीकृत इति यावत् । 'आदि'पदाद्गजेन्द्रप्रभृतयः, यमलोकस्थिता नारकिणश्च । इदं नृसिंहपुराणादौ प्रसिद्धम् । ज्ञापितं दैवजीवेष्वखिलं समग्रं निजमाहात्म्यं येन, एवंविधः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

---

१ आचार्योपसत्त्यभावेनेति पाठः ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति। सकला ब्रह्मादयो ये देवास्ते प्राकृताः, प्रकृतिर्माया तन्निबन्धनोत्पत्तिस्थितिविलयाः, अतस्तेषामाश्रयणं न कालादिभयनिवर्तकं प्रत्युत भयजनकमेव । अत एवोक्तं दशमे 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्नि'त्यादौ । तर्हि बृहदक्षरं तथास्त्विति चेत्तदपि नेत्याह—गणितानन्दकमिति । ब्रह्मापेक्षया शतगुणितानन्दत्वेनापरिमितानन्दत्वाभावात्पुरुषोत्तमापेक्षयाल्पत्वाद्धरेः सकलदुःखहारकस्य श्रीकृष्णस्य पूर्णानन्दत्वादखण्डितानन्दत्वात्सर्वैरूपायैः सर्वात्मना, कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकेति । 'विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यती'त्येवंरूपः, त्रिविधदुःखसहनं धैर्यपदार्थः । भक्तिपदेन क्रमाय्यातमाश्रयणमुच्यते । आदिपदेन तत्साधनान्युच्यन्ते । एतेषां विविच्य निरूपणं तु 'विवेकधैर्याश्रय'व्याख्याने कृतमस्ति तत एवावगन्तव्यम् । विवेकादिभगवद्धर्मरहितस्य मम कृष्ण एव गतिः । किञ्च, न केवलमेतद्राहित्यमपि तु विशेषतोऽतिशयेन पापासक्तस्य महापातकाचरणरतस्यापि । पापधर्मेऽसमर्थत्वाद्ग्लान्या दीनस्य । भगवताप्येतादृशानां स्वाश्रयेणैव सिद्धिरुक्ता 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनय'इति, 'अपि चेत्सुदुराचार' इत्यादौ ॥ ९ ॥

सर्वस्वनिवेदिनां साधनं फलं च स्वप्रभुरेव संपादयिष्यतीति प्रार्थनामपि तथैवाहुः—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्ण विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्येति । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं[1] समर्थत्वात्सर्वसामर्थ्यसहितस्त्वं मम प्रभुः । किंविशिष्टः सर्वत्रैव यत्र काप्यखिलान्सर्वान्वाञ्छितानर्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत् यतस्त्वमेवंविधः स्वामी अतः कारणात् कृष्ण हे परब्रह्म शरणस्थस्य शरणागतस्य सम्यगुद्धारं विज्ञापयामि अहं त्वत्पुरः स्थितः शरणार्थी ॥ १० ॥

एतत्पाठमात्रपरस्याप्येतदुक्तफलमाहुः—

---

१ अन्यथाकरणेति ख ग.

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिति । कृष्ण आश्रीयते येन स्तोत्रेण तत्कृष्णाश्रयं, कृष्ण आश्रयः प्रतिपाद्योऽर्थो यस्येति वा । इदं यः कृष्णसन्निधौ समीपे 'सन्निधि'पदात्तदनन्यभक्तसमीपेऽपि पठनीयं सन्निधेस्तुल्यत्वात् पठेदधीयीत तस्याश्रयानभिज्ञस्यापि स्वयमेव कृष्ण आश्रयो भवेत् । कथमिदमतिदुर्लभमेतावन्मात्रेण भवेदिति नाशङ्कनीयं, यतः कारणात् इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् । इति इममर्थं श्रीवल्लभ आचार्यवर्योऽब्रवीदुक्तवानतः किमाश्चर्यम् । अत्राचार्यवचनानां वस्तुशक्तिरेव प्रयोजिका, यतस्तद्वचनैः प्रेरितो भगवांस्तदाश्रयो भवति न तु तत्कृतमण्वपि साधनमपेक्षते ॥ ११ ॥

सुखेन प्रीयतां कृष्णः किमाधेश्चिन्तया मुधा ।
आचार्यवाक्सुधासिक्ता पाकृद्दृढं संशयं जनाः ॥ २ ॥
आचार्यचरणाम्भोजे दृढं विश्वस्य विस्तरात् ।
रघुनाथश्चकारेदं कृष्णाश्रयविचारणम् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथस्य कृतौ
कृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं संपूर्णम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमत्कल्याणरायचरणविरचितप्रकाशसमन्वितम् ।

यल्लीलालवसंस्पर्शान्न रोचन्तेऽन्यदाशिषः ।
तं राधाहृदयानन्ददायकं कृष्णमाश्रये ॥ १ ॥
यत्कृपादृष्टितो जन्तुर्गोविन्दं विन्दते मुदा ।
भक्त्याहं तानिमानाचार्यानभिवन्देऽर्थसिद्धये ॥ २ ॥

श्रीकृष्णाश्रयस्य सर्वसाधनत्वान्मदीयानां मदर्थं परमदानमिव दुर्लभः श्रीमदाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति । तत्राधुना देशादिदोषैः साधनानामसाधकत्वं वदन्तो भक्तानां भगवानेव सर्वसाधनरूपश्चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति, दशश्लोकानिरूपणं इति, दशविधभक्तस्यैव इति, प्रार्थनाविशेषस्य स्तोत्रस्य सर्वसाधकत्वमिति च दशभिः श्लोकैः प्रार्थनाव्याजेन तं स्तुवन्ति । तत्र प्रथमं मुख्यसाधनानामसाधकत्वं वदन्तः कालधर्मनिराकरणपूर्वकमाश्रयं प्रार्थयन्ते—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वमार्गेष्विति । कलौ खलधर्मिणि सत्योऽन्तर्हितो धर्मेऽन्यदपि सति । 'खलधर्मिणी'ति पाठे दुःखरूपेऽपि पक्षे समानोऽर्थः । 'इति भूमावके'ति वाक्यनिरूपितः सदानन्दः पुरुषोत्तम एव मम गम्यः इति गतिरात्रय ऐहिकपारलौकिकार्थसाधकोऽस्त्विति शेषः । अत्र खलधर्ममाहुः—लोके जने पाषण्डः प्रचुरः प्रकर्षेण व्याप्तो यस्मिंस्तादृशे सति । अत एव सर्वे मुख्येन इति मार्गाः पुरुषार्थोपायाः कर्मज्ञानादयस्तेषु नष्टप्रायेषु सत्सु, पाषण्डप्रवेशादाप्तमुखवाक्यत्वगौरवस्य लोकप्रतारणार्थमगुरूपत्वकथनादि संपादितस्य, मायावादादिनिवेशाज्ज्ञानमार्गस्य, निरीश्वरत्वादिकाराणाभावस्य, विभूतिसत्त्वादुपासनामार्गस्य च कुत्सितफलासाधकत्वेन नष्टप्रायत्वम् । प्रकारान्तरादेशादिषु कलिकालानुरूपेषु सत्सु, एवकारा-

१ कर्म—देश—द्रव्य—कर्तृ—मन्त्र—कर्माणि । २ दे कलौति इत्यर्थं मूलने ।

रस्य विशेष्यान्वितत्वेनान्ययोगव्यवच्छेदकत्वादंशः कलादिर्वा गतिर्नास्त्वित्यर्थः। अन्यार्थकत्वादस्य सिद्धत्वेपि प्रार्थनं न दोषाय। ननु भक्तिमार्गीयाणामपि कलिकालस्य बाधकत्वाद्गृहाद्यासक्तिमत्वाल्लौकिकक्रियापरत्वात्पापसंभवाच्च भक्तिमार्गस्य कथमुद्धारकत्वं मुख्यफलसाधकत्वं चेति कर्मादितुल्यत्वात्किमाश्रयेणापीति चेत्, मैवं, भक्तिमार्गे त्वदुक्तदूषणानामभावात्। तथाहि—'कलेर्दोषनिधे'रिति 'कलौ तद्धरिकीर्तनादि'ति 'कलिं सभाजयन्ती'त्यादिवाक्यैर्बाधकत्वाभावादल्पकालेनैव फलसिद्धेः प्रत्युत साधकत्वात्। 'शृण्वन् गृणन्' 'मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः' 'तावद्रागादयः स्तेना' इत्यादिवाक्यैर्भगवत्परत्वे गृहादेर्बन्धहेतुत्वाभावात्। 'एवं नृणां क्रियायोगा' इत्यादिवाक्यैर्लौकिकक्रियाया अप्यलौकिकतुल्यत्वात्। 'मत्कर्म कुर्वता'मित्यादिवाक्यैर्भगवत्सेवादिना विहिताकरणेपि प्रत्यवायाभावात्, 'धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः' 'ते मे न दण्डमर्हन्ती'त्यादिवाक्यैः कदाचित्पातकसंभवेपि नरकाद्यभावात्कीर्तनादिनैव पापनाशात्। 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' 'अपि चेत्सुदुराचारः' 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोके,' 'यानास्थाये'त्यादिवाक्यैराचाराद्यभावेपि फलसिद्धेः। 'धर्मः सत्यदयोपेतः' 'धर्मः स्वनुष्ठितः' 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं' 'यमादिभिर्योगपथैः' 'श्रेयःसृति'मित्यादिवाक्यैर्'यथा जलौकसां नित्यं जीवनं सलिलं मतम्। तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरिष्यत' इतिबृहन्नारदीयवाक्याच्च भक्तिरहितानां कर्मादीनामसाधकत्वात्, भक्तिसहितानामेव साधकत्वात्। 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा' 'चतुर्विधाः' 'अकामः' 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य' 'किमलभ्यं' 'रूपमारोग्यमर्था'नित्यादिवाक्यैः केवलभक्तेरपि सर्वसाधकत्वात्। 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये' 'आत्मारामाश्च' 'नैकात्मतां' 'महतां मधुद्वि'डित्यादिवाक्यैः स्वतोपि फलरूपत्वात्। अधुना कर्मादीनामधिकाराणां गतत्वाद्भक्तिमार्गे मदनुग्रहस्याधिकारत्वेनाधिकारिकृतस्यैव सफलत्वादत्राधिकारभेदेन गौणमुख्यफलसंभवात्। एतदुक्तं 'तत्त्वार्थदीपे'—'अधुना चाधिकारास्तु सर्व एव गताः कलौ। कृष्णश्चेत्सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय ही'ति भक्तिसाध्यफलस्यान्येनासंभवादन्यसाध्यस्य भक्तेरानुषङ्गिकत्वाच्च कर्मादितुल्यत्वगन्धोपि। ननु पूर्णभक्तिमार्गस्याधिनयेपीह सामिकृतस्य तत्तुल्यत्वमिति चेत्, न 'स्मर्तव्यः' 'स्मृतेः' 'कृष्ण कृष्णे'ति 'न वै जनो जातु' 'कृष्णेति' 'आलोड्ये'त्यादिवाक्यैः सामिकृतस्यापि फलसाधकत्वादन्यस्य तदभावाद्रसमुक्तिभिः ॥ १ ॥

---

१ एवकारो हि त्रिप्रकारकः—अन्ययोगव्यवच्छेदकोऽयोगव्यवच्छेदकोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदकश्चेति, विशेष्यान्वितः प्रथमो यथा पार्थ एव धनुर्धरः, विशेषणान्वितो द्वितीयो यथा शङ्खः पाण्डुरः, क्रियान्वितस्तृतीयो यथा नीलं सरोजं भवत्येवेति। २. क्वचिन्नास्ति।

भट्टश्रीगोविन्दराजकृतटिप्पणम् ।

मिलिन्दवृन्दोपमचारुकेशं सुमत्तकोणं सुखकारिदेहम् ।
पयोदनीकाशमनोज्ञवेशं तं वेङ्कटेशं शरणं प्रपद्ये ॥
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यचरणौ शरणे सताम् ।
कृष्णाश्रयप्रकाशस्य व्याख्यानं सुनिरूप्यते ॥

संस्पर्शादिति । सम्यक् सम्बन्धादित्यर्थः । सम्बन्धे सम्यक्त्वं चानन्यापरिभूतत्वम् । अन्यदाशिष इति । न च अन्याश्च ता आशिषश्चेति विग्रहे अन्याशिष इति भाव्यमिति वाच्यम्, 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्ये'ति दुगागमात् । राधाहृदयानन्ददायकमिति । राधाहृदयायानन्दं ददातीति तथा । भगवत्सुखस्यानन्दशब्देनानुपपत्तिः काचित्, इतरथाऽव्याप्यवृत्तित्वेन सुखकथनस्यैवोचितत्वात् । अत एवोक्तं 'प्रेमामृत'टीकायाम् 'आनन्दोऽन्तःकरणदेहादिसर्वव्यापकः सुखमव्याप्यवृत्ती'ति । ननु 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिभिः श्रुतिभिरानन्दस्य भगवद्रूपत्वात्तद्दायक इत्यर्थः पर्यवसन्न इति चेत्, इष्टापत्तेः, स्वरूपदानस्योचितत्वात् । एतेनानयोरभेदः सङ्गच्छते । तदुक्तमाथर्वणीयकृष्णोपनिषदि 'पूर्णप्रेमास्पदी राधा श्रीकृष्णमनसोद्भवा', तस्मान्न भिन्नेति । यत्कृपाश्रितेन इति । स्वीयत्वेन परिग्रहादित्यर्थः । अभिवन्द्य इति । भक्त्यार्थसिद्धये निजाचार्यानभिवन्द्य इति सम्बन्धः । तत्र सेवाविषयकप्रेम्णा निर्विघ्नग्रन्थपरिसमाप्तिसिद्ध्यर्थं निजाचार्यनमस्काररूपं मङ्गलं करोतीत्येतद्भावार्थः । सेवा त्वत्र नमनादिरूपा । न च प्रेमविशिष्टसेवयेति वक्तुमुचितं, प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात् । तथा चोक्तमस्मदाचार्यैर्निबन्धे 'धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेमेति' । तत्त्वार्थदीपे तु 'प्रेमसेवार्थ' इति फलितार्थकथनम्, अन्यथा 'प्रत्ययार्थः प्रधानं प्रकृत्यर्थो विशेषणमि'तिन्यायविरोधः स्यात् । वस्तुतस्तु एतस्य सामान्यन्यायत्वेन विशेषन्यायस्यैव बलीयस्त्वात् । एतदुक्तं विवरणे 'प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यमितिसामान्यन्यायादिच्छाविषयतया शब्दबोध्य एव शब्दसाधनतान्वय इति स्वर्गकामादिवाक्ये क्लृप्तविशेषन्यायस्य बलीयस्त्वादश्वेन जिगमिषति असिना जिघांसतीत्यादिलौकिकप्रयोगेष्वादिरूपसाधनस्य 'तदन्वेष्टव्यं तद्विजिज्ञासितव्यं मन्तव्यमित्यादिवैदिकप्रयोगे तन्वर्थभूतविशेष 'सन्'प्रत्ययाभिहितेच्छाविषय एव गमनादावन्वयस्य व्युत्पन्नत्वात् प्रकृत्यभिहितायां क्रियायां पश्वादीनां विनियोग इति । ननु 'भावे'इत्यधिकारात्प्रत्ययार्थस्य भावत्वमुचितं न तु प्रेमत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, भावार्थकत्वं तु प्रत्ययस्य तावदुभयत्रादिसिद्धमेव, तत्र भावशब्देन देवादिविषयिणी रतिः प्रकृते

टिप्पणम्।

सर्गः। पुरुषाद्ब्रह्मादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः। उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानम्। स्थितानामभिवृद्धिः पोषणम्। पुष्टानामाचार ऊतिः। तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम्। तत्रापि विष्णुभक्तिरीशानुकथा। भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः। निष्प्रपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः। मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रय इति'। दशविधभक्तसेव्य इति। सात्त्विकसात्त्विकाः, सात्त्विकराजसाः, सात्त्विकतामसाः। राजसराजसा, राजससात्त्विका, राजसतामसाः। तामसतामसाः, तामसराजसाः, तामससात्त्विकाः। एके निर्गुणा इत्येतैर्दशविधैर्भक्तैः सेव्य इत्यर्थः। प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति। 'किमासनं ते गरुडासनाये'त्यनेन प्रार्थनाव्याजेनैव स्तुतिनिरूपणस्यैवोचितत्वादिति भावः। गम्यते प्राप्यत इत्यर्थः। ननु 'भावे' इत्यधिकारात्कथमत्र कर्मणि प्रत्यय इति चेत्, सत्यम्, 'कृत्यल्युटो बहुल'मित्यत्र 'बहुल'मितियोगविभागात्तथा। अत एव 'एवं च बहुलग्रहणं योगविभागेन कृत्मात्रस्यार्थव्यभिचारार्थं पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः कर्मणि ण्वुल्' इति वैयाकरणशिरोमणयः। पाषण्ड इति। वेदविरुद्धत्वं पाषण्डत्वम्। आत्मसुखवाचकेति। 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पद'मित्यनेन स्वर्गपदस्यात्मसुखवाचकत्वादित्यर्थः। लोकभ्रमजननादिति। लोकत्वेन भ्रमजननादित्यर्थः। मायावादाभिनिवेशादिति। विवर्ताधिष्ठानत्वेन मायोपहितब्रह्मणः कर्तृत्वकथनादित्यर्थः। विवर्तस्तु अतात्त्विकोऽन्यथाभासः। यद्वा, वस्तुनस्तत्समसत्ताको विवर्तः। अथवा कारणविलक्षणोऽन्यथाभावो विवर्तः। कारणभेदं विनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा। निरीश्वरत्वाङ्गीकारायोगस्येति। निर्बीजयोगाङ्गीकारादित्यर्थः। योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः स तु भगवद्ध्यानार्थमङ्गत्वेनोपयुक्त एकः। ध्यानाभावेऽप्यात्मबोधाङ्गभूतो द्वितीयः। उभावपि प्रामाणिकौ। यस्तु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन प्रोक्तस्तथासिद्धिहेतुर्ज्ञानात्मा वा यथान्ये देहेन्द्रियादिसाधकास्तेऽप्रामाणिकाः। सर्वमेतच्च निबन्धे स्पष्टम्। कलिकालानुगुणेष्विति। 'द्वापरान्ते युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु। स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विमुखान् कुरु' 'मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेषोत्तरोत्तरे'त्यादिपद्मपुराणाद्युक्तवचनैर्महादेवादीनां कलिकालानुगुणत्वस्य सिद्धत्वादित्यर्थः। अन्वर्थकत्वादिति। अत्र प्रमाणभूताः 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम। यथाग्रे वर्त्मे विहरेऽप्यस्ति'त्यादय आगमा अनुसन्धेया इति भावः। 'कलेर्दोषनिधे'रित्यारभ्या'भक्तोऽपि फल्गु'रित्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः–'कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्' 'कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्' 'कलि

भट्टश्रीगोविन्दराजकृतटिप्पणम् ।

शिखिच्छदोपचारुकेशं सुमच्छलोपं सुसत्कारिदेशम् ।
पयोदनीकाशमनोज्ञवेशं तं वेङ्कटेशं शरणं प्रपद्ये ॥
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यचरणौ शरणं सताम् ।
कृष्णाश्रयप्रकाशस्य व्याख्यानं सुनिरूप्यते ॥

संस्पर्शादिति । सम्यक् सम्बन्धादित्यर्थः । सम्बन्धे सम्यक्त्वं चानन्यापरिभूतत्वम् । अन्यदाशिष इति । न च अन्याश्च ता आशिषश्चेति विग्रहे अन्याशिष इति भाव्यमिति वाच्यम्, 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्ये'ति दुगागमात् । राधाहृदयानन्ददायकमिति । राधाहृदयायानन्दं ददातीति तथा । भगवत्सुखस्यानन्दरूपत्वाभावानुपपत्तिः काचित्, इतरथाऽव्याप्त्युक्तितेन सुखकथनस्यैवोचितत्वात् । अत एवोक्तं 'प्रेमामृत'टीकायाम् 'आनन्दोऽन्तःकरणदेहादिसर्वव्यापकः सुखमन्यत्र्यवृत्ती'ति । ननु 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिभिः श्रुतिभिरानन्दस्य भगवद्रूपत्वात्तत्त्वदायक इत्यर्थः पर्यवसन्न इति चेत्, इष्टापत्तेः, स्वरूपदानस्योचितत्वात् । एतेनानयोरभेदः सङ्गच्छते । तदुक्तमाथर्वणीयकृष्णोपनिषदि 'पूर्णप्रेमारसदी राधा श्रीकृष्णमनसोऽव्रवा', तस्माच्च भिन्नेति । यत्कृपादस्थित इति । स्वीयत्वेन परिग्रहादित्यर्थः । अभिवन्द इति । अन्यपार्थसिद्धये निजाचार्यानभिवन्द इति सम्बन्धः । तत्र सेवाविषयकप्रेम्णा निर्विघ्नग्रन्थपरिसमाप्तिसिद्ध्यर्थं निजाचार्यनमस्काररूपं मङ्गलं करोमीत्येवम्भावार्थः । सेवा त्वत्र नमनादिरूपा । न च प्रेमविशिष्टसेवयेति वक्तुमुचितं, प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यात् । तथा चोक्तमस्मदाचार्यैर्निबन्धे 'धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेमेति' । तत्त्वार्थदीपे तु 'प्रेमसेवा' इति फलितार्थकथनम्, अन्यथा 'प्रत्ययार्थः प्रधानं प्रकृत्यर्थं विशेषणमि'तिन्यायविरोधः स्यात् । वस्तुतस्तु एतस्य सामान्यन्यायत्वेन विशेषन्यायस्यैव बलीयस्त्वात् । एतदुक्तं विवरणे 'प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यमिति सामान्यन्यायादिच्छाविषयतया शब्दबोध्य एव शाब्दसाधनान्वय इति स्वर्गकामादिवाक्ये बलवद्विशेषन्यायस्य बलीयस्त्वादश्वेन जिगमिषति असिना जिघांसतीत्यादिलौकिकप्रयोगेष्वादिरूपसाधनस्य 'तदन्वेष्टव्यं तद्विजिज्ञासितव्यं यन्तव्यमित्यादिवैदिकप्रयोगे तत्पार्थभूतविधेय 'सन्'प्रत्ययाभिहितेच्छाविषय एव गमनादावन्वयस्य व्युत्पन्नत्वाच्च प्रकृत्यभिहितायां क्रियायां यज्ञादीनां विनियोग इति । ननु 'भावे'इत्यधिकारात्प्रत्ययार्थस्य भावत्वमुचितं न तु प्रेमत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, भावार्थकत्वं तु प्रत्ययस्य तावद्घ्यपत्यादिसिद्धमेव, तत्र भावशब्देन देवादिविषयिणी रतिः प्रकृते

टिप्पणम्।

सर्गः। पुरुषाद्ब्रह्मादीनामुत्पत्तिर्विसर्गः। उत्पन्नानां तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानम्। स्थितानामभिवृद्धिः पोषणम्। पुष्टानामाचार ऊतिः। तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम्। तत्रापि विष्णुभक्तिरीशानुकथा। भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः। निष्प्रपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः। मुक्तानां ब्रह्मस्वरूपेणावस्थानमाश्रय इति'। दशविधभक्तसेव्य इति। सात्त्विकसात्त्विकाः, सात्त्विकराजसाः, सात्त्विकतामसाः। राजसराजसा, राजससात्त्विका, राजसतामसाः। तामसतामसाः, तामसराजसाः, तामससात्त्विकाः। एके निर्गुणा इत्येतैर्दशविधैर्भक्तैः सेव्य इत्यर्थः। प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति। 'किमासनं ते गरुडासनाय'इत्यनेन प्रार्थनाव्याजेनैव स्तुतिनिरूपणस्यैवोचितत्वादिति भावः। गम्यते प्राप्यत इत्यर्थः। ननु 'भावे' इत्यधिकारात्कथमत्र कर्मणि प्रत्यय इति चेत्, सत्यम्, 'कृत्यल्युटो बहुल'मित्यत्र 'बहुल'मितियोगविभागात्तथा। अत एव 'एवं च बहुलग्रहणं योगविभागेन कृन्मात्रस्यार्थव्यभिचारार्थं पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः कर्मणि ण्वुल्' इति वैयाकरणशिरोमणयः। पाषण्ड इति। वेदविरुद्धत्वं पाषण्डत्वम्। आत्मसुखबाधकेति। 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पद'मित्यनेन स्वर्गपदस्यात्मसुखबाधकत्वादित्यर्थः। लोकभ्रमजननादिति। लोकत्वेन भ्रमजननादित्यर्थः। मायावादाभिनिवेशादिति। विवर्ताधिष्ठानत्वेन मायोपहितब्रह्मणः कर्तृत्वकथनादित्यर्थः। विवर्तस्तु अतात्त्विकोऽन्यथाभासः। यद्वा, वस्तुनस्तदसमसत्ताको विवर्तः। अथवा कारणविलक्षणोऽन्यथाभावो विवर्तः। कारणभेदं विनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्त इति वा। निरीश्वरत्वाङ्गीकारायोगस्येति। निर्बीजयोगाङ्गीकारादित्यर्थः। योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः स तु भगवद्ध्यानार्थमङ्गत्वेनोपयुक्त एकः। ध्यानाभावेऽप्यात्मबोधाङ्गभूतो द्वितीयः। उभावपि प्रामाणिकौ। यस्तु स्वतन्त्रतया फलसाधकत्वेन मोक्षस्यासिद्धिहेतुर्ज्ञानात्मा वा तयान्ये देहेन्द्रियादिसाधकास्तेऽप्रामाणिकाः। सर्वमेतच्च निबन्धे स्पष्टम्। कलिकालानुगुणेष्विति। 'द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु। स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विमुखान् कुरु' 'मां च गोपय येन स्यात्सृष्टिरेषोत्तरोत्तरे'त्यादिपद्मपुराणाद्युक्तवचनैर्महादेवादीनां कलिकालानुगुणत्वस्य सिद्धत्वादित्यर्थः। अन्यार्थकत्वादिति। अत्र प्रमाणभूताः 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम। ममाग्रे वर्चो विरोचयस्वि'त्यादय आगमा अनुसन्धेया इति भावः। 'कलेर्दोषनिधे'रित्यारभ्या'भवोऽपि फल्गु'रित्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः—'कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्' 'कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्' 'कलि

टिप्पणम् ।

सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः । यत्र संकीर्तनादेव सर्वः स्वार्थोऽपि लभ्यते' 'शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते । क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते' 'गृहेष्वाविशतां वापि पुंसां कुशलकर्मणाम् । मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः' 'तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् । तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः' 'एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः । त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे' 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद्यदि । तत्कर्म तस्य कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः' 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः' 'एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् । ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां स्यात्पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः' 'ते देव सिद्धपरिगीतपवित्रगाथा ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः । तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे' 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः' 'यः कश्चिद्वैष्णवो लोके मिथ्याचारोऽप्यनाश्रमी । पुनाति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः' 'यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह' 'धर्मः सत्यदयोपेतः विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि' 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्' 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् । कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्' 'यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः । मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्धा न शाम्यति' 'श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्' 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि' 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा' 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ' 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्' 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् । स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्' 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने । तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन' 'रूपारोग्यपर्याय भोगांश्चैवानुषङ्गिकान् । ददाति स्मापतो नित्यमपवर्गप्रदो हरिः' 'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोक-

टिप्पणम्।

लीलया। गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्' 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः। येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि' 'महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रिति। 'भक्तिसाध्यफलस्येति भगवत्स्वरूपप्राप्तेरित्यर्थः। तदुक्तमस्मत्प्रभुभिर्भक्तिहंसे' 'भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलकत्व'मिति। 'स्मर्तव्य'इत्यारभ्य 'सद्भावा'दित्यन्ते वचनानि तु 'स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्। सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतस्यैव च किङ्कराः' 'स्मृतेः सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते। पुरुषं तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम्' 'कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः। जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्' 'कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते। भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः' 'न वै जनो जातु कथंचनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम्। स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः' 'आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदे'ति। तत्र नवविधा भक्तिर्निदानं, ततः प्रेम, तेन च विशिष्टरूपभगवत्प्राप्तिः, सैव फलमिति फलसहितपूर्णभक्तिमार्गस्वरूपम्। अत एव सर्वनिर्णये 'स ज्ञानक्रियोभययुतः स एव फलं, तत्रापि साधनं प्रेमैव तत्साधनं नवविधा भक्ति'रिति श्रीमदाचार्यचरणाः। तथाच सामिकृतस्यापि स्मरणपर्यन्तं विहितस्यापि कायवाग्विनियोगस्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थित्यैव तादृशपुरुषविहितस्य वा फलसाधकत्वमिति स्पष्ट एवैतदेव्य अरूपः। तथाचोक्तं निबन्धे-'कायवाग्विनियोगाभावेपि स्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतदि'ति। धर्ममार्गस्य तु न तथा, साङ्गावैदिककर्मणः फलावश्यंभावनियमादिति तत्त्वम् ॥ १ ॥

प्रकाशः।

ननु पुण्यदेशस्थितिमात्रेणापि पुरुषार्थसिद्धेः किमितीतरत्यवच्छेदपूर्वकमाश्रयमार्थनमित्याशङ्क्य देशानामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

म्लेच्छाक्रान्तेष्विति। देशेषु रानैराक्रान्तेषु सत्सु। ननु म्लेच्छा अपि न्यायवर्तिनश्चेत्तदा को दोषस्तत्राहुः—पापैकनिलयेष्विति। पापरूपा एव ते तदेकनिलयेषु, पापा ये तुरुष्कास्तन्निलयेषु, पापस्य वा। अथवा पूर्वोक्तेषु पापैकनिलयेषु च अङ्गवङ्गादिषु, यत्र गमनमात्रेण पुनः संस्कारसंभवः। ननु लोका वणिगादयः समीचीनाश्चेन्त्यापि:

१. अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च। तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हतीति स्मृतेः।

प्रकाशः ।

किं कार्यमत आहुः—सदिति । साधूनां पीडया व्यग्राः स्वधर्माचरणमेवानिष्टहेतुः सत्य-त्वाच्च कार्यमुत माकुर्वं कर्म वेति व्याकुला लोका येषु । सद्धर्मस्य शुभहेतुत्वानिश्चयेन श्रद्धाद्यभावाचेपि सहाया न भवन्तीत्यर्थः । 'अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः । यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि न' इत्यादिवाक्यैर्देशानां कृष्णाश्रितानुकूलत्वात् । शेषं पूर्ववत् ॥ २ ॥

टिप्पणम् ।

पापा ये मुख्या इति । फलितार्थकथनमेतत्, इतरथा विशेषणसमासे 'पूर्वकाले'त्यनेनैकशब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात् । विग्रहस्तु पापेषु ये मुख्या इति । यत्र गमनमात्रेण पुनः संस्कारसंभव इति । 'अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च । तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हती'त्यनेन तथेत्यर्थः ॥ २ ॥

प्रकाशः ।

ननु गङ्गादितीर्थैरपि सर्वपुरुषार्थसिद्धेः किं केवलाश्रयेणेत्याशङ्क्य द्रव्यागमसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामाहुः—

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादीति । गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैरेवावृतेषु सत्सु, अतो न तैः पुरुषार्थसिद्धिः । ननु कथं दुष्टैरेवावृतत्वं तत्र ब्राह्मणादीनामपि सत्त्वात्, न, अतिपरिचयादनादरेण तत्र भक्तत्वभावेन मतिमहात्म्यनाभिभिरनरूपानाच्च तेषामपि दुष्टत्वमेव । ननु सर्वदोषनिवारकेषु तेषु सत्सु दुष्टत्वमसंभवीति चेत्, न, 'सर्वेण गाङ्गेन जलेन सम्यङ्मृत्स्नाशतेनाप्यथ भावदुष्टः । आजन्मतः स्नानपरोपि नित्यं न शुद्ध्यतीत्येव वयं वदाम' इत्यादिस्कन्दपुराणवचनात्, 'मत्स्यकच्छपमण्डूकास्तोये मग्ना दिवानिशं । स्नान्तोपि च ते स्नानात्फलं नार्हन्ति कर्हिचित्' 'श्रद्धाविधिसमायुक्तं यत्कर्म क्रियते नृभिः । शुचि-

टिप्पणम् ।

द्रव्यागमसाधकत्वं वदन्तस्तीर्थानामिति । तीर्थस्य तद्देशावच्छिन्नप्रवाहात्मकाध्यात्मिकदेवतारूपत्वेन द्रव्यत्वमिति भावः । अत एवोक्तपद्यत्रयमपि 'निबन्धे' 'द्वितीयस्य प्रवाहरूपतया तीर्थत्वमि'ति । यादवकोशेपि—'तीर्थं मन्त्राद्युपाध्यायशास्त्रेष्वम्भसि पावने' इति । उक्तं च दशमस्कन्धीयसुबोधिन्यां देवतात्वं 'कालिन्दीति समाप्ताने'त्यस्य व्याख्याने 'आध्यात्मिकं देवतारूपमि'ति । 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानी'तिवचनत्रयापि—

१. क्वचित्पुस्तिकापाठः । २. प्रधानत्वमिति पाठः । ३

प्रकाशः ।

शुद्धेन भावेन तदानन्त्याय कल्पते ' 'विधिहीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत् । तद्धर-न्त्यसुरास्तस्य मूढस्याकृतबुद्धिन' इति योगियाज्ञवल्क्यवचोभिः, 'अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः । हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिन ' इति वायुपुराणवचनाच, ' प्रायश्चित्तानि चीर्णानी'त्यादिभिश्च तेषां भगवद्बहिर्मुखत्वनास्तिक्यादिदोषानिवार-कत्वात् । ननु वस्तुशक्त्यां सत्यां कथमेतत्, न ह्यग्निः कदाचिन्न दहतीत्याशङ्क्याधि-दैविकदेवतारूपतिरोधानाद्वस्तुन एवाभावादित्याहुः—तिरोहिताधिदैवेष्विति । दुष्टा-न्मत्याधिदैवतिरोधानात्सतः प्रत्येव प्राकट्यात्, अत एव श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे ' तीर्था-दानपी'ति । अत एव सतां 'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानी'त्यनेन तीर्थीकरणमुच्यते । आधिदै-विकाभावे जले दृश्यमानदोषाभावात्किं तीर्थीकरणं स्यात् । शेषं प्राग्वत् ॥ ३ ॥

टिप्पणम् ।

'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवा-पगाः' 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत् । कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चयः' 'भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभो । तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तः-स्थेन गदाभृते'ति ॥ ३ ॥

प्रकाशः ।

ननु कर्तृसमीचीनत्वे सर्वफलसिद्धेः किमाश्रयेऽन्यव्यवच्छेदेनेत्याशङ्क्य कर्तॄणाम-साधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।

लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । सत्सु पण्डितेषु अहङ्कारेण वयं शास्त्रज्ञा इतिगर्वेणान्यं पृच्छन्त्यपि नेति मायावादाद्यभिनिवेशाद्विशेषेण मूढेषु सत्सु । ज्ञानवत्त्वेऽपि तेषां दुष्टे-त्याहुः लाभपूजार्थयत्नेष्विति । लाभपूजार्थमेव यत्नो येषां, ते पारमार्थिकमपि कर्म लाभपूजाभ्यामेव कुर्वन्ति । पापान् पुंसः, पापं वाऽनुवर्तन्तेऽतः सङ्गात्मदोषाभ्यां दुष्टत्वान्न तेषां स्वतः फलसिद्धिराश्रये तु भगवत्कृपायां स्वत एव वेदार्थस्वदोषयोः स्फुरणात्फलसिद्धिः, भगवान् भगवदीयो वा वेदार्थं जानातीति भक्तानामेव वेदतात्पर्यज्ञानात् । शेषं सुगमम् ॥ ४ ॥

पूर्ववदाशङ्क्य मन्त्राणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।

तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

---

१ कर्तृसमीचीनत्वेनेति ख. ग.

प्रकाश ।

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । मन्त्रा वैदिका आगमोक्ताश्च, तेषु अपरिज्ञाननष्टेषु अपरिज्ञानेन तात्पर्यफलदेवतास्वरूपाज्ञानेन नष्टप्रायेषु सत्सु । वैदिकानां गुरुकुलवासब्रह्मचर्यशूद्रासन्निध्यनध्यायराहित्यपूर्वकं पठितानां साधकत्वेनाव्रतयोगिनामसाधकत्वात् । आगमोक्तानां तात्पर्याज्ञानेनार्थदेवयोस्तिरोभावादसाधकत्वात् । भगवदाश्रये तु 'यस्य स्मृत्ये'त्यादिवाक्यैः 'सर्वं संपूर्णतां याती'ति मन्त्राणामपि साधकत्वात् ॥ ५ ॥

ननु मीमांसादिना मन्त्रतात्पर्यनिर्धारात्कर्मभिरेव फलसिद्धेः किमाश्रयेणेत्याशङ्क्य कर्मणामसाधकत्वं वदन्त आश्रयं प्रार्थयन्ते—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादविनष्टेष्विति । कर्माणि सोमयागादीनि, व्रतादीनि च, तेषु सर्वेषु प्रपञ्चः सर्वोपि मिथ्येति वेदानामपि तथात्वात्प्रपञ्चवत्स्वाज्ञानकल्पितत्वेन वेदानां तद्बोधितानां च व्यवहारमात्रेण प्रामाण्यात्किञ्चित्कर्तव्यं प्रामाण्यं वास्तीति केषाञ्चिद्वादः, 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोग्र' इत्यादिवाक्यैर्ब्रह्मादीनामपि यज्ञैरेवोत्कर्षात्पूर्ववासनात एवोत्तरप्रवृत्तेः कर्मैव कर्तव्यं तेनैव फलं न कोप्युपास्यः फलदाता प्रवर्तको वा, देवतापि चेतना नास्ति किन्तु मन्त्रमय्येवेति न देवताप्रीतिव्यापारः फलं वेति केषाञ्चिद्वादः, शास्त्रेण षोडशपदार्थविवेकानन्तरं श्रवणमननिदिध्यासनैः स्वात्मसाक्षात्कारे सति दुःखात्यन्ताभाव एव फलं न भगवान्सेव्यः फलं वेति केषाञ्चिद्वादः, प्रकृतिविकृतिकारोपधानविलये पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थानं फलं, न भगवानिति केषाञ्चिन्मतम्, एवंविधैर्नानावादैर्विशेषेण नष्टेषु सत्सु । विपरीतार्थनिश्चयेन फलाजनकत्वाद्विनाशः । वस्तुतः 'पुरुष एवेदं सर्वं' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' 'एष उ एव तं साधु कर्म कारयति' 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'को नु राजन्निन्द्रियवान्' 'देवोसुरो मनुष्यो वा' 'फलमत उपपत्तेः' 'त एव हृष्टास्तर्पयन्त्येनमि'ति 'देवा वै सत्रमासत' 'विसृते तदनन्तरम्' 'मामेवैष्यसि' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं' मित्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात्सत्यत्वेन कर्तव्यस्य सफलत्वाद्भगवतः सर्वेश्वरत्वेन सेव्यत्वात्प्रवर्तकत्वात्फलदातृत्वात्तत्प्रीतिस्तत्र कारणमित्युपपत्त्या देवतानामपि चेतनत्वाद्भगवत्सायुज्यस्य मोक्षत्वादानन्दरूपत्वेन भगवत एव फलरूपत्वात्पूर्वोक्तवादानां प्रलपितकल्पत्वात् । स्वमताग्रहेणैव निषिद्धदशम्यादिविद्धैकाद-

टिप्पणम् ।

प्रलपितकल्पत्वादिति । यत्तु 'शास्त्रदीपिकायां नवमाध्याये 'देवतां वा प्रयोजयेद् अतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वादि'त्यधिकरणे 'यद्यपि देवता विग्रहवती प्रतिष्ठया सुक्त्वा व्रजति प्रसीदति च तथापि यागादेव फलं विग्रहवती चानित्या स्याद्, ततश्च नित्य-

टिप्पणम् ।

वेदविषयत्वं न स्यात्, सत्यपि विग्रहे मन्त्रस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धो-शक्योऽभ्युपगन्तुम्, न चाभुञ्जाना प्रसीदतीति युक्तम्, अत एवाप्रतिपन्नापूर्वत्यागे देवताप्रसादे वा फलमित्येतदपि निरस्तं, न हि तस्याः प्रसादः संभवतीत्युक्त'मिति पार्थसारथिमिश्राः तत्प्रौढिवादमात्रमेव । तथाहि-'यदुक्तं विग्रहवती चानित्या स्यात्ततश्च नित्यवेदविषयत्वं न स्यादि'ति, तदपेशलं, अनित्यानामपि यागादीनां वेदविषयत्वात्, विग्रहवत्त्वेनैव फलजनकत्वस्य 'स एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयती'त्यादिश्रुत्युक्तत्वाच्च । मुख्यार्थबाधेन न श्रुतेरुपचरितार्थत्वम् । अर्थवादानां स्वतः प्रामाण्यं न तु विध्येकवाक्यतया । एतेनास्मिन्नेवाधिकरणे यच्छाबरभाष्ये सिद्धान्तितं तत्स्वमताग्रहमात्रमेव । प्रकृतमनुसरामः । यदपि 'सत्यपि विग्रहे मन्त्रस्य हविषो देवतया भोगः प्रत्यक्षविरुद्धोऽशक्योऽभ्युपगन्तुमि'ति, तदप्यविचाररमणीयम् । श्रिष्यादीनामपि प्रत्यक्षभोगाभावत्वेन 'सर्वमनुष्या विष्णुनाऽशितमश्नन्ती'ति श्रुतौ 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन' इति स्मृतौ 'विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरम् । पितृभ्यश्चापि तद्देयं तदानन्त्याय कल्पते' 'पितृशेषं तु यो दद्यात् हरये परमात्मने । रेतोधाः पितरस्तस्य भवन्ति क्लेशभागिनः' इति स्कान्दे 'यः श्राद्धकाले हरिभुक्तशेषं ददाति भक्त्या पितृदेवतानाम् । तेनैव पिण्डांस्तुलसीविमिश्रानाकल्पकोटिं पितरस्तु तृप्ताः' इति ब्राह्मे च प्रतिपादितस्य भोगस्य विरोधापत्तेः । यत्तु निर्णयसिन्धुः-'एतत्सर्वं निबन्धविरोधान्निर्मूल'मिति, तन्न, श्रीधरस्वामिनृसिंहपरिचर्यादिमूलं वदतः स्वस्यैव वदद्व्याघातात् । एतेन 'न चाभुञ्जाने'त्यारभ्य 'प्रसादः संभवतीत्युक्त'मित्यन्तं यदुक्तं तदेतेनैव निरस्तम् । वस्तुतस्तु विशिष्ट एव देवतेति न काप्यनुपपत्तिः । एतेन तदुक्तकर्ममार्गस्य प्रलपितकल्पत्वं सिद्धमिति निगर्वः । यत्तु मुक्तावस्थात्मनिरूपणे 'गुणराशीश्वरभेद' इत्यारभ्य 'परमं साम्यमुपैतीति श्रूयते' इत्यन्तं पञ्चाननभट्टाचार्या आहुस्तत्तामादिकमेव । तथाहि यदुक्तं 'गुणराशीश्वरभेदोऽन्यथा बन्धमोक्षानुपपत्ते'रिति, तदुच्छं, बन्धस्य सांसारिकजीवविषयत्वेन सुतरां भेदाभावात् । यदपि 'गोपीश्वराभेद' इत्यारभ्य 'सर्पिता' इत्यन्तं वदन्ति तदपि तथा । तथाहि अभेदबोधिका किल 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती'ति श्रुतिः । नहि तदीयपदप्रतिपादनद्वारा स्तुतिस्तस्याः शक्योऽपि स्त्वौपचारिकः, न च श्रुतेरुपचरितार्थत्वं संभवति मुख्यार्थबाधात् । अत एवांशो नानाव्यपदेशा'दित्यधिकरणे 'अद्वैतश्रुतयस्तु जातिदेशकालभेदेन निमित्तोपचारादि'त्युक्त्वा 'न च यत्परस्तदौपचारिकं युक्त'मित्युक्तं वाचस्पतिमिश्रैः । न च 'सर्वे एवात्मानः सर्पिता इति श्रुतिविरोधः, सर्वात्मनां तत्त्वेनैव भगन-

मिति तदर्थात् । यदपि 'मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तावभेदो जायते इत्यपि न, भेदस्य नित्यत्वे नाशायोगात्' तदप्यसत्, भेदस्य भ्रममात्रविषयत्वेन वस्तुन एवाभावात् । यदपि 'भेदनाशेपि व्यक्तिद्वयं स्यात्सत्यैवे'ति तदपि न 'एष संप्रसादः अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यादिश्रुतिविरोधात् । एतेन 'न च द्वित्वमपी'त्यारभ्य 'सर्वजनसिद्धत्वा'दित्यन्तं यदुक्तं तत्सर्वमनेनैव परास्तम् । यदपि 'योपि तदानीमभेदप्रतिशादक आगमः सोपि निर्दुःखत्वादिना साम्यं प्रतिपादयति संपदाधिक्ये पुरोहितोयं राजा संवृत्त इतिवदि'ति, तदपि न लक्षणप्रतीक्ष्यं दृशोत्तरत्वात् । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती'ति श्रुतिस्तु जीवन्मुक्तपरा तस्माचार्किकमतस्यापि प्रलपितकल्पत्वं सिद्धमिति निष्कर्षः । वचनसङ्ग्रहस्तु—'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः' 'को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजं । न भजेत्सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः । देवोसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा । भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम्' 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे' इति ।

आचार्यचरणद्वन्द्ववन्दनानन्दितात्मना ।
शिष्येण बालकृष्णानां किञ्चिदत्र विचारितम् ॥

प्रकाशः ।

इत्यादिप्रलपकरणाच्च । कर्मत्वेपि व्रतादीनां पृथगुपादानं ज्ञानाङ्गत्वबोधनाय । ननु तेपि स्वयं कुर्वन्ति परानपि बोधयन्ति मिथ्यात्वनिःफलत्वानन्दाभावज्ञाने कथं कुर्युः कथं वा बोधयेयुस्तेषामपि मतानां शङ्करजैमिनीगौतमादिप्रवर्तितत्वाचेत्यत आहुः—पाषण्डैकप्रयत्नेरि्ति । पाषण्डनिमित्तमेव मुख्यः प्रयत्नो येषु 'त्वं च रुद्रे'तिसार्द्धेन 'त्वामाराध्ये'तिश्लोकद्वयेन च भगवता महादेवं प्रति तथैवाज्ञापनेन तथैव तेषां प्रवृत्तेः, स्वयं धर्मादिकरणेन स्वस्य महत्त्वख्यापनेन प्रतारणेनात्, 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इतिन्यायात् । आधुनिकानां तैरेव मोहितत्वात् । नहि देवादिप्रवर्तितशास्त्रत्वमात्रेण सम्मतत्वं किन्तु वेदाविरोधित्वे सति वेदानुसारित्वात् । अन्यथा बृहस्पतिप्रवर्तितबौद्धशास्त्रस्यापि सम्मतत्वप्रसङ्ग इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तया । शेषं प्राग्वत् ॥ ६ ॥

टिप्पणम् ।

'त्वं न'इत्यारभ्य 'भक्त्या त्वनन्यये'त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः—

'त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय । अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज । प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च मां कुरु । त्वामाराध्य यथा शंभो ग्रही-

टिप्पणम् ।

भ्यामि वरं सदा । द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु । स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान्मद्विमुखान् कुरु । मां च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा । ' यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥ ६ ॥

प्रकाशः ।

ननु ' धर्मेण पापमपनुदति ' ' धर्मे सर्वं प्रतिष्ठित'मितिश्रुतेः पूर्वं दोषाभावाय धर्मः कार्यस्तेन चित्तशुद्धौ माहात्म्ये स्वरूपे च ज्ञाते तदाश्रयादिकं कार्यं न त्वाशु दोषवतैवान्यथा क योगिध्येयो भगवान् क दुष्टो जीव इत्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुते ' ' रहूगणैतत् ' ' भक्त्या त्वनन्यये ' त्यादीनाङ्गीकृत्या महदनुग्रहेण च भक्त्या दोषवतापि गम्यत इति तन्माहात्म्यमपि तथेति महापुरुषद्वारा शरणागतौ सर्वं तत एव भविष्यतीत्यभिमेत्य भक्तानां भगवानेव चतुर्विधपुरुषार्थरूप इति प्रथमं धर्मरूपत्वं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अनुभवविषयीभूतोऽजामिलादीनां ये दोषास्तेषां नाशकः । ज्ञापितं अखिलं माहात्म्यं येन तादृशः, तेन पापनिवर्तकत्वमिष्टमापकत्वं च धर्मकार्यमुक्तमतो दोषोपस्थितावपि तदाश्रयणमेव कार्यं भगवदीयानां न तु तं विहाय प्रायश्चित्तादीति सूचितम् । यद्वा, परम्परासंबन्धेनापि पूर्वोक्तः, स्वनामप्राम्येनाप्यजामिलोद्धारात् अनुभवे स्थितो महदनुग्रहेण । ज्ञापितमखिलं लीलादिरूपं तेनेन । शेषं प्राग्वत् ॥ ७ ॥

टिप्पणम् ।

' रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा । न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेकम् ' ' भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तपे'ति । अनुभवविषयीभूत इति । अजामिलादीनामिति शेषः । पक्षान्तरे स्वनामिलेतरभक्तविषयीभूतः सन्निति तदर्थः । अजामिलस्य [redacted] परम्परासम्बन्धेन स्वनाम्नैवोद्धारात् । दोषोपस्थितावित्यारभ्य सूचितमित्यन्ते—ननु ' श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते । आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोपि न मे प्रियः ' इत्यनेन भक्तिमार्गीयस्यापि वेदविहितकरणत्वेन दोषोपस्थितावपि प्रायश्चित्तादेः प्राप्तत्वादित्थं कथमुच्यते इति चेत्, सत्यं, महादोषोपस्थितौ भगवदिच्छां ज्ञात्वा प्रायश्चित्तादिकरणम् । तदुक्तं सर्वनिर्णये ' प्रायश्चित्तं पातकादीनामि'ति । अल्पदोषोपस्थितौ तु तदाश्रयणमेव कार्यं न प्रायश्चित्तादि । एतदुक्तं सर्वनिर्णये—'अनेनाल्पवहिर्मुखतायामपि भागवतमनुसन्धेयमित्युपायः कथित ' इति सर्वं समञ्जसम् ॥ ७ ॥

प्रकाशः ।

ननु 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' 'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छती'त्यादिश्रुतेः कर्ममार्गेऽपि ब्रह्मयज्ञाध्ययनादिनाग्न्यादिसायुज्यसिद्धे'र्ये त्वक्षर'मित्यादिना ज्ञानेनाप्यक्षरसायुज्यसिद्धेः को विशेषः कृष्णाश्रय इति किमिति तस्यैव प्रार्थनमित्याशङ्क्य तारतम्यज्ञानार्थं सर्वेस्वरूपनिरूपणपूर्वकमधिकफलं वदन्तस्तं प्रार्थयन्ते—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । यस्मात्सकला देवाः प्राकृताः सत्त्वाद्यहङ्कारसम्भवत्वात् । बृहदक्षरं गणितानन्दकं 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवती' त्यारभ्य 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्द' इत्यन्तेन ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वात् कृष्ण एव हरिः, सर्वदुःखहर्ता

टिप्पणम् ।

ये त्वक्षरमित्यादिनेति । 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्' 'संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः । ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः' 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' इत्येतेन तथेत्यर्थः । सैषानन्दस्येति । 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति । युवा स्यात्साधु युवाध्यायकः । आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः स एक आजानजानां देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः, ये कर्मणा देवानपियन्ति श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः स एको देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्ये'त्यनेन प्रजाऽङ्केन

प्रकाशः ।

पूर्णानन्दश्च । पूर्णश्चासावानन्दश्च, पूर्ण आनन्दो येन यत्र यस्मादिति वा, तस्मात्कृष्ण एव गतिर्ममास्त्वित्यर्थः । देवादिसायुज्येपि तेषां प्रकृत्युपधानेन तन्मुक्तेः सगुणत्वेन 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'तिभगवद्वाक्यात्पुनः संसारसंभवेनाल्पानन्दत्वेन स्वर्गवदमुक्तित्वात् । ज्ञानमार्गेऽक्षरमुक्तेर्निर्गुणत्वेप्यक्षरस्य गणितानन्दत्वेनाल्पत्वात् क्षुधितस्याल्पल्पभोजनमभोजनमेवेतिवदप्रयोजकत्वात् । अप्राप्तार्थदृष्टार्थं 'क'प्रत्ययेनाव्यक्तत्वं पुरुषोत्तमापेक्षयाल्पत्वं च सूचितम् । पूर्णानन्दत्वेन निर्गुणमुक्तिदायकत्वेन कृष्ण एव शरणं भावनीय इति सिद्धम् । तदुक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः 'निर्गुणा मुक्तिरस्माद्धि सगुणा सान्यसेवये'ति । ननु 'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ । भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ' 'कलाभ्यां नितरां हरेः' इत्यादिनांशत्वकथनाद्देहस्य च त्रिदिवेशादावपि पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमेन जन्मश्रवणात् सुखस्यापगुणत्वेन भेदाच्च कथं पूर्णत्वं, कथं चानन्दरूपत्वमानन्दवत्त्वं तज्जनकत्वं वा परं वक्तुं शक्यमिति चेत्, नैवम्, 'ताविमा'वित्यादीनामर्थानवगमात् । तथाहि–भगवान् भक्तानामार्तिनाशार्थं सुखदानार्थं च प्रकटः सन्तो भारव्ययायैहानयोः कृष्णार्जुनयोस्ताविमौ भगवतो हरेरंशौ चागतौ कृष्णयोर्यदुकुरूद्वहयोः प्रविष्टत्वाद्यदुकुरूद्वहौ कृष्णौ च जातौ, यत आगतौ तत्र यदुकुरूद्वहत्वाभावात् । तत्तत्कार्यकरणार्थं व्यूहेषु भगवतस्तत्तदंशापेक्षणादनयोरपि सङ्कर्षणांशत्वेन भूभारहरणार्थमपेक्षणात् । अंशयोरेवावतारत्वे पूर्णत्वाभावे 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः' । 'विदितोसि भवान् साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः' इत्यादिकं विरुध्येतात्र चकारश्च व्यर्थः

टिप्पणम् ।

ब्रह्मानन्दस्य गणितत्वादित्यर्थः । पूर्ण आनन्दो येनेति । मर्यादापुष्टिस्थस्येति शेषः । येनेति करणे तृतीया । ननु करणस्य व्यापारवत्त्वनियमात्कथमस्य फलोपधानासाधारणकारणत्वमिति चेत्, अत्रोच्यते, यत्र भगवान् साधनं कारयित्वैव फले प्रयच्छति तत्र भगवतः करणत्वं, प्रयोज्यप्रवृत्त्युपहितप्रयोक्तृधर्मस्य साधनकारयितृत्वस्य तज्जन्यत्वेन व्यापारत्वादिति । पूर्ण आनन्दो यस्मादिति । पुष्टिस्थस्येत्यर्थः । हेतोर्निर्व्यापारसाधारणत्वात् । ननूभयोरपि मुख्यफलप्राप्तिमत्त्वेन को वा विशेषः पुष्टिस्थस्येति चेत्, साधनानपेक्षत्वस्यैव विशेषादित्यलं बहुना । 'ताविमावि'त्यारभ्य 'प्रकृतेः परः' इत्यन्तानि वचनानि–'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ । भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ' 'वभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः' 'अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'वसुदेवगृहे साक्षात् भगवान् पुरुषः परः । जनिष्यते तत्प्रियार्थं संभवन्तु सुरस्त्रियः' 'विदितोसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः । केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृगि'ति । चकारश्च व्यर्थः स्यादिति । 'भारव्ययाय च भुवः' इत्यत्र

प्रकाशः ।

स्यात् । तथाचोक्तं श्रीभागवततत्त्वार्थदीपे 'सर्वातिरिक्तरूपेण नरः स्वावेशधारकः । तपोऽतिरिक्तकार्ये [illegible] पूर्णे कृष्णे न चान्यथे'ति । 'सर्वे'ति । व्याख्या तु 'सर्वकार्यकर्तृत्वात्सर्वरूपो नारायणः । पुष्टिकार्यकर्तृत्वात्तदतिरिक्तोऽवतारः । तत्राधिकारमाशङ्क्य परिहरति 'स्वावेशे'ति । नरस्तु तादृशमंशं बिभर्ति न त्ववतार इत्यर्थः । 'ताविमौ वै भगवत' इति मूलवाक्यं 'कृष्णस्तु स्वयं भगवाने'तेन विरुध्यते इति समाधत्ते 'तपोऽतिरिक्ते'ति । मार्गद्वयस्थापनार्थमवतीर्णोऽपि पूर्णप्राकट्याभावे कार्यं न सेत्स्यतीति पूर्णे कृष्ण एव प्रविष्टावंशाविति मूलार्थ' इति । 'बभावि'त्यत्र कलाभ्यामंशाभ्यां भूर्भमौ हरेः सम्बन्धिनी भूः यदैरनुभावैर्लीलाभिश्च नितरां बभावित्यर्थं इति । अन्यथोक्तवचनविरोधात् । देहस्य पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमस्य प्राकृतविषयत्वादप्राकृते यथावेदमेवार्थसिद्धेः, अन्यथा ज्ञानेच्छादीनामनित्यत्वनियमान्नित्यं ज्ञानादिकमपि तत्र न सिद्ध्येत् । ननु ज्ञानादिभिरेव जगत्कर्तृत्वोपपत्तौ मत्यक्षबाधाच्च किमित्यानन्दमयो नित्यो देहोऽङ्गीकार्य इति चेत्, न, कर्तृत्वनिर्वाहार्थमेव व्याप्तिबलेन नित्यज्ञानवत्सच्चिदानन्ददेहस्वीकारात् । 'नित्यापरिच्छिन्नतनोः प्राकट्यस्यैव जन्मत्वेन जन्यत्वाभावात् । 'आनन्दाद्ध्येव' 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'स यथा सैन्धवघनः' 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' 'आनन्दमयोऽभ्या-

टिप्पणम् ।

भक्तार्तिनाशसुखदानादिकं चकारेण गृह्यते । तच्च पुष्टिपुरुषोत्तमकार्यमेवेति तदतिरिक्तकल्पनायां चकारो व्यर्थः इत्यादिरर्थः । व्याप्तिबलेनेति । अन्वयव्यतिरेकव्याप्तिबलेनेत्यर्थः । तथाहि यत्र यत्र कर्तृत्वं तत्र तत्र देहवत्त्वं यथा कुलालादावित्यन्वयव्याप्तिः । यत्र यत्र देहवत्त्वाभावस्तत्र तत्र कर्तृत्वाभावः, यथा मुक्तात्मनीति व्यतिरेकव्याप्तिरिति । न चाप्रयोजकत्वम्, देहवत एव कर्तृत्वात्, न ह्यशरीरो कुलालः शक्नोति घटं कर्तुम् । वस्तुतस्तु 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' 'सर्वतः पाणिपादान्त'मित्यादिविरोधः । 'अशरीरं शरीरेष्वि'त्यादयस्तु पाञ्चभौतिकशरीरनिषेधपराः । न च श्रीहिपदवत् विकल्पसंभवः प्रमेयापहारनिबन्धनाभावात् । ननु गीतायां चतुर्दशाध्याये 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति' इत्युपादाय 'गुणेभ्यो नान्यं कर्तारमनुपश्यत्यपि तु गुणा एव कर्माणि कुर्वन्तीति' श्रीधरस्वामिव्याख्यानाद्देहनिरूपितव्याप्त्यव्याप्तिरिति चेत्, अत्र वदामः—गुणानामपि देहवत्त्वेनैव कर्तृत्वं न तु केवलतया । अत एवाग्रे 'गुणानतीत्ये' त्यस्य व्याख्याने 'देहाकाराः समुद्भवः परिणामो येषां ते देहसमुद्भवास्तान्' तांस्त्रीनपि गुणानतीत्यातिक्रम्ये'त्युक्तं श्रीधरस्वामिभिरिति दिङ्मात्रं एव विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु । 'आनन्दमात्रे'त्यारभ्य 'श्रुदितवन्त' इत्यन्तानि वचनानि । 'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्म-

प्रकाशः ।

सात्' 'आह च तन्मात्रम्' 'केवलानुभवानन्दस्वरूपः' 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' 'बहूनि सन्ति नामानि' 'त्रय्या चोपनिषद्भिश्च' 'न चान्तर्न बहिर्यस्ये'त्यादिश्रुतिन्यायपुराणवाक्यसहस्रैः प्रमाणप्रकरणीयलीलाभिश्च पूर्ण एव देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणात्मरूप एवानन्दरूपो ज्ञानरूपः पुरुषोत्तमो न त्वात्ममात्रमिति निर्बाधमबोधि । 'नित्यं विज्ञान'मिति 'पूर्णमेवावशिष्यते' 'भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञ' इत्यादिना नित्यत्वं, 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेरानन्दजनकत्वम् । 'कृष्णः प्रीतमनाः' 'वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीतिः' 'जातहर्षः' 'मुदितवक्त्र उपयाती'त्यादिनानन्दवत्त्वं चेति नानुपपन्नं किञ्चित् । तथाप्यानन्दत्वदेहत्वयोर्विरोध इति चेत्, न, स्वस्वाधिकरणे प्रमाणैरेकनोभयोः सिद्धप्रसिद्धिभ्यां च विरोधाभावात् । तथाप्यानन्दस्य धर्मिरूपत्वे कथं धर्मरूपत्वमिति चेत्' 'स यथा सैन्धवघनः' 'यः सर्वज्ञः' इतिश्रुतिभ्यां ज्ञानरूपत्वज्ञानाधारत्ववदानन्दरूपत्वतदाधारत्वयोरविरोधात् । श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैः सर्वमेतद्यथा तथा विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितमिति नात्र प्रपञ्च्यते ॥ ८ ॥

टिप्पणम् ।

तत्त्वो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः । आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा' 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः' 'त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः । उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्' 'न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् । पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः' 'नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु । व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः' 'एवं वृन्दावने श्रीमान् कृष्णः प्रीतमनाः पशून् । रेमे संचारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः' 'वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च । वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप' 'सहबलः स्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः । हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्' 'यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते । मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापमि'ति ॥ ८ ॥

प्रकाशः ।

ननु विवेकधैर्याभ्यां स्थित्वा भक्तिकरणे भगवानपि वशो भवतीति किमिति दैन्येनाश्रयः प्रार्थ्यते इत्याशङ्क्य सर्वमनोरथपूरकत्वात्सर्वफलार्थं काम्यत्वात्काम्यरूपत्वं वदन्नस्तं प्रार्थयन्ते विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

पूर्वं प्रभुस्वरूपविचारेणाश्रयमुक्त्वा जीवस्वरूपविचारेणापुनोच्यते । भगवान् स्वेच्छया सर्वं करिष्यति न प्रार्थनीय इतिनिश्चयो विवेकः । भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्युपायाकरणेन त्रिदुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः साधनरूपापि । आदिपदाद्गुणग्रहणम् । विशेषण इति । तत्साधनैरपि रहितस्य । यद्वा, यत्किञ्चित्सत्त्वेपि विशेषतो नास्तीति न फलसिद्धिः । किञ्च, दीनस्य दरिद्रस्यातः सर्वसाधनरहितस्य । पापे आसक्तस्येति विपरीतसाधनवतो न तु प्रामादिकपापस्य । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । अन्यत्र यत्किञ्चिद्वैगुण्येपि वैफल्यादेवताकोपादनिष्टजननाद्वरदत्वाचेदृशस्य विवेकादिकं दत्वा स्वतो वा सर्वफलदायकः परमकृपालुः कृष्ण एवेति स एवाश्रयणीय इति हृदयम् । नन्वस्मच्छब्दस्योच्चारयितृवाचकत्वाद्गावार्यचरणानां तथात्वाद्विशेषणान्यसङ्गतानीति चेत्, न, अस्यान्यार्थपरत्वेनान्याधिकारेण कथनाद्भगवता वेदेषु 'प्रयतपाणिः शरणं प्रपद्ये' 'भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम' 'स्वस्ति मेस्तु वनस्पते' इत्यादौ यजमानाधिकारेण कथन इवादोषत्वादिति सर्वमनवद्यम् ॥ ९ ॥

ननु सर्वथा निःसाधनस्य शरणागमनादपि कथं समीहितसिद्धिः, भगवांस्तु तच्छक्तिसापेक्षस्तस्मै तस्मै फलं ददाति, प्रत्युत भगवदेकशरणस्य तदेकमनसो देवान्तरानादरेण तत्कृता अपि विघ्नाः स्युः 'श्रेयांसि बहुविघ्नानी'तिवाक्यादित्याशङ्क्य मोक्षप्राप्यत्वान्मोक्षरूपत्वं विज्ञापनं च वदन्तः समादधते सर्वसामर्थ्यसहित इति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥[1]

टिप्पणम् ।

मोक्षप्राप्यत्वादिति । स्वरूपलाभप्राप्यत्वादित्यर्थः । तथाच श्रुतिः 'ब्रह्मविदाप्नोति परमि'ति । अस्या अर्थः–अक्षरवित् परं पुरुषोत्तमं प्राप्नोतीति । मोक्षरूपत्वमिति । भक्तिमार्गस्याय भगवद्भजनं कुर्वते स्वीयाय सर्वफलदातृत्वं भगवत एव तथाचाक्षरफलदातृत्वमपि स्वस्यैवेति तद्रूपत्वान्मोक्षरूपत्वमित्यर्थः । तथाचोक्तं निबन्धे 'यथा सारथी रथी तदन्तःस्थितश्च तथान्तर्याम्यक्षरं कृष्णः । एवं सति पुरुषोत्तमत्वेन सर्वत्र दर्शनं भवति परब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्तते इति त्रयो भेदा इति' ।

---

१ 'नेति क्वचिन्नास्ति । २ वक्तृत्वा इत्यपि पाठः ।

प्रकाशः ।

सर्वं पूर्णं सामर्थ्यं सर्वेषां भक्तेषु वा, तत्सहित इतीच्छया स्वतोऽपि सर्वं करोति । यदि मर्यादां रक्षेत्तदा भगवत्त्वेन ज्ञानैश्वर्यवीर्यादीनां सिद्धत्वात्तत्तद्द्वारापि तत्तत्फलं दद्यात् । कदाचित्पूर्वस्थितमपि स्वस्मिन्नयेत्, सर्वत्र स्वस्यैव सामर्थ्यात् । 'यद्यद्विभूतिमत्' 'यतः सर्वं प्रवर्तते' इत्यादिवाक्यैः सर्वं सामर्थ्यं येषां सुदर्शनादीनां तैः सहित इति वा, तेऽपि भक्तानिष्टनिवारणात्, 'अव्याहतानि कृष्णस्ये'तिवाक्यात् । ननु सामर्थ्ये सत्यपि कदाचिदाश्रितं न रक्षेत्, मर्यादयैव वा यदि फलं दद्यात्तदा किमाश्रयेणेत्यत आहुः—सर्वत्रैव देशेषु वर्णेषु आश्रमेषु कर्मादिषु वाखिलार्थान्करोतीत्यखिलार्थकृत् ताच्छील्यादौ क्विप् 'सकृदेव' 'ये दारागारपुत्राप्ते'त्यादिवाक्यैः सकृदपि शरणागतं भगवान् रक्षति किं पुनर्भजनः । मर्यादयापि फलदानेऽप्यनैरपेक्ष्येण भजतो भगवान्मर्यादानपेक्षः फलं प्रयच्छति, विहितत्वादिना भजतो मर्यादासापेक्षो 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति तन्मर्यादाया एव तात्पर्यमत्रास्ति । अत एव 'व्रजस्योवाह वै हर्षम्' 'चिक्रीडे जनयन्मुदम्' 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः' 'मुकुन्दो मुक्तिं ददाती'त्यादि 'तथा न ते माधव' 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्' 'वसति मनसि यस्ये'त्यादिवाक्यैः कालकर्मादयोऽपि चेद्भगवदीयान्निवर्तन्ते कुतस्तरां पुनरन्ये विघ्नकर्तार इति न किञ्चिद्दूषणम् । पूर्वोक्तं शरणे स्थितं सम्यगनायासेनोद्धरति, सकृदागतं तु यथाकथञ्चित् । ईदृशं श्रीकृष्णपदमाश्रय विज्ञापयामि । 'कृष्णे'तिसम्बोधनपाठे शरणस्थसमुद्धारं विज्ञापयामीत्यन्वयः । अनेनेश्वरे दीनभावः कर्तव्य इति सूचितम्, दीनभावेन कृतस्यैवेश्वरतोषहेतुत्वात् ॥ १० ॥

टिप्पणम् ।

'यदा'रभ्य 'अव्याहतानी'त्यन्तानि वचनानि 'यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्' 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः' 'अव्याहतानि कृष्णस्य चक्रादीन्यायुधानि तम् । रक्षन्ति सकलापद्भ्यो येन विष्णुरुपासितः' इति । ताच्छील्यादौ क्विबिति । 'आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिष्वि'ति स्मरणात् । 'सकृदेवे'त्यारभ्य 'तत्तथा साधयिष्यामी'त्यन्तानां वचनानां सङ्ग्रहः—'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' 'ये दारागारपुत्राप्तप्राणान्वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः' 'दर्शयंस्तद्विदां लोके आत्मनो भृत्यवश्यताम् । व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः' 'ततस्तु भगवान् कृष्णो

टिप्पणम् ।

वपुर्भिरव्जनाभोऽङ्कः । सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन्मुदम्' 'तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः । स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे' 'राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः । अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्' 'तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः । त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो' 'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् सर्वान् लोकान् निर्भयान्नाध्यगच्छत् । त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति' 'वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपातः । गतिरथ मम वा तवास्ति चक्रप्रतिहतवीर्यबलस्य सोऽन्यलोकः' ॥ १० ॥

प्रकाशः ।

'दश वै पशोः प्राणा आत्मैकादश' इतिश्रुतेः प्राणानामिव सर्वसाधकत्वं ज्ञापयितुं दशभिः श्लोकैः स्तोत्रं निरूप्य फलस्यात्यन्तदसत्त्वं ज्ञापयितुमेकादशेनात्मरूपेण तत्स्तोत्रपाठफलमाहुः—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आ समन्तात् श्रीयते सेव्यतेऽनेन, कृष्ण आश्रयो येन यस्मादिति येति कृष्णाश्रयम्, इदमेव कृष्णाश्रयं यथार्थनिरूपकत्वान्नान्यत् । कृष्णसन्निधौ तदिदमित्थं वा, इदं यः पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयो भवेत् । अत्र 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' इदमिति नान्यपाठेनेदं फलं, स्वल्पायासात् । नन्वल्पायासादेतत्स्तोत्रपाठमात्रेण कथमेतत्फलं स्यादित्याशङ्क्याहुः—श्रीवल्लभ इति । इदमब्रवीत् अवदत् । तस्य भगवत्स्वरूपाभिन्नत्वाद्भगवता सर्वोद्धारार्थं प्रकटितत्वादुद्धारकस्वरूपत्वाच्च नात्राप्रामाण्यशङ्का, नहि भगवान् सत्यवाक् स्ववाचमन्यथाकरोति । यत्र प्रसङ्गाभावादप्युक्तं 'तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मने'ति सदनुग्रहो भगवान् स्वकृतमिव मन्यमानः पुरुषोत्तमः स्वयं तत्र गत्वा नलकूबरमणिग्रीवोद्धारं कृतवान्, तत्र स्वयं सर्वार्थं प्रकटितस्य स्वस्वरूपस्य कृतौ वचने वा किं किं न करिष्यतीति तत्कृपाया सर्वं भवतीति सर्वमनवद्यम् ॥ ११ ॥

टिप्पणम् ।

'देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ ।
तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मनेति' ॥ ११ ॥

---

१ मुक्तिपदं क्वचिन्नास्ति । २ स्वस्य इति पाठः क्वचित् ।

प्रकाशः।

श्रीमद्विट्ठलनाथपादकमले संनम्य भक्त्या मुदा
कृष्णंकाश्रयितेथ तातचरणान् तातकृपितॄन्यानपि।
श्रीकृष्णाश्रयसंज्ञके स्तुतिवरे कल्याणरायाभिधः
श्रीगोविन्दसुतः प्रकाशमकरोद्भगवन्मुदे सद्धियाम् ॥ १ ॥

इति श्रीविट्ठलनाथचरणकमलैकतानश्रीकल्याणरायविरचितः
कृष्णाश्रयस्तोत्रप्रकाशः समाप्तः।

टिप्पणम्।

दूरीकरोति विकटं किल सङ्कटानां सङ्घं विशंकटतरं वरसेवकानाम्।
यस्यारागमणिवर्यविराजमानं तद्देवरेणुकटं प्रकटं स्मरामः ॥ १ ॥
निखिलपण्डितमण्डलमण्डितं हरिमुखाब्जसरोरुहभास्करम्।
अतुलमङ्गलनामविराजितं जनमनोहररूपमहं भजे ॥ २ ॥

श्रीमत्कल्याणरायाणां नमस्कृत्य पदद्वयम्।
कृष्णाश्रयप्रकाशस्य तत्प्रणीतस्य टिप्पणम् ॥ ३ ॥
गुरुश्रीबालकृष्णानामात्मजेन सतां मतम्।
कृतं गोविन्दराजेन नाम्ना तत्त्वनिरूपणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्कल्याणरायचरणकोकनदमधुपायमानान्तःकरणतिथरो-
पनामकबालकृष्णभट्टात्मजगोविन्दराजकृतं तत्त्वनिरूपणाभिधं
कृष्णाश्रयप्रकाशटिप्पणं समाप्तिमगमत्।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्द्वारिकेश्वरचरणप्रणीतविवृतियुतम् ।

पशुपतिकृतिभिर्ये भ्रंशिता मुग्धचित्ता-
स्तदनुसृतकृतीन् स्वाज्ञानतः पातुमिच्छन् ।
अवददविकृतं यः स्वागमं सर्वभद्रम्
तमहमतिदयालुं वल्लभाख्यं नतोस्मि ॥ १ ॥

विरञ्चिकृष्णनारदैर्निरूपितैर्भृशं सदा
चिरन्तनोपसाधनैर्विसम्मतं कलिं विभुः ।
विलोक्य सर्वतोधिकं निजागमं ततान यः
सदा सुसंमतं सतां विशेषतः कलौ युगे ॥ २ ॥

ननु शास्त्रपरम्परया च भगवत्प्राप्तिसाधनानां बहूनां विद्यमानत्वात्तानि विहाय किमित्याश्रय एव शोध्यते, किञ्च, क्रमेण नवविधलीलाप्रवेशज्ञानानन्तरं स्वाश्रयस्वरूपज्ञानं वा स्वत एव भविष्यतीति किमिति तत्प्रतिपादकं स्तोत्रमुच्यते तत्राह–सर्वमार्गेष्विति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

तथापि निरोधस्य सर्वापेक्षया वरीयस्त्वान्मुक्तेरपि लोके तथात्वात्किमिति तौ विहायाश्रय एव निरूप्यते अत्रोच्यते 'आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते । स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते' 'या या साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः' 'सर्वाश्रयवतो भवे'दित्यादिवाक्यैराश्रयस्यैव सर्वसाधकत्वेनोक्तत्वात्सर्वसाधनफलरूपाभ्यां स एव वरणीय इति तमेवाह–कृष्ण एव गतिर्ममेति ।

गतिशब्दः क्रियावाचकः, तेन गतिरित्युपलक्षणं किन्तु [illegible] एव भक्तिमार्गनिर्वाहप्रतिबन्धनिवर्तकतया परमभक्तिप्रतिपादकसाधनीभूततनुवित्तजादिप्रतिपादकशरीरतन्निर्वाहकक्रियारूपो भवत्वित्यध्याहारः । कथञ्चित्पूर्वमार्गयोन्मुखं ज्ञात्वा पश्चान्निर्विस्तरा-

आश्रयः कर्तव्य इति नार्थः, सर्वतः सर्वांशेन कार्यसिद्ध्यभावं निश्चित्य स्वस्मिंश्च तथात्व-
निश्चये सत्यस्माकं सर्वथा लौकिकालौकिकफलसाधकोऽस्मत्कृतिनिरपेक्षः स भवतु ।
तथाभवनं तु तदिच्छासाध्यम् । भगवानाश्रयो भवतु मा वा, अस्माभिस्तदाश्रयैः सर्वथा
भाव्यमेवेति निश्चित्याश्रयः सर्वथा कार्यः । एवंप्रकारेणाश्रयः सर्वथा भवत्येव, अन्यथा
'अनन्या' इति 'न मे भक्तः प्रणश्यति' इति भगवदुक्तं भज्येत । एवं सति सर्वफलरूपस्तद्रू-
पाऽऽश्रयणोक्त्या साधनीभूतः क्रियते ततोऽधिकस्य फलस्याभावात्, प्रत्युत 'वृश्चिकभिये'-
ति न्यायेन स्वरूपहानिप्रसङ्गः स्यादत्र ब्रूमः—कृष्ण एव गतिर्ममेति । एवंच परमभक्तिस्तु
कृष्णैकफलिका तदनुग्रहैकलभ्या च, तथासति तत्सिद्धिप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं तत्सिद्धौ
तत्साधनादिनिर्वाहकसाधनतामापन्नो न हीनतामापद्यते । यथा—'योगमायामुपाश्रित' इत्यत्र
रसमार्गेऽन्तरङ्गाश्रयणं न दोषाधायकं तन्मार्गस्यैव तथात्वात् । एवं भक्तिमार्गीयसर्वांशसाधने
भगवतो न साधनरूपत्वमापद्यत इति सिद्धान्तः । यथा 'भर्ता सन् ध्रियमाणो बिभर्ति'
इत्यत्र भगवतस्तत्सम्बन्धिनां च परस्परमाधाराधेयभावे पोष्यपोषकभावे च नोभयोर्मध्ये
कस्यापि हीनत्वं किन्तु तदेकपोषकत्वं तदेकपोष्यत्वं च भगवत उत्कर्षाधायकं, एवं
तन्मार्गपक्षपाताद्भक्तिमार्गे सर्वांशेन फलत्वमापन्नस्य स्वस्य साधनतास्वीकारो न हीन-
त्वसंपादक इत्येवमभिसंधायाचार्यैरुक्तमिति भावः । धर्मादीनां च स्वसाधनसहितानामेव
फलसाधकत्वं, तत्र देशकालादयो धर्मसाधनं तेषामिदानीमतथात्वं सर्वथा निरूपयन् पूर्वं
कालस्यातथात्वमाह—सर्वमार्गेषु नष्टेष्विति । कलौ सर्वेषु मार्गेषु नष्टेषु सत्सु दैवैः
कृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप आश्रयः कर्तव्य इति भावः । मार्गोक्त्या तेषां साङ्गानां स्वस्वा-
धिकारानुसारेण फलसाधकत्वं निरूप्यते । नाशस्तु तेषां सर्वथा फलासाधकत्वरूपः । कलौ
तत्तन्मार्गे किञ्चिदुत्तमानां तद्विध्याचरणेऽपि तत्फलाभावं दृष्ट्वान्येषामनुपलब्धिप्रमाणेन
ततो विश्वासापगमात्तद्बाधतोऽपि तदाचरणपरम्पराया नाशः स्यादितिभावः । ननु सत्य-
युगादीनां यथा धर्मसाधकत्वं तथैतस्यापि तथात्वे को दोषः कालत्वस्याविशेषादित्यत
आह खलधर्मिणीति । खलाः सर्वथा बाह्याभ्यन्तरभेदेन धर्मादिकृत्यानुसन्धानरहिताश्च,
अनुसंधानेऽपि द्वेषार्थमेव तदनुसन्धानं, न च स्वस्यान्येषां वा चिकीर्षाबुद्धिजनकत्वेन ।
अत एव 'घ्नन्तं गोमिथुनं पदे'ति तस्यासाधारणो धर्मो निरूपितः । ननु सर्वथा धर्मादि-
त्यक्तारः केचन भविष्यन्ति न तु सर्वे तेन तदुक्त्या सर्वे कथं तादृशा भविष्यन्तीत्यत
आह पाषण्डप्रचुर इति । येऽपि लोके सन्मार्गाचरणं कुर्वन्ति महान्तोऽपि तेऽपि प्रधान-
मनुसृत्यैव कुर्वन्ति, अन्यथा तदा लोके पूज्यत्वं न स्यात् । पूर्वमल्पप्राचुर्ये तत्र श्रद्धा-
भावेऽप्यन्यानुरोधेनाप्यन्यथाचरणे स्वबुद्धिरपि तथैव जातेति तत्र स्वयं श्रद्धालवो भूत्वा-
न्येषामपि तथात्वं संपादयन्तः पश्चात्पक्वहृदयो भूत्वा सुखेन तथाकुर्वन्तीति भावः ।

एतेनान्यानुरोधेनापि सन्मार्गत्यागः 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे'तिन्यायेन सर्वथा स्वनाशक इति ज्ञापितं भवति । तेन भावाहिकभक्तिमार्गोऽपि नष्ट इति ज्ञापितम् । चकारः समुच्चयार्थः । तथाहि—मार्गाश्च सर्वे नष्टास्तादृग्धर्मो कलिश्चाविर्भूतः, लोके पाषण्डश्च प्रचुरः । एवं सर्वथा सर्वनाशेऽपि स्थितौ विविधशङ्कास्पदीभूतान्तःस्फुरणान् स्वानुपदिशन्ति श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेति । अवतारान्तरं तु मर्यादारूपमित्येवं निःसाधनानां धर्मादिप्रतिकूलसाधनवतां वा सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं 'सखासमी'त्युक्तिमात्रेण भक्त्यैकलभ्यः पुष्टिपुरुषोत्तम एवोद्धार कर्तुं शक्त इत्येव स्फुरेणावकलावनान्यव्यवच्छेदपूर्वकं कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तमेवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ।

एवं कालस्य धर्मादिविरोधित्वमुक्त्वा देशस्यापि तथात्वमाह—म्लेच्छाक्रान्तेष्विति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

यथा कालत्वस्याविशेषेऽपि सत्यादिरूप एव कालो धर्मसाधको भवति तथा देशत्वस्याविशेषेऽपि तीर्थादिरूप एव देशो धर्मादिकरणे साधनीभूतः । तीर्थमपि जलस्थलभेदेन द्विविधं, तत्र पूर्वं पुण्यक्षेत्रादिरूपस्य देशस्य पूर्ववदतथात्वमाह—म्लेच्छाक्रान्तेष्विति । साक्षात्परम्परया च देशाः सर्वे म्लेच्छैः आ-समन्तात् क्रान्ताः । तत्तत्पुण्यक्षेत्रादिधर्मस्थानेषु सद्धर्मावगमार्थं द्वेषेण विपरीतकृतिपूर्वकं स्थितिरास्थमणम् । कुत्रचित्पुण्यादिभूमौ साक्षात्तत्रोत्पन्नविषयभोक्तारो भूत्वा तत्रैव तिष्ठन्ति कुत्रचित्तत्सन्निहितेषु । एवं तेषां साक्षात्स्थितया तत्रोत्पन्नविषयाणां तदेकभोग्यत्वेन च सर्वदेशानामधर्मसाधनत्वं जातम् । सर्वथा म्लेच्छीयत्वात्तेषाम् । म्लेच्छा अनार्याः सन्तः सर्वथा धर्मादिविरोधिनः कलहप्रियाश्च 'मनसा वचसा कृत्या सद्धर्मपरिपन्थिनः । म्लेच्छदेशेषु सञ्जाता भक्ष्याभक्ष्यविचारकाः' । ननु तत्रोत्पन्नाः सर्वे न तथाभूतास्तद्विपरीतानां बहूनां दृश्यमानत्वात्, यथा म्लेच्छसंसर्गात्तत्रोऽपि देशोऽधर्मजनकस्तथा यात एव तद्विपरीतधर्मवतां तज्जातीयानामपि संसर्गा'त्संयोगपृथक्त्वन्यायेन देशव्यवच्छेदेन क्वचिद्देशेषु धर्मसाधनता स्यादिति चेत्तत्राह—पापैकनिलयेष्विति । सर्व एव देशाः पापैकनिलया जाताः पापानामेको निलयः स्थानं तादृशा जाताः । तेन कुत्रापि धर्मवार्ता न श्रूयते । यत्र पापास्त एव महीभोक्तारस्तदेकनिलयत्वात्तथा । येऽपि तद्विपरीतधर्मास्ते तु पूर्वजन्मनि वैष्णवा भूत्वा वेदनिन्दां कृतवन्त इति तादृशेषु जन्म प्राप्तवन्तोऽपि सत्त्वेव मविष्टा नतु तेषु । तेन सतामपि तेषामपि धर्मादिनियन्तृत्वाभावः सूचितः । ननु तदाक्रा

न्त्येष्वपि देशेषु चातुर्वर्ण्यस्यापि विद्यमानत्वाद्भोक्तृत्वप्रतियोगित्वेन त एव सतां धर्मादिप्रवर्तने सहायाः कथं न भवन्तीति चेत्तत्राह—सत्पीडेति । चित्तस्थैर्ये हि सर्वेषां स्वधर्मानुसन्धाने भवति । सतां चकारात्तदनुवर्तिनां च पीडया सर्व एव लोका व्यग्राः । सतां प्रसङ्गे पीडासंभवात्तदभावे धर्मादिसिद्ध्यभावाद्व्यग्रता । तथासति किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह—कृष्ण एवेति । सर्वथा साधनाभावाद्धर्माभावेपि भक्तिरूपकल्पतरुरूपभावत्वेन सर्वधर्ममार्गीयफलतोप्यधिकफलदायकत्वेन श्रीकृष्ण एव गतिर्ममेत्येवंरूप आश्रय एव सर्वथा कार्य इत्याचार्याणां परमोक्तिरिति भावः ॥ २ ॥

एवं म्लेच्छादिरूपतीर्थानामवधारणमुक्त्वा गङ्गादिरूपाणामपि तेषामतथात्वमाह—

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्येष्विति । ननु ‘गङ्गागङ्गेती’त्यादिनोक्तमाहात्म्यवतां गङ्गादीनां विद्यमानत्वात् कथं संसर्गदोषा बाधन्ते तत्राह दुष्टैरिति । ‘नहि गङ्गासमं तीर्थम्’ ‘या वै लसदि’त्यादिना च सर्वेभ्यस्तीर्थेभ्यो गङ्गाया एव वरीयस्त्वस्योक्तत्वात्तत्तीर्थान्यपि तीर्थीकुर्वन्ती गङ्गैव गच्छति । एवंविधान्यतथाजातानि । किञ्च, अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वमाधिदैविकादिभेदेन । तत्र तीर्थरूपं तु दुष्टसम्बन्धादेव नष्टं, तथाहि—भगवता ‘त्वं च रुद्रे’त्यादिवाक्यैर्जगन्मोहनार्थं पशुपतेः प्रवर्तितत्वात्तत्र यथा सर्वे जीवन्तो मुमुक्षवश्च मुक्ता भवन्ति तदर्थं सर्वत्र चित्तशुद्ध्यभावसाधनीभूततीर्थसम्बन्धाभावार्थं शिवेन स्वगणा गङ्गादिषु स्थापितास्ते तु गणशस्तिष्ठन्ति तत्रत्यानां प्राणापगमे यथा तीर्थसम्बन्धो न भवति तथा ते यतन्ते । तत्सम्बन्धात्तीर्थरूपमेव नष्टं, तथाचोक्तं तैत्तिरीयके ‘ये[1] तीर्थानि प्रचरन्ती’त्यादिना । अत एव तत्र मृतानामपि न तीर्थमरणफलम् एव तत्र मृताःसन्तो रुद्रपिशाचं ते प्राप्नुवन्ति न दोषादिनिवृत्तिः काश्यादिषु मुमूर्षूणां मनुष्याणामारभ्य तिरश्चामपि । ननु तत्र मृतानामपि तारकब्रह्मोपदेशं शिवः करोतीति श्रूयते तथा सति कथं जलस्थलरूपाणां तेषां न शुद्धिसाधकत्वं, सत्यं, तत्तु पूर्वोक्तधर्मवत्कालाभावे न तु तद्वति । यद्वा ‘त्वं चे’ति भगवदुक्तेः पूर्वं शिवस्तथाऽकरोत्तदनन्तरं तथाकरणे आज्ञाभङ्ग एव स्यादिति न तथा कृतवान् । तथापि निदर्शनस्येदानीमपि दृश्यमानत्वात्कथं न करोतीति वा शिवोपि वैष्णवत्वाद्भगवत्सम्मतमेव सर्वं करोति । किञ्च, तथोपदेशं कुर्वन्नपि पूर्वं वैष्णवत्वेप्यसत्सङ्गेनापराधाद्वा दैत्यावेशे जाते स्वस्थानमाहात्म्यार्थमागन्तुकदोषपरिहारपूर्वकं पूर्वरूपतासंपादकत्वेन भगवद्रूपाधिष्ठितान्निज

१ ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकावन्तो निषङ्गिणः । य एतावन्तश्च भूयांसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ।

एव तारकब्रह्मोपदेशं करोतीत्यर्थः । अत एव 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निष्पुनन्ती'त्यादिना भगवद्बहिर्मुखस्य पवित्रीकरणसामर्थ्यं तीर्थादिष्वपि नास्तीति जातेऽपि तत्सम्बन्धे न कृतार्था भवन्तीत्यर्थः । तथा चोक्तं निबन्धे 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत् । कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय' इत्यादि सर्वमनवद्यम् । ननु गङ्गादेराधिदैविकरूपस्य विद्यमानत्वात् कथं तादृशैरावरणं तीर्थरूपनाशो वा भवेत्तत्राहुः तिरोहितेति । जलस्थलरूपेभ्य आधिदैविकं तिरोहितं तस्मादुष्टसंसर्गे अक्षरात्मकमपि तथैव जातम् । एवं सर्वेषां सर्वसाधननाशगमे आश्रय एव साधीयानिति तमेवाहुः—कृष्ण एवेति ॥ ३ ॥

तथाप्यन्तरङ्गबहिरङ्गभेदेन सर्वधर्मप्रवर्तकानां सतां विद्यमानत्वात्कथं धर्मादिनाशः स्यात्तत्राह—

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अहङ्कारविमूढेष्विति । यदि तेऽपि तथाभूता भवेयुस्तदा कार्यं सिद्ध्येदेव तेषां स्वरूपमाह—परीक्षितीति यस्मिन् विद्यमाने मच्छरणागतौ कलेरप्यवसायो जातः स एवाहङ्कार इदानीं सत्सु प्रविष्टः । यथैतत्सम्बन्धात्परमधार्मिकस्यापि विष्णुरातस्य कलेः स्थानदानेन द्विजोपेक्षौ मौढ्याद्ब्राह्मणातिक्रमे बुद्धिर्जातैवं सतामपि तत्सम्बन्धात्स्वधर्मपरित्यागे बुद्धिर्जातेत्यहङ्कारेण सर्व एव मुग्धा जाताः । एतेन कर्तॄणामप्यसाधकत्वमुक्तं भवति । यदि कर्तार एवाहङ्कारेण विमुग्धा जातास्तदा तत्कृतौ धर्मासाधकत्वे किमाश्चर्यमिति कैमुतिकन्याय उक्तो भवति । अत्यमौढ्ये प्रकारान्तरेणापि तदुपगमः स्यात्तदभावार्थं विशेषेण मूढत्वम् । तत्र निदर्शनं पापानुवर्तिष्विति । पापा निषिद्धकृतिभिस्तत्फलरूपतां प्राप्तास्तद्दत्तविषयभोक्तृत्वेनानुवर्तित्वम् । ननु तेऽपि स्वोपजीव्यान् परमधर्मादिकं बोधयन्त इव दृश्यन्ते कथं ते तादृशास्तत्राह लाभेति । लाभार्थं या पूजा तस्यामेव कृतप्रयत्ना न तु भगवत्कीर्तनादौ सन्तुष्टाः सन्तः परस्परं पूजयन्ति, तादृशी तु नापेक्षिता । यद्वा, स्वलाभार्थं स्वपूजार्थं च यत्नो येषामेतेनैतादृशकर्तॄणां मन्त्रादीनामसत्त्वाद्द्रव्याणामप्यसाधकत्वमुक्तम् । अत्र कर्तॄणां तदनुवर्तिनामेव द्रव्यादीनामसाधकत्वात्पूर्वं कर्तॄणामसाधकत्वमुक्त्वा पश्चाद्द्रव्याणामुक्तं, निमित्तोक्तौ नैमित्तिकोक्तिरपि सङ्गच्छते । तेन 'स्वयं नष्टः परान्नाशयती'तिन्यायेन सतां परम्पराप्येवंरूपैव जाता । यदि तेन स्वस्य परस्य चामुष्मिकं सिद्ध्येत्तदा ते सन्त एव भवेयुः । तत्पर्थं तेषां तत्करणात् 'भिक्षाशया च गृह्णन्ति मम नामानि चार्जुन । अमुख्यास्ते जनाः पार्थ दूरतः परिवर्जयेत्'

इत्यादिवाक्यैस्तेषामतथात्वप्रतिपादनाद्वैयर्थ्यमित्यपलक्षितं सर्वमकृतप्रायं भवतीत्येवंरूप-सर्वनाश उपस्थिते सर्वेषां सर्वकार्यसाधक आश्रय एवाचार्यैरुपदिष्ट इति तथाह कृष्ण एवेति ॥ ४ ॥

ननु गोपालादितान्त्रिकवैदिकमन्त्रहरिदिनव्रतादीनां विद्यमानत्वात्तेषां च सर्वथा शोधकत्वात्कथं न तैस्तेषां पूर्वरूपत्वं तत्राह—

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । तेषां परितो ज्ञानमङ्कुरीकृत्य फलपर्यन्तं स्वरूपनिर्धारः । किञ्च, गोपालादिमन्त्राणामपि वाराङ्गनावशीकरणादिकं फलत्वेन श्रूयते 'येन धर्मोपशमं सात्त्वभक्तियोगमधोक्षजे' इतिवचनाद्भगवन्मन्त्राणां विषयादिषूपयोगोऽपरिज्ञानादेव भवति तेनानर्थोपशमरूपभक्तियोगस्य विषयाद्युपयोगे जाते नष्टत्वम् । गुरुकुलवासब्रह्मचर्यशुद्धश्रवणाध्यायपरम्पराहित्यपूर्वकपठितानां वेदमन्त्राणां 'अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावक' इतिन्यायेन सम्यक्त्वात्यर्थाज्ञानेऽप्यध्ययनमात्रेणैव सर्वसाधकत्वात्कथं नष्टत्व तत्राह—अव्रतयोगिष्विति । अव्रतयोगो येषां, अव्रतानामयोगो येष्विति वा । 'अधुना व्यधिकारस्तु सर्व एव गता कलौ' इतिवचनात्कृतानामपि तेषामव्रतयोगित्वम् । ननु किमित्यायासपूर्वकं कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं साध्यते, किञ्च, 'दानव्रततपोहोम' 'जन्मान्तरसहस्रेषु'इत्यादिवाक्यैः कर्मव्रतादीनां भक्तावपि साधकत्वं मन्तव्यं, तेन 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमि'तिन्यायेन पूर्वमेव तेषामसाधकत्वं न वक्तुं शक्यमिति चेत्तत्राह—सत्यं, तानि वाक्यानि प्रवाहिकभक्तिपराणि । नो चेत् 'न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणाः' 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्' 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेने'त्यादिश्रुतिस्मृतयश्च न सङ्गच्छेरन् । भक्तौ भगवदिच्छैकसाध्यत्वं धर्मादिसाध्यत्वं श्रीमत्स्वामिचरणैर्भक्तिहेतुनिर्णये प्रपञ्चितमस्तीति नात्रोच्यते । तेन पुष्टिभक्तौ तु 'न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता' 'न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च' 'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्' 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' 'नाहं वेदैर्न तपसे'त्यादिवाक्यसहस्रैर्भगवदङ्गीकृतानामेव तत्प्राप्तिः । तस्माद्भगवदाश्रये कर्मादीन्यप्रयोजकानि । ननु 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावते'त्यादिवचनैस्त्वदीयानामपि नित्यनैमित्तिकव्रतादिकरणमावश्यकं

तत्र वेदसाधकत्वं वदति भगवान् तदा भगवदीयानामपि नित्यनैमित्तिककर्मादिकरण-मेकादशीजन्माष्टमीनतादिकरणं च व्यर्थमिति चेत्, न । तत्र पूर्वं भगवदीयानां कर्मव्रतादीनां स्वरूपं वक्तव्यं तदेवाहुः—'यस्ये विभूतीर्भवतस्तसंपादय नः प्रभो' 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्' इति । तेन भगवदीयकृतकर्मणां 'यस्य स्मृत्ये'-त्यादिवाक्यैः पूर्णत्वमन्येषामपूर्णत्वादसाधकत्वम् । तेन स्वमार्गीयाणां तेषां तेभ्यो भेदः सूचितः । वस्तुतस्तु यत्र विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितानामपि तन्मार्गीयत्वत्राकामतयापि कृतानां कर्मव्रतादीनामसाधकत्वं कियावश्यम् । एतेन सर्वसाधनरहितानामेव भगवदाश्रये मुख्योधिकार इति ज्ञेयम् । तेन तेषां सपरिकराणां ज्ञानाभावे त एव नष्टा जाता इत्याह नष्टेष्विति । ननु तदधिष्ठातृदेवतानां तदुपसाधनैरुलब्धप्रसादानां विद्यमानत्वात्कथमपरिज्ञानं नाशो वा भवेत्तत्राह—तिरोहितेति । अर्थस्था देवास्तेभ्यस्तिरोहिता जातास्तेन गतसाराः सन्तस्तेपि तथैव जाता इति भावः ॥ ५ ॥

ननु तान्त्रिकमन्त्राद्यभावेप्यग्निहोत्रचान्द्रायणकृच्छ्रादीनां विद्यमानत्वात्कथं न कार्यसिद्धिरित्यत्राह—

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानावादविनष्टेष्विति । जैमिनिकणादगौतमादयो हि तपस्त्वात्प्रसादस्तैः श्रुतिस्मृत्यर्थविचारे क्रियमाणे कालसम्बन्धादुद्रिक्तस्वभावाः सन्तः कर्मव्रतादिप्रतिपादने निरन्तरसन्तन्यमानपरस्परमतिदूषणसन्दर्भैरव्ज्झितव्यवसाया जाताः । एवं वस्तुनिर्धाराभावे तदन्तेवासिपरम्परया अपि पूर्वपक्षप्याधिकदोषयुक्तत्वेन विविधकुतर्कोपेतैः परस्परविरुद्धैर्नानावादरूपैस्तद्वाक्यैः सर्वाण्येव कर्मव्रतादीनि विशेषेण नष्टानि । फलस्वरूपाभ्यां वस्तुनिर्धाराभावे तद्रूपेण कृतमकृतमायं भवतीति तथा । अत एव भगवतापि तथैवोक्तं 'ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोयमधितिष्ठति । विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत्' इति । तन्मार्गस्यैव तथात्वात् । ननु साङ्गाग्निहोत्रव्रतप्रतिपादकानां श्रुतिस्मृतीनां विद्यमानत्वेन तदनुसारेण तत्कर्तारोपि दृश्यन्ते कथं तन्नाश इति चेत्तत्राह—पाषण्डैकेति । परप्रतारणार्थं धर्मतत्कृत्वा प्रदर्शनं पाषण्डः, प्राकृतनित्यनैमित्तिककाम्यस्वरूपसाधनफलादिपरिज्ञानाभावे चित्तादिशुद्धसाधकत्वात् 'अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम् । देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्'दित्यादिवाक्यैः्चैषामिदानीं निषिद्धत्वात्कृता अप्याभासत्वमेव प्राप्नुवन्तीति तत्कर्तॄणामपि पाषण्डार्थमेवैको यः प्रकर्षेण

यत्नस्तद्रूपत्वमेव स्यात् । एवमखिलकर्मवतां पाषण्डैकमयत्नरूपत्वे जाते ब्रह्मसत्राणामप्याश्रय एव साधीयानित्याह—कृष्ण इति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सर्वथा सदोषाणां तृतीयैकमार्गप्रवेशयोग्यानां 'गतिर्मम' इत्येवंरूपोक्तिमात्रेण कथं भगवान् सर्वनिरपेक्ष आश्रयो भवेदत्राह—

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादिदोषाणां नाशक इति । अवतारे भगवतः सर्वाश्रयत्वेऽपि सर्वार्थे भक्तिमार्गीयाश्रयस्य जीवानां सर्वथा कर्तव्यत्वादाश्रयभवने महानुत्साहो भवति । यथा स्वनाममाहात्म्यख्यापनार्थं नामोक्तिमात्रेणैवाजामिलादीनां सर्वदोषनाशको जातः स्वधर्मपक्षपातादेवं भक्तिमार्गे पक्षपातात्तन्मार्गीयाश्रयमाहात्म्यख्यापनार्थं तादृगुक्तिमात्रेणैव भगवांस्तथाविधो भवतीति भावः । तथापि क्व जीवाः क्षुद्रतमाः क्व वा ब्रह्मादिदुर्लभकथो भगवानित्याश्रयभवननिश्चयाभावे कथं वा तमुद्दिश्य तथोक्तौ प्रवृत्तिरपि भवेदत्राह—अनुभवे इति । अत्रास्मच्छब्दोऽध्याहर्तव्यः । एवमाश्रयभवनोन्मुखो भगवान् मदनुभवे स्थित इति निर्णीतार्थोऽहं वदामीत्यज्ञानान्यथाज्ञानमतिकुतर्कैर्नान्यथा शङ्कनीयमिति भावः । चित्तस्यातथात्वेऽपि निरन्तरं तदनुसन्धानपूर्वकमेतदुक्तौ सत्यां मदनुभूतो भगवानप्यनुभवारूढो भवतीति मदीयैरेतदेव सर्वथा कार्यमित्यलं विस्तरेण । ननु यथा कलौ शुकादिभिर्ज्ञातमाहात्म्या अपि धर्मादयो नष्टाः तथा 'कलौ दशसहस्राणि विष्णुस्त्यक्ष्यति मेदिनीम् । तदर्द्धं जाह्नवीतोयं तदर्द्धं ग्राम्यदेवता' इत्यादिना वाक्यतो भगवत्सान्निध्याभावे तन्माहात्म्यमपि तिरोभूतं भविष्यतीति कथमज्ञातमाहात्म्यात्तदाश्रयोक्तौ प्रवृत्ता भविष्यन्तीति चेत्तत्राह ज्ञापितेति । ज्ञापितमखिलमखिलेभ्यो भक्तेभ्यो वा श्रुतिपुराणश्रीभागवतादिना साक्षात्परम्परया वा माहात्म्यं यस्य येनेति वा । तथाहि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यादिनाऽखिलेभ्यः सृष्टिकर्तृत्वबोधिकया श्रुत्या माहात्म्यख्यापनम् । प्रवृत्तिपराणां कर्ममाहात्म्यरूपमेव भगवन्माहात्म्यज्ञापनं यत्रैव पर्यवसितमतित्वाच्चेत्थमेवं ज्ञानिनामुपासकानां च । भक्तानां तु साक्षादेव यथा 'जृम्भतो ददृशे इदम्' यथा च 'गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत्' एवमूह्यमुक्त्या सर्वत्र ॥ ७ ॥

ननु 'आकाशात्पतितं तोयं यथे'त्यादिनोक्तप्रकारेण देवतान्तरं भजतामपि सर्वमुक्तौ भगवत्सम्बन्धो भविष्यतीति किमित्येवं निर्बन्धेनाश्रय उच्यते तत्राह—

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्राकृता इति । ब्रह्माणमारभ्य सर्वे एव देवाः प्राकृता आधिभौतिकान्तःपातित्वात् । बृहदक्षरे गणितानन्दकं स्वार्थे 'कः' प्रत्ययः । तेन जीवेषु निरानन्दहेतूनामगणितानां विद्यमानत्वाद्यत्र गणितानन्देपि न तेषामानन्दपूर्णता तत्र प्राकृतैः कः पुरुषार्थः सिद्ध्येत् । तथापि त्रिपाद्क्षरयोरपि तदात्मकत्वाविशेषेण कार्यसिद्ध्यभावे कथं मूलाश्रयणेन सर्वथा तद्भवत्येवेत्येवं निश्चीयते तत्राहुः—पूर्णेति । नहि पूर्वोक्तैः वैरप्यानन्द. पूर्यते । तत्र दुःखापगमाभावे पूरितोप्यपूरित एव स्यादत आह—हरिरिति । यद्यप्य'स्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'त्यादिना देवेष्वपि तद्दत्त्वमस्ति तथापि न तथा तेषामन्यपूरकत्वं तदल्पीयस्त्वात् । निरवधिदारिद्र्यस्य सावधित्वेनापगमस्याशक्यत्वादेवमपूर्णानपि स्वतिरस्कृतनिःशेषदुःखपूर्वकं कृष्ण एव पूर्णान् करोति । 'तं सत्यमानन्दनिधिं भजेते'तिन्यायेन स एव तथाकर्तव्य इति दिक् ॥ ८ ॥

ननु भवद्भिरेव भक्त्युत्पत्त्यर्थं तदाढ्यार्थं वा विवेकधैर्याश्रयाणां निरूपितत्वात्कथमितरनिरपेक्षः स एवोच्यते, किञ्च, आश्रयस्तावाश्च तदुभयस्यानन्तरं च भवद्भिरेवोक्तत्वात्कथं श्रीमतामेष वाक्यं विसंवादि भवतीति चेत्तत्राह—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितेति । विवेकः सर्वंसमर्थनेपि निजेच्छातः करिष्यतीत्येवंनिश्चयरूपः । निरुद्धुपायाकरणेन सर्वथा दुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः प्रेमलक्षणा तत्साधनरूपा वा । आदिशब्देन मर्यादाभक्तिसाधनानां ग्रहणम् । यत्र भक्तिसाम्यं नान्येन सिद्ध्यत्यन्यसाम्यं तु भक्तेरानुपङ्गिकं फलमेवैरूपभक्तिव्यतिरेकेणापि यत्राश्रयात्सर्वसिद्धिस्तत्र विवेकादिनिरपेक्षः स तथाभवतीति किं वाच्यम् ? । अत एव तत्राप्यन्ते 'कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या'इत्युक्तम् । किञ्च, विवेकादिस्थितौ तद्वलम्बेनाश्रयाभावेपि स्थितिर्भवति तथात्वाश्रयस्वरूपं साङ्गं न सिद्ध्येत्, यत्तद्विपरीतादिसाधनाभावे तूभयथाप्यनुद्धार्य एव स्वासेन धर्मिपक्षमवलम्ब्य धर्मादिविपरीतताधनवतामेव सर्वतः कार्यसिद्ध्यभावनिश्चये दैन्याविर्भाववतामेव शरणागताविवाधपे मुख्योधिकार इति तथैवोक्तं पापासक्तस्य दीनस्येति । आसक्तिः कायेन मनसा वाचा तत्करणे स्वातुष्यशक्तिः । अयमेव विशेष आश्रयविधौ । एवं सति धर्मादिमर्तियोगित्वं कलौ सुलभमित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वात् सर्वैरेव स एव सर्वथा कार्य इत्याह कृष्ण एवेति । नन्वेवं सति तु पापकरणस्यैवाश्रये कारणत्वमायातीति चेत्तत्राह 'कृष्ण एवे'ति । अत्रैवं प्रतिभाति—एवकारेण यत्र विवेकधैर्यभक्त्यादीनां भगवद्धर्मा-

णामप्यकारणं तत्र तत्करणे तदाश्रयस्य विद्यमानत्वादन्याश्रये जाते भगवदाश्रयानुत्पत्तिः स्यादतो यथा धर्मादित्यागस्तथाऽधर्मस्यापीति भावः । तर्हि पूर्ववाक्यमनुपपन्नमिति चेत्, न, अनवबोधात् । तथाहि 'एवं सति धर्मादिप्रतियोगित्वं कलौ सुलभमित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वा'देतस्यायमर्थः—विवेकधैर्यभक्त्यादिसहितास्तु कलौ दुर्लभाः पापकर्तारस्तु सुलभा इति तदधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वम् । ननु धर्मकर्तारस्तु सर्वथा तत्रानधिकारिणः परमधर्मकर्तार एवाधिकारिण इत्यागतमिति चेत् ? तत्रोच्यते । धर्मादिमतां विवेकधैर्यभक्तिमतां चेत्तत्त्यागपूर्वकं केवलाश्रयकरणं सहसा न भवति तेषु समीचीनत्वबुद्धेः । यथा प्रभुणा सर्वधर्मत्याग उपदिष्टे पार्थस्य तत्करणे शोकोदयात् पुनः प्रभुणैव 'पापेभ्यो मोक्षयिष्यामी'त्युक्तं, नोचेच्छरणधर्मे तदसंभवात्तस्योक्तनरूथनमनुपपन्नं भवति तथैवैतेषामपि शोकसंभवः । परं तद्विपरीतवतां तु तेष्वसद्बुद्ध्या निस्साधनेष्वेव श्रीगोकुलेशाज्ञीकारप्रादुर्भावद्धलाच्च तत्त्यागः सुलभ इति सुष्ठूक्तं 'धर्मादिप्रतियोगित्व'मित्यनेनेति सर्वमनवद्यम् ॥ ९ ॥

ननु 'श्रेयांसि बहुविघ्नानी'तिन्यायेन प्रतिबन्धकानां दृष्टादृष्टभेदाभ्यामुभयथा विद्यमानत्वात्कथमुक्तिमात्रेण क्लिष्टकर्मा भगवानाश्रयो भवेत्तत्राह—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्यसहित इति । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुंसामर्थ्यादिरूपैः सहितः । ननु तत्र दृष्टान्तनिदर्शनस्यादृश्यमानत्वात्कथं ज्ञायते तत्राह सर्वत्रेति । सर्वत्र योग्यायोग्यविचारेणाखिलानामखिलान् कार्यान् करोति करिष्यत्यकार्षीदित्यादिधर्मस्याविनाशित्वेन भगवति सर्वदा विद्यमानत्वादाश्रयकरणे कोनव्यवसाय इत्यर्थः । तथापि भगवतः सर्वसमत्वात्सर्वभुत्पनवसरेऽप्रार्थितः कथमुद्धरिष्यतीत्यत आह शरणस्थेति । ये च शरणं गत्वा तस्मिन्नेव धर्मे स्थितास्तेषामुद्धरणे अप्रार्थितोऽपि भूकृतप्रयत्नः सर्वदैव वर्तते किं पुनर्मत्प्रार्थितः । यथा भूम्युद्धारचिकीर्षायामपि ब्रह्मणा भूम्या दुःखनिवेदनरूपप्रार्थनानन्तरमेव तत्रायौ तद्गिरः अवश्यानन्तरमेव साक्षाद्भगवानवतीर्यास्मानुद्धरिष्यतीत्येवं निश्चयो जात एवं मत्प्रार्थितो मदीयानामाश्रयो भवत्येवेति निश्चित्य मदीयैः सर्वथा सर्वं परित्यज्याश्रय एव कर्तव्यः । एतदेवाभिसंधायाचार्यैरुक्तं कृष्णं विज्ञापयाम्यहमिति । यद्वा, मदीयैरेवं स्तुतिरेव कार्या, यत्प्रार्थितः स्वयमेवाश्रयो भविष्यति नात्र युष्मत्कृतिमपेक्षते ।

नत्वभिध स्तुतिः पूर्वं कर्तव्याश्रयणेप्सुभिः ।
दशमे स्वस्य धैर्यस्य साधकं ज्ञापयेद्बुधः ॥ १० ॥

---

१ कार्यस्येतिपाठः ।

प्राकृता इति । ब्रह्माणमारभ्य सर्व एव देवाः प्राकृता आधिभौतिकान्तःपातित्वात् । बृहदक्षरं गणितानन्दकं स्वार्थे 'कः' प्रत्ययः । तेन जीवेषु निरानन्दहेतूनामगणितानां विद्यमानत्वात्तत्र गणितानन्देऽपि न तेषामानन्दपूर्णता तत्र प्राकृतैः कः पुरुषार्थः सिद्ध्येत् । तथापि विराडक्षरयोरपि तदात्मकत्वाविशेषेण कार्यसिद्ध्यभावे कथं मूलाश्रयणेन सर्वथा तद्वरस्यैवेत्येवं निश्चीयते तत्राहुः—पूर्णेति । नहि पूर्वोक्तैः कैरप्यानन्दः पूर्यते । तत्र दुःखापगमाभावे पूरितोऽप्यपूरित एव स्यात्तत्राह—हरिरिति । यद्यपि 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'त्यादिना देवेष्वपि तदुक्तमस्ति तथापि न तथा तेषामन्यपूरकत्वं तदल्पीयस्त्वात् । निरवधिदारिद्र्यस्य ज्ञानाधिधनेनापगमस्याशक्यत्वादेवमपूर्णानपि प्रतिबन्धनिवृत्तिपूर्वकं कृष्ण एव पूर्णान् करोति । 'तं सत्यमानन्दनिधिं भजेते'तिन्यायेन स एव तथाकर्तव्य इति दिक् ॥ ८ ॥

ननु भवद्भिरेव भक्त्युत्पत्त्यर्थं तदाश्रयार्थं वा विवेकधैर्याश्रयाणां निरूपितत्वात्कथमितरनिरपेक्षः स एवोच्यते, किञ्च, आश्रयरक्षायाश्च तदुभयरक्षानन्तरं च भवद्भिरेवोक्तत्वात्कथं श्रीमतामेव वाक्यं विसंवादि भवतीति चेत्तत्राह—

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितेति । विवेकः सर्वप्रार्थनेऽपि निवेदनातः करिष्यतीत्येवंनिश्चयरूपः । निवृत्त्युपायाकरणेन सर्वथा दुःखसहनं धैर्यम् । भक्तिः प्रेमलक्षणा तत्साधनरूपा वा । आदिशब्देन मर्यादाभक्तिसाधनानां ग्रहणम् । यत्र भक्तिसाध्यं नान्येन सिद्ध्यत्यन्यसाध्यं तु भक्तेरानुषङ्गिकं फलमेवं तद्व्यभक्तिव्यतिरेकेणापि यदाश्रयात्सर्वसिद्धिस्तत्र विवेकादिनिरपेक्षः स तथाभवतीति किं वाच्यम् ? । अत एव तत्रापन्ने 'कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या'इत्युक्तम् । किञ्च, विवेकादिस्थितौ तदवलम्बेनाश्रयाभावेऽपि स्थितिर्भवति तथासत्याश्रयस्वरूपं साङ्गं न सिद्ध्येत्, यथैतद्विपरीतादिसाधनाभावे तूभयथाप्यनुद्धार्य एव स्यात्तेन धर्मिपक्षपातलक्षण धर्मादिविपरीतसाधनवतामेव सर्वतः कार्यसिद्ध्यभावनिश्चये दैन्याविर्भाववतामेव शरणागताविदाश्रये मुख्योऽधिकार इति तथैवोक्तं पापासक्तस्य दीनस्येति । आसक्तिः कायेन मनसा वाचा तदकरणे स्थातुमशक्तिः । अयमेव विशेष आश्रयविधौ । एवं सति धर्मादिप्रतियोगित्वं कलौ सुलभमित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वात् सर्वैरेव स एव सर्वथा कार्य इत्याह कृष्ण एवेति । नन्वेवं सति तु पापकरणस्यैवाश्रये कारणत्वमायातीति चेत्तत्राह 'कृष्ण एवे'ति । अत्रैवं प्रतिभाति—एवकारेण यत्र विवेकधैर्यभक्त्यादीनां भगवद्धर्मा-

पापप्रकारणं तत्र तत्करणे तदाश्रयस्य विद्यमानत्वादन्याश्रये जाते भगवदाश्रयानुस्पत्तिः स्यादतो यथा धर्मादित्यागस्तथाऽधर्मस्यापीति भावः । तर्हि पूर्ववाक्यमनुपपन्नमिति चेत्, न, अनवबोधात् । तथाहि 'एवं सति धर्मादिप्रतियोगित्वं कलौ सुलभमित्याश्रयाधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वा'देतस्यायमर्थः—विवेकधैर्यभक्त्यादिसहितास्तु कलौ दुर्लभाः पापकर्तारस्तु सुलभा इति तदधिकारस्य बहुधा विद्यमानत्वम् । ननु धर्मकर्तारस्तु सर्वथा तत्रानधिकारिणः परमधर्मकर्तार एवाधिकारिण इत्यायातमिति चेत् ? तत्रोच्यते । धर्मादिमतो विवेकधैर्यभक्तिमतां चेत्तत्त्यागपूर्वकं केवलाश्रयकरणं सहसा न भवति तेषु समीचीनत्वबुद्धेः । यथा प्रभुणा सर्वधर्मत्याग उपदिष्टे पार्थस्य तत्करणे शोकोत्पत्तौ पुनः प्रभुणैव 'पापेभ्यो मोक्षयिष्यामी'त्युक्तं, नोचेत्तच्छरणधर्मे तत्संभवात्तच्छोधनकथनमनुपपन्नं भवति तथैवैतेषामपि शोकसंभवः । एवं तद्विपरीतवतां तु तेषामसद्बुद्ध्या निस्साधनेष्वेव श्रीगोकुलेशाङ्गीकारप्राचुर्याच्चह्लाच्च तत्त्यागः सुलभ इति सूक्तं 'धर्मादिप्रतियोगित्व'मित्यनेनेति सर्वमनवद्यम् ॥ ९ ॥

ननु 'श्रेयांसि बहुविघ्नानी'तिन्यायेन प्रतिबन्धकानां दृष्टादृष्टभेदाभ्यां बहुधा विद्यमानत्वात्कथमुक्तिमात्रेण चाक्लिष्टकर्मा भगवानाश्रयो भवेत्तत्राह—

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

सर्वसामर्थ्यसहित इति । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुंसामर्थ्यादिरूपैः सहितः । ननु तत्र दृष्टान्तनिदर्शनस्यादृश्यमानत्वात्कथं ज्ञायते तत्राह सर्वत्रेति । सर्वत्र योग्यायोग्यविचारेणाखिलानामखिलान् वार्थान् करोति करिष्यत्यकार्षीदित्यादिधर्मस्याविनाशित्वेन भगवति सर्वदा विद्यमानत्वादाश्रयकरणे कोऽनध्यवसाय इत्यर्थः । तथापि भगवतः सर्वसमत्वात्सर्वमुक्त्यनवसरेऽप्रार्थितः कथमुद्धरिष्यतीत्यत आह शरणस्थेति । ये च शरणं गत्वा तस्मिन्नेव धर्मे स्थितास्तेषामुद्धरणे अप्रार्थितोऽपि भक्तभयहरः सर्वदैव वर्तते किं पुनर्यत्प्रार्थितः । यथा भूम्युद्धारचिकीर्षायामपि ब्रह्मणा भूम्या दुःखनिवेदनरूपप्रार्थनानन्तरमेव समाधौ तद्गिरः श्रवणानन्तरमेव साक्षाद्भगवानवतीर्यास्मानुद्धरिष्यतीत्येवं निश्चयो जात एवं मत्प्रार्थितो मदीयानामाश्रयो भवत्येवेति निश्चित्य मदीयैः सर्वथा सर्वं परित्यज्याश्रय एव कर्तव्यः । एतदेवाभिसंधायाचार्यैरुक्तं कृष्णं विज्ञापयाम्यहमिति । यद्वा, मदीयैरेवं स्तुतिरेव कार्या, मत्प्रार्थितः स्वयमेवाश्रयो भविष्यति नात्र युष्मत्कृतिमपेक्षते ।

नवभिश्च स्तुतिः पूर्वं कर्तव्याश्रयणेप्सुभिः ।
दशमे स्वस्य धैर्यस्य साधकं ज्ञापयेद्बुधः ॥ १० ॥

---

१ कार्यमेवेतिपाठः ।

पाठफलमाह—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रमिति । कृष्ण आश्रयो भवत्यस्मादिति कृष्णाश्रय इति स्तोत्रस्य नाम । फलाधिकारिणां पाठविधिं चाह—सन्निधौ सेव्यस्य गुरोर्वा । उभयोरभावे स्मरणीयस्य वा । धर्मादिषु सर्वेषु असाधनतानिश्चयः कृतार्थताविषयिण्युत्कटेच्छा च पूर्वावधिः। अल्पे बहु च साध्ये भगवान् स्वतः सर्वसाधको भवतीत्येवंरूप आश्रयसिद्धिरुत्तरावधिः। तावदिदं पठनीयमिति सिद्धम् । यः पठेत् कृष्णसन्निधौ । य एव पठेत्तत्सद्धर्माविष्टान्तःकरणः अतथाभूतो वा । ततः किं स्यादत आह तस्याश्रयो भवेत् । क इत्याकाङ्क्षाया। कृष्ण इति । कृष्णः सदानन्दः । तेन तदाश्रितानां प्रपन्नानामिव सर्वथा दुःखात्यन्ताभावः परमानन्दसम्बन्धश्चोक्तौ भवतः । नन्वत्र किं प्रमाणमेतत्स्तोत्रपाठमात्रेणैव स तथा भवेद् श्रीवल्लभ इति । यथा श्रिया वल्लभो भगवाँस्तथायमपीति भगवद्वाक्यमिवास्यापि वाक्यं वेदात्मकमिति मूर्ध्नि धृत्वा तथैव कर्तव्यमित्यर्थः । किञ्च, भगवद्धर्माणां स्वरूपं तद्धर्मनिरता एव जानन्तीति तदुक्तौ न विप्रतिपत्तिः कैरपि भाव्यमिति दिक् ॥ ११ ॥

प्रजपतिरतिमित्थं यः सदातु कृपानः
सकलनिगमसारं तत्त्वतः संजगाद ।
स्वजनपरिवृढो ध्रुवं संततेः संशयानाम्
स भवतु मम सर्वं विट्ठलेशः सुरेशः ॥ १ ॥
रुचिरचरणयुग्मं हृत्पयेद्योतिबिम्बम्
निजमनसि विहारं ध्वस्तगाढान्धकारम् ।
अजितवल्लभदारं भास्वच्छोकोपहारम्
सकलनिगमसारं भावयेद्विट्ठलेशम् ॥ २ ॥
आश्रयस्तोत्रविवृतिं हारिकेश्वरशुद्धधीः ।
आश्रितानां चकारेमामाश्रयज्ञापनेच्छया ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्गोपीजनवल्लभचरणैकतानहारिकेश्वरेण विरचिता
कृष्णाश्रयविवृतिः सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।



श्रीमद्व्रजराजचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

यद्वाक्यमात्रकथनात् स्वीयत्वं मनुते हरिः ।
ते कृष्णवल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥ १ ॥
तदनुग्रहतः कृष्णाश्रयस्य विवृतिर्मया ।
विधीयते यतः कृष्णाश्रयः फलति सर्वथा ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवदाज्ञानुसारेण जनानुद्धर्तुं निबन्धादौ सपरिकरं भक्त्यादिमार्गाननुपदिश्य मत्यहं कलेराधिक्येन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य विवेकधैर्याश्रय-ग्रन्थे विवेकधैर्याभ्यां सहितमाश्रयमुपदिष्टवन्तः, तत्स्वरूपं च तत्र सर्वथा सर्वदा भगव-च्चरणगमनात्मकं सिद्धं, तथाच तत् कायिकादिभेदेन त्रिधा भवति, तत्र प्रथमं मानसं शरणं भावनात्मकं भवति, पश्चात् कायिकं तद्द्वैयेण सिद्ध्यति, वाचनिकं तु 'प्रपन्नं पाहि मां प्रभो' इत्यादिप्रार्थनारूपम् । एतादृशस्य भवनेपि कारणं भगवदनुग्रह एवेति 'सोऽहं तवाङ्घ्री'त्यक्रूरस्तुतौ 'असतां दुरापं तथाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्य' इति स्वानुभवेन प्रतिपादितम् । शरणागतिलक्षणं च तत्रैवोक्तं 'यदि सङ्घातमनुगुणं कुर्यात् त्याजयेद्वा तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्य'मित्यारभ्य 'सत्सेवादिभिर्भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगव-च्छाज्ञपरत्वं चान्तिमजन्मज्ञापक'मित्यन्तेन । 'अनुगुणपक्षस्तु सुगम' इति च । एवं सत्ये-तादृशी शरणागतिर्विवेकधैर्याश्रयोक्तरीत्यापि साम्प्रतं कठिनेति भक्त्यादिमार्गाणां दुःसा-ध्यत्वे हेतुरपि तत्र नोक्त इति निबन्धाद्युक्तोपि दुर्ज्ञेय इति तदुक्तिपूर्वकं साङ्गां याव-न्निर्कीं तां सांप्रतं साधनत्वेन विवक्षन्तः कृष्णाश्रयस्तोत्ररूपेणाहुः—सर्वेत्यादि ।

अत्र टीकारम्भे श्रीरघुनाथचरणैर्ग्रन्थावतरणिका कापि नोक्ता परन्तु 'य आविरासीद्घोरेस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः । निजदास्यं स नो देयादन्यादपि दुराश्रया-द्'इति मङ्गलवाक्ये कलिस्वरूपस्य श्रीमदाचार्येषु मार्गस्य च कथनेन सूचितेति न विरोधः । एवं कल्याणरायैरपि कृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वं सर्वसाधनानामसाधकत्वं चोक्तमिति तेषामप्ययमेवाशयः । श्लोकसङ्घतात्पर्यं तैरेवमुक्तं 'भक्तानां भगवानेव

पाठफलमाह—

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत्कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रमिति । कृष्ण आश्रयो भवत्यस्मादिति कृष्णाश्रय इति स्तोत्रस्य नाम । फलाधिकारिणां पाठविधिं चाह—सन्निधौ सेव्यस्य गुरोर्वा । उभयोरभावे स्मरणीयस्य वा । धर्मादिषु सर्वेषु असाधनतानिश्चयः कृतार्थताविषयिण्युत्कटेच्छा च पूर्वावधिः। अल्पे बहु च साध्ये भगवान् स्वतः सर्वसाधको भवतीत्येवंरूप आश्रयसिद्धिरुत्तरावधिः। तावदिदं पठनीयमिति सिद्धम् । यः पठेत् कृष्णसन्निधौ । य एव पठेत्तद्धर्माविष्टान्तःकरणः अतथाभूतो वा । ततः किं स्यादत आह तस्याश्रयो भवेत् । क इत्याकाङ्क्षायां कृष्ण इति । कृष्णः सदानन्दः । तेन तदाश्रितानां प्रमस्थानामिव सर्वथा दुःखात्यन्ताभावः परमानन्दसम्बन्धश्चोक्तौ भवतः । नन्वत्र किं प्रमाणमेतत्स्तोत्रपाठमात्रेणैव [illegible] तथा भवेदु श्रीवल्लभ इति । यथा श्रिया वल्लभो भगवाँस्तथायमपीति भगवद्वाक्यमिवास्यापि वाक्यं वेदात्मकमिति मूर्ध्नि धृत्वा तथैव कर्तव्यमित्यर्थः । किञ्च, भगवद्धर्माणां स्वरूपं तद्धर्मनिरता एव जानन्तीति तदुक्तौ न विप्रतिपत्तेः कैरपि भाव्यमिति दिक् ॥ ११ ॥

प्रजपतिरतिमित्थं यः प्रदातुं कृपातः
सकलनिगमसारं तत्त्वतः संजगाद ।
स्वजनपरिवृढो ध्रुक् संततेः संश्रयाणाम्
स भवतु मम सर्वं विट्ठलेशः प्रभुर्मे ॥ १ ॥
रुचिरचरणयुग्मं हृत्ययेद्यो वितिम्यम्
निजमनसि विहारं ध्वस्तगाढान्धकारम् ।
व्रजजनजनकारं भाक्तलोकोपहारम्
सकलनिगमसारं भावयेद्विट्ठलेशम् ॥ २ ॥
आश्रयस्तोत्रविवृतिं हरिकेशरशुद्धधीः ।
आश्रितानां चकारेमामाश्रयज्ञापनेच्छया ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्गोपीजनवल्लभचरणैकतानहरिकेशरेण विरचिता
कृष्णाश्रयविवृतिः सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

श्रीमद्व्रजराजचरणविरचितविवरणविभूषितम् ।

यद्वाक्यमात्रकथनात् स्वीयत्वं मनुते हरिः ।
ते कृष्णवल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥ १ ॥
तदनुग्रहतः कृष्णाश्रयस्य विवृतिर्मया ।
विधीयते यतः कृष्णाश्रयः फलति सर्वथा ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवदाज्ञानुसारेण जनानुद्धर्तुं निबन्धादौ सपरिकरं भक्त्यादिमार्गानुपदिश्य प्रत्यहं कलेरधिविषेन तेषां दुःसाध्यत्वमाकलय्य विवेकधैर्याश्रयग्रन्थे विवेकधैर्याभ्यां सहितमाश्रयमुपदिष्टवन्तः, तत्स्वरूपं च तत्र सर्वथा सर्वदा भगवच्छरणगमनात्मकं सिद्धं, तथाच तत् कायिकादिभेदेन त्रिधा भवति, तत्र प्रथमं मानसं शरणं भावनात्मकं भवति, पश्चात् कायिकं तद्द्वैर्येण सिद्ध्यति, वाचनिकं तु 'प्रपन्नं पाहि मां प्रभो' इत्यादिप्रार्थनारूपम् । एतादृशस्य भवनेपि कारणं भगवदनुग्रह एवेति 'सोहं तवाङ्घ्री'त्यक्रूरस्तुतौ 'असतां दुरापं तवाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये' इति स्वानुभवेन प्रतिपादितम् । शरणागतिलक्षणं च तत्रैवोक्तं 'यदि सद्गातमनुगुणं कुर्यात् त्याजयेद्वा तदा शरणागतिः सिद्धेति ज्ञातव्य'मित्यारभ्य 'सत्सेवारुचिर्भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भगवच्छास्त्रपरत्वं चान्तिमजन्मज्ञापक'मित्यन्तेन । 'अनुगुणपक्षस्तु सुगम' इति च । एवं सत्येतादृशी शरणागतिर्विवेकधैर्याश्रयोकरीत्यापि साम्प्रतं कठिनेति भक्त्यादिमार्गाणां दुःसाध्यत्वे हेतुरपि तत्र नोक्त इति निबन्धादावुक्तोपि दुर्ज्ञेय इति तद्युक्तिपूर्वकं साङ्गां याचनिकीं तां सांप्रतं साधनत्वेन विवक्षन्तः कृष्णाश्रयस्तोत्ररूपेणाहुः—सर्वेत्यादि ।

अत्र टीकारम्भे श्रीरघुनाथचरणैर्ग्रन्थावतरणिका कापि नोक्ता परन्तु 'य आविरासीद्धोरेस्मिन् कलौ श्रीवल्लभाभिधः । निजदास्यं स नो देयादप्यादपि दुराश्रया-दि'तिपद्यवाक्ये कलिस्वरूपस्य श्रीमदाचार्येषु प्रार्थनस्य च कथनेन सूचितेति न विरोधः । एवं कल्याणरायैरपि कृष्णाश्रयस्य सर्वसाधकत्वं सर्वसाधनानामसाधकत्वं चोक्तमिति तेषामप्ययमेवाशयः । श्लोकसमुदायतात्पर्यं तैरेवमुक्तं 'भक्तानां भगवानेव

देशादिषट्साधनरूपश्चतुर्विधपुरुषार्थरूपश्चेति, दशलीलानिरूप्य इति, दशविधभक्तसेव्य इति', स्तोत्रार्थरूपे भगवति दशविधाः 'दश वै पशुषु प्राणा'इतिश्रुतेः प्राणानां दशत्वं, ते यथा साधकास्तथा स्तोत्रमपीति शब्देऽपि दशविधाः । अतोऽर्थमनुकूलयन् शब्द एवाय साधक इतिबोधनाय प्रार्थनाव्याजेन स्तुवन्तीति । द्वारिकेश्वरैस्तु 'आभासश्च निरोधश्चे'ति वाक्यविलिखनेन 'नच लक्षणलक्षितया यजमानपत्न्या इडा भक्षयन्ती'त्यिदत्र दशसङ्ख्यापूरकसर्वफलरूपोऽत्र विवक्षित इत्याशय उद्घाटित' । तथा च 'या या साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रय' इतिवाक्यलिखनेनाश्रयशब्दः कृष्णाश्रय इति स्तोत्रनामेति तेषामाशयः । मम त्वन्यदपि प्रतिभाति–यथाक्रूरेण प्रसन्नप्रत्यक्षो भगवान् स्वाधिकारानुसारेण शरणतया प्रार्थितस्तथाऽऽचार्यैरपि स्वप्रकटितभक्तिमार्गफलदानानुकूलः प्रसन्नः स्वोक्तिपठनमात्रेणाश्रयदानं कर्तुं समयविशेषे प्रार्थितस्वदौ कृतवानिति तज्ज्ञापकमिदं प्रार्थनाघटितं स्तोत्रमिति । अत्र च भगवान् गतित्वेन प्रार्थ्यते अस्त्विति क्रियाध्याहारेण । तत्र गतिशब्दः फले रूढः, 'सा काष्ठा सा परा गतिः' 'अन्ते या मतिः सा गतिः' 'नान्या भवेद्गतिररिन्दमे'ति श्रुतिपुराणादौ तथाप्रसिद्धेः । समाप्तौ तु 'तस्याश्रयो भवेत्कृष्ण' इत्याश्रयस्य पाठफलत्वेनोक्तम् । आश्रयशब्दश्च सहाये रूढः, 'सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः' 'भवद्भिरमृत प्राप्त नारायणभुजाश्रयै' रित्यादौ तथाप्रसिद्धेः । कृष्णशब्दश्च परब्रह्मवाचकः 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' इतितापनीयश्रुतेः, 'पापकर्षणो ह वै'ति च । ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे श्रीरुक्मिणीपुद्ध्वाहोत्तर श्रीयशोदां प्रति भगवद्वाक्येऽपि 'कृषिरुत्कृष्टवचनो णश्च सद्भक्तिवाचकः । अश्चापि दातृवचनस्तेन कृष्णं विदुर्बुधा' 'कृषिश्च परमानन्दे णश्च तद्दास्यकर्मणि । तयोर्दाता च यो देवस्तेन कृष्णः प्रकीर्तित' 'कोटिजन्मार्जिते पापे कृषिः क्लेशे च वर्तते । भक्तानां णश्च निर्वाणे तेन कृष्णः प्रकीर्तितः' इति त्रिधा निरुक्तः । तत्र तृतीयेन 'पापकर्षण' इतितापनीयश्रुतिरुपबृंहिता । गौतमीयतन्त्रे अष्टादशार्णव्याख्यायां च 'कृषिशब्दश्च सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः । सुखरूपो भवेदात्मा भावानन्दमयस्तत' इति । बृहद्गौतमीयेऽपि 'कृषशब्दो हि सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः । सत्तास्वानन्दयोर्योगाच्चित्परं ब्रह्म चोच्यते' इत्येताभ्यां पूर्वश्रुतिरुपबृंहिता । अत्र प्रथमे सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूता सत्ता भावपदेनात्मपदेन च व्याख्याता 'रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् । सत्तामात्रमि'तिदशमस्कन्धवाक्येन भगवत्स्वरूपं तेन सम्बन्धिदानात्तत्तैव भिद्यमाना गवादिषु जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः, तां 'प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते सा जातिः सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादय' इति वाक्यपदीयोक्तरीत्या मूलसद्रूपाभिन्नानन्दरूपत्वेन कृष्णत्वं विवृतं, द्वितीये च प्रत्याहारन्यायेन

सदानन्दयोरन्तश्चित्तं निवेश्य सच्चिदानन्दतया परब्रह्मत्वेन कृष्णत्वं विवृतमिति भेदः । अन्या अपि निरुक्तयो ब्रह्मवैवर्ते नामकरणप्रसङ्गे गर्गेणोक्ताः पञ्च सन्ति तास्ततो ज्ञातव्याः । आनन्दे च निरवधित्वमेव परमफलतावच्छेदकमित्यानन्दमयाधिकरणे स्थितम् । 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इति छन्दोगश्रुते-'र्यतो वाचो निवर्तन्ते' इति तैत्तिरीयश्रुतेश्च । फलं द्विविधं, साध्यमभिव्यङ्ग्यं च । तत्राद्यं यथा परश्रोऽभिच्छदा । द्वितीयं यथा योगादात्मसुखम् । तत्र परे ब्रह्मण्याश्रयत्वस्याभावा-द्वितीयस्यतैव व्याख्या । तत्र हेत्वपेक्षायां 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुत्या स्वीयत्वेन वरणे यत्साक्षाद्दर्शनं तदेव हेतुः । तथा सति 'नायमात्मा प्रवचनेने'त्यादिपूर्वार्द्धे उपलक्षणविधया साधनान्तरनिषेधश्रावणेन वरणद्वारकं स्वस्यैव साधनत्वमुक्तं भवति । तदेव च ब्रह्मवैवर्तोपबृंहणेऽपि सिद्धम् । तदेतत् सर्वं हृदि कृत्वा मूढानां सन्देहनिवारणायादृष्टशास्त्रेऽनुरुद्धधर्माणां कालादीनां सन्निपत्योपकारकाणामसाधकत्वं दोषांश्च वदन्त उक्तरीत्या स्वस्मिन् फलरूपत्वमतिरोभावयित्वा तत्र साधनरूपोऽस्त्विति प्रार्थयन्ति—

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

सर्वे च ते मार्गाश्च । 'मृजूष् शुद्धौ' मृज्यन्ते शोध्यन्त इति । 'मृग अन्वेषणे' मृग्यन्ते तत्तत्फलार्थिभिरन्विष्यन्त इति मृगाः, स्वार्थेऽण् त एव मार्गाः 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचि'दित्येकादशे भगवतोक्ताः स्वमाप्त्युपायाः तेषु नष्टेषु अनुष्ठातृदौर्लभ्यादिना तिरोहितेषु कृष्णो व्याख्यातरीतिको भगवानेव मम गतिः साधनफलरूपोऽस्त्विति सम्बन्धः । अत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणमि'त्यनेन भावलक्षणा सप्तमी । अनुष्ठातृदौर्लभ्यादौ हेतुः—खलधर्मणि कलौ लोके पाषण्डप्रचुरे सतीति । चोऽवधारणे । खलोऽन्तर्दुष्टो धर्मो यस्मिन्नसौ खलधर्मा 'धर्मादनिच् केवलादि'त्यनेनानिच् । खलधर्मत्वे हेतुर्लोकानां पाषण्डप्राचुर्यम् । पाषण्ड उपधर्मो जैनबौद्धादिसदृशस्तस्य प्राचुर्यं बाहुल्यम् । कलावित्यधिकरणे सप्तमी । आधारत्वं चात्राभिव्यापकतया कालिकसम्बन्धेन गौणौपश्लेषिकतया वा । तथा चैतादृशे कलावीदृशे लोके सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु तथेत्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' इत्यनेनानादरे वा कलाविति सप्तमी । हेतुहेतुमद्भावस्तु समभिव्याहारादेव लभ्यः । तथा चैतादृशे लोके एवम्मार्गेषु सत्सु कलिमनादृत्य तद्दयं त्यक्त्वा तथेत्यर्थः । 'कलेर्दोषनिधे राजन्' 'कलिं सभाजयन्त्यार्या' इत्यादिवाक्येषु कलिस्तुतेस्तत्र साधनत्वभ्रमवारणाय कीर्तनस्यापि यथाकथञ्चित्कृतस्य न फलसाधकत्वमिति बोधनाय चात्र कलिलोकयोर्दोषकथनम् ।

'कृष्ण'पदात्'तं'पदाध्याहारे नैतद्वाक्यविरोध इति बोध्यम्। तथाच जलभेदोक्तरीत्या कीर्तयितृ-चिन्तितस्य भगवानाश्रयणीय इति भावः। यद्वा, तादृशे लोके मार्गेषु नष्टेषु 'वादवादांस्त्यजेत्तर्कान् पक्षं कंच न संश्रयेदि'ति सप्तमस्कन्धीयनारदवाक्यानुसन्धानेन विरक्ति-मार्गस्यैव दुष्करत्वात् कलौ तत्तन्मार्गाणां साधकत्वस्वभावादिफले नष्टे। चका-रोऽत्र तथात्वसमुच्चायकः। तथा सति तथेत्यर्थः। एवमपि बोध्यम्, प्रथमव्याख्याने तु कलौ सर्वमार्गेषु नष्टेष्वितिपदानां, द्वितीये कल्यादिपदस्यैव आग्रिमश्लोकपञ्चकेऽनुषङ्गो बोध्यः। एतद्रीत्या व्याकुर्वन्तः प्राञ्चः सर्वेऽपि विशेष्यान्वितस्यैवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेदकतया-शक्यत्वात्तदव्यवच्छेदं तेनाहुः, तदस्माकमप्यभिप्रेतम्। श्रीरघुनाथास्तु 'स्वधर्मिणी'ति पाठान्तरमप्युपन्यस्य स्वश्चासौ धर्मश्चेति कर्मधारयान्मत्वर्थीयेन्प्रत्ययं बहुव्रीहिविग्रहे 'क'प्रत्ययापत्तिमित्याहुः, चकारं च कलिव्यतिरिक्तकालसमुच्चायकमाहुः, पापानलेऽन्यव्यतिरिक्तसाधनाभावस्य सर्वकालेषु तौल्यादिति तेषामाशयः। प्रार्थना तु सर्वमते-ष्वन्यार्था ॥ १ ॥

एवं कालदोषेण सत्सङ्गदोषं मार्गनाशं चोपपाद्य कालस्य साधारणत्वेन देशानाम-साधारणत्वेन तदपेक्षयान्तरङ्गत्वाच्च 'काश्यादिपुर्यो यदि सन्ति लोके तासां तु मध्ये मथुरैव धन्या। या जन्ममौञ्जीव्रतमृत्युदाहैर्नृणां चतुर्धा विदधाति मुक्तिमि'त्यादिभिर्दे-शस्तावकवाक्यैः साक्षात्साधनत्वस्य 'देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितानि'-त्यादिभिर्वाक्यैर्मार्गानुकूलत्वावगतेः मार्गं तथात्वं बाधयितुं कालेन देशदोषा-दिकं वदन्त आहुः—म्लेच्छेत्यादि।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

अत्रापि भावलक्षणा सप्तमी। पोषधारणे। स्वादिष्वनुपपत्तेः। देशेषु म्लेच्छै-र्यवनैः उपलक्षणमेतत् अतितामसैरिति यावत्, तैराक्रान्तेषु व्याप्तेषु। व्याप्तिरत्र तदा-ज्ञानुवर्तित्वनिरूपणम्। तदाज्ञानुवर्तिषु को दोष इत्यत आहुः पापेत्यादि। 'एक-मुख्यान्यकेवलाः' इत्युक्तार्थः कर्मधारयः। पापानां व्यभिचारचौर्यदम्भहिंसादीनामेक-निलयेषु मुख्यस्थानेषु। ते हि लुब्धाः कामिनो हिंस्राः, तदर्थं व्यभिचारादिकं कुर्वन्ति चौर्यादिकं कारयन्ति च। तदन्तर्वर्तिनोऽपि पैशुन्यप्रतारणस्तेयादिना तथा विदधतीत्येष दोष इत्यर्थः। ननु न सर्वे तादृशा इति नैव दोष इत्यतो दोषान्तरमाहुः—सत्पीडेत्यादि। सतां सद्धर्मवर्तिनां पीडया दिष्ट्याभिशापदण्डादिरूपयेव व्यग्रा उद्विग्ना लोकाः सज्जना येष्विति। एवं च कलिकृतदेशेषु चत्वारो दोषा उक्ताः।

तामसप्रभुकत्वम्, पापबाहुल्यम्, सत्पीडा, सदुद्वेगश्चेत्येवैरुपद्रवेण सम्यक्कर्तुमशक्यया, सर्वमार्गेषु नष्टेषु सत्सु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

एवं कालेन देशदोषादिकमुपपाद्य तेषां बाह्यत्वेन जलस्य चान्तःप्रवेशबहिःसम्बन्धाभ्यां शोधकतया देशापेक्षयाप्यन्तरङ्गत्वात्तत्र च 'सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव नार्मदम्' 'कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी । ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर' 'प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः' इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गानुकूलत्वप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं कालेन तत्रापि दोषं वदन्त आहुः गङ्गादितीर्थवर्येष्विति ।

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह ।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

इह भारतवर्षे गङ्गादीनि यानि तीर्थश्रेष्ठानि तेषु दुष्टैः कर्मणा भावभेदेन च ये दूषितास्तैरेव वेष्टितेषु । अत्रापि भावलक्षणैव सप्तमी । तथाच 'किंचाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम् । मृजामि तदघं कुत्र राजंस्तत्र विचिन्त्यतामि'ति नवमस्कन्धे भगीरथं प्रति गङ्गावाक्यानुसारणेन तेष्वपि भक्तिकौण्ठ्यदोष इत्यर्थः । ननु 'साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः । हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिरि'ति तत्रैव गङ्गां प्रति भगीरथवाक्यात्तादृशां सङ्गादिना तन्निवृत्तेस्तस्य प्रातिकत्वान्नायं दोष इत्यत आहुः तिरोहिताधिदैवेष्विति । देवानां समूहो दैवम्, दैवे इत्यधिदैवं, देवसमूहे विद्यमानं गङ्गादेर्दैवतारूपम्, तिरोहितं अधिदैवं यस्मिंस्तत्तिरोहिताधिदैवम् । तथाच देवसंसदि विद्यमानं यद्गङ्गादेराधिदैविकं रूपं तत्तिरोधानाच्छक्तिकौण्ठ्यतादवस्थ्यमित्यर्थः । यद्वा, तिरोहित आधिर्येभ्य तत्तिरोहिताधि, तादृशं दैवं देवसमूहो येष्विति । 'तत्तेषां न प्रियं यन्मनुष्या विद्युरि'ति 'विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरूपिणः । विघ्नं कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात्परमि'ति श्रुतिस्मृत्युक्तदिशा मनुष्यमुक्तिस्तेषां न प्रियेति तन्निवृत्त्यर्थं वाराहपाद्मादौ मुक्त्यभावाय भगवत्प्रार्थनादत्र तीर्थादौ दुष्टेष्वाविश्य प्रतिबध्नन्तस्तिरोहिताधयो भवन्त्यतः शक्तिसद्भावेऽपि दोषतादवस्थ्यमतः कृष्ण एवेति पूर्ववदित्यर्थः । एतेन 'तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद् भवेत् । कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चय' इतिनिबन्धोक्तौ युक्तिरपि प्रत्यक्षादिरूपा दर्शिता ॥ ३ ॥

अतः परं 'न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः । ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधव' इतिवाक्यात्तदपेक्षयान्तरङ्गत्वेन तेषां च सङ्गस्य 'प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः

कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्' 'सतां प्रसङ्गात्' 'सन्त एवास्य छिन्दन्ति' 'सत्सङ्गेन हि दैतेया' इत्यादिवाक्यैः साधकत्वमार्गानुकूल्यप्रतीतेस्तत्र तथात्वभ्रमं वारयितुं कालकृतं सत्सु दोषं वदन्त आहुः अहङ्कारेत्यादि ।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

अत्र 'हीणां वर्तेत्व'इत्यनेन तद्वैपरीत्ये सप्तमी । कलौ सत्सु मार्गप्रचारकेषु पुरुषेष्वहङ्कारेण स्वपाण्डित्याभिमानेन विशेषतो मूढेषु सत्सु । तथात्वे गमकद्वयमाहुः पापेत्यादि । पापाः पापकर्तारो राजसास्तामसाश्च म्लेच्छादयस्तदनुवर्तिषु तदुपजीविकेषु । अक्रूरादेः कंसाद्यनुवृत्तिवदनुवर्तित्वेऽप्यदोष इति तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणान्तरं लाभेत्यादि । लाभो द्रव्यादेः, पूजा प्रख्यातिः, अर्थशब्दो द्वन्द्वान्ते श्रुतः प्रत्येकं सम्बध्यते, तेन तदर्थं यत्नो बाह्याभ्यन्तरप्रयत्नो येषामिति । एतद्द्वयं विमूढत्वज्ञापकम् । तथा च मार्गप्रचारकेष्वेतादृशेषु जातेषु सतामभावात्सङ्गो दुरापास्त इति सर्वमार्गेषु नष्टेषु कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं सतां दुर्मिलतया तदपेक्षया मन्त्रसाधनजपादेः स्वमात्रसाध्यतयान्तरङ्गत्वादत्र च 'परिहायापि वेदांस्त्रीन् कर्माणि विहितानि च । गायत्रीमात्रमाश्रित्य द्विजो भवति निर्भयः' 'गायत्रीहीनवेदास्तु साङ्गा अपि च निष्फलाः' 'सर्वेषु वर्णेषु तथाश्रमेषु नारीषु नानाह्वयजन्मभेषु । दाता फलानामभिवाञ्छितानां द्रागेव गोपालकमन्त्र एष' इत्यादिवाक्यैस्तत्तन्मन्त्राणां तथात्वप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तत्रापि कालेन दोषं वदन्त आहुः—अपरीत्यादि ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

अपरिज्ञाननष्टेष्विति । अत्रापि पूर्ववदनुषङ्गो भावलक्षणा सप्तमी च । 'मन्त्रस्य च परिज्ञानमि'त्येकादशे भगवद्वाक्यात्परिज्ञानेन मन्त्रशुद्धिः । परिज्ञानं नाम गुरूपसत्त्यादिना विधानन्यासपाठार्थतात्पर्यविनियोगादीनां निर्धारस्तदभावोऽपरिज्ञानं, तेन नष्टेषु । स्वरूपस्य श्रावणत्वेऽपि शुद्ध्यभावेन 'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमि'तिवद्दृश्यमानेषु । कचित्कस्यचित्परिज्ञानदर्शनाद्दोषान्तरमाहुः—अव्रतयोगिष्विति । 'अव्रता बटवोऽशौचा' इति द्वादशस्कन्धे कलिधर्मोक्तेर्मन्त्रोपाकरणदशायामेव गुरुकुलावासब्रह्मचर्याध्ययनधर्मपरिपालनाभावादव्रतेषु योगः सम्बन्धो येषां तादृशेषु । तेन दोषान्तरमप्याहुः तिरो-

हितार्थदेवेष्वपि। तिरोहिताकमलीयमानौ अर्थः प्रयोजनं तात्पर्यं च देवोऽधिष्ठात्री देवता सौ येषाम्। 'स एवं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानी'त्यादिश्रुतिप्रभृत्युक्तनिदर्शनव्यभिचारेण तदुपपत्तिलोभावस्य स्फुटत्वान्न तेषामिदानीं साधकत्वं न वा मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं मन्त्रापेक्षयापि स्वधर्माणां व्रतानामाचारस्य च पूर्वोक्तदोषाभावेन सुकरत्वेन चान्तरङ्गत्वात्तत्र च 'स्वधर्मस्थो यजन्यज्ञैरनाशीः काम उद्धव। न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्' 'इह लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः। ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं च यदृच्छये'त्येकादशस्कन्धीयैः 'केदारे उदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते' 'तथा चैकादशी प्रोक्ता गर्भवासक्षयङ्करी। एकादशीसमं पुण्यं न भूतं न भविष्यती'त्यादिभिः पुराणान्तरीयैर्भगवद्वाक्यैः'राचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युत' इत्यादिभिर्भारतीयैश्च वाक्यैर्धर्मव्रतादीनां साधकत्वादिप्रतीतेस्तेषु तथात्वभ्रमं वारयितुं तेष्वपि कालेन दोषं वदन्त आहुः नानेत्यादि।

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

नानाप्रकारका ये वादाः स्वरूपफलादिविषयकास्तैर्विशेषेण स्वरूपेण फलादिना च नष्टेषु तिरोहितेषु। तत्र स्वरूपतो नाशो मेदवाद्यनामा वादात्। 'यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्' 'अग्निहोत्रं त्रयी तन्त्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम्। प्रज्ञापौरुषनिःस्वानां जीवो जल्पति जीविका' इत्यादिरूपात्। फलतो नाशस्तु यथैकादशीनवादौ 'शुक्रेण मोहिता विप्रा दैत्यानां कारणे भुवि। तुष्टयर्थं दशमीविद्धं कुर्वन्ति मम वासरमि'ति माघे 'पुरा देवैर्ऋषिगणैः स्वपद्च्युतिशङ्कया। सप्तमीवेधजालेन गोपितं चाष्टमीव्रत'मिति स्कान्देऽन्यत्र निषेधनिन्दादिर्वैधस्वरूपनिर्णयस्य च विनापानरपेऽपि तद्नादृत्य स्वस्वाग्रहेण वाक्यानामाभासाश्च समुद्धाहृत्य निर्णयन्ति, तादृशस्थले बोध्यः। एवं स्वधर्माचारयोरपि विपरीतव्यया फलतो नाशो बोध्यः। वादे प्रयोजकमाहुः पाषण्डेति। पाषण्डेन दम्भेन एकोऽन्यः प्रयत्न उद्यमो येषामिति। तत्र च 'देशान्वेदमस्तु सीधुगन्धिलललनावक्त्रासवामोदितैर्नीता निर्भरमन्मथोत्सवरसैरुन्निद्रचन्द्रक्षपाः। सर्वज्ञ इति दीक्षिता इति चिरात्प्राप्ताग्निहोत्रा इति ब्रह्मज्ञा इति तापसा इति दिवा धूर्तैर्जगद्वञ्च्यते' इतिरीत्या बोध्यः। अत एवं भूयोदर्शनात्स्वधर्मव्रतादीनामपि न स्वतः साधकत्वं न वा मार्गानुकूलत्वमतः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवं षड्भिर्भक्त्यादिमार्गाणां दुःसाध्यताज्ञापनाय कालकृतसर्वसन्मार्गनाशबोधनमुखेनाश्रयणस्योपायत्वं साधितम्, तदिदं यदा दृढीभवति यदा भगवानाश्रिते स्वमाहात्म्यमनुभावयति तदर्थमाहुः अजामिलादीति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

अजामिलादीति । अजामिलः षष्ठस्कन्धे प्रसिद्धो दासीपतिर्ब्रह्मबन्धुः । आदिपदेन गजेन्द्राहल्याद्या, नृसिंहपुराणे नवमाध्याये मार्कण्डेयमृत्युप्रसङ्गे उक्ता नारकिणश्च, तेषां ये दोषा इहजन्मनि पूर्वजन्मनि च कृतानि पापानि तेषां नाशकः । एतेन माहात्म्ये तदनुभावने च शब्दः प्रमाणमुक्तम् । प्रत्यक्षमाहुः अनुभव इत्यादि । अनुभवेऽस्माकं स्थितो विषयीभूतो ज्ञापितसमग्रमाहात्म्यः, एतेन प्रपन्नस्य मायातरणे सति प्रतिबन्धकाभावात्स्वयमेवाग्रे माहात्म्यं गोचरीभवतीति ज्ञापितम् । ततश्च पूर्वशर्पे शब्दे श्रीमदाचार्यचरणोक्तौ चोभयत्र वा विश्वस्य भगवदाश्रयणे भगवानेव साधनान्तरापेक्षां विना सर्वं ज्ञापयंस्तद्गोचरो भवतीति सूचितम् । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

एवमत्र शब्दप्रत्यक्षाभ्यां पूर्वोक्तश्रुतिब्रह्मवैवर्तादिरीत्या भगवानेव पुष्टिमार्गीयाणां साधनमिति साधितमतः परं पूर्वोक्तश्रुतिगीतपीयतन्त्रोक्तरीतिकं भगवतः फलत्वं साधयन्ति प्राकृता इत्यादि ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

देवा—अष्टौ वसव, एकादश रुद्रा, द्वादशादित्या, इन्द्रः, प्रजापतिश्चेति त्रयस्त्रिंशद्वा, 'अग्निरवमो देवानां विष्णुः परमस्तदन्तरेणान्या देवता' इत्यग्न्याद्यो विष्ण्वन्ताः । अत्र विष्णुः कालः, 'स विष्ण्वाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां वर' इतिवाक्यात्तदन्ता वा । अकारं ब्रह्माणं नाभावुकारं विष्णुं हृदये मकारं रुद्रं भ्रूमध्य इति प्रणवमात्राधिष्ठातारो विश्वाद्यो वा प्रजापत्यन्ताः, शतानन्दिनो वा । ते सकलाः कला अंशस्तत्सहिताः, सर्वे प्राकृताः, प्रकृतिर्माया 'मायां तु प्रकृतिं विद्यादि'तिश्रुतेस्तदधीनाः । कालस्य सोपकतया गुणानुरोधित्वेन गुणाधिष्ठातृणामभिमानित्वेन च प्राकृतत्वम् । बृहदक्षरं गणितानन्दकं, गणितः 'स एको मानुष आनन्द' इत्यारभ्य शतानन्दिनां गणने 'स एको ब्रह्मण आनन्द' इत्युत्तरावधौ ब्रह्म गणितम्, अत एवंप्रकारत आनन्दो यत्र, स्वार्थे कस्तादृशम् । तेन हरीकोटिनिविष्टा ओंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्त इत्याद्युक्ता गुणावतारा अपि तत्रैव प्रविशन्तीति बोधितम् । हरिः पुरुषोत्तमोऽ'क्षरात्परतः परः' स उत्तमः पुरुषः ।

'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम' इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यः । पूर्णानन्दः शतानन्दसङ्ख्याने ब्रह्मानन्दस्य सर्वपरत्वेन गणनया मनोवागगोचरतामेव प्रतिपाद्य तदुत्तरानुवाके 'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् बिभेति कुतश्चने'तीतिश्रुतावानन्दस्य मनोवागगोचरत्वकथनेन तदपेक्षयाऽधिकस्यानवधित्वस्य च बोधनात्तथा । तस्मादानन्दे निरवधित्वस्यैव परमफलतावच्छेदकत्वेन तस्य चात्रैव विश्रान्तेः कृष्णः पूर्णोक्तरीतिकः मम परमफलरूपोऽस्त्विति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

एवमष्टभिर्भगवत्स्वरूपविचारेणाश्रय एव सर्वथा साधको न त्वन्यः कोपि मार्गः साधक इति साधितम् । अतः परमाश्रयस्यापि साङ्गस्यैव साधकता विवेकधैर्याश्रये सिद्धेति तदङ्गाभावेऽपि यथा स फलं साधयति तदुपायं वदन्त आहुः विवेकेत्यादि ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

सर्वदुःखहर्ता भगवान् स्वेच्छातः सर्वं करिष्यतीत्येतद्विचारपूर्वकमनुसन्धानं विवेकः । आधिदैविकादीनां कायिकादीनां भौतिकादीनां त्रिविधदुःखानां प्रतीकारानाचरणेनोपेक्षणं धैर्यम् । माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः स्नेहो भक्तिर्नवविधा च । आदिपदेन तदङ्गानि । साङ्खे ज्ञानकर्मणी च । तै रहितस्यैवेन यावत्साधनराहित्यं सूचितम् । बाधकसत्त्वमाहुः विशेषतः पापासक्तस्येति । आसक्तिः सङ्गातिशयोपरिहार्यः सङ्ग इति यावत् । एतावता 'नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते' इतिवाक्यस्मारणाद्भक्त्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकमपि सूचितम् । एवं बाधकद्वयसद्भावेऽपि येनाङ्गेनाश्रयस्य सिद्धिस्तदाहुः दीनस्येति । एवं साधकाभावबाधकसद्भावाभ्यां जातया ग्लान्या दीनस्य । दौर्गत्यादेरनौपाधिकं दैन्यम् । अनोऽस्य एतादृशस्य कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एवंप्रकारिकाया ग्लानेः सतां दुरापत्वात् सतां मार्यादिकानां ग्लानौ साधनान्तरेषु प्रवृत्तेरत्र तु तादृशग्लानिप्रवृत्तिभ्यां तदुभयविलक्षणतया 'सोऽहं तवाङ्घ्रि'इत्यत्रोक्तानुग्रहस्य स्वस्मिन्कारणत्वेन सत्ता ज्ञाप्यते । एतादृशस्यापि फलसिद्धिर्गीतायां 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य' 'अपि चेत्सुदुराचार'इत्यत्र प्रपत्त्यसाधनः । अत्र पूर्वश्लोके पापयोनीनां गतिरुक्ता न तु पापकर्मणाम्, द्वितीये चानन्यभजनेन पापकर्मणां साधुत्वमुक्तं, न त्वाश्रयेणेति नैतदुभयाश्रयेण सिद्धेर्गमकमिति शङ्क्यं, 'सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददात्येतद्व्रतं हरेरि'तिगारुडात्, 'सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम'इतिपुराणान्तरीयभगवद्वाक्याच्च भगवत्स्वारस्ये प्रते निश्चिते ततो भगवदनुग्रहेणैव तत्र प्रवृत्तावपि माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहस्यैव दृढत्वनिश्चयादनन्य-

मार्गत्वसिद्ध्या, द्वितीयस्या'नित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामि'ति भजनदेशनया निरूपितत्वेन प्रथमस्य चाङ्गत्वात् । अतो नात्र कोऽपि चोद्यावसरः ॥ ९ ॥

एवं नवभिर्विवेकधैर्याश्रयग्रन्थोक्ताङ्गाभावेऽप्येतदुक्तरीतिकदैन्येनाप्याश्रयसिद्धिरिति बोधितम् । अतःपरमेतस्याप्यङ्गस्याभावे द्वा॰शं साधनान्तरमाहुः सर्वसामर्थ्येत्यादि ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत' इत्यादिश्रुतिभिः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च यावन्ति सामर्थ्यानि तत्सहितस्तद्युक्तादिति 'मजामिलादौ' विषयेन । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' 'एष ह्येवानन्दयाती'त्यादिश्रुतिभिः सर्वत्र देशेषु जीवेषु चाखिलार्थानां कृत् 'आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिष्वि'त्यनेन ताच्छील्ये क्विप् कर्ता । एतादृशं कृष्णमहं जगदुद्धारार्थमागतो वैश्वानर आचार्यवर्यः शरणस्थानां शरणमार्गवर्तिनां समुद्धारं सम्यक् आश्रयमार्गप्राप्यपरमफलपर्यन्तमुद्धारं विज्ञापयामि । सामानाधिकरण्यादध्याहाराभावाच्च प्रथमान्तद्वयपदद्वयस्यैव विशेषणं वा । तथा च तादृशदैन्याभावेऽपि मयि विश्वासेनैतच्छरणमार्गस्थितौ श्रीमदाचार्यचरणकृपयैवास्माकमुद्धार इति निश्चयदार्ढ्येऽपि तत्कृतं साधनान्तरमनपेक्ष्य मद्विज्ञापनादेवोद्धरिष्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अतः परमेतन्निश्चयदार्ढ्यगमकं मदन्तो विज्ञापनप्रकारं स्वरूपं चाहुः कृष्णाश्रयमित्यादि ।

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आश्रीयतेऽनेनेति, कृष्ण आश्रयो विषयो यस्येति वा कृष्णाश्रयम् । आश्रयपदस्य विषयवाचकत्वं भक्तहृद्ध्वचरित्रे 'पश्च गुरुणा प्रोक्तं श्रुत्वेतुपसाद च । न साधु मनसा मेने स्वपराश्रयहाश्रयमि'ति सप्तमेऽन्यत्र च प्रसिद्धम् । एतदन्वर्थनामकमिदमुक्तं स्तोत्रं यः कृष्णसन्निधौ भगवन्निकटे पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयः सहायो भवेत् । इतीममर्थं श्रीवल्लभोऽब्रवीदुक्तवानिति । यथार्थमेतदत एव पूर्वोक्तनिश्चयदार्ढ्यगमक इत्यर्थः । एवं च विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिकविवेकादेरभावे दैन्यपूर्वकमेवैतत्स्तोत्रार्थानुसन्धानपूर्वकं भगवत्सन्निधावेतत्स्तोत्रपाठः । तत्राप्यनधिकारे श्रीमदाचार्यचरणविश्वासपूर्वकं भगवत्सन्निधौ पाठ इति साधनद्वयं मानसवाचनिक—केवलवाचनिक—शरणागतिरूपं निर्दिष्टम् ॥ ११ ॥

इदं प्राचां रीतिमनुसृत्य व्याख्यातं, मम त्वन्योऽप्यर्थः स्तोत्रस्य प्रतिभाति । तथाहि—अयं मार्गोऽविहितभक्तिरूपः, अत्र भगवान् रसात्मकः प्रतिपन्नः । एवं सति तदधिकारिष्वेव मन्दमध्यमविचारेणात्र साधनोपदेशो वक्तव्यः । अत एव विवेक-धैर्याश्रयसमाप्तौ 'भक्त्यादिमार्गा' इत्युक्तम् । अन्यथैकादशे 'योगास्त्रयो मये' त्यत्र 'ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चे'ति त्रितयान्ते निवेशिताया भक्तेरादित्वकथनं विरुद्धं स्यात् । अतोऽत्र भक्तिपदेन तत्परामर्शः किं 'त्वथैतत्परमं गुह्यमि'त्यत्रोक्तायाः । तथा सति सा भक्तिरादिर्येषां, तादृशा ये मार्गा अविहितभक्तेरेव प्रकारभेदा बालादिभावेन भजनरूपास्ते यतो दुःसाध्या इत्यर्थो भवति । एवं सति तत्र स्वस्यानधिकारे विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिक आश्रयः, अत एव 'स्वाम्यभिप्रायसंशयात्' 'गोपभार्यैवत्' इति स्वामिपदं तद्दृष्टान्तश्च सङ्गतौ भवतः । अतः परं तथाप्यनधिकार इदं स्तोत्रपठनमपि तस्यैवानुकल्परूपम् । एतन्मार्गप्रविष्टाना-मतिप्रपन्नतयाधिकारिणामेतन्मार्गफलसम्बन्धो यथा प्रणाड्या भवति तामनुसन्धायास्यो-क्तत्वात् । तदर्थं स्वस्वरूपं भगवत्स्वरूपं च वक्तव्यम् । तत्र भगवत्स्वरूपं सूक्तमेव । किञ्चाभेदवादानुरोधेन रसस्वरूपविचारे रसालम्बनद्वयाभिन्नरसात्मा स्वयं भवति । उपबृंहितं चेदं ब्रह्मवैवर्तीयश्रीकृष्णजन्मखण्डे गर्गवाक्येषु-'वर्धते सा व्रजे राधा शुक्ले चन्द्रकला यथा । श्रीकृष्णतेजसोऽर्धेन सा च मूर्तिमती सती' 'एका मूर्तिर्द्विधा भूता भेदो वेदे निरूपितः । इयं स्त्री स पुमान् किं वा सा वा कान्ता पुमानयमि'ति । 'पिताहमस्य जगतो माते'ति गीतायां च । तथा सत्याचार्याणामपि 'वैश्वानराद्वाक्पतेः' 'वस्तुतः कृष्ण एवे'ति च वाक्यद्वयविचारे पूर्वोक्तरीत्योभयमुखारविन्दात्मकत्वमुभयात्मकत्वं च सिद्ध्यति । किञ्च, सप्तश्लोक्यां सर्वोत्तमे च 'श्रीभागवतप्रतिपदे'त्यादि 'तत्सारभूत-रासस्त्रीभावपूरितविग्रह' इति चोक्तम् । एवं स्वरूपे निश्चिते यदा यद्भावेन यान् प्रति यथा वदन्ति तदा तदधिकारिणः प्रति तानि साधनानीति पुंस्त्वोभयथैवं व्याख्यायते तदापि न दोषः । तथा सत्यस्यार्थस्य गुप्ततया भगवतः परोक्षप्रियत्वेन चात्र परोक्षवादाल्लक्षणा-प्यदुष्टैव । ततश्चायमर्थः । तथाहि सर्वमार्गेषु सख्यादिप्रोक्तेषु भगवत्प्राप्त्युपायेषु नष्टेषु तदभावकतया स्वान्तःकरणेऽनुपायतया भातेषु । खलोऽन्तर्दुष्ट ईर्ष्यारूपो धर्मो यस्मिंस्तादृशे कलौ कलहे स्वसमानेषु स्वस्मिन् कृपातिशयख्यातिविषयके नष्टे हृदयादपपाते । चका-रेण कलहादेरपि नष्टत्वं ज्ञाप्यते । पाषण्डः कलहजननकारणरूपो धर्मः प्रचुरो यस्मिंस्ता-दृशे लोके सख्यादौ चादृश्यमाने । विरहेण तेषु दोषारोप 'स्तस्याधमस्यान्तिकमि'त्यादि-वत्, अतो न दोषः । एवं सति दुःखितस्य मम कृष्णः सदानन्दस्तादृशतापे हृदि विभा-व्यमान एव गतिर्बहिःप्राप्तौ साधनरूपो भवत्वित्यध्याहृत्य प्रार्थना । अत्रैवं सर्वसाधन-

✱ अतः परं श्रीव्रजराजपादाः प्रमेयमनुसृत्य विवृण्वन्ति स्तोत्रमिदम् ।

मात्वसिद्ध्या, द्वितीयस्या 'नित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामि'ति भजनशेषतया निरूपितत्वेन प्रपत्तेश्चाङ्गत्वात् । अतो नात्र कोऽपि चोद्यावसरः ॥ ९ ॥

एवं नवभिर्विवेकधैर्याश्रयग्रन्थोक्ताङ्गाभावेऽप्येतद्दुष्करीविकदैन्येनाप्याश्रयसिद्धिरिति बोधितम् । अतःपरमेतस्याप्यङ्गस्याभावे द्वाभ्यां साधनान्तरमाहुः सर्वसामर्थ्येत्यादि ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयत' इत्यादिश्रुतिभिः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं च यावन्ति सामर्थ्यानि तत्सहितस्तदुपपादित'मन्नामिलादौ'त्विषयेन । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' 'एष ह्येवानन्दयाती'त्यादिश्रुतिभिः सर्वत्र देशेषु जीवेषु चाखिलार्थानां कृत् 'आकेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिष्वि'त्यनेन ताच्छील्ये क्विप् कर्ता । एतादृशं कृष्णमहं जगदुद्धारार्थमाज्ञप्तो वैश्वानर आचार्यवर्यः शरणस्थानां शरणमार्गवर्तिनां समुद्धारं सम्यक् आज्ञप्तमार्गप्राप्यपरमफलपर्यन्तमुद्धारं विज्ञापयामि । सामानाधिकरण्यादध्याहारानाक्रमाच्च यथाप्राप्तबहुव्रीह्युपदस्यैव विशेषणं वा । तथाच तादृशदैन्याभावेऽपि मयि विश्वासेनैतच्छरणमार्गस्थितौ श्रीमदाचार्यचरणकृपयैवास्माकमुद्धार इति निश्चयदार्ढ्येऽपि तत्कृतं साधनान्तरमनपेक्ष्य मद्विज्ञापनादेवोद्धरिष्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अतः परमेतन्निश्चयदार्ढ्यगमकं वदन्तो विज्ञापनप्रकारं स्वरूपं चाहुः कृष्णाश्रयमित्यादि ।

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

कृष्ण आश्रीयतेऽनेनेति, कृष्ण आश्रयो विषयो यस्येति वा कृष्णाश्रयम् । आश्रयपदस्य विषयवाचकत्वं प्रह्लादचरित्रे 'यत्तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेऽनुपपाठ च । न साधु मनसा मेने स्वपरासद्ग्रहाश्रयमि'ति सप्तमेऽन्यत्र च प्रसिद्धम् । एतद्रूपमर्पणात्मकमिदमुक्तं स्तोत्रं यः कृष्णसन्निधौ भगवन्निकटे पठेत् तस्य कृष्ण आश्रयः सहायो भवेत् । इतीममर्थं श्रीवल्लभोऽब्रवीदुक्तवानिति । तथाचैवमेवत्वात एव पूर्वोक्तनिश्चयदार्ढ्यगमक इत्यर्थः । एवं च विवेकधैर्याश्रयोक्तरीतिकविवेकादेरभावे दैन्यपूर्वकमेवैतत्स्तोत्रार्थानुसन्धानपूर्वकं भगवत्सन्निधावेतत्स्तोत्रपाठः । तत्राप्यनधिकारे श्रीमदाचार्यचरणविश्वासपूर्वकं भगवत्सन्निधौ पाठ इति साधनद्वयं मानसवाचनिक-केवलवाचनिक-शरणागतिरूपं निर्दिष्टम् ॥ ११ ॥

पिकविलापस्यश्लोकोक्तं, तेन नष्टेष्वसाधकतया वैज्ञातेषु । अत एव अव्रतयोगिषु ज्ञान-गोचरत्वेपि जपादिनियमायोगिषु । तत्रापि हेतुः—तिरोहितार्थदेवेषु तिरोहितः अविषयः अर्थोभिधेयो देवोधिष्ठाता च येषां तादृशेषु मन्त्रेषु व्रतचर्यामासङ्कि रु—मुख्य-महिषीमासङ्कि रु—समर्पणादिमासङ्किकेषु सत्सु । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं तत्रोप्यतितापाधिक्येन स्वस्याशक्तिं द्योतयन्तः कर्मादिनाशमाहुः—नानेत्यादि । नानाप्रकारका वादा नानावादाः । भगवान् मथुरायामेवं पुरवनितादीनां कामं वर्धयति, जरासुतादिभिर्युध्यति, द्वारकायामुज्जयिन्यां प्राग्ज्योतिषपुरे इन्द्रप्रस्था-दावेवमेवं करोतीत्यादिलोकोक्तिरूपाः, श्रीमदुद्धवानीतसन्देशादिनतसंवादादिरूपा वा, तैर्विनष्टेषु अक्रियमाणेषु सर्वेषु गृहादिकर्मभगवद्व्रतादिषु । किञ्च, पाषण्डः कापट्यं, तेनैको मुख्यः प्रयत्नो बहिरुद्यमो येषां परसम्बन्धी । तथाच तादृशेष्वेतद्रोपनाय लौकिकवैदिकविहितमार्यादिककर्मभगवद्व्रतादीनामुद्यम एव न तु मनस्तत्तत्स्फूर्तिरपीति तादृशेषु तेषु सत्सु, 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'त्येतादृशावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवमतिप्रापिततापे भगवानन्तःप्रादुरभूत्ततस्तदवस्थामाहुः—अजामिलादीति । जामि आलस्यं 'जामि वैतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशावि'त्यादिश्रुतौ तथा-सिद्धत्वात् 'आला यावत्प्रपद्योभूदि'त्यत्रेवात्र परोक्षवादे वैदिकप्रयोगत्वाद्दोषाय । न जामि अजामि अनालस्यं तेन लान्ति गृह्णन्त इत्यजामिलाः, आदिपदेन जामिलाश्च । तद्गुणसंविज्ञानः । शैघ्र्येण विलम्बेन च भगवद्विप्रयोजका इति यावत् । तथाच तादृशा ये दोषा प्रमादप आज्ञाकरणादयश्च तेषां नाशकः । अनुभवे मानसे साक्षिप्रत्यक्षे च स्थितो गोचरीभवन् । ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः ज्ञापितमखिलं समीक्षाभावादि मथुराद्वारकास्थित्यादि तत्तल्लीलादितात्पर्यविषयकं सर्वं माहात्म्यमुत्कर्षः परोक्षमननाविस्मरणातिप्रियत्वरूपो येन तादृशः । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एतेन योगपत्नमनाप्ये-तादृशताप एव प्रादुर्भाव ईदृशो न त्वन्यथेति । अन्यथा त्वन्यथेत्यपि सूचितम् ॥ ७ ॥

माहात्म्यं यज्ज्ञापितं तन्मध्ये यदत्रोपयुज्यते तत्स्फुटीकुर्वन्त आहुः—प्राकृता इत्यादि । प्रकृतौ रसमार्गे भवा विद्यमानाः प्राकृताः । सकलाः, कला भगवदनुरञ्जन-चातुर्यं तया सह वर्तमानाः । देवा भगवता सह क्रीडापराः । किञ्च, बृहदक्षरं गुहायां परमे व्योमन्याविर्भूतं ब्रह्म गणितानन्दकं, गणितः श्रुतौ सङ्ख्यात आनन्दो येषां ब्रह्मपर्यन्तानां यतीनां वा, तेषामेव कं सुखं यस्मादिति तादृशं, न तु स्वस्मिन् स्थिति-मात्रेण सकलदेवानां सुखदम् । तथा पूर्णानन्दः कर्णागारयेण वकुत्रीदिना च हरिः

वैफल्यबोधनेन स्वस्यातिखेदः । एवकारेण तादृशसमये 'रुदन्तु सुतरां राजन्नि'त्यत्र फल्गुप्रकरण इव भगवतः प्राकट्यानवश्यकत्वं च द्योत्यते । एवमग्रेऽपि बोध्यम् ॥ १ ॥

अतः परं भगवन्मिलनस्थानभूतानां देशानामप्यनुपायत्वमाहुः—म्लेच्छाक्रान्तेत्यादि । म्लाना रसमार्गनिरोधिनीच्छा येषां ते म्लेच्छा एतद्रसानभिज्ञास्तैर्देशेषु वृन्दावनादिष्वाक्रान्तेषु । किञ्च, पापैकनिलयेषु । पातीति पः स्थायिभावः सः अपः अस्मत्को यत्रासौ पापो विरहः सन्तापातिशयजनकत्वात्, तदेकनिलयेषु 'सोयं वसन्तसमयो विपिनं तदेतत् सोयं निकुञ्जविटपी निखिलं तदास्ते । हा हन्त हन्त नवनीरदकोमलाङ्गो नालोकि पुष्पधनुषः प्रथमावतार' इतिवचदुद्बोधकत्वेन तदेकस्थानेषु । चोऽवधारणे । तेन पूर्वमयथात्वमनभिज्ञसम्बन्धेन तथात्वमिति ज्ञाप्यते । किञ्च, सतः शरीरस्य या पीडा तया व्यग्रा लोकाः स्वीयैकान्तभक्ता येषु । एतादृशेऽवसरे कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ २ ॥

अतः परं तादृशां तीर्थानामप्यसाधकत्वमाहुः—गङ्गेत्यादि । इह वृन्दावनादिदेशे गङ्गा 'सितासिते सरिते यत्र सङ्गत' इति श्रुतौ यस्याः पूर्वं पठितत्वात्सा आदिर्यस्याः सा गङ्गादिः, यमुनातत्प्रभृतीनि तीर्थवर्याणि यद्वा विशेषाच्चन्द्रसरोवरश्रीकुण्डाद्या, 'नदस्तदे' त्यत्रोक्ता नद्यश्च, तेषु दुष्टैरेतज्ज्ञानरहितत्वेन दुष्टैरेवावृतेषु व्याप्तेषु । किञ्च, तिरोहिताधिदैवेषु । तिरोहितमगोचरमधि उपरि दैवं 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यमि'ति कोशादस्मद्भाग्यं, 'त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दध'द्यत्र । यदुपरि भगवानिदानीं न दृश्यते चिह्नानि सन्तीति 'श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुम' इतिवदधिकतापजनकेष्विति भावः । तथाचैतादृशावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अतः परं सत्सङ्गस्याप्यसाधकत्वमाहुः—अहङ्कारेत्यादि । नितरां सर्वत्र तापाधिक्यमेव बीजं नतु तेषु दोषो बीजम् । अहङ्कारेणास्मद्दृशो भगवानस्मदर्थमेव एतान्यत्र फलिष्यतीत्येवंरूपेण विमूढेषु स्तब्धेषु । किञ्च, पापानुवर्तिषु पापः पूर्वोक्तरीतिको विरहस्तमनु लक्षीकृत्य वर्तन्त इति तथा । तथाच पूर्वं यद्वत् इदानीं तैरपि सह न मिलतीति । तद्गमकं लाभपूजार्थयत्नेषु । लाभो भगवत्प्राप्तिस्तदर्थो पूजा लाभपूजा तदर्थं यत्न उद्यमो येषाम् । पूर्वं भगवत्प्राप्त्यै कात्यायन्यर्चिता पुनरिदानीमपि यत्कुर्वन्ति तेन ज्ञाप्यते न मिलतीति । लीलाना नित्यत्वात्तापेनासक्तित्वभ्रमवत्पदाविर्भावाधेष्वप्यमिलननिश्चयः । सत्सु एतन्मार्गीयपुरुषेष्वेतादृशेषु सत्सु किं तत्सङ्गेनेति कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अतः परं ततोऽप्यतितापेन गुरूणां हार्दं विचारयन्तो मन्त्राणामसाधकत्वमाहुः—अपरीति । अः भगवान् तस्य परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं 'न नन्दसूनु'रितिश्रवणसाम-

पिकविलापस्यश्लोकोक्तं, तेन नष्टेष्वसाधकतया वैक्लतेषु । अत एव अव्रतयोगिषु ज्ञानगोचरत्वेपि जपादिनियमायोगिषु । तत्रापि हेतुः-तिरोहितार्थदेवेषु तिरोहितः अविषयः अर्थोभिधेयो देवोधिष्ठाता च येषां तादृशेषु मन्त्रेषु व्रतचर्यामासङ्गिक-मुख्यमहिषीमासङ्गिक-समर्पणादिमासङ्गिकेषु सत्सु । कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

अतः परं ततोप्यतितापाधिक्येन स्वस्याशक्तिं द्योतयन्तः कर्मादिनाशमाहुः-नानेत्यादि । नानामकारका वादा नानावादाः । भगवान् मथुरायामेवं पुरवनितादीनां कार्यं वर्धयति, जरासुतादिभिर्युध्यति, द्वारकायामुज्जयिन्यां प्राग्ज्योतिषपुरे इन्द्रप्रस्थादावेवमेवं करोतीत्यादिलोकोक्तिरूपाः, श्रीमदुद्धवानीतसन्देशादितत्संवादादिरूपा वा, तैर्विनष्टेषु अक्रियमाणेषु सर्वेषु गृहादिकर्मभगवद्व्रतादिषु । किञ्च, पाषण्डः कापट्यं, तेनैको मुख्यः प्रयत्नो वहिरुद्यमो येषां परसम्बन्धी । तथाच तादृशेष्वेतद्गोपनाय लौकिकवैदिकविहितमार्यादिककर्मभगवद्व्रतादीनामुद्यम एव न तु मनस्तत्स्तत्कृतिरपीति तादृशेषु तेषु सत्सु, 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चने'त्येतादृशावस्थायां कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ६ ॥

एवमतिशयिततापे भगवानन्तःप्रादुरभूत्ततस्तयावस्थयाहुः-अजामिलादीति । जामि आलस्यं 'जामि वैतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशावि'त्यादिश्रुतौ तथासिद्धत्वात् 'आस्मा यावत्प्रपञ्चोभूदि'त्यत्रेवात्र परोक्षवादे वैदिकप्रयोगस्यादोषाच्च । न जामि अजामि अनालस्यं तेन लान्ति गृह्णत इत्यजामिलाः, आदिपदेन जामिलाश्च । तद्गुणसंविज्ञानः । शैघ्र्येण विलम्बेन च भगवद्वियोजका इति यावत् । तथाच तादृशा ये दोषा मानादय आज्ञाधरणादयश्च तेषां नाशकः । अनुभवे मानसे साक्षिप्रत्यक्षे च स्थितो गोचरीभवन् । ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः ज्ञापितमखिलं समीक्षाभावादि मथुराद्वारकास्थित्यादि तच्छीलादितात्पर्यविषयकं सर्वं माहात्म्यमुत्कर्षः परोक्षभजनाविस्मरणातिभियत्वरूपो येन तादृशः । कृष्ण एवेति पूर्ववत् । एतेन योग्यतमानामप्येतादृशताप एव प्रादुर्भाव ईदृशो न त्वन्यथेति । अन्यथा त्वन्यथेत्यपि सूचितम् ॥ ७ ॥

माहात्म्यं यज्ज्ञापितं तन्मध्ये यदत्रोपयुज्यते तत्प्रकटीकुर्वन्त्य आहुः-प्राकृता इत्यादि । प्रकृते रसमार्गे भवा विद्यमानाः प्राकृताः । सकलाः, कला भगवदनुरञ्जनचातुर्यं तया सह वर्तमानाः । देवा भगवता सह क्रीडापराः । किञ्च, बृहदक्षरं गुहायां परमे व्योमन्याविर्भूतं ब्रह्म गणितानन्दकं, गणितः श्रुतौ सङ्ख्यात आनन्दो येषां प्रजापत्यन्तानां यतीनां वा, तेषामेव कं सुखं यस्मादिति तादृशं, न तु स्वस्मिन् स्थितिमात्रेण सकलदेवानां सुखदम् । तथा पूर्णानन्दः कर्मधारयेण बहुव्रीहिणा च हरिः

देवानन्दतिरोभावहर्ता कृष्ण एव तस्मान्मम वर्त्मेत्यर्थः । तथाचैतन्मार्गीयं फलं केवलपरमानुग्रहैकलभ्यमेवेति सपरिकरभगवन्माहात्म्यं यद्भगवज्ज्ञापितं तत्सूचितम् ॥ ८ ॥

एवमनुग्रहस्य तत्फलस्य स्वकृतसाधनासाध्यत्वेऽनुसंहिते यावस्था तदाहुः—विवेकेत्यादि । विवेकः साधनतारतम्यानुसन्धानं, धैर्यं दुःखसहनसामर्थ्यं, भक्तिः स्वशरीरसेवा । आदिपदेन तदुक्तसाधनानि, तै रहितस्य । विशेषतोऽत्यन्तं पापेन पूर्वोक्तविरोधात्मकेन असक्तस्य मूकसमस्तसङ्गस्य, अत एव दीनस्य तत एवानोजसः कृष्ण एवेति पूर्ववत् ॥ ९ ॥

एवमतितापेन परमदैन्ये भगवान् बहिःप्रादुर्भूतस्तदातिसन्तुष्टा जीवेषु मन्दमध्यमेष्वेवं विलम्बाभावाय विज्ञापयन्ति सर्वेत्यादि । अयोग्येष्वपि योग्यतासम्पादनं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थस्यैव भवयितिति तादृशः सन् । तादृशस्त्वस्य गमकमौदार्यमिति सर्वैश्वर्याङ्गीकृतमात्रे अखिलार्थानां पुष्टिपुष्टिपोषरूपाणां कृत् ! करणशील ! कृष्ण ! पूर्वोक्तश्रुतिपुराणव्याख्यातरूप ! । श्रीरघुनाथचरणैः कृष्णपदं सम्बुद्ध्यन्तत्वेन व्याख्यातमित्यस्माभिरपि तथोक्तम् । द्वितीयान्तपक्षेऽपि किमन्तमेव । शरणस्थानामेतन्मार्गरीत्या शरणागतानां फलपर्यन्तमुद्धारं अहं भवदनुभावकथनमात्राज्ञिप्तवर्णैः विज्ञापयामि । एतेन स्वस्य विज्ञापने भगवतश्च तथोद्धारे आवश्यकता सूचिता ॥ १० ॥

विज्ञापनां वदन्ति—कृष्णाश्रयमित्यादि । कृष्णाश्रयं स्तोत्रं श्रीरूपः स्वामिनीभावपूरितत्वात् वल्लभो भगवतः प्रिय आचार्यवर्योऽब्रवीदिति, यः पठेत् एवमनुसन्धानो योऽस्माद्विप्रयोगावस्थां ज्ञापयन् कृष्णसन्निधौ व्यक्तं पठेत्तस्य कृष्ण आश्रयो भवेदिदं विज्ञापनमित्यर्थः । स्तोत्रस्य मन्त्रत्वेनेदृशा विनाप्यर्थसिद्धेरिति, ग्रन्थान्तरानध्याहाराच्च, अत्र दूरान्वयोऽप्यदुष्ट एव । 'निःश्वासस्तनु घोरमित्युक्तो विससर्ज ह' । 'विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतीं प्रिया'मित्यादौ भाव एव तनुत्वेन व्यवहाराच्च श्रीरूपत्वोक्तावपि न दोष इति न कोपि शङ्कालेश इति । यथाधिकारं सर्वा एव टीका उपयुज्यन्त इति न कापि शङ्कालेश इति । दिक् ॥ ११ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यप्रकटीकृतमद्भुतम् ।
स्तोत्रं कृष्णाश्रयाख्यं विवृतं तत्प्रसादतः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकमलचञ्चरीकश्रीद्वारकेशात्मजश्रीव्रजराजविरचितं कृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः

कृष्णाश्रयस्तोत्रम् ।

विवरणसमेतम् ।

यत्कृपादृष्टिपीयूषैकबिन्दुस्पर्शे रसार्द्रता ।
कृष्णलीलाब्धिजा जन्तोर्न कदापि निवर्तते ॥ १ ॥
तानेव श्रीमदाचार्यचरणानाश्रये मुदा ।
तेनैव मम तद्वाक्यबोधो बोध्यो हि जायते ॥ २ ॥
पुष्टिमार्गादिलीलाभिः स्वानन्दं पूरयन्निजम् ।
स्वाश्रयं कुरुते यश्च तमहं कृष्णमाश्रये ॥ ३ ॥

अथात्राश्रयो द्वेधा निरूप्यते मर्यादापुष्टिभेदेन । तत्र मर्यादया य आश्रयः स तु स्फुट एव सर्वत्र व्याख्यातः । पुष्टिमार्गीयस्तु गूढः, स च परोक्षवादेन साधनफलस्वरूपनिरूपणपूर्वकं निरूप्यते । तत्रापि कालादिषट्साधनानां फलासाधकत्वं वदन्त आश्रयं संभावयन्ति । एवं सति यादृशः पुष्टिमार्गीयाणामाश्रयस्तादृशोऽत्र निरूप्यते प्रकारसहित इत्यवगम्यते । तथाहि प्रथमं परमकृपालुः साक्षात् भगवान् स्वयं निरुपधिकरुणावत्त्वात्पुष्टिफलदानेच्छया यं वृणुते तस्य तदारभ्य स्वत एवोद्भूतसहजानुरागतो भगवत्सेवादौ प्रवृत्तिर्भवति न तु तद्व्यतिरिक्तधर्मेषु । ततस्तादृशानुरागपूर्वकसेवादिकरणोल्लसितप्रेमासक्तिजनितपुष्टिमार्गीयभावाङ्कुराणां 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारकभावनाया अवश्यसंभवाच्च तद्धर्माकाङ्क्षे विजातीयसङ्गानुरोधादन्तःस्वरूपानुभवप्रतिबन्धे सति तदपेक्षाजनितार्त्या भगवद्व्यतिरिक्तस्य तन्निवृत्तेरशक्यत्वाच्छरणगतिरुच्यत इति श्रीमदाचार्यचरणास्तत्स्वरूपनिरूपणपूर्वकं श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रं निरूपयन्ति सर्वेषामिति ।

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि ।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥ १ ॥

तादृशपुष्टिमार्गीयस्य सर्वे मार्गाः प्रमाणरूपाः कर्मादयो नष्टाः, एक एव प्रमेयमार्गस्तिष्ठति, यतस्तेषु फलासाधकत्वबुद्ध्याऽरुचिरेवेति तत्त्यागकरणान्नष्टा एवेत्यर्थः । अथवा 'णश अदर्शने' इति धात्वर्थविचारेण नष्टा अज्ञाता वा । तेषां दर्शनज्ञानयोरप्येतन्मार्गे

प्रतिबन्धकत्वादितिभावः । ननु भक्तानां कलिकालः साधको भवतीति तद्विष्टमार्गाणां कथं तथात्वमिति पुष्टिमार्गीयाणां तस्य बाधकत्वमाहुः खलधर्मिणीति । कालस्तु प्रमाणभूतः, प्रमाणं साक्षात्स्वरूपं न कथयतीति तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य सदोषत्वमेवेति तत्स्पष्टत्वात् खलो दुष्टो धर्मो धर्मकर्तापि यत्रेति । यद्यपि 'कलेर्दोषनिधे राजन्' 'कलिं सभाजयन्ती'त्यादिवचनैः कलेर्भगवद्भजनानुकूलत्वमुक्तं, तथाप्यधुनानवतारसामयिकत्वे-नाधिदैविकरूपत्वाभावात् पुष्टिमार्गीयान् प्रत्यानुकूल्यस्य नष्टत्वमेवेति तथोक्तम् । भौतिककालस्य प्रमाणरूपत्वेन मर्यादोक्तविधिना तेषां भजनं न पुष्टिरीत्या । फलमपि मुक्तिरेव न ततोऽग्रिमकक्षापन्ना । अत एव पाषण्डप्रचुरे लोके इत्युक्तम् । धर्मव्यतिरेकेण केवलधर्मस्य सोपाधिकत्वाच्चथोक्तमितिभावः । तानेव धर्ममार्गानुत्तरश्लोकेष्वसाधकत्वेन वक्ष्यन्ति । एवं सति तत्तत्काले तत्तद्धर्मानाचरणे तेषां दोषबुद्धिरेवोत्पद्यत इति तत्समर्थं तत्तत्काले प्रमाणातिरिक्तं न कर्तुं शक्यत इति कालस्य भावोद्बोधे प्रतिबन्धकत्वादसाधकत्वं निरूपितम् । चकाराद्गृहेपि तथा । 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इतिवचनाचत्रापि सेवा-करणे क्रमेण स्नेहासक्तिजनितभावनाया जातत्वाचत्रत्यानां तदभावाचत्सङ्गोऽस्य बाधको विजातीयभाववत्त्वादित्यर्थः । अथवा, एवं पुष्टिमार्गीयस्य कालतदुक्तमार्गाणां प्रतिबन्धकत्वं निरूप्य तस्य स्वधर्माचरणप्रकारमाहुः–पाषण्डेति । लोके पुष्टिमार्गीये पाषण्डप्रचुरे सति तत्संसर्गेण भावापेक्षया दोषबाहुल्ये सतीत्यर्थः । यद्वा, पाषण्डो नाम स्वान्तर्निष्ठधर्म-गोपनेन बहिरन्यधर्मकरणं तदेव प्रचुरो यस्मिंस्तादृशे सति । यथा न कोपि जानाति तथा कर्तव्यमापन्नमितिभावः । एवं सत्येतावत्प्रतिबन्धके विद्यमाने तत्संसर्गेण पूर्वोक्त-भावानामुच्छलितत्वाभावात्फलाभाव इति तादृशस्य प्रतिबन्धनिवर्तकः साक्षाद्भगवानेव नान्य इति कृष्ण एव गतिर्ममेतिशरणमुपदिष्टम् । शरणं गते कृपया ॥ एव सर्वं करिष्यतीतिभावः ॥ १ ॥

ननु तर्हि भगवल्लीलाप्रदेशेषु गत्वा स्वधर्मनिर्वाहः कर्तव्य इति चेचत्रापि प्रतिबन्ध-कबाहुल्येन देशानामसाधकत्वेन शरणमेव निरूपयति म्लेच्छेति ।

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च ।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ २ ॥

मलिनपदार्थमेवेच्छन्तीति म्लेच्छा विषयिणो, मन्त्राद्युपासकाः, कर्ममार्गीयाश्च । यद्यपि तेऽनिषिद्धं विहितमेव कुर्वन्ति तथापि स्वार्थपराः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती-'त्याद्युक्त्या कर्मफलं मलिनमेवेति तत्पराणां तथात्वेन निर्देशः कृतः । तादृशैस्ते-राक्रान्ताः सर्वे प्रदेशा, अत एव तल्लीलादीनां तिरोभावाच्च ते साधका इतिभावः । स्वगृहं तु भगवदीयत्वादनुकूलमेव किन्तु भावे वैजात्यमात्रेण तस्य बाधकत्वम् । तावतापि

यत्र प्रतिबन्धकत्वं तत्र केवलविषयाविष्टसम्बन्धिदेशसंसर्गेण भावनाशे किमु वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायेनापि देशस्यासाधकत्वं निरूपितम्। किञ्च, न केवलमाक्रान्तिमात्रं किन्तु तन्मय एव जाता इत्याहुः पापैकनिलयेष्विति। कर्मणां हिंसाप्रचुरत्वाद्यथोक्तम्। एतेन तत्र गमनमात्रेण तत्सम्बन्धात्स्वधर्मनाशो भवतीति भावः। एवं सति भगवतो मन्त्रोपासनाद्यस्पृष्टत्वेनास्मिन्नेव श्लोके मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनानां सङ्ग्रहेणासाधकत्वं निरूपितम्। आदिपदेन विहितभक्त्यादीनामपि तथेत्यर्थः। ननु तत्रापि केचन निष्ठाविधुरा भविष्यन्तीति चेत्तत्राहुः सत्पीडेति। निष्ठाविधुरत्वेन सद्रूपाणि तत्रत्यानां देहेन्द्रियादीनि तेषां पीडा सत्पीडा, तद्देशसम्बन्धे तानि विषयाविष्टान्येव भवन्तीति तन्निग्रहाशक्यत्वान्निष्ठाविधुराणां खेदो जायत इति तद्रूपैव स्वधर्मनाशजनिता पीडा, तया व्यग्राः कथमस्माकं परलोकः सेत्स्यतीति व्यग्रा लोकाः धर्मशीला येषु। यत्र स्थूलदृष्टीनामपि न धर्मनिर्वाहस्तत्रातिसूक्ष्मेक्षिकाणां तादृशानां भावशैथिल्ये किमु वाच्यम्। तादृशानामग्रेऽपि स्यात्तदुपरक्तेरितिभावः। तथाचोक्तं 'अस्मात्स्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमपि'-सूत्र विवरणे 'यथा व्याघ्रामे देहाभिमानी'ति फलप्रकरणे। अतस्तदभावबोधने प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम्। अत एव 'अलौकिकमनःसिद्धावि'ति विवेकधैर्याश्रयेऽप्युक्तम् ॥ २ ॥

एवं दुःसंसर्गेण देशानामसाधकत्वं निरूप्य तत्र भगवद्भक्ता अपि सन्ति ते समीचीनास्तैः सह सङ्गो न बाधक इत्याशङ्क्य द्रव्याणामशुद्धत्वात् पुष्टस्य तेषामपि सङ्गो बाधक इतीतरमार्गीयाणामसाधकत्वमाहुः गङ्गादीति।

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ३ ॥

गङ्गादितीर्थवर्या भक्ताः। अयं भावः—'अस्ति गङ्गायां त्रिरूपमि'ति सिद्धान्तमुक्तावल्यां स्फुटीकृतं, तत्त्रिविधत्वमत्रापि ज्ञेयम्। तेन तत्तद्रूपाधिभौतिकादिभेदेन प्रवाहभक्तिमार्गीयज्ञानमार्गीयमर्यादाभक्तिमार्गीया भक्ता निरूपितास्तत्र प्रथमं प्रवाहभक्तिमार्गीयाणामसाधकत्वं निरूपयन्ति। यद्यपि गङ्गापदस्यादौ निरूपणाद्गङ्गाया मर्यादाभक्तिमार्गीयभक्तत्वात्तन्मार्गीयभक्तानामेवादौ निरूपणं संभवति तथाप्याधिभौतिकादिक्रमेण परिदृश्यमानप्रवाहजलस्यैव प्रथमनिरूपणादत्राप्यादौ प्रवाहभक्तिमार्गीया एव ज्ञेयाः। अग्रिमाणामुत्तरश्लोकेषु निरूपणम्। तथाच पदसम्बन्धः, गङ्गा देवी आदिर्येषां तानि गङ्गादीनि, तस्या एवाधिदैविकादिरूपाणि, तद्रूपा एव 'तीर्थभूता'मादिसाधकत्ववचनाद्भक्ताः, परन्तु दृश्यमानजलादिरूपाक्रमेण प्रवाहमार्गीया एव। कर्ममार्गीयापेक्षयोत्तमत्व-

ज्ञापनाय 'वर्ये'पदम्। तादृशेष्वपि दुष्टैरेव स्वरूपापेक्षया तद्दोषैरित्यर्थः। तादृशैर्धर्मैर्व्रतेष्वाच्छादितेषु सत्सु, धर्मा एव तेषां धर्मिस्वरूपज्ञाने आवरका जाताः। ननु भगवद्धर्मनिष्ठेषु कथं तद्धर्माणामावरकत्वं तत्राहुः–तिरोहिताधिदैवेष्विति। तिरोहितमधिदैवस्वरूपं येषु। यथा जलप्रवाहे मूर्तिमत्या गङ्गायास्तिरोधानं तथा मर्यादामार्गेऽपि साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूपतिरोधानम्। विभूतिरूपस्यैव तेषां भजन तद्रूपमेव फलं, न तत्राधिदैविकभजनं फलं चेति द्रव्याशुद्ध्या पुष्टिमार्गीयाणां तत्सङ्गो न साधक इति शरणगतिमेवोपदिशन्ति कृष्ण एवेति। अत एवा'चफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति सा सेवानाधिदैविकी'त्युक्तं सेवाफले। प्रकृते तु आधिदैविकस्वरूपस्यैव सर्वस्य साधकत्वादाधिदैविकरसात्मकसदानन्दस्वरूपज्ञापककृष्णपदमेवोक्तं सर्वत्र शरणागतौ। एतेन तद्व्यतिरिक्तस्वरूपस्य शरणमपि न साधकमित्यपि सूच्यत इति सुष्ठूक्तम् ॥ ३ ॥

ननु ज्ञानिनो निर्दोषाः समबुद्ध्य एकान्तस्थितयः तत्सङ्गः साधको भविष्यतीति तेषामपि मायामोहितत्वात्साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावेनासाधकत्वं निरूपयन्तः कर्तृणां तन्निरूपयन्ति–अहङ्कारविमूढेष्विति।

अहङ्कारविमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु ।
लाभपूजार्थयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ४ ॥

ते तु 'अहं ब्रह्मास्मी'त्यहङ्कारेण विशेषेण मूढा, नहि तत्र साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धः, किन्त्वक्षरमात्रसम्बन्धेन तन्मात्रस्यैव परमफलत्वं मन्यन्त इति सेव्यसेवकभावस्यापि गतत्वाद्विशेषेण मूढास्तादृशेषु सत्सु। ननु अविद्यानिवृत्तौ अनुभवरूपे विज्ञाने सम्पन्ने ब्रह्मणि लयो भवतीति कथं तेषां मोहः संभवतीति तत्राहुः पापानुवर्तिष्विति। 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इतिवाक्यात्पुष्टिमार्गीयाणां फले प्रतिबन्धकत्वात्साक्षात्पुरुषोत्तमज्ञानाभावरूपस्य तादृशज्ञानस्य पापत्वात्तदनुवर्तिनां पापानुवर्तित्वमेवेति तथोक्तम्। किञ्च, तादृशस्य पुनरक्षरलयानन्तरं पुष्टिफलसंभावनैव नैत्यपिज्ञापनाय पापरूपत्वं विशेषेण मूढत्वं चोक्तम्। ननु तथाप्यानन्दानुभवो भविष्यतीति तत्राहुः–लाभपूजार्थयत्नेष्विति। तन्मार्गे न साधनदशायां न च फलदशायां तदनुभवः, यतो लाभः आत्मलाभः पूजा तत्साधनार्थं मनस्येव कल्पितमूर्तेरुपासनारूपा, तदर्थमेव यत्नो येषां तादृशेषु। नह्यात्मन ऐक्ये सर्वेन्द्रियाणां सार्थकता, नाप्यानन्दानुभवज्ञानं च, यथा जले निमग्नस्य जलपानम्। बहिरेव पाने तदनुभव इति न तेषामानन्दानुभवोऽपि। प्रकृते तु पुष्टिमार्गापन्नस्य 'भगवता सहे'त्यादिरूपभावनायामपि सर्वेन्द्रियाणां साक्षात्स्वरूपानुभवो, बहिःप्राकट्ये तदनुभवे किं वाच्यमितिभावः। तदुक्तं निरोधवर्णने

'सङ्कल्पादपि [illegible] हि' 'दर्शने स्पर्शने स्पष्टमि'त्यादिना । एवं सति पुष्टिमार्गीयस्य न तत्सङ्गः साधक इति शरणमेव निर्दिशन्ति कृष्ण एव गतिः ॥ ४ ॥

ननु ज्ञानिष्वपि केचन भक्ता भवन्ति, तत्रापि प्रेमयुक्ताः, ते पुनर्द्विविधाः केचन नामनिष्ठाः केचन सेवैकनिष्ठास्तेषां सङ्गः साधको भविष्यति, तथाचोक्तं 'सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः' 'सतां प्रसङ्गा'दित्यादिनेत्याशङ्क्य तयोरपि साधकत्वाभावात्प्रथमं नामनिष्ठा-नामसाधकत्वं वदन्तो मन्त्राणां तन्निरूपयन्ति अपरिज्ञानेति ।

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु ।
तिरोहितार्थदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ५ ॥

यद्यपि 'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत'मित्यत्र 'मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानी'-त्युक्तया भक्तानां नामैव परो मन्त्रः तत्कीर्तनपराः समीचीना एव तेषां तत्कीर्तने तदा-नन्दानुभवजनिताश्रुपुलकादयोऽपि भवन्ति तथापि तेषां मर्यादामार्गीयत्वात्स्वरूपतोऽप-रिज्ञानमेवेति तेषु मन्त्रेषु नामरूपेष्वपरिज्ञानेन नष्टेषु अलक्षितेषु सत्सु । यादृशः कृष्णपदस्य रसात्मकभावरूपोऽर्थस्तदपरिज्ञानादलक्षितत्वमुक्तम् । ननु कथं सोऽर्थो न लक्षि-तस्तत्राहुः—अव्रतयोगिष्विति । व्रतं अनन्यत्वं पतिव्रतावत्पतिविषयकपरमानुरागज-नितरसात्मकभावेन तदेकनिष्ठारूपं, तदभाववतोऽव्रताः पूर्वोक्ताः, तादृशेषु योगः संयोगो येषामिति तथात्वमुक्तम् । ननु तेष्वपि नामधर्माणां दृश्यमानत्वात्कथमेवमुच्यते तत्राहुः—तिरोहितेति । तिरोहितः अर्थो रसात्मकस्वरूपेण यः प्रकटः स यत्र तादृशेषु सत्सु । अत एव मुकुन्द ! नारायण ! यज्ञेश्वर ! ज्ञाननिधे ! वासुदेवेत्यादीनि मोक्षेच्छुभिरुच्यन्ते, नहि पुष्टिमार्गीयैरिव 'व्रजजनार्तिहन् वीरयोषिताम्' 'सुरतनाथे'त्यादीनि रसात्मकानि तानि । तेषां मर्यादामार्गानुसारेणैव तदनुभवो भवति न पुष्ट्यनुसारेणेति । तत्सङ्गस्तस्य साधक इति शरणमेवोपदिशन्ति कृष्ण एवेति ॥ ५ ॥

ननु ये सेवापरास्ते तत्सर्वविनियोगेनानन्यव्रतेन सेवां कुर्वन्तीति न तेषाम-व्रतत्वमिति साधका भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तेषामसाधकत्वं वदन्तः कर्मणां तदाहुः—नानावादेति ।

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु ।
पाषण्डैकप्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ६ ॥

यद्यपि ते पूर्वोक्तापेक्षया सर्वोच्चास्तथापि तेषां मर्यादामिश्रत्वात्सर्वकर्मव्रता-दिषु सर्वं पुष्टिमार्गीयं यावत्समेयं कर्म तन्मार्गीया सेवा 'भगवता सहे'त्यादिरूपा व्रतं

लोकवेदनैरपेक्ष्येण केवलस्वरूपमात्रैकनिष्ठत्वं, आदिपदेन तन्मार्गीयश्रवणकीर्तनादीनि ज्ञेयानि, तेषु नानावादविनष्टेषु सत्सु । नानावादा अनेकविधप्रमाणवचनानि मर्यादामार्गीयाणि आवरणरूपाणि, तैः कृत्वा विशेषेण नष्टा अलक्षितास्तादृशेषु सत्सु । तेषां मर्यादामिश्रत्वेन विहितैकनिष्ठत्वात्, न तज्ज्ञानमितिभावः । अत एव 'मर्यादया गुणज्ञास्ते' इति निरूपितं पुष्टिप्रवाहमर्यादायाम् । ननु तेपि भक्तिमार्गनिष्ठया सेवादिकं कुर्वन्तीति कथं तदज्ञानं तत्राहुः–पाषण्डैकप्रयत्नेष्विति । पाषण्डो नामोपाधिस्तद्रूप एवैकः प्रयत्नस्तदनुकूलसाधनरूपो येषां तादृशेषु । तेषामपि मिश्रत्वेन पुरुषोत्तमसायुज्यैकफलत्वात्तत्प्रयत्नादीनां पुष्टापेक्षयोपाधिरूपत्वमेवेति तथा निरूपितम् । अत एव मध्यमफलत्वं सायुज्यस्य निरूपितं सेवाफले 'सेवायां फलत्रयमि'त्यनेन । किञ्च, सायुज्यस्य मर्यादाभक्तिमार्गैकफलत्वं तत्त्वार्थदीपे निरूपितं 'सर्वत्यागेनन्यभावे' इत्यनेन । पुष्टिफलं तु केवलं तादृशानुग्रहभरेण सर्वात्मना निरुपधिभावैकसाध्यमिति तादृशस्यापि सङ्गो न साधक इति शरणमेव निरूपयन्ति कृष्ण एव गतिर्ममेति ॥ ६ ॥

नन्वेवं सकलमार्गीयसाधनफलानां बाधकत्वेन पुरुषार्थरूपत्वाभावात्पुष्टिमार्गीयस्य के पुरुषार्थाः ? कीदृशया वा कथं वा सिद्धा भविष्यन्तीति प्रश्ने तादृशस्य भगवानेव चतुर्विधपुरुषार्थरूपः, तत्सिद्धौ शरणमेव साधनं नान्यदिति भगवतस्तद्रूपनिरूपणपूर्वकं चतुर्भिः श्लोकैः शरणं निरूपयन्ति । तत्र प्रथमं धर्मरूपत्वेन निरूपयन्ति—अजामिलादिदोषाणामिति ।

अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थितः ।
ज्ञापिताखिलमाहात्म्यः कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ७ ॥

'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि । कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुवमि'त्यत्रोक्ताः पुरुषार्था मर्यादामार्गीयेभ्यो भिन्ना उपाधिरहिता इति । तत्र हरेर्दास्यं धर्म उक्तः । तच्च 'पुरुषभूषण देहि दास्यमि'त्यत्र स्वरूपात्मकत्वेन निरूपितमिति भगवतो धर्मरूपत्वं सिद्धम् । एवं सति धर्मेण यथा दोषनिवृत्तिर्निर्दोषतासिद्धिश्च भवति तथा भगवान् स्वरूपेणैव दोषनिवर्तक इष्टप्रापकोपि भवतीति धर्मनिरूपणपूर्वकं शरणं निरूपयन्ति । तथाहि–अजामिलादयः भवद्दोषदुष्टास्तद्रूपा अत्र सकलेन्द्रियसङ्घातास्तेषां दोषाणां नाशकः स्वरूपेणैव न साधनैः । अयं भावः, पुष्टिमार्गीयस्य स्नेहोत्तरत्यनन्तरं व्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणायां 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युक्तप्रकारकभावनायामन्तर्लीलासहितसाक्षात्स्वरूपस्फूर्तौ सति या सेवोत्तमपुष्टिरूपा तत्रेन्द्रियाणां प्राकृतपदार्थसंसर्गदर्शनस्मरणादिना यः प्रतिबन्धः सोत्र दोषस्तन्नाशकः । यथाऽजामिलस्य नाममात्रेण दोषा दूरीकृतास्तथा प्रकृते तादृशस्य मिथो गुणगान-

लक्षणनामात्मकलीलया तत्तदिन्द्रियाणां दोषं नाशयतीति तथोक्तम् । अनेन दोषनिवृत्तिर्धर्मकार्यमुक्तम् । इष्टप्राप्तिं निरूपयन्ति अनुभवे स्थित इति । दोषं दूरीकृत्य तत्तदिन्द्रियादिषु स्वयं स्थितो भूत्वा स्वरूपानन्दमनुभावयतीति भावः । अनेनेष्टप्राप्तिरूपं धर्मकार्यमुक्तम् । एतत्सर्वं निरोधवर्णने 'संसारावेशदुष्टानामि'त्यारभ्य 'हरिवत्सुखमि'-त्यन्तेन स्फुटीकृतम् । ततोपि विशेषमाहुः—ज्ञापिताखिलमाहात्म्य इति । ज्ञापितम-खिलं पुष्टिलीलारूपं माहात्म्यं येन । अत एव व्रजस्थितानामपि च लीलानुभवः । पुष्टिप्र-वाहमर्यादयापथि 'पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा' इत्युक्तम् । भगवति साक्षादन्तःप्रकटे तल्ली-लाधर्माणामप्याविर्भावात्तज्ज्ञानमप्याविर्भवतीति न किञ्चिदनुपपन्नम् । एवं सति तादृशस्य तादृग्भावपोषणादौ ईदृग्धर्मरूपो भगवानेव शरणमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् ॥७॥

ननु तेषामिन्द्रियादीनां प्राकृतत्वात्तदधिष्ठातॄणां च तथात्वात्कथं दोषनिवृत्तिरि-त्याशङ्क्य तेषां सर्वेसद्भावरूपः कृष्ण एव भवतीति तस्यैवार्थरूपत्वं निरूपयन्तः शरणगतिमाहुः—प्राकृता इति ।

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत् ।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ८ ॥

प्रपञ्चनिरूपणप्रस्तावे 'जडे सदंशः प्रकट इतरांशावच्छन्नौ, जीवे आद्यौ प्रकटौ आनन्दांशस्तिरोहित' इतिनिरूपितम् । पुष्टिमार्गीयस्य तु साधनदशायां सेवागुण-गानादिपरस्य स्वत एवानन्दांशः प्रकटो भवति । तथाचोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'ततः संसारदुःखस्ये'ति । तत्रैव पुनः विवरणे 'यद्यप्यनभिलषिते ते तथापि वस्तुस्वभा-वात्स्वत' इत्युक्तम् । सिद्धान्तरहस्येपि 'सर्वेषां ब्रह्मता तत' इत्युक्तम् । 'सच्चिदानन्दता स्वत' इति निरोधविवरणेप्युक्तम् । एवं सति ये पूर्वं प्राकृता देवा इन्द्रियाधिष्ठातार-स्ते सच्चिदानन्दरूपाद्यात्मकत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावात्सकला जाताः । कला रसात्मकब्रह्मविद्यारूपा तत्सहिता जाताः । गणितानन्दरूपमक्षरं ब्रह्म, 'क'प्रत्ययेन ततोपि ह्रस्वोक्तितुच्छो जीवः स बृहज्जातस्तदपेक्षयापि महान् जातः । उभयत्र हेतुः पूर्णानन्दो हरिरिति । यतः सर्वेषां सच्चिदानन्दत्वे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावात्तत्सम्ब-न्धिरसात्मका भावा उत्पद्यन्त इति तज्जनितप्रचुरार्तिशान्त्यर्थमन्तस्तत्तदिन्द्रियादिषु तत्तत्स्वरूपः स्वयमेव भूत्वा सर्वेषु तेषु पूर्णस्वरूपानन्ददानेन दुःखं हरतीति तथोक्तम् । एवं सत्यक्षरात्मत्वेनाप्राकृतत्वे किं वाच्यम् । किन्तु तस्य समस्तसद्भावः साक्षाद्रसात्मकली-लारूपपूर्णानन्दभगवद्रूप एव भवतीति कुतस्तत्र दोषावकाश इतिभावः । तदेव 'श्रीमद्गो-

कुलजीवात्मा श्रीमद्गोकुलस्थानसमि'त्याद्युक्तम् । यत एवं भगवत एवार्थरूपत्वं तस्मात्तस्य तथात्वसिद्ध्यै शरणमेव साधनमिति तन्निरूपयन्ति कृष्ण एवेति ॥ ८ ॥

एवमर्थरूपं निरूप्यैतादृशस्य प्रचुरार्तिशान्त्यर्थं बहिःप्रकटस्य कोटिकन्दर्पलावण्यस्य साक्षाद्भगवतः सङ्गस्यैवापेक्षितत्वात्कामरूपत्वं निरूपयन्तः शरणं प्रार्थयन्ति विवेकेति ।

विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः ।
पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम ॥ ९ ॥

अत्रेदमाकूतम् । पुष्टिमार्गीयभावाविर्भावानन्तरं विरहानुभवार्थं त्यागस्यावश्यकत्वात्त्यागानन्तरं पुनः क्रमेण मिथो गुणानुवादजनितप्रचुरभावानामुच्छलितत्वात्तादृशस्य देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणादीनि स्वरूपात्मकानि भवन्तीति पूर्वश्लोकद्वयेन निरूपितम् । एतावत्पर्यन्तं विरहानुभवे चक्षूरागादिदशानाशान्ताः सप्तावस्थाः संपन्नाः । अस्मिञ्छ्लोके उन्मादाद्यवस्थात्रयं निरूप्यते । तथाहि—विवेकः, धैर्यं, भक्त्यादयस्तै रहितस्य । विवेकराहित्ये विकलत्वं भवति यतो वैकल्ये विवेको न तिष्ठति । तथोन्मादावस्थायां भवतीति सा निरूपिता । धैर्यराहित्येनाहर्निशं साक्षात्सङ्गाभावजप्रचुरार्तिजनितमस्वास्थ्यं तिष्ठति । ननु पूर्वं गुणगानेऽन्तः साक्षादनुभवस्योक्तत्वात्कथं धैर्याभावेनास्वास्थ्यं तत्राहुः—भक्त्यादिरहितस्येति । गुणगानदशायां पूर्वमन्तःप्राकट्ये साक्षाद्भक्तिरूपमुखारविन्दसुधास्वादात् । आदिपदेन साक्षाद्भोगः । साक्षाद्भोगस्याप्यनुभवादस्वास्थ्यं स्थितमिदानीं प्रलापावस्थाया फलप्रतिबन्धकत्वेन साक्षात्सुधादानतदुपयोगियावत्करणादस्वास्थ्यमेव तिष्ठतीति तद्रहितस्येत्युक्तम् । तत्रापि यत्किञ्चिदस्वास्थ्येऽपि फलप्रतिबन्धकत्वेन विशेषतो रहितस्येत्युक्तम् । यथाचोक्तं संन्यासनिर्णये ' भगवान् फलरूपत्वात्' 'स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्य'मित्यादि । एवमस्वास्थ्येऽपि स्वास्थ्यवाक्याद्यकरणे प्रचुरार्त्या मूर्च्छाप्रापत्ति सा दशा निरूपिता । ततः पुनर्बोधदशायां स्वरूपस्थितौ सङ्गाभावेन स्वातुपशक्तं गुणानवलम्बितचित्तं पुनर्भवति तेन च यत्किञ्चिदस्वास्थ्ये तदेव फले प्रतिबन्धकं भवतीति तस्य पापरूपत्वमिति तदासक्तस्येत्युक्तम् । अत एवोक्तं ' ज्ञानं गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधका ' इति संन्यासनिर्णये । ततः पुनः क्षणानन्तरं स्थितिरेव न भवतीति दशम्यवस्था निरूपिता । एतत्सर्वं फलप्रकरणीयतृतीयाध्यायान्ते स्फुटीकृतम् । तत्र गुणगानानन्तरमनाविर्भावे मूर्च्छान्तावस्थानिरूपणपूर्वकं लीलाप्रवेशप्रलापः स्वरूपस्थितौ गुणगानमिति निरूपितम् । अग्रे पुनरतिदैन्ये जाते 'रुरुदुः सुस्वरं' 'तन्वः प्राणपिताम'मित्यादिनाग्रिमा सा सूचितेति सर्वमुपपन्नम् । एतादृशस्य पुनः शीघ्रमाविर्भावार्थं शरणमेव भावनीयमिति कृष्ण एव गतिर्ममेत्युक्तम् । एतदनन्तरं सर्वथाऽऽविर्भूय परमा-

नन्दं ददातीति ज्ञापनाय कृष्णपदं, शरणं निरूपितम्। तथाचोक्तं 'ब्रह्मा विष्णुः रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जातः' इति 'तासामाविरभूत्कृष्ण' इत्यस्याभासे ॥ ९ ॥

एवं दशावस्थाभिः पूर्णविप्रयोगानुभवे जाते मविवन्यक्तदेहनिवृत्तौ तस्यालौकिकं रसात्मकं लीलोपयोगिदेहादिकं संपाद्य स्वयं साक्षात्मकटीभूय बहिः स्वरूपानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपयन्ति सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति ।

सर्वसामर्थ्यसहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् ।
शरणस्थसमुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् ॥ १० ॥
कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ ।
तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥

सर्वं यावदलौकिकैश्वर्यवीर्यादिगुणानां कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं यत्सामर्थ्यं तत्सहितः सन् तं प्रति स्वरूपानन्दं दातुं स्थितो भवतीत्यर्थः। एतदेवोक्तं 'भगवानपि ता रात्री'रित्यत्र 'भगव'त्पदेन स्वतन्त्रलिखने। ननु प्रभोः सर्वं संभवति परं तादृशेन प्रभुणा सह साम्येन स्वरूपानुभवः कथं सुखो जीवस्य तत्राहुः सर्वत्रैवाखिलार्थकृदिति। 'पुष्टि कायेने'तिवाक्यात्तादृशं तं भक्तं साक्षाद्रसात्मकस्वचरणारविन्दमकरन्दरजसाऽलौकिकदेहादिसम्पत्तिपूर्वकं लीलासमाजे प्रकटीकृत्य सर्वत्रैव देहप्राणेन्द्रियादिष्वखिलार्थान् रसात्मकालौकिकवयोगुणादिरूपानलौकिकैश्वर्यगुणादिसामर्थ्यरूपान् करोतीति तथोक्तमत एवालौकिकसामर्थ्यं पुष्टिफलं निरूपितं सेवाफले। एतत्सर्वं 'यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रम' इत्यस्य विवरणे स्फुटीकृतं 'स्वसामर्थ्यादियोजने'त्यादि। एवं स्वरूपात्मकतां संपाद्य स्वरूपानन्दं ददातीति मोक्षरूपत्वं निरूपितम्। अत एव 'मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुव'मित्युक्तम्। ननु मोक्षे आनन्दमग्नता तिष्ठति प्रकृतेपि तथैव चेत्स्यात्तदा कथं लीलानुभव इत्याहुः शरणस्थसमुद्धारमिति। अत्र शरणपदं सर्वात्मभावपरम्। अलौकिकसृष्टिः सर्वेषाद्भावबत्येवेति शरणस्थस्य-सर्वात्मभावस्थस्य-पूर्वोक्तभक्तस्य तल्लीलानन्दसमुद्रमग्नस्य-तत उद्धारं करोतीति शेषः। अन्यथैकस्यां लीलायां मग्नस्य द्वितीया साननुभूतैव तिष्ठेत्। एतत्सर्वं 'यत एतद्विमुच्यत' इत्यत्र स्फुटीकृतम्। यद्वा, लीलानुभवदशायामपि तत्प्रभावादेव दैन्यमात्रत्पद्यत इत्यपि ज्ञापनाय शरणस्थेतिपदम्। अथवा, अतःपरं सर्वांशेन शरणस्था जाता इति वा ज्ञापनार्थं शरणे स्थित्यर्थं उक्तः। तथासति शरणसमाप्तिर्ज्ञापिता। किञ्च, एवं पूर्णस्वरूपानन्दानुभवानन्तरं श्रीमदुद्धवोपदिष्टज्ञानेन यादृशो निरोधः सिद्धस्तादृशो निरूपित इति ज्ञापनायोद्धारे सम्यक्त्वमुक्तम्। एवं सति सदा फलरूपपूर्णनिरोधस्थितानन्दं

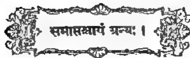
तस्य स्वस्मिन् साक्षात्पुरुषोत्तमाभिन्नत्वज्ञानं भवतीति मुक्तिलीला निरूपिता । तत आश्रयलीलां निरूपयन्ति कृष्णमिति । तं पुनः केवलशुद्धभावात्मकत्वेन सद्भावतस्य स्वरूपत्वाधारत्वेन स्वस्वरूपात्मकं केवेलानुभवान(?)बालकमात्ररूपं कृष्णं करोतीत्याश्रयलीला निरूपिता । कृष्ण'मित्यत्रापि करोतीतिक्रिया योज्या । अत एव 'ततो विमोचनं स्वाश्रयमापणं मत्यापत्ति'रित्युक्तं 'बर्हापीडे'तिश्लोकविवरणे । एवं सति निरोधलीलानन्तरं 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' । 'मुक्तानामाश्रयः कृष्णः' इति स्कन्धद्वयार्थरूपं मुक्त्याश्रयलीलाद्वयं निरूपितं पदद्वयेन । एतावदेवेप्सिततममितिपदद्वयस्य कर्मत्वेन निरूपणम् । पूर्वं सर्वसमर्थत्वेन स्वतन्त्रकर्ता मधुरिति प्रथमान्तपदं दत्तम् । अग्रे स्वेप्सितत्वेन पदद्वयं द्वितीयान्तमुक्तं, तेन तादृशः मधुरेव स्वेप्सितं करोतीतिक्रियाध्याहारेण कर्तृकर्मक्रियान्वयसम्बन्धोऽत्र ज्ञेयः । एवं ग्रन्थार्थोऽपि सम्यग्योजितो भवतीति सर्वमवदातम् । अतःपरं दशविधलीलानां पूर्णत्वादाश्रयाय सदा कृत इति कृष्ण एवेत्यमेणोक्तम् । अत्र कृष्णावतारलीलाना निरयफलावधित्वमुद्देशेन लक्षितमिति स्वरूपात्मकत्वेऽपि लीलानां नित्यत्वज्ञापनाय न कण्ठोक्त उपसंहारः कृत इतिभावः । एवं साधनफलस्वरूपविवेकेनाश्रयं निरूप्य तस्य लोभनिष्ठसुधैकफलत्वेन तस्याश्च भगवद्भोग्यैकभोग्यत्वाददेयतमत्वेन प्रभोर्निवेदनीयमिति तदग्रे कृत्वा निवेदयन्त आहुः विज्ञापयाम्यहमिति । किञ्चिदितिशेषः । किं तदित्याकाङ्क्षायामाहुः इदमिति । यदग्रे कृतं तद्विनये मे मत्यक्षवोह्यल्या निर्दिष्टम् । किं ते तदपीति तत्राहुः स्तोत्रमिति । तर्हि समीचीनं कृतं भीतोहं किमियद्विज्ञाप्यत इति चेत्तत्राह कृष्णाश्रयमिति । कृष्ण आश्रयो यस्मिन्निति तत्स्वरूपनिवेदनं कृतम् । एतेनाश्रये कृते आश्रितपक्षपातस्य त्यक्तुमशक्यत्वाद्यन्निर्बन्धेनादेयतममपि पराकाष्ठापन्नं वस्तु तस्मै देयं भवतीति स्वकीयानामार्तिघ्नं भवति अतिविनयेन विज्ञापनमेवोचितमिति श्रीमदाचार्याणां हृदयमिति ज्ञापितम् । अत एव एवं विज्ञाप्य तत्पाठफलं निरूपयन्ति य इति । कृष्णस्य भावात्मकस्य सन्निधौ सति पुष्टिमार्गीयस्योद्भूतभावाङ्कुरस्य भावरूपत्वेनान्तस्तत्सान्निध्यं भवतीति तथोक्तम् । तत्सान्निध्यार्थं वा पठेत्तस्यैवाश्रयो भवेदिति । य इति मदतिरिक्तोन्योऽपि स्वीकृत इत्यर्थः । इदं त्वतिकारुण्यमत्यौदार्यं चरितं आचार्याणाम् । नन्वेवं विज्ञापनेऽपि भगवता तन्नोरीकृतं चेत्तदा कथं फलसिद्धिस्तत्राहुः श्रीवल्लभोऽब्रवीदिति । इतीति पूर्वोक्तं विज्ञापनं श्रीवल्लभः साक्षाद्गोपीशोऽब्रवीत् अङ्गीकृत्याज्ञप्तवानित्यर्थः । अथवा श्रीवल्लभः स्वयमेव श्रीरूपाणां स्वामिनीनां वल्लभः परमवात्सल्यास्पदीभूतः । अत एव

१ केवलानन्दानुभवात्मकमिति युक्तं स्यात् ।

ताः स्वरहस्यं सर्वे कथयन्तीति तासां गुरुत्वं निरूपितं संन्यासनिर्णये । अतिप्रियाय गुह्य स्वरहस्यं कथयतीत्युक्तत्वात् । एवं सति तद्वल्लभत्वेन ममोरपि परमप्रेमास्पदीभूत इति तदुक्तं सर्वमङ्गीकृत्य भगवतेति ज्ञापितम् । अत एव यतोङ्गीकृतमिति हेतोरग्रघो-दित्याह, फलमित्यर्थः । किञ्च तद्वल्लभत्वेन भगवदुक्ताङ्गीकारः स्वतः सिद्ध एवेति न पुनस्तदुक्तिः कथ्योक्ता । अनेन फले सर्वथापि निःसन्दिग्धत्वं निरूपितमिति सर्वमवदातम् ॥ १०–११ ॥

अतिप्रक्लिन्नतराशये मदीये किमयमपूर्वतरोदयो विलासः ।
निरुपधिकरुणैकविभ्रमोपि वितरणशीलविभोरहोऽद्भुतं नः ॥ १ ॥
अतएव महती किल ते कृपा मदपराधगणा अपि तादृशाः ।
उभयतौल्यविचारणया विभो विजयते तव सैव गरीयसी ॥ २ ॥
अदेयदानैकपरान् महौदार्यगुणैः स्वकैः ।
श्रीमदाचार्यचरणान् आश्रये करुणानिधीन् ॥ ३ ॥
प्रणतालोकसंजातकरुणार्द्रदृष्टिभिः क्षणात् ।
संतापं हरति श्रीमद्विठ्ठलेशं तमाश्रये ॥ ४ ॥

इति श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रविवरणं समाप्तम् ।



श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गता-दशमी

चतुःश्लोकी

सप्तभिष्टीकाभिः समलंकृता

१. श्रीव्रजराजानाम्
२. श्रीवल्लभानाम्
३. केषाञ्चित्
४. श्रीमथुरानाथानाम्
५. श्रीकृष्णरायभट्टानाम्
६. श्रीनाथभट्टानाम्
७. श्रीद्वारकेशानाम्

परिशिष्टम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-श्रीमद्-विट्ठलेश-प्रभुचरण-विरचिता

श्रीवृत्रासुरचतुःश्लोकी विवृतिः

व्याख्यात्रय-समलंकृता

१. श्रीहरिरायाणां टिप्पणी
२ श्रीवल्लभानां टिप्पणी
३. श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाश.

श्रीमद्—वल्लभाचार्य—महाप्रभु—वंशावतंस—नित्यलीला-
स्थित-गोस्वामि-श्री १००८ श्रीगोकुलनाथ-महाराज-
श्रीत्येतेषां—स्मृतौ—प्रकाशिता

वै. सं. २०३६ श्रीवल्लभाब्दाः ५०३

प्रकाशक :

श्रीगोकुलनाथजी महाराजस्थापित मोटा मन्दिर ट्रस्ट,
बडा मन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लेन,
भुलेश्वर, बम्बई, ४०००० २. भारत.

साधारणसंस्करण २,००० प्रति

राजसंस्करण १,००० प्रति

श्रीवल्लभाब्द ५०२

ग्रन्थ–परिचय लेखक : गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रक :
स्टुडियो बहार, २३–ए, सेन्ट्रल चोपाटी बिल्डिंग, चोपाटी,
बम्बई–४०० ००७.



गोस्वामी १००८ श्रीगोकुलनाथजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ-परिचय

चतुःश्लोकीका प्रणयन श्रीमहाप्रभुने वि. सं. १५८० या ८२ में कभी किया था ऐसी किवदन्ती मिलती है[1] यह ग्रन्थ किस भाग्यवान् भगवदीयके लिए लिखा गया यह तो पता नहीं चलता, किन्तु चौरासी वैष्णवोंकी वार्ताके अनुसार राना व्यास और भगवानदास सांचोरा ने श्रीमहाप्रभुके मुखारविन्दसे इस ग्रन्थका अध्ययन किया था.

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थोंका कोई न कोई विशिष्ट स्वरूप एवम् स्थान होता ही है यह भिन्न बात है कि तत्तन्मार्गीय बीजभाव, रुचि, संग या देशकालादिकी स्थिति के अनुरूप तत्-मार्गीय जीवोंमें पुरुषार्थ-सम्बन्धी धारणायें भिन्न-भिन्न पायी जाती हैं. पुष्टिमार्गीय जीवोंकी धर्मार्थकाममोक्ष–सम्बन्धी धारणाओंके आदर्श स्वरूपका विचार इस चतुःश्लोकीमें किया गया है.

स्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षसे भिन्न प्रकारके पुरुषार्थोंके फेरमें जब कोई पड़ जाता है तो विफलता, निराशा, कुण्ठा, क्षोभ एवम् आत्मघाती भावनाओं की ओर ही वह अग्रसर हो जाता है इस जगतमें सभी तरहके जीव है और सभीको सभी तरहके संग भी मिल जाते है. इन आकस्मिक संगोंके कारण कभी-कभी हमारे भीतर एक ऐसी अस्वाभाविक अहन्ता-ममता पनप जाती है जो अस्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षके प्रकारोंकी ओर हमें आकृष्ट करती है

गोधराके राना व्यासको भी प्रारम्भमें एक वैरागी बाबाकी संगति मिली थी. उस वैरागी बाबाकी तीर्थयात्राकी बातोंको सुनकर राना व्यासको लगा कि जीवनका वास्तविक सुख तीर्थोंकी यात्रा करते रहनेमें ही होता चाहिये अतः अपने माता–पिताको कुछ कहे–सुने बिना एक रात ये घरसे निकल भागे. इनका मन परन्तु किसी भी तीर्थके दर्शनसे प्रसन्न न हो पाया. प्रारम्भसे ही इन्हें विद्याभिमान और जितेन्द्रिय होनेका अभिमान तो था ही सो माता-पिताके देहान्तके बाद इन्हें पांच दस हजार रुपये और उत्तराधिकारमें मिले फलतः इन्हें धनाभिमान भी हो गया ! कुल मिला कर ये अपने-आपको पहुंचा हुआ सिद्ध और उच्च कोटीका विद्वान् मानने लग गये शनैः-शनैः अपने गांवके लोग तो इन्हें गंवारू ही लगने लगे सो काशीके विद्वानोंसे टक्कर लेनेकी लालसा इनके दिलमें जगी और एक दिन ये काशी पहुंच गये वहां जानेके बाद किन्तु सब कुछ उलटा ही हुआ, जिन-जिन पण्डितोंसे ये टकराये उन सभीसे इन्हें शास्त्रार्थमें पराजित होना पड़ा !

---

१ श्रीनागरदास बाघनिया लिखित लेख, वैष्णववाणी अंक ४ वर्ष १९७९

इससे ये अत्यधिक लज्जित होकर गगामे कूदकर प्राणत्याग करना चाहते थे यह आत्मघात भी दिनके उजालेमे करनेमें इन्हे सकोचका अनुभव हो रहा था सो गगातटपर बैठ रात्रीके एकान्त और अन्धकार की प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी श्रीमहाप्रभुका भी वहा पधारना हुआ सयागवश किसी वैष्णवने श्रीमहाप्रभुसे प्रश्न किया कि गगामे डूबकर मरनेवालेकी क्या गति होती है इसपर श्रीमहाप्रभुने उत्तर दिया कि अहकारवश लड झगडकर डूबनेवालेको सर्पयोनि मिलती है और आत्मघातका पाप भी लगता है दीनभावसे किन्तु सन्यास लेकर और अपने मनको भगवान्मे एकाग्र बनाकर जो गगामे प्राणत्याग करते हैं उनकी दुर्गति नही होती

ये बात सीधी जाकर राना व्यासको लग गयी और वे दौडकर श्रीमहाप्रभुके चरणो मे आकर गिर पडे अपनी आत्मगाथा सुनाकर श्रीमहाप्रभुकी शरणयाचना करने लगे श्रीमहाप्रभुने गगास्नान करनेका आदेश दिया और बादमें ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा दी तुरत ही श्रीमहाप्रभुने इन्हे चतु श्लोकोका उपदेश भी दिया था ये सम्प्रदायके अच्छे विद्वान् हुए श्रीमहाप्रभुविरचित अन्य भी अणुभाष्य सुबोधिनी आदि ग्रन्थोकी इनके द्वारा हस्तलिखित प्रतिया अद्यापि उपलब्ध होती हैं

इन चतु श्लोकोके अध्ययनसे राना व्यासको अपने वास्तविक धर्म अर्थ काम एवम् मोक्ष रूप पुरुषार्थोका ज्ञान हुआ और ये मिथ्या वैराग्य धन तथा विद्वत्ताके अहकारसे मुक्त हुए साथ ही साथ इस अहकारकी विफलतासे पैदा हुई कुण्ठा एवम् आत्मघात की भी क्षुद्र भावनाओपर काबू पा सके ये एक आदर्श भगवदीयका सा भगवत्सेवा तथा भगवत्स्मरण परायण पुष्टिमार्गीय जीवन जीनेके लिए सक्षम हो पाये

पुष्टिमार्गीय भक्ति निष्काम–निरुपाधिक होती है स्वयम् भगवदनुग्रह ही पुष्टि-जीवके हृदयमे भक्तिका रूप धारण कर लेता है भगवदनुग्रह जीवकृत साधनोपर निर्भर नही होता वह तो निर्हेतुक ही प्रकट होता है जिस जीवमें वह बीजभावके रूपमें विद्यमान होता है उस जीवमे वह प्रेम आसक्ति व्यसन और अलौकिकसामर्थ्य के रूपमे अकुरित पल्लवित पुष्पित और फलित होनेकी विभिन्न अवस्थाओमे 'पुष्टिभक्ति' शब्दसे पुकारा जाता है भगवदनुग्रहको ही अत दिशाभेदसे 'पुष्टि' और 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है अनुग्रह जब भगवान्से भक्तकी दिशामे अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टि' कहते हैं और जब जीवके हृदयसे परावृत्त होकर पुन भगवान्की दिशामें अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टिभक्ति' कहते है निष्कारण ही भगवान् जब किसी जीवपर अपनी कृपा या पुष्टि की वर्षा करते हैं और वह कृपावृष्टि हृदयके छोटेसे प्रदेशमे समा नही सकती तब उच्छलित होकर पुष्टिभक्तिकी सरिताके रूपमे बहने लग जाती है। उसी कृपासागर परमात्माकी ओर जहासे उठकर कृपाके मेघ जीवपर बरसे थे।।

अत जैसे अनुग्रहके पूर्व न कोई कारण है और न अनुग्रहके पश्चात् कोई प्रयोजन हो, वैसे ही न पुष्टिभक्तिके पूर्व कोई कारण है और न पुष्टिभक्तिके पश्चात् कोई

प्रयोजन हो केवल अनुग्रह ही भक्तके हृदयसे परावृत्त होनेपर पुष्टिभक्ति बन जाता है (अत स्नेह पदार्थान्तरम् ■ भगवन्निष्ठ एव भगवद्विषयको ज्ञानवदैश्वमवद्धा भगवत्सम्बन्धात्रैकट्यादन्यत्रापि भासते उष्णस्पर्शवत् यथा यथा भगवत्रैकट्य तथा तथा स्नेहातिशय सुबो १—१९—१६)

स्वभावत प्रवाहमार्गीय ऐहिक पुरुषार्थ अर्थ कामकी सिद्धिकी कामना अथवा मर्यादामार्गीय धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थोकी सिद्धिकी कामना पुष्टिमार्गीय जीवके हृदयमें चिरस्थायी नही हो सकती ऐसे पुष्टिभक्तोके पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम या मोक्ष का स्वरूप अन्यमार्गीय पुरुषार्थोसे विलक्षण होना स्वाभाविक ही है श्रीमहाप्रभुने इस चतु-श्लोकीमे पुष्टिभक्तिमार्गीय पुरुषार्थोका विलक्षण रूप हमे समझाया है चतु श्लोकी ग्रन्थके ये चारो श्लोक भागवतकी वृत्रासुरचतु श्लोकीके साथ घनिष्ठ साम्य रखते हैं वृत्रासुरचतु श्लोकीके भी चार श्लोकोमे इन्ही पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थोका स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है प्रारम्भके तीन श्लोकोपर श्रीप्रभुचरणकी विवृति उपलब्ध होती है तथा अन्तिम श्लोकपर श्रीमहाप्रभुविरचित विवृति उपलब्ध होती है इस अन्तिम श्लोककी विवृतिके प्रारम्भमे श्रीमहाप्रभुने एक सग्रहश्लोक दिया है—

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्य धर्मोर्थो हरिरेव हि ।
कामो हरिदिदृक्षैव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम ॥

अर्थ श्रीहरिका दास होना ही पुष्टिमार्गीय धर्म है पुष्टिभक्तोके अर्थ स्वयमेव श्रीहरि हैं श्रीहरिके दर्शनकी कामना ही पुष्टिमार्गीय काम है तथा सर्वात्मना श्रीकृष्णका बन जाना ही पुष्टिभक्तका मोक्ष है

इसी सूत्रका भाष्य वृत्रासुरचतु श्लोकीमें तथा इस श्रीमहाप्रभुविरचित चतु श्लोकीमे भी हम पाते है

पुष्टिमार्गमे भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध रसात्मक होता है रसमीमासामे रति-स्नेहके सयोग एवम् वियोग दो पक्ष माने गये है* अत भक्तिमार्गमे भगवान्की अनुभूति जब सयोग अथवा वियोग मे से किसी एकतरकी होती है तो वह अपूर्ण अनुभूति मानी जाती है अतएव इसे भक्तकी साधनावस्था भी मानते है रस द्विदलात्मक है अत सयोग और वियोग दोनोमे जब भगवान्की अनुभूति होने लग जाय तो फलावस्था मानी जाती है तदनुसार धर्म और काम की सिद्धि साधनावस्थाका परिपाक है, और अर्थ तथा मोक्ष की सिद्धि फलावस्था है क्योंकि धर्ममे—व्रजाधिपके भजनमे केवल सयोगका अनुभव होता है तथा काममे—हरिदर्शनकामनामे केवल वियोगका अनुभव होता है जबकि अर्थ—भगवान्का रसात्मक स्वरूप तो द्विदलात्मक ही है अत मोक्ष—भगवद्भजनमे सयोगानुभूति और भगवत्स्मरणमे वियोगानुभूति जब निरन्तर या क्रमश होने लग जाये तो भगवान्की रसात्मिका अनुभूति अपनी पूर्णतापर पहुच जाती है पुष्टिभक्तको उसका मोक्ष मिल जाता है

इससे य अत्यधिक लज्जित होकर गगामे कूदकर प्राणत्याग करना चाहते थे यह आत्मघात भी दिनके उजालेमे करनेमें इन्हें सकोचका अनुभव हो रहा था सो गगातटपर बैठ रात्रीके एकान्त और अन्धकार को प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी श्रीमहाप्रभुका भी वहा पधारना हुआ सयोगवश किसी वैष्णवने श्रीमहाप्रभुसे प्रश्न किया कि गगाम डूबकर मरनेवालेकी क्या गति होती है इसपर श्रीमहाप्रभुने उत्तर दिया कि अहकारवश लड झगडकर डूबनेवालेको सर्पयोनि मिलती है और आत्मघातका पाप भी लगता है दोनभावमे किन्तु सन्यास लेकर और अपने मनको भगवानूमे एकाग्र बनाकर जो गगाम प्राणत्याग करते हैं उनकी दुर्गति नही होती

य बात सीधो जाकर राना व्यासको लग गयी और वे दौडकर श्रीमहाप्रभुके चरणों म आकर गिर पड़े अपनी आत्मगाथा सुनाकर श्रीमहाप्रभुकी शरणयाचना करने लगे श्रीमहाप्रभुने गगास्नान करनेका आदेश दिया और बादमें ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा दी तुरत ही श्रीमहाप्रभुने इन्ह चतु श्लोकीका उपदेश भी दिया था ये सम्प्रदायके अच्छे विद्वान् हुए श्रीमहाप्रभुविरचित अन्य भी अणुभाष्य सुबोधिनी आदि ग्रन्थोकी इनके द्वारा हस्तलिखित प्रतिया अद्यापि उपलब्ध होती हैं

इस चतु श्लोकीके अध्ययनसे राना व्यासको अपने वास्तविक धर्म अर्थ काम एवम् मोक्ष रूप पुरुषार्थोका ज्ञान हुआ और वे मिथ्या वैराग्य धन तथा विद्वत्ताके अहकारसे मुक्त हुए साथ ही साथ इस अहकारकी विफलतासे पैदा हुई कुण्ठा एवम् आत्मघात की भी क्षुद्र भावनाओपर काबू पा सके य एक आदर्श भगवदीयका सा भगवत्सेवा तथा भगवत्स्मरण परायण पुष्टिमार्गीय जीवन जीनेके लिए सक्षम हो पाये

पुष्टिमार्गीय भक्ति निष्काम–निरुपाधिक होती है स्वयम् भगवदनुग्रह ही पुष्टिजीवन हृदयमें भक्तिका रूप धारण कर लेता है भगवदनुग्रह जीवकृत साधनोपर निर्भर नही होता वह तो निर्हेतुक ही प्रकट होता है जिस जीवमें वह बीजभावके रूपमे विद्यमान होता है उस जीवमे वह प्रेम आसक्ति व्यसन और अलौकिकसामर्थ्य के रूपम अकुरित पल्लवित पुष्पित और फलित होनेको विभिन्न अवस्थाओमे 'पुष्टिभक्ति' शब्दसे पुकारा जाता है भगवदनुग्रहको ही अत शास्त्रमें 'पुष्टि' और 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है अनुग्रह जब भगवान्से भक्तकी दिशामे अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टि' कहते हैं और जब जीवक हृदयसे परावृत्त होकर पुन भगवान्की दिशामे अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं निष्कारण ही भगवान् जब किसी जीवपर अपनी कृपा या पुष्टि की वर्षा करते हैं और वह कृपावृष्टि हृदयके छोटेसे प्रदेशमे समा नही सकती तब उच्छलित होकर पुष्टिभक्तिकी सरिताके रूपमे बहने लग जाती है। उसी कृपासागर परमात्माकी ओर जहासे उठकर कृपाके मेघ जीवपर बरसे थे।।

अत जैसे अनुग्रहके पूर्व न कोई कारण है और न अनुग्रहके पश्चात् कोई प्रयोजन ही, वैसे ही न पुष्टिभक्तिसे पूर्व कोई कारण है और न पुष्टिभक्तिके पश्चात् कोई

प्रयोजन हो केवल अनुग्रह ही भक्तके हृदयसे परावृत्त होनेपर पुष्टिभक्ति बन जाता है (अत स्नेह पदार्थान्तरम् स भगवन्निष्ठ एव भगवद्विषयको ज्ञानवदैश्वर्यवद्वा भगवत्सम्बन्धात्तन्नैकट्यादन्यत्रापि भासते उष्णस्पर्शवत् यथा यथा भगवन्नैकट्य तथा तथा स्नेहातिशय. सुबो १—१९—१६)

स्वभावत प्रवाहमार्गीय ऐहिक पुरुषार्थ अर्थ-कामकी सिद्धिकी कामना अथवा मर्यादामार्गीय धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थोंकी सिद्धिकी कामना पुष्टिमार्गीय जीवके हृदयमें चिरस्थायी नही हो सकती ऐसे पुष्टिभक्तोके पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम या मोक्ष का स्वरूप अन्यमार्गीय पुरुषार्थोसे विलक्षण होना स्वाभाविक ही है श्रीमहाप्रभुने इस चतु श्लोकीमे पुष्टिभक्तिमार्गीय पुरुषार्थोका विलक्षण रूप हमे समझाया है चतु श्लोकी ग्रन्थके ये चारो श्लोक भागवतकी वृत्रासुरचतु श्लोकीके साथ घनिष्ठ साम्य रखते है वृत्रासुरचतु श्लोकीके भीतर श्लोकोमे इन्ही पुष्टिमार्गीय चार पुरुषार्थोका स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है प्रारम्भके तीन श्लोकोपर श्रीप्रभुचरणकी विवृति उपलब्ध होती है तथा अन्तिम श्लोकपर श्रीमहाप्रभुविरचित विवृति उपलब्ध होती है इस अन्तिम श्लोककी विवृतिके प्रारम्भमे श्रीमहाप्रभुने एक सग्रहश्लोक दिया है—

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्य धर्मोर्थो हरिरेव हि ।
कामो हरिदिदृक्षैव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ।।

अर्थ श्रीहरिका दास होना ही पुष्टिमार्गीय धर्म है पुष्टिभक्तोके अर्थ स्वयमेव श्रीहरि हैं श्रीहरिके दर्शनकी कामना ही पुष्टिमार्गीय काम है तथा सर्वात्मना श्रीकृष्णका बन जाना ही पुष्टिभक्तका मोक्ष है

इसी सूत्रका भाष्य वृत्रासुरचतु श्लोकीमे तथा इस श्रीमहाप्रभुविरचित चतु श्लोकीमे भी हम पाते है

पुष्टिमार्गमे भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध रसात्मक होता है रसमीमासामे रति-स्नेहके सयोग एवम् वियोग दो पक्ष माने गये है॰ अत भक्तिमार्गमे भगवान्की अनुभूति जब सयोग अथवा वियोग मे से किसी एकतरफी होती है तो वह अपूर्ण अनुभूति मानी जाती है अतएव इसे भक्तकी साधनावस्था भी मानते है रस द्विदलात्मक है अत सयोग और वियोग दोनोमे जब भगवान्की अनुभूति होने लग जाये तो फलावस्था मानी जाती है तदनुसार धर्म और काम की सिद्धि साधनावस्थाका परिचायक है, और अर्थ तथा मोक्ष की सिद्धि फलावस्था है क्योंकि धर्मम—दास्याधिकार केवल सयोगका अनुभव होना है तथा कामम—हरिदर्शनकामनामे केवल वियोगका अनुभव होता है जबकि अर्थ—भगवान्का रसात्मक स्वरूप तो द्विदलात्मक ही है, अतु मोक्ष—भगवद्भजनमे सयोगानुभूति और भगवत्स्मरणमे वियोगानुभूति जब निरन्तर या क्रमश होने लग जाये तो भगवान्की रसात्मिका अनुभूति अर्थात् पुष्टिभक्ति हृद जाती है पुष्टिभक्तको उसका मोक्ष मिल जाता है

पुष्टिभक्तका धर्म

पुष्टिमार्गमें व्रजाधिप ही भजनीय हैं क्योंकि गीता तथा भागवत के अनुसार *श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म परमानन्द रूप हैं अव्यय अप्रमेय निर्गुण गुणात्मा पर-* ब्रह्म परमात्मा व्यापिवैकुण्ठनायक भगवान् जब अपनी पूर्णताको लिये हुए व्रजमें अपनी नित्यलीला प्रकट करते है तो उन्हें 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है जीव चाहे सुसाधन हो या निःसाधन अथवा दुष्टसाधन, सभी जीवोंके निःश्रेयसके लिए श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं यही उनके प्राकट्यका परम प्रयोजन है जीवोंके साधनबलकी परवाह किये बिना अपने स्वरूप अथवा स्वरूपानन्द के बलपर जीवोंके उद्धारक होनेसे श्रीकृष्णको 'सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा' कहा जाता है

श्रीकृष्ण सभी जीवात्माओंके अंशी होनेके कारण सहज स्वामी हैं. शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादके दृष्टिकोणसे आध्यात्मिक रूपसे सभी जीवात्माय अंश होनेके कारण श्रीकृष्णको सहज दास हैं परन्तु लीलार्थ किन्हीं जीवोंपर श्रीकृष्ण अपनी सहज कृपा प्रकट करते हैं, तब आधिभौतिक रूपसे इस भूतलपर और आधिदैविक रूपसे व्यापिवैकुण्ठमें भी ऐसे जीवोंको अपनी स्वरूपसेवाका अवसर प्रदान करते हैं ऐसे जीवोंको पुष्टिजीव समझना चाहिये यह सेवाका अवसर जीवात्मा और परमात्मा के बीच किन्हीं भी भावोंके रसात्मक सम्बन्धो द्वारा स्थापित हो सकता है यथा सेवक, पुत्र, माता पिता, सखा, या प्रियतमा आदि रूपसे जीवात्मा और परमात्मा के बीच जब कोई सम्बन्ध स्थापित हो जाये, आधिभौतिक जगतमें या आधिदैविक नित्य लीलामें, तो भगवानका वह स्वरूप और वह लीला पुष्टिस्वरूप और पुष्टिलीला कहलाती हैं अखिल ब्रह्माण्डके नाथका गोकुलनाथ बनना पुष्टिलीला है।

श्रीकृष्ण कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि सभी जीव उनका दर्शन कर पायें और कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि कोई भक्तविशेष ही उनके दर्शन कर पाता है. अपने दोनों प्रकारके प्रकटरूपमें भक्तके अधिकार या मनोरथो के अनुरूप श्रीकृष्ण व्यापिवैकुण्ठ अथवा व्रज की लीलाओंको प्रकट कर सकते हैं अतएव भक्तके भावोंके अनुरूप स्वयम्को ढाल पानेकी कसौटीपर व्रजलीलाविहारी व्रजाधिप श्रीकृष्ण भक्तोंके लिए पूर्णतम परमानन्दस्वरूप सिद्ध होते हैं मथुराके या द्वारकाके श्रीकृष्णके पूर्णतर या पूर्ण परमानन्द—स्वरूप होनेपर भी अतएव व्रजभक्तोंके लिए एवम् व्रजभक्तोकी भावनाके अनुसार भक्ति करनेवाले भक्तोंके लिए व्रजाधिप श्रीकृष्ण ही समग्र पुष्टिफलाके दाता तथा पुष्टिफलरूप भी हैं — 'अनन्यगोकुलस्वामी फलदाता फलात्मकः"

व्रजाधिपका यह भजन कैसे और किस भावसे करना चाहिये ? श्रीमहाप्रभु उत्तर देते हैं—'सर्वभावसे' "त्वमेव सर्वं मम देवदेव।" – मेरे माता पिता बन्धु मित्र पुत्र धन विद्या सभी कुछ भगवान् ही हैं, ऐसे भावके साथ भजन करना चाहिये केवल मधुरभावसे ही भजन किया जा सकता है.

श्रीकृष्ण जब परमात्मा, स्वामी, पुत्र, सखा या प्रियतम जैसे रूप धारण कर हमारे भावोके आलम्बन (विभाव) बनते है तो तदनुरूप श्रीकृष्णके प्रति पनपे हमारे स्थायी भाव भी भगवदात्मक ही होते हैं. श्रीकृष्णके जिस रूपसे हम स्नेह करते है वह बाह्य रूप और हमारे हृदयके भीतर रहा स्नेह दोनो ही आधिदैविक अलौकिक परमानन्द रूप होते हैं. लौकिक आधिभौतिक या मायिक नही. भक्तोंके भाव और भावोंके आलम्बन दोनों ही श्रीकृष्ण होते हैं. भावके आलम्बनके रूपमें भगवान् रसभोक्ता है तथा रसभावके रूपमे भगवान्को भोग्य भी माना जाता है. कभी-कभी भक्तपरवश होकर भगवान् आलम्बनके रूपमें भी भोग्यभाव प्रकट करते है. इसे 'गूढ स्त्रीभाव' कहा जाता है. भोक्तृभाव 'पुम्भाव' कहलाता है और भोग्यभाव 'स्त्रीभाव'. भोक्तामें जब रसावेशमें भोग्यभाव प्रकट हो जाये तो उसे 'गूढ स्त्रीभाव' कहते हैं और भोग्यमें भोक्तृभाव प्रकट हो जाये तो उसे 'गूढ पुम्भाव' कहते है. उदाहरणतया प्रत्येक गुरुमें छिपा हुआ एक विद्यार्थी होता है और इसी तरह विद्यार्थीमें एक छिपा हुआ गुरु भी होता है अध्ययन-अध्यापनकी दुर्लभ तन्मयतामें गुरुका गूढ विद्यार्थिभाव कभी प्रकट होता है इसी तरह विद्यार्थीका गूढ गुरुभाव भी! इन गूढ भावोंका प्राकट्य पुष्टिकी पराकाष्ठा है, सभी प्रकारके—स्वामि-सेवक, पुत्र-माता-पिता, सखा-सखा या प्रिया-प्रियतम—सम्बधोंमें भक्त और भगवान् में इन गूढ भावोको प्रकट करनेके मनोरथसे भी भगवान् भजनीय है

जिन भक्तोमें ऐसा गूढभाव प्रकट हुआ अथवा जिन भक्तोके लिए भगवान्ने स्वयम्मे ऐसे गूढभाव प्रकट किये ऐसे भक्ताके प्रति दैन्यभाव रखते हुए भजन करना चाहिये– "अहं हरेस्तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि" हमारे हृदयमे जबतक कोई एक निश्चित भाव स्थिर नही हो जाता तबतक विविध भावोंकी भावना करने के अलावा अन्य कोई उपाय नही है प्रारम्भमे अतएव भगवत्सेवा व्रजभक्तोंकी भावनाके अनुसरणपर — व्रजभक्तोंको अपना गुरु मानकर करनी चाहिये. मानसावस्थामें हमारी भक्तिको भावनाके माध्यमसे व्रजभक्तोंके भावोंतक पहुचानी पडेगी. किसी निश्चित दिशामें बहती एक नदीके समान भावना होती है, जो भावके रूपमे सागर बन जाती है सागर बहता नही केवल लहराता है! अत. व्रजभक्तोंके भावोंकी भावना, माहात्म्यज्ञान जनित दैन्य और आत्मा-जगत् तथा परमात्मा-भक्ती के सहज निरुपाधिक स्नेह के साथ प्रारम्भमें इन्द्रियोंसे करनी चाहिये सेवाके इस प्रकारको ही भावदीक्षा ब्रह्मसम्बन्धके समय दी जाती है. आत्मनिवेदनके समय अहन्ता और ममता से जुड़े सभी पदार्थों और सम्बन्धोंको इन चरणोंमें समर्पित करना होता है इस सर्वसमर्पणके भावमें भी भगवद्-भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. यो 'सर्वभावेन' में सभी भाव विवक्षित है

किसी कालविशेषमें एक सर्वोच्चभावको तरह समझना अनुपात है नहीं करना है, एक आंतरप्रणालीके रूपमें मर्यादा-निरपेक्ष अर्थात् किसी कारणे किसके हित

भगवत्सेवामें तत्पर रहना चाहिये भगवद्-भक्तकी सभी क्रियायें-- सोने-जगने कमाने-खाने या स्नेह-उपेक्षा आदिकी—उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवाकी अंग ही बन जाती हैं

"पुष्टिभक्तके लिए व्रजाधिप श्रीकृष्ण ही भजनीय है" यह कथन भजन करनेकी आज्ञा या विधि नहीं है, क्योंकि किसी आदेशको अवहेलनाके कारण जो दण्ड मिल सकता है उस दण्डका भय न हो तो फिर आदेश-पालन आवश्यक नहीं रह जाता। श्रीमहाप्रभु अतएव आदेश नहीं दे रहे हैं किन्तु भगवान्के भजनकी आवश्यकता हमें समझा रहे हैं पुष्टिप्रभुकी सेवा न करनेवाला पुष्टिजीव अपनी सहज आवश्यकताओंसे वञ्चित रह जाता है जैसे कोई शिशु अपनी माके दूधके बिना दुर्बल हो जाये, या जैसे कोई प्राणी प्राणवायुके न मिलनेपर बेचैन हो जाये, या जैसे कोई बीमार औषधीके बिना स्वस्थ न होने पाये, अथवा जैसे कोई खड़ी फसल बरसात न पड़नेके कारण सूख जाये। ऐसे ही जिस पुष्टिजीवने जिस समय या जिस जन्ममें कृष्णसेवा नही निभ पायी वह समय और जीवन उसका व्यर्थ चला जाता है. उसके स्वरूपका कोई प्रयोजन या अस्तित्वका कोई अर्थ ही नही रह जाता है। पुष्टिजीवसे व्रजाधिपकी सेवा न निभना नैतिक अपराध नहीं किन्तु अस्तित्वकी निरर्थकता है. इस अर्थमें व्रजाधिपका भजन पुष्टिजीवोंका प्रथम एवम् परम सनातन धर्म है—उसके अस्तित्वका निगूढ तात्पर्य।

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते है कि सभी देश-कालमें पुष्टिजीवका तो यही कर्तव्य है—यही धर्म है किसी भी देशकालमें इसके अलावा अन्य कोई धर्म पुष्टिजीवका हो नहीं सकता

कृष्णसेवाके सिवा अन्य सारे धर्म पुष्टिजीवके सहज-स्वाभाविक धर्म नहीं होते, किन्तु औपाधिक-आकस्मिक धर्म ही होते हैं अविद्याके बन्धनके कारण आरोपित अहन्ता-ममताके कारण अन्य धर्म हमारे लिए कर्तव्य बन जाते हैं उदाहरणतया स्त्री पुरुष ब्राह्मण शूद्र या गृहस्थ-संन्यासी आदिके धर्म तत्तद् देह, वर्ण या आश्रम के अभिमानोंके कारण हमारे लिए अनिवार्य धर्म बन जाते है मैं स्त्री हू या पुरुष हू, मैं ब्राह्मण हू या मैं शूद्र हू, मैं गृहस्थ हू या मैं संन्यासी हू इत्यादि रूपोंमे हमारी आरोपित अहन्ताके कारण तत्तद् देहोचित वर्णोचित या आश्रमोचित कर्तव्य हमारे-लिए धर्म बन जाते है इसी तरह माता पिता और सन्तति, भाई-बहन, गुरु शिष्य, मालिक-नौकर, समाज-व्यक्ति, राष्ट्र-नागरिक अथवा प्राणि-मनुष्य के ममताजन्य सम्बन्धोंके कारण उनके प्रति तत्तत् कर्तव्योंका निर्वाह हमारा नैतिक उत्तरदायित्व बन जाता है

हम देख सकते है कि अहन्ता-ममताके द्वारा आरोपित सारे कर्तव्य देहाभिमान-मूलक हैं जबकि भगवत्सेवाका कर्तव्य होना आत्माके वास्तविक स्वरूप-बोधपर अवलम्बित है अतएव अन्य सारे कर्तव्य देश काल-द्रव्य मन्त्र कर्म-कर्ताकी शुद्धिकी अपेक्षा

रखते हैं, जबकि भगवत्सेवा तो केवल भावसापेक्ष है पुष्टिमार्गीय जीवोंके लिए धर्मरूप
स्वयम् भगवान् या भगवत्सेवा ही है भावात्मक प्रमेयरूप भगवान्को जाननेका उपाय
या प्रमाण भावात्मिका सेवा ही है अतएव भक्तरत्न वृत्रासुर कहता है—

हरि! मुझे मोक्ष नही चाहिये किन्तु अपना दास मुझे बनाओ मोक्षमे तो ज्ञानसे
त्रिविध दु ख दूर हो जाते हैं परन्तु मेरे तो दुःख स्वयम् आप हरते हो तो ही दूर होने
चाहिये. लौकिक अहम्के बन्धनोंसे मुक्त होनेवाले ज्ञानियोका 'सोहम्'वाला अहम्
मुझे नही सुहाता है. मेरे भीतर 'दासोहम्' का भक्तिमय अहम् कभी मिटे नही ऐसा
कुछ कर दो यदि मैं आपके दास बननेका अधिकारी न होऊ तो मुझे आपके दासोका
दास बनाओ. मेरा मन, मेरे प्राणनाथ! तुम्हारे गुणोंको गुनता रहे—मेरी वाणी तेरे
गुणोको गाती रहे—मेरी काया सर्वदा तेरी सेवा करती रहे ऐसी आशिष मुझे दो.

पुष्टिभक्तका अर्थ

पुष्टिभक्तके अर्थ पुरुषार्थरूप स्वयम् भगवान् ही हैं श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते है कि
पुष्टिजीवोके लिए यह आवश्यक है कि वह स्वधर्म भगवत्सेवाको सदा निभाये चला जाये
(एव सदा स्म कर्तव्यम्) इस कृष्णसेवाके लिए न तो किसी ऐहिक अर्थोपार्जनके
आधिभौतिक व्यापारमे उलझनेकी आवश्यकता है और न किसी पारलौकिक अर्थोपा-
र्जनके लिए अन्याश्रयवाली आधिदैविक भृतकवृत्तिमे ही उलझनेकी आवश्यकता
है भगवान् तो अन्याश्रय अथवा प्रार्थना की अपेक्षा रखे बिना भक्तिके हितमे अपे-
क्षित ऐहिक-पारलौकिक योगक्षेमका और स्वयम् अपने स्वरूपानन्दका दान भी स्वय-
मेव करेगे. एतदर्थ उन्हें किसी लौकिक-पारलौकिक साधनोकी या अर्थोकी अपेक्षा नही
है भगवान् भावात्मक है अत छोला और छप्पनभोग, जो भी भावसे निवेदित किया
जाये, समान रुचिसे स्वयमेव अगीकार करेंगे अत लौकिक अर्थ—धन-सम्पत्तिपर
यह भगवत्सेवा निर्भर नही है

श्रुतिमे कहा गया है— "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमे-
वैष वृणुते तेन लभ्य तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्वाम्" अर्थ : यह परमात्मा प्रवचन
मेधा या बहुश्रुततासे प्राप्त नही होता किन्तु अपनी प्राप्तिके लिए वह जिस जीवात्माको
चुन लेता है उसे ही मिलता है— उसके ही समक्ष यह परमात्मा अपना स्वरूप प्रकट
करता है अत इस परमात्मस्वरूप अर्थका उपार्जन हमारे साधन या व्यापार से शक्य
नही है जिस जीवात्माका वरण वह सर्वसमर्थ परमात्मा करता है उस जीवात्माके
साधनोकी वह परवाह नही करता भगवत्सेवाके अधिकारी वे ही जीव होते हैं, जिनका
भगवान् अपनी सेवाके लिए चुनाव करते हैं जिन्हें भगवान् अपनी सेवाके लिए चुनते
है उनके समक्ष अपने भोग्य स्वरूप— गुरु स्त्रीभावको प्रकट करते है जिन जीवोंके लिए
भगवान् अपने-आपको समर्पित करनेका दान लेते हैं वे ही जीव भगवान्के लिए अपने-
आपको समर्पित कर पाते है! इस परस्परके समर्पणके बाद जीवात्मा और परमात्मा

के बीच कोई परदा रह नहीं जाता अतः पुष्टिप्रभुका गूढ स्त्रीभाव एवम् पुष्टि-जीवका गूढ पुम्भाव प्रकट हो जाता है.

व्रतचर्याके प्रकरणमें ऋषिरूपा कुमारिकाओंको भगवान्ने वरदान दिया था वे भगवान्को अपना पति-भोक्ता बनाना चाहती थी. भगवान्ने उनके चीर हर लिये! यह चीरहरण भगवान्में प्रकट हुए गूढ स्त्रीभावका ही विवरण था और पुनः जो चीर कुमारिकाओंको लोटाये गये वह तो गूढ पुम्भावका वितरण था. कुमारिकाए श्रीकृष्ण के लिए आत्मार्पणका व्रत कर रही थी, क्योंकि श्रीकृष्णने आत्मार्पणके हेतु उन्हे वृत कर लिया था—चुन लिया था चीरहरण तो केवल प्रकट पुम्भाव और स्त्रीभावो का विनिमय मात्र था! इसके बाद जो कुमारिकाओंमे भोक्तृभाव प्रकट हुआ वह उनके कात्यायनीव्रतका प्रभाव नहीं था, और न [redacted] वरसकी कुमारिकाओके देह, जिनमें न तो तारुण्य और न किसी वैसे लावण्य की ही सम्भावना हो सकती थी, का कोई प्रभाव स्वीकारा जा सकता है ऋषि-मुनियोके तप एवम् व्रत का भग तो कामदेव कर सकते है, परन्तु इन छह वरसकी कुमारिकाओमे श्रीकृष्णके प्रति जो मधुरभाव जगे, उसे जगानेका सामर्थ्य कामदेवका नहीं किन्तु स्वयम् सर्वसमर्थ श्रीकृष्णके कामादपि कमनीय रूपका ही था प्रमेय प्रकरणमे श्रुतिरूपा गोपिकाओके श्रीकृष्णके प्रति निरुपाधिक स्नेहको शृगारोत्पादक गूढ पुम्भावके रूपमे इसी शृगाररसमूर्ति श्रीकृष्णने ही रूपान्तरित कर दिया था निरुपाधिक निराकार स्नेहको शृगाररसके स्थायिभावके आकारमे वेणुकूजनकी छनीसे गढा था! अतएव श्रीमहाप्रभु कहते है—"केवल शृगारार्थमेव कूजनम्" (सुबोधिनी-वेणुगीत).

श्रीकृष्णके बारेमे किसी भी प्रकारका स्नेह—दास्यभाव, वात्सल्य, सख्य या माधुर्य-भावात्मक—स्वयम् श्रीकृष्णके सभी तरहके आलम्बनविभावोके रूपोंको धारण करनेके सर्वसामर्थ्यमे ही सम्भव होता है

पहले श्रीकृष्ण स्वामीका रूप धारण करते है तब जीवमे दास्यभाव जगता है श्रीकृष्णके बालरूप धारण करनेपर हमारे हृदयमे वात्सल्य उभरता है श्रीकृष्णके विकराल कालरूप धारण करनेपर बचारा कस भयभीत हो जाता है श्रीकृष्णकी क्रीडाकी इच्छामे किसी सखाको भाजनेपर हमारे भीतर सख्यभाव पनपता है श्रीकृष्णकी प्रियतम बननेकी कामना ही हमारे हृदयमे श्रीकृष्णके प्रति मधुर प्रेमको अकुरित करती है वह जब भोग्य बनना चाहता है तब हमारे भीतर भोक्तृभाव अगडाई लेने लगता है उस आत्मारामके भक्तकाम बननेपर भक्तोमे अलौकिक भगवत्काम प्रकट होता है वह अखिल ब्रह्माण्डका आधार होनेपर भी मा यशोदाकी गोदमे गुपचुप आकर बैठ सकता है, इतना समर्थ है. हा, वह सर्वसमर्थ है अतएव पुष्टि-भक्तकी सेवाके बिना रह न सके इतना असमर्थ भी बन जाता है! वह काल-कर्म-स्वभाव प्रकृति-पुरुष किसीके भी अधीन नहीं है—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है हम परतन्त्र है

परन्तु वह स्वतन्त्र-परतन्त्र है अतएव कहता है—"अहं भक्तपराधीन ह्यस्वतन्त्र इव", अर्थात् हम 'अस्वतन्त्र एव' हैं पर अज्ञानवश अपने-आपको 'स्वतन्त्र इव' मान लेते हैं वह 'स्वतन्त्र एव' है अतएव कृपावश 'अस्वतन्त्र इव' बन जाता है !

वह सर्वसमर्थ सर्वभोक्ता होनेपर भी भक्तभोग्य बननेमें समर्थ है—सम्यक् अर्थ है अर्थ, किन्तु, भावात्मक होनेसे अपने हृदयकी तिजोरीमें गुप्ततया रखा रहा तो सुरक्षित रहेगा अन्यथा भावात्मक अर्थके थोड़े प्रदर्शनकी वृत्ति रखनेपर वह भावाभास बन जाता है—चुर जाता है अतः 'अर्थ' कहनेके बजाय श्रीमहाप्रभुने 'सर्वसमर्थ' कहकर अपने अर्थको छिपा लिया है। पुष्टिभावसे भावित प्रभु छिपा हुआ रहा तो निश्चिन्त रहना चाहिये अन्यथा बुद्धि या हृदयके द्वार बाहरकी ओर खुले कि अन्दरका यह अर्थ चुर जाता है

चतुःश्लोकीके द्वितीय श्लोकका यह अर्थ-प्रमेय आलम्बन विभावके रूपमें अपने रसभोक्ताके पदको छोड़कर हमारे हृदयके स्थायी भाव बननेको अर्थात् भोग्य रस बननेको उद्यत है. अतः लोकाधिकताके भावोंका हृदयमेंसे इस सिद्धान्तस्मरणकी सोहनी से बुहारना पड़ेगा. अन्यथा हृदयके बाहर इस द्वितीय श्लोकके अर्थको प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, हृदयके स्वच्छ होनेकी ! इन प्रतीक्षाकी घड़ियोंमें बाहर खड़े पुष्टिप्रभुके द्वारमें हमारे मनोरथ जो भावमें प्रकट हो गये तब तो सब कुछ रसाभास हो जायेगा ! क्योंकि पुष्टिमार्गीय मनोरथकी तो एक ही दिशा है—'प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत" वृत्र तो असुर होनेपर भी इस पुष्टिमार्गीय अर्थका अन्य किसी ऐहिक या पारलौकिक अर्थके साथ विनिमय करनेका मनोरथ नहीं करता—

न तो मुझे लौकिक सात्त्विक अर्थ स्वर्गका इन्द्रासन चाहिये, न वैदिक राजस अर्थ ब्रह्माकी पदवी, न मुझे लौकिक राजस अर्थ सारी पृथ्वीके धनका स्वामी ही बनना है और न लौकिक तामस अर्थ पाताल आदि लोकोंका आधिपत्य ही न मुझे वैदिक तामस अर्थ विभिन्न योगसिद्धियोंकी ही कोई कामना है और न वैदिक सात्त्विक अर्थ ज्ञानलभ्य अपुनर्भव-मोक्षकी ही कामना है मेरे सर्वस्व केवल हरि है—उनके अलावा और मुझे कुछ भी नहीं चाहिये ! (प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्).

पुष्टिभक्तका काम

इमीमे निहित है कि भूमा–परमानन्दरूप श्रीकृष्णके साथ उन्हे जोड दिया जाये दर्शन-स्पर्शन-श्रवण-किर्तन-ध्यान-आदि क्रियाओंमे आन्तर-बाह्य सभी इन्द्रियोको भगवदभिमुख बनाना चाहिये. जिस इन्द्रियका भगवत्कार्यम विनियोग शक्य न हो उसके विनिग्रहका यत्न करना चाहिये

श्रुतिमें जीवको—"काममय एवाय पुरुष" कहा गया है यह काम कौनसा है ? सभी जीव चाह आस्तिक हो या नास्तिक, पुष्टिमार्गीय हो, मर्यादामार्गीय हो, या प्रवाहमार्गीय, सभीको सभी इन्द्रियोमे परमानन्दकी कामना है 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्व प्रिय भवति आत्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति" नेत्रोसे, जिह्वासे, नासिकासे, त्वचास या कर्णोमे हम खोज रहे हैं परमानन्द-रूप श्रीकृष्णको ही – रूप, रस, गन्ध, स्पर्श या शब्दो को नही

इस परमानन्दकी खोजयात्राम शीघ्रतया उस प्राप्त करनेके लिए जीवात्मा शरीरके रथपर सवार हो जाती है अपनी बुद्धिको अपना सारथी बना लेती है और मनकी लगामस बध हुए इन्द्रियोके घोडोंको सरपट दोडाती है ये इन्द्रियोके घोडे लेकिन बड ही उद्धत है – दौडने-दौडने ये मन और बुद्धि के नियन्त्रणके बाहर हो जाते है, और बेचार जीवको लौकिक विषयोकी वासनाके गर्तमे गिरा देने है ! शरीरका यह रथ भी कालजर्जरित होनसे गिरा कि टूट जाता है — नष्ट हो जाता है !

प्रवाहमार्गपर तो यह दुर्घटना प्रतिदिनका खल है मर्यादामार्ग या पुष्टिमार्ग के मार्गपर जो जीव अपने रथकी दिशा बदल नही पाते उनका तो विषय-वासनाके गर्तमे विनिपात निश्चित ही होना है एस जीवोको 'प्रवाहिजीव' कहा जाता है मर्यादामार्ग की ओर इस परमानन्दकी खोजम रथोको मोडनेवाले सर्वाधिक जीवोपर इन दुर्घटनाओंका बड़ा ही विषम प्रभाव पड जाता है वे मनोनिग्रह—मनकी लगाम खीच—कर के रथका कथञ्चित् रोक देना चाहते है कभी रथसे उतर कर पैदल ही यात्रा करनेकी कामना करने लग जाते है कभी स्वर्गादि लोक या आत्मसुख के पडावोपर ही अपनी *यात्रा समाप्त कर देते है. कभी असीम एवम् दिशाहीन अव्यक्तोपासनाकी बहु–* जन्म जन्मान्तरमे पूरी न होनेवाली अथिर क्लिष्ट यात्रापर निकल पडते है कुल मिलाकर इन दुर्दान्त घाडोके वेगके साथ वे अपने मन और बुद्धि का सामञ्जस्य बिठा नही पाते, परतस्भित होकर पैदल चलना अधिक पसन्द करते है (ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा, सघातस्य विलीनत्वात्, भक्तानां तु विशेषत सर्वेन्द्रियैस्तथान्त करणैरात्मनापि हि ब्रह्मभावात्....विशिष्यते) अतएव श्रीमहाप्रभु कहते है— "वैराग्य च अगतो ज्ञान वा सर्वतापनिवर्तनम् यतस्तस्यारयाय तज्ज्ञानेन नश्यति यदयाय तत्परित्यागन अतएव स्मार्त सस्कारात्मक परित्याग एव बोध्यते' (सुबो) अर्थ ज्ञान और वैराग्य म सारे ताप दूर हो जाते है, यदि हम परमानन्दरूप श्रीकृष्णको भलीभाति जान पायें तो सारे लौकिक विषयोको (ब्रह्मसम्बन्ध) संस्कारमे शुद्ध कर

पायेंगे अन्यथा जिन विषयोंको भगवत्समर्पणके संस्कारसे शुद्ध न किया जा सकता हो उनका तो परित्याग ही करना चाहिये. यही कारण है कि स्मार्त लोग संस्कार द्वारा शुद्ध करनेमें असमर्थ होनेके कारण सभी वस्तुओंके परित्यागका ही उपदेश देते रहते हैं व्यर्थ त्यागके अपेक्षा वस्तुको भगवान्को समर्पित कर देना उत्तम कल्प है.

किसी वस्तु या व्यक्ति को सुधारना हो तो उसे भलीभाँति जानना आवश्यक होता है पर हम स्वयम् जब किसीको समझ ही नही पाते तो सुधारनेका प्रश्न नहीं उठेगा, ऐसी स्थितिमें परित्याग ही एक उपाय बच जाता है

एक परमात्माकी आत्मक्रीडाकी ही अनेक नामरूपोंमें अभिव्यक्ति यह समग्र जगत है हम भी ब्रह्मके चैतन्यकी आंशिक अभिव्यक्तियां हैं मूल अतीव व्यापक प्रयोजनके विपरीत जब हम अपनी अज्ञानजन्य अहन्ता-ममताके वशीभूत हो कर कोई क्षुद्र प्रयोजन घड लेते हैं, तभीमें सारी मुसीबतें खडी होने लगती हैं इन्द्रियोंके तेज दौडनेवाले घोडोंके रथमें तेजीसे भागते हुए हम दिशा भूल जाते हैं अतएव शरणागति हमारी अहन्ताका शुद्धिसंस्कार है और ब्रह्मसम्बन्ध हमारी ममताका शुद्धिसंस्कार बनता है अहंता-ममताके शुद्ध होते ही हमें दिशाकी पहचान होने लग जाती है उनदस्लाबद विषयवासनाके प्रदेशमें रथ दौडानेके बजाय हम पुष्टिके ऋजुमार्गपर पुनः आरूढ हो जाते हैं विषयोंके सेवनमें परमानन्द नहीं मिल सकता परन्तु परमानन्दके सेवनमें तो सब कुछ मिल जाता है। श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि चित्तमें भगवत्प्रेम सम्पादित होना चाहिये— प्रेमसम्वलित चित्त सर्वत्र विद्यमान् परमात्माको स्वयमेव खोज लेगा अतएव उपनिषद्में परमात्माको– "सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्ध सर्वरस सर्वमिदम्" कहा गया है.

श्रीगोकुलाधीशको सर्वात्मना हृदयमें धारण करना सभी इन्द्रियोंमें उन्हें चाहनेकी पहली शर्त है यदि एकबार हृदयमें धारण कर पायें तो उन्हें आखोंसे भी देखा जा सकता है, कानोंसे सुना जा सकता, हाथोंमें पकडा जा सकता है और चरणोंसे दौडकर परमात्माके निकट पहुंचा भी जा सकता है. आवश्यकता है सर्वप्रथम परमात्माको हृदयमें धारण करने की।

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं -

भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च ।
आश्लेष सेवन चापि स्पर्शोऽपि तथाविध ॥
अधरामृतपान च भोगो रोमोद्गमस्तथा ।
तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वत. ॥
सदन्तिकमतिनित्यमेव तद्भावन सदा ।
इदमेवेन्द्रियवतां फल मासोपि नान्यथा ॥
यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाद्रिणो फल भवेत् ।
एव मोक्षेपीन्द्रियादियुक्ताना सर्वथा नहि ॥ (वेणुगीतसुबो)

'गिरधर देख्यं ही सुख होय ' नयनवन्तको यही परमफल यही विधि माय त्रिलोय । अतएव श्रीमहाप्रभु श्रीगोकुलाधीशके वियोगके तीव्रतापमें हृदयमें मनमें प्रकट होती भगवानकी स्वरूपानुभूति तथा लीलानुभूति का परमफल कहते है क्योंकि एकबार हृदयमें भगवान विराज जाते है तो देरसबेर सभी इन्द्रियोमें भगवानकी रसात्मिका अनुभूतिकी कामना भी जग ही जाती है इस कामनाके जगते ही अन्य लौकिक-वैदिक विषयोंकी कामनाओंका आकर्षण निःशेष हो जायगा भगवान स्वयम् कहते है— न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते भर्जिता क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेष्यते (भाग) अर्थ जिनकी बुद्धि भगवानमें लग गयी हो उनका काम कामाय नही रह जाता जैसे भुने या उबाले हुए धान बीज नही बन सकते

सभी इन्द्रियोंसे होनेवाली इस भगवदनुभूतिको वेणुगीत और भ्रमरगीत की सुबोधिनीमें सर्वात्मभाव यमुनाष्टकमें तनुनवत्व और सेवाफलमें अलौकिक सामर्थ्य कहा गया है यही निरोधकी फलावस्था है जिसे यहां चतुःश्लोकीमें मोक्ष कहा जायेगा परन्तु इस सर्वेन्द्रियों द्वारा भगवदनुभूतिरूप जीव सम्पन्न हो उससे पहले सर्वेन्द्रियोंमें भगवदनुभूतिकी कामना— पुष्टिमार्गीय कामका जगना आवश्यक है यह कामना जगी कि पुष्टिमार्गीय काम पुरुषार्थ सिद्ध हो गया समझ लेना चाहिये अतएव ब्रज कहता है—

हे अरविन्दाक्ष ! मेरा हृदय तुम्हारे दर्शन चाहता है जब मेरा मन तुम्हारे दर्शन चाहता है तो सभी इन्द्रियोके द्वारोंसे यह तुम्हें अन्दर पधराना चाहता है जैसे पक्षीके पंख बिनाके बच्चे अपनी माताकी प्रतीक्षा चोंचके लिए करते है— जैसे गायका बछड़ा गायके थनसे दूधकी कामना करता है सम्भवतः चुगा या दूध और कहींसे मिल जाये तो वे सन्तुष्ट हो सकते है पर मेरा मन तो परदेश गये प्रियतमकी विरहिणी प्रेमिकाकी तरह निरन्तर तुम्हारे ही ध्यानमें—मनोरथोंमें जुड़ा हुआ केवल तुम्हें ही देखना चाहता है !

पुष्टिभक्तका मोक्ष

सर्वात्मना श्रीकृष्णका बन जाना पुष्टिभक्तका मोक्ष है सर्वात्मना श्रीकृष्णके बन जानेका मतलब है प्रपञ्चकी विस्मृति और कृष्णमें दृढ आसक्ति भक्तको कृष्णानुभूतिका व्यसन हो जाना निरन्तर कृष्णानुभूतिकी कामना इतनी तीव्र हो जाये कि या तो संयोगमें बाह्यालम्बनसे सभी इन्द्रियोंसे कृष्णका अनुभव हो अन्यथा वियोगमें आसक्ति भ्रममायसे पूर्वानुभूत श्रीकृष्णके स्वरूप एवम् लीलाका रोमन्थ--जुगाली इतनी तीव्रतर हो जाय कि अन्तःस्थित रति ही सभी रूप (आलम्बन उद्दीपन तथा सञ्चारी भावके रूप) लेने लग जाय !

संयोगमें भजन धर्म और वियोगमें स्मरण-स्मरकाम निरन्तर चलता रहे तो भक्तको मुक्त हो गया समझ लेना चाहिये यह अनुभूति यदि इस भूतलपर होने लग जाये तो उसे जीवन्मुक्ति समझना चाहिये इस ही तनुनवत्व या अलौकिक सामर्थ्य

भी कहा गया है नित्यलीला-व्यापिवैकुण्ठम यदि यह अनुभूति होनेवाली हो तो उसे विदेहमुक्ति समझनी चाहिये इसे ही 'नवतनुत्व' या 'सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिपु' कहा गया है. संक्षेपमें प्रथम एवम् तृतीय पुरुषार्थ धर्म एवम् काम के निरन्तर चक्रक रूपमें चल पडना पुष्टिभक्तका पुष्टिमर्विनम मोक्ष माना जाता हैं क्योंकि पुष्टि-भक्तिका अर्थ–व्रजाधिप श्रीकृष्ण स्वयम् नटवरवपु होनेमे प्रेम तथा प्रियतम उभय रूप हैं– स्थायिभाव तथा आलम्बनविभाव रूप वही है अत वियोग और संयोग दोनोमें वह अनुभूत हो सकता है यही श्रीगोकुलाधीशका स्मरण और भजन है

श्रीमहाप्रभु कहते है– "ज्ञान तु गुणगान हि परोक्षे तत्प्रतिष्ठितम्, प्रत्यक्षे भजन श्रेष्ठमेव वेद् रोधम स्थिर, पुरुषाणा तथा स्त्रीणा रात्रौ च दिवसे तथा ज्ञान भक्तिश्च सतत चक्रवत् परिवर्तते" (मार्ग निबन्ध) अर्थ भगवान्के वियोगम भगवान्के गुणोका गान ज्ञानरूप है, और संयोगम–प्रत्यक्षमें भजन श्रेष्ठ हैं यह होनेपर जोव भगवान्में निरुद्ध हो जाता है व्रजकी स्त्रियो और पुरुषो को रातम और दिनमें इन्हीं ज्ञान और भक्ति का निरन्तर अनुभव चक्रकी तरह चलता ही रहता था उन्हें परमानन्दरूप श्रीकृष्णका पूर्ण अनुभव मिल गया था।

पुष्टिभक्ति अपने आपम मार्ग भी है और गन्तव्य भी–साधन भी है और फल भी अतएव संयोग वियोगम भजन स्मरणके चढाव-उतारोमे निरन्तर चलते रहना यहा मुक्ति है पुष्टिभक्तिके मार्गपर चलकर अन्यत्र कही पहुचना नही है– केवल निरन्तर इसी सुहावने मार्गपर टहलते रहना है– चरैवेति। चरैवेति।। चरैवेति।।।

अतएव पुष्टिपथका पथिक वृत्रासुर भी इस मार्गकी यात्रामें अपने सहयात्रियोका साथ मागता है कि कभी वह अकेल चलते हुए अन्य मार्गोपर भटक न जाये–

हे नाथ। मुझे सर्वदा तुम्हारे भक्तोका ही सग साथ तुम्हारे भक्तिमार्गपर चलते हुए मिलता रहे कभी ससारासक्त व्यक्तियोका सग मुझमें न पनपने पाये। यदि यह देह-पुत्र-स्त्री-गृहादि विषयमें मेरी आसक्ति भी हो तो तेरी सेवामें उनकी उपयोगिता भर के लिए ही और किसी हेतुसे नहीं। मै समग्रतामे तेरा हो जाऊ और तू समग्रतासे मेरा

वि स १९७९ में श्रीमहाप्रभुविरचित चतुःश्लोकीका प्रकाशन हुआ था. वृत्रा-सुरचतुःश्लोकीका प्रकाशन वि. स. १९७८ मे हुआ था प्रस्तुत सस्करण उन्हीका ऑफसेट प्रतिमे पुनर्मुद्रित रूप है ये दानो ही ग्रन्थ गोस्वामी श्रीरणछोडलालजी महाराजके 'श्रीजीवनेशाचार्य पुष्टि सिद्धान्त कार्यालय' से प्रकाशित हुए थे इनके सयुक्त-सम्पादक थे श्रीयुत ह शास्त्री तथा श्रीहरिकृष्ण योगबी शास्त्री इन सभी महानुभावोका हम इस पुनःप्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं

વિનતિ.

અમોએ આ ગ્રન્થમાળાના સંશોધનમા પ્રયુક્ત યાવદ્બુદ્ધિબલોદય આયાસ કર્યો છે. તથાપિ અશુદ્ધિ દૃષ્ટિગોચર થાય તો તે જીવકૃતિ માની સુધારી લેશોજી.

ઉપકાર દર્શન.

અમને આ સસ્થામાં જે પુસ્તક પ્રદાન કરે છે એમનો ઉપકાર શબ્દોમા માનવો અશક્ય છે. સમ્પ્રદાયમા વિદ્યાનુરાગની વૃદ્ધિ થયાનું એ સૂચન છે. 'જે સમ્પ્રદાયમા સાહિત્યનો પ્રાણ રહ્યો નથી તે સમ્પ્રદાય દરેકના આયુષ્યમાં સચાર કરે છે, એ ન્યાય હવે આપણા સામ્પ્રદાયિકો સમજવા લાગ્યા છે.

અમોને શ્રીજીવનેશાચાર્ય પુસ્તકાલય ઉપરાંત શ્રીગોકુલનાથજી મહારાજ, શ્રીવ્રજરત્નલાલજી મહારાજ, તથા શ્રીદ્વારકેશનાથજી મહારાજ, તથા કોટાસ્થ શ્રીછોટામથુરેશજી તથા શ્રીનાથદ્વાર વિદ્યાવિભાગ પડિત ભાલભદ્રશર્મા તથા પડિત રમાનાથ શાસ્ત્રીજી તથા શાસ્ત્રીજી મગનલાલભાઈ તથા રા. તેલીવાલા મૂલચન્દભાઈ, ગુજરાતી પ્રેસના માલિક મણિલાલભાઈ તથા પરિષદ્ સાહિત્ય માંથી રા. વાડિલાલભાઈ તેમ જ જુનાગઢ વિગેરે સ્થળેથી જે જે પુસ્તકો વારવાર આપવામા આવે [illegible] તેમનો ઉપકાર અનુપમ છે. પ્રભુ આ પ્રણાલી સદા રાખે, એમા ઉભયને શ્રેય છે

ચીમનશાસ્ત્રી
'સાહિત્યભૂષણ' 'શુદ્ધાદ્વૈતરત્ન'

હરિકૃષ્ણ શાસ્ત્રી
'શુદ્ધાદ્વૈતવિશારદ'

श्रीकृष्णाय नमः ।

चतुःश्लोकी ।



श्रीमदाचार्यप्रकटिता ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

अतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः ।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता चतुःश्लोकी सम्पूर्णा ।

१ सन्तानिति लभीति च पाठः । २ स्वकर्तव्यमिति पाठः । ३ तेनेति पाठः ।
४ भजनीयमिति पाठः । ५ तत्र त्यजति पाठः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीमद्व्रजराजचरणविरचितविवृतियुता ।

श्रीमद्रासरसामृताब्धिविलसद्गोपीशपादाम्बुज-
द्वन्द्वस्नेहविलासदानकरणे श्रीपारिजातोपमः ॥
स्फूर्जद्गोपवधूविनीविलसितप्रेमास्पदत्वर्माकरो
भूयान्मे हृदि सन्ततं दुरितहृच्छ्रीविट्ठलो वाल्लभिः ॥१॥

भगवदीयानां धर्मादिचतुष्टयं भगवानेवेति स्वीयेषु कृपया श्रीमदाचार्यचरणाश्चतुर्भिः श्लोकैस्तदेव तज्ज्ञापनार्थं विज्ञप्यन्ति सर्वदा सर्वभावेनेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वभावेन सर्वात्मभावेन सर्वदा व्रजाधिपो भजनीय इति सम्बन्धः । सर्वैरिति शेषः । स्वस्यायमेव धर्मोऽन्यो न । क्वापि कुत्रचित् । कदाचन कस्मिन्नपि काले इत्यर्थः । हीति युक्तश्चायमर्थः । सहजदासत्वेन जीवस्य यतोऽयमेवार्थः श्रुत्या प्रतिपाद्यते । अत एवास्मत्प्रभुचरणैः 'निजनिसर्गप्रभुश्रीगोकुलनाथचरणकमलदास्यमेव स्वधर्म' इति निरूपितम् । सर्वदेतिपदेन नात्र कालादिनियम इति ज्ञापितम् । धर्मशास्त्रादिषु धर्मकरणे कालादिनियम उक्तस्तेन तत्र धर्मजनितफलस्यापि कालाधीनत्वेन क्षयिष्णुत्वमेव । अत्र तदभावाय सर्वदेत्युक्तं भवति । किञ्च, सर्वदेतिपदेन क्षणमात्रमप्यन्यधर्मकरणेऽनन्यत्वभङ्गप्रसङ्ग इति ज्ञापितं भवति, भगवतो जीवानां पतित्वनिरूपणात् । यथा पतिव्रतायाः क्षणमप्यन्यत्र मनश्चालनेन व्रतभङ्गस्तथात्रापीति ज्ञापनाय सर्वदेत्युक्तमितिभावः । सर्व-

---

१ विद्वन्मण्डने—तथा चाणुपरिमाणस्यैव जीवस्य पूर्वोक्तन्यायेन ब्रह्मणः सकाशान्निर्गतस्य ब्रह्मणा स्वसेवार्थमेव निजैश्वर्येण निर्विषयत्वपरिहाराय च तथा प्रकटीकृतस्यात एव सहजहरिदासस्य तदंशत्वेन ब्रह्मरूपस्य च निजनिसर्गप्रभुश्रीगोकुलनाथचरणकमलदास्यमेव स्वधर्मः । तेन चातिसंतुष्टः स्वयं प्रकटीभूय निजगुणांस्तस्मै दत्त्वा स्वस्मिन्प्रवेशयति स्वरूपानन्दमनुभावयतीत्यादि निरूपितम् ।

भावेनेति । सर्वो भगवति यो भावस्तेन तथा । पतिपुत्रादिभावेनापि तथेत्यर्थः । एतदेवोक्तमाचार्यैरेव 'तादृशीं भावनां कुर्या'दित्यादि । यद्वा, सर्वभावपदेन स्त्रीभाव उच्यते। सर्वपदस्यैकस्मिन्धर्मे तत्रैव शक्तेः । अत एव व्रजमण्डनाभिरुक्तं, 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूल'मिति । तत्रैकस्मिन्सर्वपदाशक्तेरिति भावः । यद्वा, सर्वो भगवति यो भावः स्त्रीभाव इति यावत् । भगवति स एव भावः प्रयोजक इति श्रीमत्स्वामिनीकृतस्वशृङ्गारादिप्रकारयुक्ते भगवति यो भावः स तथा । अत एवास्मत्प्रभुचरणैरुक्तं 'यद्यपि युवतिवेष' इत्यारभ्य 'पुंसामपि युवतीभाव उद्वेल' इत्यन्तं पद्यद्वयेन । अत एवास्मत्प्रभुचरणैः श्रीमदाचार्यैश्चोक्तं 'एतस्य दर्शने ॥ स्यात्त्वमदाभाव एव ही'ति, 'स्त्रीभावो गूढ' इत्यादि च । ननु सर्वेषां तद्भावायोग्यत्वादेतद्बोधनमनुपपन्नमाभातीति चेत्? सर्वेषां तयोग्यत्वं ब्रह्मणा बृहद्वामने 'स्त्रियो वा पुरुषा वापि भर्तृभावेन केशव'मित्यादिनोक्तम् । यद्वा, सर्वशब्देन प्रभुरेवाभिप्रेयते, यतः सर्वशब्दस्य तत्रैव शक्तिः तदात्मरूपा स्वामिनी, तत्र भावेन दासीभावेन प्रभुषु तत्तत्सन्देशादिकथनपूर्वकसर्वसामग्रीसम्पादनेनेतिभावहृदयम् । व्रजाधिपपदेन पूर्णपुरुषोत्तमत्वं ज्ञाप्यते । यथा कृपया तेषु स्वीयत्वं प्रकटीकृत्य स्वस्मिंश्च तदाधिपत्यं प्रकटीकृत्य रमते, तथैव सर्वात्मभावेन भजने सर्वेषामेव करिष्यतीति व्रजाधिपनाम्ना द्योत्यते । तेषु स्वाधिपत्यं तु श्रीगोकुलजनरसदानेच्छाजनितत्रामकरशिखरिवरधारणमोचदुत्साहोल्लसितहृदयेन श्रीगोकुलनाथेनैवोक्तं 'मत्यार्थं मत्परिग्रह'मित्यादिना । एवं भगवतः स्वस्याधिपत्यं हृदि कृत्वा भजनीय इति भावः । स्वस्य तदंशत्वेनायमेव धर्मो नान्य इत्यर्थः । अत एव स्मर्यते 'यो यदंशः स तं भजे'दित्यादि । अस्य स्वधर्मत्वोक्त्यान्यधर्मकरणे बाधकत्वमेव स्यादित्यर्थः । अत एव श्रीदेवकीभाग्योदयाचलभूषणेन श्रीगीतास्वपि उक्तं 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह' इति । अस्य स्वधर्मत्वोक्त्याऽन्यत्र तद्भावः स्वतः सिद्ध एव, तथापि नान्य इति यदुक्तं तद्धर्मशास्त्रादिष्वन्यत्र स्वधर्मपदकथनेन तद्दर्शनेनापि चित्तेऽन्यथा न विचारणीयमिति भावः । यतस्ते बहिर्मुखा देहधर्ममेव स्वधर्मत्वेन वदन्ति, न तु भगवद्धर्ममिति । धर्मशास्त्रस्य तैदुद्देशेनैव प्रवृत्तेस्तैदनिरूपणं युक्तमेव । अत एव युधिष्ठिरेण 'को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मत ' इति पृष्टो भीष्मः प्रभुसहस्रनामस्तवनं भक्त्या तत्सेवनं च परमधर्मत्वेनोक्तवान् । नैन्वयं कर्तव्य एव तत्कथं सर्वथा निषिध्यते । उच्यते। सत्यमस्य देहसम्बन्धित्वेन करणीयत्वमायाति, परमन्यसृष्टिवद्यदि भक्तानां देहो भौतिको भवेत्, भगवद्भक्तानां तु भगवत्पादपद्मरेणुसम्पादितदेहत्वात्तद्भजनकरणमेव स्वधर्मो नान्य इति सर्वमवदातम् । अत एव श्रीवराहैरुक्तं, 'अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी'-

---

१ शृङ्गाररसमण्डने दशमोल्लासे. २ देहोद्देशेन ३ भगवद्धर्मानिरूपणम्. ४ ननु स्मार्ता एव ते इत्यपि पाठः.

त्यादि। सा सृष्टिर्भगवता स्वसेवार्थमेवोत्पादितेति तत्सेवनमेव धर्म इति भावः। तत्र
देशादिसाधनस्योक्तत्वाद्धर्माभास एव न तु धर्मोऽपि, स्वतो दुर्बलत्वादन्यसापेक्षणमप्येत
एव। अत्र तदभावमाहुः क्वापीति। अस्य धर्मिभागेत्वात्प्रबलत्वेन कुत्रापि करोतु न देशा-
दिनियमो, यतो देशाद्याधिदैविकसम्पादनं भगवतैव। अत एवोक्तं श्रीभागवते 'तीर्थी-
कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृते'ति। तेन अन्यः क्वापि न। अयं तु धर्मिरूपत्वा-
दतिप्रबलत्वादतिरोहितत्वात्क्वापि भवत्विति भावः। धर्मिधर्मयोरभेदाद्धर्मोक्तिरिति भावः।
कदाचन कस्मिन्नपि कालेऽन्यधर्मः स्वधर्मो नेत्यर्थः। भक्तानां धर्मरूपोऽपि भगवानेव।
तस्माद्धर्मादिषु मनोगमनेऽपि तत आकृष्य भगवत एव धर्मरूपतां ज्ञात्वा सर्वात्मभावेन
भगवानेव भजनीय इति भावः। किञ्च, धर्मेणैवेष्टसिद्धिः; यतो निगमे तथैव प्रतिपाद्यते।
'धर्मेण पापमपनुदती'त्यादिना पापस्यैवेष्टप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वेन श्रवणात्। तत्र साङ्गवि-
धिना कृतेन धर्मेण पापनिवृत्तिस्ततः पुनस्तत्करणेन फलप्राप्तिः। सा चातिदूरतरा, यतः
साङ्गकरणं न सम्भवति। अतः स्मर्यते, 'यस्य स्मृत्ये'त्यारभ्य 'न्यूनं सम्पूर्णतां याती'-
त्यन्तेन भगवत्स्मरणेनैव तत्र पूर्णता। अन्यथा विधिशेषत्वं भवत्येव। अत्र विधेरेवा-
भावेन भजनस्यैव भावात्मकत्वेन फलस्यैव धर्मोक्त्या भजनानन्द एव फलप्राप्तिरिति भावः।
अत एव यदुकुलामृताब्धिसुधादीधितिनाऽप्यादि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजा-
म्यह'मित्यादिना। विधिहीनानां धर्मादीनामसाधकत्वं योगियाज्ञवल्क्येन स्मर्यते 'विधि-
हीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत्। तद्धरन्त्यसुरास्तस्य मूढस्याकृतात्मन' इति।
किञ्च, भक्तानां भगवानेवेष्टस्तत्प्राप्तिश्च नान्यधर्मैर्भवति, विना तत्सेवनम्। तस्मात्तद्विप्र-
योगतापे सति तत्प्राप्त्यर्थं च यद्भगवत्सेवनं तद्धर्मरूपमेवेति भावः। अत एव शुकवागमृ-
ताब्धौ 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या' 'भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय' 'श्रीपतेऽप्र-
लया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्' 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' 'श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्'
'प्रतिष्ठया सार्वभौम'मित्यारभ्य, 'मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति' इत्यन्तेनैवं
वाक्यसहस्रैर्भक्तीतरसाधनासाध्यत्वं निश्चीयते भगवतः। तत्रैव पुनर्भगवता सर्वधर्मा-
न्निरूपयता श्रीमदुद्धवं प्रत्युक्तं 'सर्वेषां मदुपासन'मित्यारभ्य, 'इति मां यः स्वधर्मेण
भजन्नित्यमनन्यभाक्' इत्यन्तेनानन्यभजनस्यैव स्वधर्मत्वम्। तस्माद्धर्माकाङ्क्षायां
भगवदीयानां धर्मरूपो भगवानेव भजनीय इति भावः। किञ्च, अन्यधर्माणामधिकारि-
परत्वमुक्तं, प्रभुचरणैः स्वभजनस्य च सर्वेषामधिकारित्वम्। तेन सर्वपापशोधकनिर्मल-
वस्तुनो नाधिकारादिकमपेक्षितम्। तस्माद्धर्मपदस्य भगवद्भजन एव शक्तिः। तथा च
तेजवत्स्वन्यत्रापि दृश्यते। अतिरोहिताधिदैविकगङ्गास्नाने पापनिवर्तकत्वं, अग्नेश्च दाह-
करणेऽविचारस्तथान्यधर्मादिषु धर्मत्वं चेत्स्यात्तदेष्टरूपभगवत्प्राप्तिरपि स्यादेव, सर्वेषां च

१ स्मार्ते धर्मे. २ दुर्बलत्वादेव. ३ तदभावार्थमिति. ४ धर्मेणेष्टसिद्धौ.

तत्करणेऽधिकारोऽपि स्यात्परं तदभावे तत्र धर्मपदप्रयोगो गौण एवेति भावः। हीति युक्तश्चायमर्थः, सर्वात्मकस्य भगवत एव सेवनमात्मधर्म इति। यद्वा, हीति युक्तश्चायमर्थः, यदन्यसम्बन्धरहितस्यैव भगवद्भजनस्यैव धर्मत्वम्। यतो भगवताप्युक्तं 'भक्त्या त्वनन्यया ग्राह्यः' 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मा'मित्यादिनेति भक्तानां भगवद्भजनमेव स्वधर्म इति स्वधर्मत्वेन भगवानेव सेव्यो नत्वन्यधर्मेषु मनो निवेशनीयमिति भावः ॥ १ ॥

एवं धर्मरूपमुक्त्वा अर्थस्वरूपमाहुः एवमिति।

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।

प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

सदा एवं कर्तव्यं यथाग्रे निरूप्यते। तदेवाहुः प्रभुरिति। प्रभुः स्वामी भक्तानाम्। सर्वरूपश्चासौ सम्यगर्थरूपश्च यतः, तस्मात्स्वयमेव करिष्यति ततः कारणान्निश्चिन्ततां निश्चिन्तस्य भावं व्रजेदित्यर्थः। एवमेव कर्तव्यमिति। स्मेति प्रसिद्धिरुक्ता। अर्थः सर्वदा गोप्यो भवति, तद्रूपमेव गोपायति। प्रभुः सर्वसमर्थस्ततः स्वयं कर्तव्यं रक्षणादिकं प्रभुरेव करिष्यति। एवं सदा निश्चिन्ततां व्रजेदित्यर्थः। यथार्थस्य रक्षार्थं स्वयं यत्नः क्रियते तस्य जडत्वादन्न प्रभोरेव तद्वत्या यो गोप्यांशस्तं प्रभुरेव भावादिरूपं गोप्यं करिष्यतीति स्वयं निश्चिन्तो भवेदितिभावः। अत एवाचार्यैर्नवरत्ने उक्तं, 'चिन्ता कापी'त्यादि। यथार्थस्य सम्यग्गोपने कृत एव निश्चिन्तता भवेत्तथात्र तं भावमर्थरूपं बहिर्मुखादिचौरेभ्यो भगवान् स्वयमेव गोपायतीति सिद्धवत्कारेण निश्चिन्ततां व्रजेदित्युक्तम्। यथार्थस्य गोपनं सर्वैभ्यः क्रियते तथात्रापि भावस्यातिगोप्यत्वाद्गोक्तं, परं निश्चिन्ततोक्त्या गुप्तत्वेनोक्तमिति भावः।

यद्वा, प्रभुः सर्वसमर्थस्ततः स्वयमेव कर्तव्यं करिष्यति, सदैवं ज्ञात्वा निश्चिन्ततां व्रजेदित्यर्थः। यथार्थेनैव सर्वसामग्र्यादिकं भवति तथात्र प्रभुः स्वभोगयोग्यदेहयौवनादिसामग्रीसम्पादनं कर्तव्यत्वेनोच्यते तत्स्वयमेव करिष्यति। यतः सर्वपदेन भक्तानां सर्वेषां सम्यगर्थः स एवेति सदैवं तथा भवेदिति भावः। अयमेवार्थो रसाब्धिसुधाकरश्रीमत्प्रभुचरणै रससर्वस्वे निर्णीतः। 'विनैव समयक्रमं सखि तदा यदासीदतिस्फुटं नवलयौवनं त्रिदशमोहिनीमोहनम्। तदङ्गगुणो न तद्गतकृतोऽन्यदीयोपि वा विचित्ररसभावितमियत्तयासगोयं परम्' 'यप एव यदीदृशं तदीय विभु वाच्यं सखि विमहाधरोपम्। रसरूपमितीन्दिरादुरापं रसमापुर्यदुदारतो रसाब्धे'रित्यादिना। तेनार्थस्यार्थिद्वरूपायास्तस्या यद्रूपं तदर्थसाध्यं तु भवत्येव, भगवता च स्त्रीषेपु तत्संपाद्यते। तस्माद्भगवानेवास्मात्स्मर्थरूपोऽस्ति, स एव सर्वं करिष्यतीति ज्ञात्वा,

१ महत्ता.

एवं पूर्वोक्तसर्वात्मभावेन सदा भजनं कर्तव्यम्। ततः प्रभुरपि सर्वसमर्थस्तथैव करिष्यतीति भावः। ननु तथाकरणं व्रजवरकुमारिकास्वेव सम्भवति, तासा योग्यत्वादन्येषामयोग्यत्वात्कथमेव बोधनमिति चेत्? सत्य, तदयोग्यत्व जीवाना, तथापि सर्वात्मभावेन तथा चेद्भजेत्तदा भगवदनुग्रहेण तथा भवेत्तदा भगवानपि कुर्यादेवेति भावः। अत एव पुष्टिसरसिजमार्तण्डायितचरणाचार्यैरेव भ्रमरगीतविवरणे प्रकटीकृत 'तद्रूपत्वेपि तदाशया तद्भजनमेव कार्य'मित्युक्तम्। तदप्राप्तिश्चेत्स्यात्तदा 'तदाशये'ति नोक्त स्यात्। तथा च श्रीगोपीजनप्रेमकुमुदचन्द्रश्रीविठ्ठलनाथैरपि विद्वन्मण्डने रससर्वस्वे चालेखि, 'सर्वात्मभावेन चेत्तथा भजनं करोति सदा भगवानप्यङ्गीकरोत्येवे'ति। 'यद्दानेन्द्रे'त्यस्मिन्पद्येपि 'यस्मिन्महानुग्रहस्तस्मिन्योपमितिभिरनीत्वमचिरारकर्त्ता मियः प्रायश' इति। तस्मात्तदनुग्रहेण तथाभवतीति भावः। अत एव यदुकुलरत्नाकरेन्दुना 'ये यथा मा प्रपद्यन्ते' इत्युक्तम्। यद्वा, स्वयं कर्तव्य भजनादिक व्रजसुन्दरीषु समर्थो हि प्रभुः करिष्यत्येवास्मद्दर्शनार्थम्। सदा एव निश्चिन्तता व्रजेत् तत्सकारकभगवल्लीलादर्शनार्थं चिन्ता न कार्या। प्रभुः स्वत एव करिष्यतीति भावः। स्मेति प्रसिद्धिः। यतः प्रभुणैवोक्त 'अहं भक्तपराधीन' इति। तदधीनत्वेन तन्मनोभिलषितस्फुरण स्वत एव सिद्धम्। हीति निश्चयेन युक्तश्चायमर्थः। यतो भगवदर्थ 'सन्त्यज्य सर्वविषया'नित्यादिवचने त्यजन्ति तेषा मनोरथपूरण च भगवता कर्तव्यमेव। अत एव भगवतैवोक्त 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्' इत्यनेन। भरणकरणोक्त्या यथा तेषा स्वलीलादर्शन भवति तथैव कृत्वा स्वलीलायामेव स्वरूपात्मिकाया स्वस्मिन्नेव स्थापयामीति भावः। अयमेव स्वमनोरथाभिलाषो भवति, अन्यथा तु जलतरङ्गवदुद्भूतदीनमनोरथापूर्तिरेव सदा, तथात्र श्रीमत्प्रभुचरणसेवनेनैव भक्तमनोरथपूर्तिरिति भक्तानामर्थरूपोपि भगवानेव सेव्य इति भावः। यथार्थं विना लौकिकरमणादिक भोगश्च न सिध्यति तथात्रार्थाभिदेविकलक्ष्मीप्रवेश विना भगवद्रमणभोगौ च न सम्भवतः। सा सम्पत्तिरपि स्वस्मिन् स्वत एव सेवनसन्तुष्टः करिष्यत्येव प्रभुस्तदा श्रीमदनुग्रहेण तत्प्राप्तिस्तेन च तौ सम्भवेताम्। भगवदाज्ञयैव भगवदेकशरणायास्तस्याः प्राप्तिरिति भगवानेवार्थरूप। अत एव श्रीगोकुलनाथवाग्धिपतिश्रीमत्प्राणेश्वरैः फलप्रकरणे 'सर्वत्र तासु सा भगवदाज्ञया निविष्टे'ति। अस्यार्थस्यात्यन्त गोप्यत्वात्सर्वसमर्थ इतिपदेन परोक्षेणैव गुप्ततया प्रभुचरणैः प्रकटीकृतमित्यल लेखनेन। तच्चरणाब्जमकरन्दपानप्रचाना हृदि प्रभुमुखेन्दूदयेन स्वत एव भावाब्धिवीचिप्रचारो भविष्यतीति भावः ॥२॥

एवमर्थस्वरूपमुक्त्वा कामस्वरूप निरूपयन्ति यदि श्रीगोकुलाधीशेति।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

श्रीगोकुलाधीशः सर्वात्मना यदि हृदि धृतस्ततो लौकिकैः लोकसम्बन्धिसुखैः वैदिकैरपि वेदोक्तकर्मजन्यैः स्वर्गादिसुखैरपि किमपरमस्ति ? न किमपीत्यर्थः । त्वं ब्रूहि । स्वं मानसमेव साक्षीकृत्योच्यते । यदीतिपदेन कस्यचिदेव परमभाग्यवतः कृतपुण्यपुञ्जस्याग्निकुमारीणामिव भावो भवतीति दुर्लभत्वं ज्ञाप्यते । गोकुलाधीशनाम्ना भगवतस्तदधीनत्वं ज्ञाप्यते । अत एव स्वःस्वामित्वाभिमानिभिरपीन्द्रादिभिर्भगवान् तत्पतित्वेनाभिषिक्तो, भगवन्मनोनुवृत्तिज्ञानेन । एतदेवोक्तं ' इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य स' इति। गोगोकुलोक्त्या गोप्यो, गोपा, गावश्चोच्यन्त इति भावः । तेन तासामधीशोऽतिरसिकः प्रेमरसज्ञश्च । अन्यथा पूर्णपुरुषोत्तमः कथं गोपीनां पशुतुल्यानां स्वयं प्रभुत्वमङ्गीकुर्यात् । तासां केवलं प्रेम्णैवाङ्गीकारात्स चेद्धृदि तद्योग्यस्वरूपभावेन धृतस्तदा तथैवाङ्गीकुर्यादेवेति *गोकुलाधीशनाम्ना द्योत्यते* । **सर्वात्मना** सर्वथा सर्वभावेन कामभावेनेति यावत् । अत्र सर्वात्मपदं कामपरमेव । यथा व्रजभाग्यरूपाणां सर्वात्मभावः कामभावात्मक एव, अत एवोक्तं ' गोप्यः कामा'दिति । तथाऽस्मिन्नाचार्यप्रकटितपुष्टिमार्गे तादृशभावैरेवोच्यते । स एव भाव उपदिश्यते । ता एव च गुरव इत्याचार्यैरेवोक्तं संन्यासप्रकरणे 'गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तदि'ति । तेन सर्वात्मना कामभावेनेति भावः । अस्यात्यन्तं गोप्यत्वात्स्पष्टतया नोक्तम् । एवं प्रकारेण चेद्धृदि स्वयं धृतः । स्वधारणोक्त्या बलात्कारेणैव 'मैवं विभोऽर्हती'त्यादिरीत्यैवेति भावः । तथा चेद्धृतस्तदा लौकिकैः पतिभिः वैदिकैः स्वर्गादिभिः, पुत्रादिभिर्वाऽपरं किं? न किमपीत्यर्थः । अत एव लौकिकवैदिकत्यागपूर्वकं कामभावेन भजनं श्रीव्रजनाथप्राणवल्लभाभिरेवोक्तं 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव'ेति, 'पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्' इत्यादिभिस्त्यागमुक्त्वा पश्चाद्भजनार्थमुक्तं 'तन्नो निधेही'त्यारभ्य 'तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणा'मित्यादिना । भगवतापि तथैवाङ्गीकाराज्ज्ञायते चास्यैव भावस्य प्रावश्यम् । तस्मादपरं न किमपीति भावः । त्वया चेज्ज्ञायते वा किमप्यपरं तदा ब्रूहि । यद्वा, गोपदमिन्द्रियवाचकं, तेनेन्द्रियकुलस्य प्रभुः सर्वात्मना पूर्वोक्तकामभावेन हृदि मनसि सर्वेन्द्रियाधिष्ठातरि यदि धृतस्ततो लौकिकैः पतिभिः किं ? न किमपीत्यर्थः । अत्रायं भावः । यदि भगवान् धृतस्तदा सर्वाणीन्द्रियाणि भगवत्पराणि भवन्ति, तदैव च जन्मेन्द्रियसाफल्यम् । तदेवोक्तं व्रजवरवरणीयाभि'रक्षण्वतां फल'मितिपद्ये । श्रीमदुद्धवैश्च 'किं ब्रह्मजन्मभि'रिति तासां भावदर्शनेनान्यजन्मवैफल्यमुक्तम् । तस्मादेवं यदि प्रभुर्धृतस्तदाऽपरं लौकिकैः पतिभिः किं भविष्यति न किमपीति भावः । वैदिकैरिति पतिविशेषणम् । वेदोक्तैरपि लौकिकैः किमिति । अयमर्थः । वेदे पतिभजनेन मोक्षः स्यादित्युक्तं, तत्तु संप्राप्तदेहेन्द्रियाणामसम्बद्धतरम् । अत एवोक्तमाचार्यैः 'इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोऽपि नान्यथा । यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णोः फलं भवेत् । एवं

मोक्षोपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा न हि'। तस्मात्वैः किं ब्रूहि ? पूर्वपक्षिणं प्रत्युच्यते-अपरमपि किं तैरिति जानासि चेत्तदा ब्रूहि। ननु भगवत्प्राप्तिसमये लौकिकेष्वेव संबन्धात्कामस्य च चलितृत्वात्कदाचित्तेषु मनश्चलति तदा तत्कृतमप्यकृतं भवति ततो वेदानुसारेणैव करणमुचिततरमिति चेत्। न। भगवन्निवेशितमनसां सर्वथान्यत्र कामो न संभवत्येवेति श्रीव्रजकुमारिकाकामपूरणपारिजातचरणेन श्रीनन्दकुमारेणवोक्तं 'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते' इति। यद्वा, लौकिकैरपि दृश्यादिगुणैरपि, सर्वात्मना कामभावेन वा वैदिकैर्व्रजेन्द्रदिद्युखालङ्करणमुखचन्द्राभिव्यक्तधर्मैः 'चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज'त्यादिभिर्यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतस्ततोऽपरं किं, न किमपीति भावः। एवं सर्वप्रकारैरपि कामभावेन प्रभुरेव सेव्य इति भावः॥ ३॥

कामस्वरूपमुक्त्वा मोक्षस्वरूपमाहुः ततः सर्वात्मनेति।

ततः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः॥ ४॥

ततः कामभावात्मकभक्तयनन्तरम्, पुनः सर्वात्मना सर्वात्मभावेन, शश्वत् निरन्तरं, गोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं तथैव भजनमपि न त्याज्यमिति मम मदीया मतिरित्यर्थः। अत्रायमाशयः। कामभावेन भगवत्सम्बन्धानन्तरं तत्सम्बन्धस्व-भावमर्यादाजनिततुच्छत्वप्रमदात्वमदेनान्यथाभावे सति मानादिना दोषभावेन तद्भावाच्युतिः स्यात्। ततः सर्वात्मभावेन भजनमेव कार्यमिति भावः। शश्वदितिपदेन क्षणमप्यन्यथाकरणे सर्वथाऽसुरप्रवेशः स्यादिति ज्ञाप्यते। गोकुलेश्वरनाम्ना यथा तेषां सर्वभावप्रपत्त्या सन्तुष्टधातुर्गादिरहितेष्वपि स्वामित्वमङ्गीकृतवान्, तथाऽपि तवापि करिष्यतीति ध्वन्यते। पादेषु द्वन्द्वकथनेन श्रीस्वामिनीपादसहितयं ज्ञाप्यते। स्मरणपदेन स्मरणं चेतसो धर्म इति चित्ते भगवद्विप्रयोगसमये स्मरणमिति भावः। अन्यथा तद्विप्रयोगस्यातितीक्ष्णत्वेन जीवनमेव न स्यादिति भावः। भजनं सेवा, सापि निरन्तरं तथैवेति भावः। चकारेण भजनं चित्तपूर्वकमेव कर्तव्यमिति भावः। अपिशब्देन भगवान् भजतु वा मा भजतु, स्वस्य भजनी[1] यवेति भावः। अत एव श्रीगोकुलाधीशरतिमार्गाब्जमार्तण्डायितपादपद्मैः श्रीवेट्ठल[illegible]दि, 'मारणे वरणे गपि दासीनां नामधुर्गतिरि'ति। अयमेवार्थः स्वयं न त्याज्यमिति स्वकरणकत्यागोक्त्या ज्ञाप्यते इति भावः। मे मतिरिति स्वमतिकथनेन स्वानुभवः प्रदर्शितः। भक्तिमार्गे भक्तिरेव परमपुरुषार्थः। मोक्षादृष्यधिकत्वं भक्तेः सिद्धमेव। तस्मात्पुष्टिमार्गे मोक्षरूपत्वं च भजनरूपेणेति भजनमेव निरूपितम्। भक्तेर्मोक्षाधिकत्वं तु श्रीभागवते पद्धभोक्तम्। तथा हि 'साल्रोक्यसार्ष्टिसा-

[1] भजतु वा मा भजतु इति।

मोप्यसारूप्ये'त्यारभ्य 'विना मत्सेवनं जना' इत्यन्तं; 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इति च। 'वीक्ष्यालकावृते'त्यारभ्य 'भवाम दास्य' इत्यन्तेन पद्येन च। तेन भजनं सेवा मोक्षाधिका सैव कर्त्तव्येति भावः। मोक्षनिरूपणे भजनस्य स्वरूपणकात्यागोक्त्या पूर्वोक्तधर्मादित्रयरूपणेन भगवान् स्ववशे भवतीति ज्ञाप्यत इति भावः। एवं मोक्षस्वरूपनिरूपणे स्वपतित्वकथनेन स्वीयानामेव कर्तव्यमिति भावो ज्ञापितः॥ ४॥

इति श्रीगोकुलाधीशवागधीशमुखच्युतम्।
स्वमार्गधर्मार्थकाममोक्षाणां रूपमद्भुतम्॥ १॥
तत्पादपद्मकृपया विवृतं हि यथामति।
तेनाचार्या मयि ज्ञात्वा स्वीयतां कृपयन्तु वै॥ २॥
यत्पदाब्जमरन्दालिभावस्तुच्छीकरोति वै।
मुक्तिं तच्चरणाम्भोजरेणुर्मयं प्रसीदतु॥ ३॥
श्रीविट्ठलपदाम्भोजरेणुसङ्काङ्क्षिणा मया।
स्वाचार्योक्ता चतुःश्लोकी निर्णीतेयं यथामति॥ ४॥

इति श्रीव्रजधूमाणेशपादपद्माश्मकपुष्टिमार्गीयचकोरनेत्रानन्दश्रीवल्लभाचार्योक्तचतुःश्लोकीविवृतिर्भावरसदीपिका
श्रीदयामलतनुजव्रजराजकृता
सम्पूर्णतामगात्॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीवल्लभप्रकटितप्रकाशसमेता ।



श्रीमद्वल्लभनाथचरणसरोरुहरेणुभ्यो नमो नमः ।

श्रीकृष्णाऽऽस्याचार्यवर्याङ्घ्रिपद्मरेणून्नत्वा भक्तितो यद्वचोर्थाः ।
दुर्विज्ञेया यत्प्रसादं विनातस्तद्भावयार्थं तत्प्रसादाद्विवक्षे ॥१॥

लोके पदार्थाश्चत्वारो धर्मार्थस्मरमुक्तयः ।
स्मृत्युक्तसाधनैर्लभ्याः पूजामार्गानुसारतः ॥ २ ॥
तत्र प्रतिज्ञा नो मुक्तिर्विना ब्राह्मणदेहतः ।
भूतशुद्ध्या विनिर्वाहः साङ्गोपाङ्गः स्वमन्त्रतः ॥ ३ ॥
चेत्तदाप्यक्षरप्राप्तिरूपा मुक्तिर्भवेत् क्वचित् ।
अतो निःसाधनानां यदृच्छया जन्म सदा भवेत् ॥ ४ ॥
तदर्थं श्रीहरिः साक्षात्स्वास्यवह्निं स्ववाक्पतिम् ।
चकार प्रकटं लोके श्रीवल्लभमिलातले ॥ ५ ॥
तैरेव श्रीमदाचार्यैः पुष्टिमार्गानुगामिनाम् ।
स्वसिद्धान्तावबोधार्था चतुःश्लोकी निरूपिता ॥ ६ ॥
यस्याः पूर्वपदार्थेभ्यः पृथग्धर्मादितुर्यकम् ।
सत्वरं बुध्यते तस्या विवृतिः क्रियते मया ॥ ७ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां स्वमार्गीयपुरुषार्थचतुष्टयज्ञापनार्थं स्वसिद्धान्तचतुःश्लोकीं निरूपयितुकामास्तत्र प्रथमं स्वधर्माचरणरूपं प्रथमं पुरुषार्थमनुष्टुप्छन्दसाहुः सर्वदा सर्वभावेनेत्यादि ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

व्रजाधिपः पूर्णपुरुषोत्तमः सच्चिदानन्दो भजनीयः सेवनीय इत्यर्थः । पुष्टिमार्गीयैरित्यध्याहार्यम् । तदेवोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः श्रीभागवतदशमस्कन्धे जन्मप्रक-

रणविवरणे 'निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोस्ति गोकुले । अतो वयं सुनिश्चिन्ता जाताः सर्वत एव ही'त्युक्तेर्निःसाधनानां कृते भगवतः पुरुषोत्तमस्य प्रादुर्भावः सिद्धः । स एव निःसाधनैर्जीवैर्देवसदृग्युत्यन्नैः सेव्य इतिभावः । अथ स तैः कथं सेवनीय इत्याहुः सर्वभावेनेति । सर्वैर्देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिभिः कृतो यो भावः सर्वात्मभावस्तेन सेव्यः । एतदुक्तं भवति । देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणस्त्रीपुत्रधनगृहादिकं सर्वं भगवत एव न ममेत्येवंभूतो यो भावः स संसारनिवर्तकः, तस्मिन् सति जीवे निश्चिन्तता भवति । एवं सति मुक्त एव भगवन्मयो भवति । तदुक्तं भक्तिवर्द्धिन्यां ' गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते । यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि' । तेन सर्वात्मभावोयमेव दैवजीवस्य मुख्यो धर्मः कर्तव्य इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीभागवते एकादशस्कन्धे 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा' । नन्वयमपि सर्वथा धर्मान्तरवदेककालीनो वैकदेशीयो धर्मो भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः नान्यः क्वापि कदाचनेति । अन्योस्मदुपदिष्टधर्मात्पुष्टिमार्गीयाद्विरुद्धः पूजामार्गीयो यो धर्मः स न वैष्णवानां कार्यसाधकः, किन्तु बाधकः विभूतिपर्यवसायित्वात् । क्वशब्देन देशकालयोरपि धर्मविपर्यासौ दृष्ट्वा तत्राप्ययमेव धर्म आत्मीय इति मन्तव्यम् । कदाचनेतिशब्देन कालान्तरेप्यस्य धर्मस्य त्यागो न विधेय इतिभावः । सर्वदेति सर्वकालं निरन्तरं भजनीय इत्यर्थः ॥१॥

एवं प्रथमपुरुषार्थं पुरुषोत्तमसेवनरूपं पुष्टिमार्गानुसारिधर्मं निरूप्यातः परं द्वितीयपुरुषार्थमर्थरूपं निरूपयन्तीत्याहुरेवमिति ।

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

एवममुना प्रकारेण स्वधर्माचरणरूपे प्रथमपुरुषार्थे सम्यक्तया निर्णीते तदनन्तरं विश्वासयुक्तहृदयेन स्वनुष्ठिते च सति, कालानवच्छेदेन स्मर्तव्यः । वैष्णवैरिति शेषः । हीति निश्चितम् । सतां वैष्णवानामैहिकं पारलौकिकं च सर्वकार्यं स्वयमेव विनैव प्रार्थनेन करिष्यति, सर्वथा सम्पादयिष्यति स्म । कुतः स प्रभुरिति । यतोसौ सर्वसमर्थः स्वतन्त्रश्च । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो हरिरेव । अतो वैष्णवानां चिन्ताकरणं व्यर्थमेवेतिभावः । उक्तं च 'भोजने छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः । योसौ विश्वम्भरो देवः स किं भक्तानुपेक्ष्यत' इति । अतोत्र भगवद्भक्तस्तेन भगवदीयानामैहिकामुष्मिकमनोरथानां भगवतः स्वयमेव कर्तव्यरूपेण हेतुना निश्चिन्ततां व्रजेत् प्राप्नुयादित्यर्थः । यथोक्तं दशमस्कन्धे 'तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः । त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो' इति ॥ २ ॥

एवं भगवत्सेवैकफलं वैष्णवानां समस्तकार्यसाधकमर्थरूपं द्वितीयं पुरुषार्थं निरूप्यातः परं कामरूपं तृतीयं पुरुषार्थं निरूपयन्ति यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

हे मनुज यदि स्वहृद्यन्तःकरणे सर्वात्मना सर्वात्मभावेन श्रीगोकुलाधीशः प्रभुः स्थापितस्तदा ततः श्रीगोकुलाधीशात्पूर्णपुरुषोत्तमादपरमन्यत्सर्वस्मादत्युत्कृष्टं भक्तानां सर्वकामपूरकं वस्तु किमप्यस्ति तर्हि ब्रूहि कथय । लौकिकैर्लौकिकसाधनसिद्धियुक्तैर्वचनैस्तथा वैदिकैर्वैदिकयागादिसाधकवचनैर्निर्द्धारितफलं मुक्तिसाधकं मुमुक्षूणां कामपूरकमपीदमेवेतिभावः । उक्तं च श्रीमदाचार्यचरणैरन्तःकरणप्रबोधे 'अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु । कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्' । किञ्च । 'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव । मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवे'ति । अर्थाद्भगवत्स्यास्यर्थं भगवदीयानां भगवत्स्वरूपसेवनमुपदिष्टं प्राचीनैर्भगवदीयैर्नारदाद्यैर्मुनिभिः । यदि स एव हृदये स्थापितो निविष्टस्तदा तस्य वैष्णवस्य सेवाफलं किमपरमन्यद्दुष्प्रापमन्यं, न किमपरमन्यदपीति सिद्धान्तः ॥ ३ ॥ एवं कामरूपं तृतीयं पुरुषार्थं निरूप्यातः परं चतुर्थं मुक्तिरूपं पुरुषार्थमुपदिशन्ति—अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः ।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

अतः परं श्रीगोकुलेश्वरस्य स्वहृदि स्थापनानन्तरं मुक्तिसाधनं निर्दिशन्त आहुः अतः इतीति समाप्तौ । श्रीगोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् । इतीति समाप्तौ । श्रीगोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् पुनर्व्याध्यनुत्पत्तिकरं भवति, तद्वद्यथा औषधसेवनात्सुखीभूतस्यापि पुनरौषधसेवनं पुनर्व्याध्यनुत्पत्तिकरं भवति, तद्वदत्रापि भगवत्प्राप्तौ सत्यामपि पाञ्चभौतिकदेहभृतो जीवस्यासुरादिसङ्गादासुरावेशसम्भावनायां तदनुत्पादकं साधनं कर्तव्यमेव वैष्णवेनेत्यर्थः । अतोऽत्रेदमौषधवत्सर्वथा न त्याज्यं भगवतः स्मरणं तथा भजनं चेत्यर्थः । स्मरणं त्वन्तःकरणमलापहारकं जीवस्य । भजनं भगवत्सेवारूपं शरीराङ्गीकारज्ञापनार्थम् । यद्यपि शरीरत्यागानन्तरमन्यशरीरं प्राप्य भजनानन्दप्राप्तिरूपं मुक्तिफलं भविष्यति परन्तु तदपि फलमनेन देहेन भगवत्सेवाकरणादुत्पन्नमस्ति तेनास्यैव रक्षार्थं निरूपितम् । भगवता दैवजीवोद्धारार्थं स्ववागीशरूपः प्रकटीकृतस्तेनोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैर्मे मतिरिति । भगवदीयेषु स्वकृपाख्यापनार्थमिति दिक् ॥ ४ ॥

इति श्रीकृष्णवागीशसिद्धान्तस्य प्रकाशिका ।
चतुःश्लोकी प्रसादेन तस्यैव विहृता मया ॥ १ ॥

इति श्रीमत्पितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचित
चतुःश्लोकीप्रकाशः समाप्तः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

चतुःश्लोकी ।

विवृतिसमेता ।

नमः श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जनरेन्द्रवे ।
धर्मार्थकाममोक्षार्थं सेव्याय स्वजनैः सदा ॥ १ ॥

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयग्रन्थे शरणागतिं निरूप्य शरणागतानां स्वमार्गीयप्रमाणादीन् धर्मादींश्चोपदेष्टुं पूर्वं धर्मं निरूपयन्ति सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदा सर्वस्मिन्काले । एतेन निरोधलक्षणोच्यमाना सर्वेन्द्रियैः सेवा सूचिता । फलरूपा मानसी वा, अन्यथा कालापरिच्छेदनासम्भवात् । सर्वभावेनेति । सर्वेषामिन्द्रियाणामहमहमिकया प्रवृत्तिः सर्वभावः । 'तन्मनस्कास्तदालपास्तद्विचेष्टास्तदात्मिका' इतिश्लोकोक्तवत् । 'तस्मात्सर्वात्मना नित्य'मिति नवरत्नवाक्याच्च । यद्वा, पतिपुत्रादिभावेन । व्रजस्य निःसाधनस्यानन्यस्वामिनः अधिपः । अत एवावश्यं सेवनीयः । स्वस्यात्मनो जीवमात्रस्य अयं मुख्यो धर्मः । अन्ये त्वेतदङ्गभूता इत्येवकारः । धर्म इति 'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्म' इतिकारिकोक्तो विध्युक्तः । विधिस्तु नारदीये 'प्रातर्मध्यन्दिने सायं विष्णुपूजां समाचरेत् । यथा सन्ध्या तथा नित्या विष्णुपूजा स्मृता बुधैः' । एतदेवोक्तं भक्तिहंसे 'स्त्रियाः स्वपतिभजनव'दित्यादि । हीति युक्तोयमर्थः । अन्यो देवतान्तरभजनरूपो धर्मः, क्वापि कस्मिन्नपि देशे, कदाचन कस्मिन्नपि काले न भवति । एवकारस्तु अयोगव्यवच्छेदकः । अग्रिमे 'ब्रूही'तिपदादत्र हे अन्तःकरण हे भक्त इति वाऽध्याहार्यम् ॥ १ ॥ एवं व्रजाधिपतिभजनरूपं 'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्म' इतिवाक्योक्तं धर्मं सप्रमाणं निरूप्य प्रमेयमर्थरूपं भगवन्तं निरूपयन्ति एवमिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

देवतान्तरभजननिवृत्तिपूर्वकं भगवद्भजनं कुर्वतां पुंसां, स्मेति प्रसिद्धौ । यत्कर्तव्यमर्थादिसम्पादनं तत्सर्वं प्रभुः स्वयमेव करिष्यति । स्वकर्तव्यमिति पाठे स्वैः कर्तव्यम् । शेषं पूर्ववत् । भगवतः स्वयमेव कर्तव्यत्वे प्रकारबोधनायाहुः प्रभुरिति । प्रकर्षेण

भवति, स्वयमेव भक्ताभिलषितवस्तुरूपो भवति । यथा मैथिलश्रुतदेवगोर्ह्दयोर्कृष्यादिवा-
इनादिसर्वरूपो भूत्वा विवेश । अत एव 'यद्यद्धिये'तिवाक्यम् । ननु सर्ववेदप्रतिपाद्यो
भगवान्भक्ताभिलषितरूपमुच्चावचत्वं कथं भजत इत्यत आहुः **सर्वसमर्थ** इति । सर्वेषूच्चा-
वचभावेषु समस्तुल्योऽर्थो भावो यस्य । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'तिश्रुत्या वस्तुतः सर्वस्य भगव-
स्त्वात् । हि युक्तोयमर्थः । तेन भगवतः सर्वसमर्थत्वेन **निश्चिन्ततां** व्रजेत्प्राप्नुयात् । विधौ
लिङ् ॥ २ ॥ एवं'मर्थों हरिरेव हि' 'प्रमेयं हरिरेवैक.....' प्रमेयं हरिं निरूप्य सकामं
साधनदशां प्राप्तं हरिं निरूपयन्ति यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

एतेन दुर्लभत्वमुक्तम् । अत एव दिदृक्षा । श्रीयुक्तो गोकुलाधीशः । 'कामः स्त्रीषु मति-
ष्ठित' इतिवाक्यात्ताभिर्युक्तः कामरूपः हृदि धृतः, हृच्छयः कृतः । तत्रापि सर्वात्मना
सर्वेन्द्रियैः 'एकादशेन्द्रियैः काम' इतिनिबन्धवाक्यात् । यद्वा, श्रीभिर्गोपिकाभिर्युक्त इत्यु-
क्त्या साधनं निरूपितम् । 'कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च त'दितिवाक्यात् ।
ततः साधनसहितकामरूपहरेर्हृदि धारणादपरमुत्कृष्टं स्वस्तिपरं किं स्यात् । एतादृशं कि-
मपि न । अस्ति चेद्ब्रूहि । लौकिकैरित्युद्यमादिभिः । वैदिकैरिति यज्ञादिभिः साधनै-
रपि ॥ ३ ॥ एवं हरेर्दिदृक्षारूपं कामं साधनं निरूप्य फलं मोक्षं निरूपयन्त्यत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतो हृदये श्रीगोकुलाधीशधारणादन्यत्साधनं नास्ति, अतः सर्वात्मना देहे-
न्द्रियमाणान्तःकरणैः शश्वन्निरन्तरं, गोकुलेश्वरपादयोः गवां कुलस्य 'कुल संस्त्याने
बन्धुषु चे'ति धात्वर्थात्समूहस्य, गोबन्धूनां गोपगोपीनां, गोकुलग्रामस्य वा ईश्वरस्य नि-
यामकस्य, पादयोः स्मरणमाध्यानं भजनं सेवनं तनुजवित्तजमानसमकारैः परिचरणं न
त्याज्यं, अन्यत्यागपूर्वकं सादरं सर्वथा विधेयम् । चकारः अयोगव्यवच्छेदकः, अनुक्त-
श्रवणकीर्तनसमुच्चायकश्च । अपिः संभावनायाम् । त्यागसम्भावनैव नास्ति । इति एवंप्र-
कारिका मम मतिः । मन्मतेः पर्यवसानमत्रैव । इदमेव फलम् । मोक्षश्चायम् । 'मोक्षः कृष्ण-
स्य चेद् ध्रुवमि'तिवाक्यात् । 'मयोत्तमश्लोकजनेषु सख्यमि'ति वृत्रासुरोक्तेश्चेति दिक् ॥४॥

एवं श्रीवल्लभाचार्या धर्मार्थेच्छाऽमृतान्निजान् ।

लोके प्रदर्शयामासुः प्रमाणादींश्च येचरः ॥ १ ॥

इति विवृतिः समाप्ता ।

---

१ एतावदेवोपलब्धा ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीमद्गोस्वामिश्रीमथुरानाथकृतव्याख्यानान्विता ।

श्रीहरिवागीशो विजयतेतराम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाधीशपादाब्जयुगलं मया ।
क्रियते तच्चतुःश्लोकीव्याख्यानं विदुषां मुदे ॥ १ ॥

अथ श्रीपुरुषोत्तममुखारविन्दाधिदैविकानन्दमयाग्निस्वरूपश्रीवल्लभाचार्यचरणाः परमकारुणिकाः स्वान्तःकरणोपदेशद्वारा स्वसमीपस्थान्तरङ्गभक्तोपदेशव्याजेन चाखिलस्वकीयनिरुपधिदुःखप्रहरणेच्छया स्वप्रकटितभक्तिमार्गे श्रीकृष्ण एव धर्मादिचतुष्टयपुरुषार्थरूप इति तानुपदेष्टुं शिक्षितुं च तावच्छ्लोकैरेवैनद्धर्मादीनुपदिशन्तस्तत्रापि 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' 'धर्मेण पापमपनुदति' 'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ती'त्यादिश्रुतिभिर्मर्यादायामपि तत्परमोत्कर्षत्वं यत्र, तत्र फलमार्गीयभक्तिमार्गे तत्परमोत्कर्षत्वे किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायमतमपि सूचयन्तो, भजनरूपे धर्मे क्रियमाण एव सदर्थादित्रितयं सेत्स्यतीति न तदर्थं पृथगायासः कार्य इति मार्यादिकतच्चतुष्टयतो भक्तिमार्गीयतच्चतुष्टये वैलक्षण्यमतिसौख्यमिति च ध्वनयन्तस्तच्चतुष्टुं च सर्वत्र प्रथमं धर्म एवोद्दिष्ट इत्यत्रापि तावदादौ तमेव दृढयन्तो निरूपयन्ति सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सावधानतया श्रवणार्थमाभिमुखीकरणेन हे अन्तःकरण! हे भक्त! इति वा सम्बोध्य सर्वदा सर्वस्मिन्काले सर्वभावेन व्रजाधिपो भजनीय इत्यन्वयः । भगवदीयेन त्वयेति शेषः । उपदेश्योद्देशाश्रवणतस्तथासम्बोधनं वक्तव्यमन्यथोत्तरे 'ब्रूही'ति पदं न सङ्गच्छेत । आसुरप्रवेशाभावाय सर्वदेति कालापरिच्छेद उक्तः । सर्वभावः सर्वेषां भावः पतिपुत्रधनादि सर्वं प्रभुरेवेति । अत एव पुष्टिश्रुतिरूपाभिस्तामसप्रकरणीयफलप्रकरणे 'अस्त्वेवमेतदि'त्यत्र तत्रैव गीतं 'श्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे'ति । एतदर्थस्तु 'नरकरथनिधियो देह' इत्यारभ्य 'भगवत्सेवैवोचिते'त्यन्तं तद्वाक्याशयेन प्रभु-

चरणैस्तथैव निरणायीति तत एव विभावनीयः । यद्वा, सर्वेषु पदार्थेषु भावो भगवत्स-म्बन्धित्वभावनं, तेनेत्यर्थः । अत एव वृत्रासुरेणापि तथा प्रार्थितं 'त्वन्माययात्मात्मज-दारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयादि'ति । अथवा सर्वभावः सर्वात्मभावः, तेन तथेत्यर्थः । आत्मपदमन्तरेण कथनं तु 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' 'परोक्षं च मम प्रिय-मि'तिव्याहारतः परोक्षकथनाभिप्रायेण । स्वरूपं तु सर्वेषामिन्द्रियाणामहमहमिकया निरुपधिभगवत्प्रवृत्तिः । विशेषतो जिज्ञासायां तु विवेचितोऽस्मत्प्रभुचरणैरणुभाष्यतृती-याध्यायतृतीयचरण इति सुधीभिस्तत एव परिभावनीयः । तदधिकरणरूपास्तु व्रजे रासमण्डलमण्डना एवेति न तद्भावाधिष्ठानान्वेषणप्रयासः । सर्वभावेनेत्यत्र हि करणे तृतीया, तद्धि व्यापारवत्कारणं, व्यापारस्तु 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्' । तथा च सर्वात्मभावजन्यफलं भजनानन्दानुभवस्वरूपं, तच्च रसात्मकप्रभुस्वरूपात्मकमेव । 'रसो वै स' इतिश्रुतेः । मध्ये रमणमवान्तरव्यापारः । अत एवोक्तं फलप्रकरणारम्भे तथैव प्रभुचरणोक्तिरुभयत्र । 'पञ्चधा रमणं मतं' 'ततो रूपं प्रतिष्ठितम्' । 'हरिप्रियास्त्व-ति शेष' इति । अत एतद्रमणस्य तज्जनकत्वम् । एवं चोक्तप्रकारेण भजने फलाभाव-शङ्का निराकृता । करणं तु फलवच्च तु फलात्मकं, तेनास्य साधनत्वं न तु फलरूपत्व-मिति पूर्वपक्षिमनःफलिलतां व्रजाधिपपदेन निरस्यन्ति । व्रजस्य 'अङ्घ्यापृतं निधि-शयानमतिश्रमेणे'तिवाक्यान्निःसाधनस्याधिपः प्रभुः राजवन्नियामकः, 'अनन्यगोकुलस्वा-मिफलदाता फलात्मक'श्चात एव 'निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोऽस्ति गोकुले' इति श्री-मदाचार्यचरणोक्तिरपि । स एव भजनीयः सेव्यो नान्यस्तदंशः फलादिर्वेत्यर्थः । एवञ्च सतीदं भजनं फलरूपं साधनरूपं च । यथा चाखण्डभूमण्डलाखण्डलस्य हि हेममणि-माणिक्यमयरुचिरपात्राणि, कोशविशेषे सङ्ग्राह्याणि व्यवहार्याणि च तान्येव । यतस्तस्यैव सर्वाधिकैश्वर्यत्वात् । तेषामपि तत्तज्जातीयेभ्यस्तथात्वात्तथात्रापि । न हि ततोऽपि जीवमात्र-नियामकोऽपरोऽस्ति येन सोपि नियम्यः स्यात् । अतो भक्तिमार्गे सकलसाधनमूर्धन्यमेव साधनं सकलफलमूर्द्धन्यमेव फलमिति नानुपपत्तिः काचित् । किञ्च, प्रामाण्यापेक्षाया-माप्तवाक्यं शब्द एव प्रमाणम् । आप्तत्वं तु यथाभूतार्थोपदेशकर्तृत्वम् । प्रकृते तादृङ्महा-नुभावाः श्रीमदाचार्यचरणा एवेति नेतरप्रमाणाकाङ्क्षा । युक्तं चैतत् । न हि साक्षात्पुरु-षोत्तममुखारविन्दाधिष्ठातृरूपानन्दमयाग्निस्वरूपादितरः कश्चन तथाभवितुमर्हतीत्यलं वि-शेषजल्पनेन । अत एवा'चार्यं मां विजानीयादि'ति भगवदुक्तिरपि । वस्तुतः पुरुषोत्त-मा एव श्रीमदाचार्याः, तत्त्वं च कस्यचिद्भक्तविशेषस्य तद्भक्त्युद्रेकदशायामेवानुभूतं भवति, अनुभूतं चासकृत्तादृशैः । अत एव वल्लभाष्टके 'अनुभवनिगमाद्युक्तमाने'त्यत्र श्रीगोकुलनाथचरणैर्विविच्य तेषु तथात्वं निरणायि । एवञ्च तादृगाचार्यवचनानि श्रुतिरू-पाण्येव । 'निःश्वसितमस्य वेदा' इतिश्रुत्या भगवन्निःश्वासरूपस्य तस्योक्तहेतोस्तत्रैव संभ-

वात्र तच्छङ्कागन्ध इति दिक् । प्रस्तुतं वदामः । व्रजपदं तन्निष्ठपदार्थमात्रोपलक्षकमिति तत्रत्याः सर्वे एव भूमियमुनापुलिनाद्रिनिकुञ्जगह्वरवृक्षलतापक्षिगोगोपालगोपीजनमृगादयो लक्षिताः । अत एव 'धन्येयमद्य धरणी'त्यादि भगवता गीतम् । किञ्चात्र भजनीय इति विधिस्तत्राप्यपूर्वनियमविधी तु न सम्भवतस्तल्लक्षणाभावात् । तथा हि नहीश्वरभजनमप्राप्तं, न वा तद्भजनं पाक्षिकमिति नोभयलक्षणावसरः । अत'स्तत्र चान्यत्र च प्राप्त' इतिलक्षणः परिसंख्याविधिरेवायं पारिशेष्यादिति सिद्धम् । एवं च तदकरणेऽपराधरूपमत्यवायोपि सूचितः । यथा मर्यादाया तदकरणे प्रत्यवायस्तन्मार्गीयफलाभावश्च, तथात्रापि पुष्टिमार्गीयाचार्यनिदेशोल्लङ्घनेऽपराध एतन्मार्गीयफलाभावश्चेतिभावः । ननु यत्र रागतः प्रवृत्तिस्तत्रैव स, अत एव 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति तार्किका इति चेत्, न । तथालक्षणस्यानुपलब्धेर्विनिगमकाभावाच्च । यद्वा, मास्त्वयं प्रमाणवृत्तान्तः, प्रमेयपद्धतौ विधेरनियामकत्वात् । वस्तुतस्तु आवश्यकार्थेऽनीय 'आवश्यकाधमर्ण्ययोः' 'कृत्याश्चे'त्यनुशासनात् । तेन सदानन्दरूपत्वाच्छ्रीगोकुलाधिपतिरवश्यमेव भजनीय इति भावः । अपरञ्च, व्रजधातोर्गमनार्थकत्वेन व्रजतीति व्रज इतिव्युत्पत्त्या पचाद्यच् । भगवतस्तस्याधिपत्येन सोपि व्यापिवैकुण्ठात्मक इत्यसूचि । तेन भक्तहृदयप्रदेशादौ भगवदाविर्भावयोग्यतायां तदिच्छया ततः पूर्वमेव तदाविर्भाव इत्युक्तं भवति । अन्यथा तस्य तदधिष्ठानता न स्यात् । न वा भगवतः साधारणवद्यत्र कुत्रचित्तदन्तरेणाविर्भावः । इतरथा निखिलजीवनियामकस्यानन्दरूपफलात्मकस्य त्रैलोक्यस्याधिपतेस्तदाधिपत्यमात्रकथनेन को वा तदुत्कर्षः स्यात्, प्रत्युतापकर्षाधायकश्च भवेत् । न चेन्द्रादिलोकवत्तस्योत्कर्षः कुत्रचित्पुराणादौ प्रख्यातो येन तदधिपतित्वेन तादृस्यापि तादृङ्माहात्म्य, यतस्तथात्वं वदेयुः । कदाचित्तादृशश्रवणमपि भूलोक एव न स्वर्गादिषु, क्वचिच्छ्रूयतेऽपि न तादृशः, सोपि तत्तादृशलीलादर्शनानन्तरमेव, न तदर्वाक् । तादृगपि [illegible] सर्वजनावच्छेदेन किन्तु केषाञ्चिदेव भूरिभाग्यभाजा तथात्वं भासते, सोपि भगवतः सकाशादेतस्यैव, नापि ततो भगवतः । किं बहुना तादृशस्यापि प्रादुर्भावोपि माहात्म्याच्छादक एव । अत एव क्वचित्पुराणामपि तन्नावरोधः । अत एव श्रीभागवते पुराणान्तरीयप्रसिद्धाध्यायत्रयकथा । तत्रैव श्रीगोवर्द्धनोद्धरणप्रस्तावे पुरन्दरगर्वश्च । सोपि तत्र तज्जन्मादिभ्रमहेतुक एव नान्यथा । नन्वेवं चेत्तर्हि तत्रैव स एव तेषामेव कथं स्तुत्यो जात इति चेत्, सत्यम् । परं सा स्तुतिः पूर्वं तन्माहात्म्यज्ञानत एव । यतस्तत्स्वरूपज्ञान, तत्रापि गर्भ एव ज्ञानादेव तादृक्तन्माहात्म्यावबोधनं, ब्रह्मणो भगवदवतरणसम्बन्धिनिखिलवृत्तान्तावबोधात् । अत एव जन्मप्रकरणीयप्रथमाध्याये राजप्रश्नाभिनन्दनानन्तरं 'भूमिर्दृप्तनृपव्याजे'त्यादिना श्रीशुकैस्तत्र तज्ज्ञानं निरूपितम् । न चैवं वत्सचारणचरित्रे तस्य तदुद्धरणप्रश्नयवचनं स्यात्तन्मोहासम्भवादिहासम्भवादिति वाच्यं, सर्वमेतदस्मत्प्रभुचरणैस्तामसप्रकरणीयप्रमाणप्रकरण-

चरमाध्यायसमाप्त्यनन्तरमेव 'कथामात्रं हरेर्वाच्य'मित्यादिना समाहितं । श्रीविट्ठलचर-
णैरपि तदर्थविवरणे विविच्य निरणायीति नानानुद्यते विस्तरभीतित इति नात्र पूर्वप-
क्षावसरः । अतो व्यापिवैकुण्ठात्मको व्रज इति व्रजाधिपतत्पदेन ध्वनितम् । अत एवाथ-
र्वणे कृष्णोपनिषदि 'वैकुण्ठं गोकुलवनं तापसास्तत्र ते द्रुमाः' । तैत्तिरीयश्रुतावपि 'ते ते
धामान्युश्मसि गमध्यै गावो यत्र भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं
पदमवभाति भूरेः' । 'विष्णोः कर्माणि पश्यत, यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ।
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततमि'ति । एतदर्थः प्रपञ्चितः
श्रीविट्ठलवरैर्विद्वदाभरण इति नास्माभिरत्र विस्तरणीयस्तथापि तदध्ययनमाधुनिकानां
सर्वेषां दुर्घटमिति तत एव तमेवार्थमल्पतोऽनुब्रूमः । तथा हि हे भगवन् ते तव ते तानि
'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणा'मित्यनुशासनाल्लिङ्गव्यत्ययः । धामानि क्रीडास्थानानि ।
गमध्यै प्राप्तुं । उश्मसि कामयामहे । तानि कानीत्याकाङ्क्षायां गूढाभिसन्धिमुद्घाटयति
श्रुतिः । यत्र श्रीगोकुले भूरिशृङ्गा दीर्घशृङ्गा गावो वसन्तीति शेषः । अथवाऽऽरण्य-
ग्राम्यपशूपलक्षणार्थम् । भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा रुरुप्रभृतयो मृगा गावश्च तथा । कीदृशाः ?
अयासः शुभाः शोभावहाः शोभाधायका इति यावत् । तस्येति शेषः । अत्र स्थाने
भूमौ । तथापि स्वस्य तादृग्भाग्याभावादृग्गोचरो न भवतीति खेदेनाहेत्याह श्रुतिः ।
तल्लोकवेदप्रसिद्धम् । उरुगायस्योरुकीर्तेर्भगवतो, विष्णोर्व्यापकस्य । अत एव भूरेर्वे-
कुरूपस्य, रासोत्सवादौ तथा प्राकट्यात् । तच्छ्रीगोकुलं परमं पदं, स्थानं वैकुण्ठं
पदं, तस्मादप्यधिकं परमं पदं, प्रकृतिप्रियत्वेनापि परमं तादृशं पदमवभाति प्रकाशते' ।
अत्र स्वयं नित्या श्रुतिः 'अवभाती'ति वदन्ती स्वभानविषयस्य श्रीगोकुलस्यापि नित्य-
त्वमेव ब्रूते । अन्येषामनवभानपक्षेपि वर्तमानप्रयोगतो विषयस्यापि तत्त्वमेवायातीति
भावः । एतदनन्तरमेव च 'विष्णोः कर्माणी'ति पठ्यते । तथा पूर्वस्मिन्मन्त्रे 'यत्र भूरिशृङ्गा
अयासस्तत्तस्य परमं पद'मित्युक्त्वा, तत्र तदनन्तरं कृतानि विष्णोः कर्माणि यशो-
दास्तनपानपूतनासुपयःपानरिङ्गणादीनि पश्यत, यूयमिति शेषः । यतः कर्मभ्यो हेतु-
भूतेभ्यो व्रतानि कात्यायन्यर्चनादीनि, सान्निध्याद्विष्णुरेव पस्पशे स्पृष्टवान् । अयं भावः ।
तत्फलत्वेन तत्कर्त्रीष्वाविर्भूय तासु सर्वां लीलां कृतवानिति । 'स्पश बाधनस्पर्शयो'रिति
धातोर्लिटि रूपम् । यद्वा, अयं धातुरुभयार्थकस्तेन व्रतानि लोकमर्यादाव्रतानि पाति-
व्रत्यादीनि बबाधे । अयमप्यर्थः । वेदमर्यादात्याजकानां कर्मणां सदोषत्वशङ्कापरि-
हाराय 'यत' इत्यव्ययप्रयोगः । तथा चैतत्कर्मणामविकृतत्वमुक्तम् । किञ्च, स्वव्रतानि
आत्मारामत्वपूर्णकामत्वादिनियमरूपाणि बबाधे । अस्मिन्नर्थे नञ्प्रश्लेषेऽव्रतानि स्पृष्ट्वा-
नित्यप्यर्थो युज्यते तदा, तानि कर्माणि गोपीभिः सह रमणरूपाणि पश्यतेत्युपदेशः ।
अत्र कश्चनार्थविशेषस्तत्रैवोपपादित इति तत एव परिभावनीयो, विस्तरभयतो नात्र

वितन्यते । इन्द्रस्य युज्यो योज्योऽनुकूलः सखा । अयमाशयः । प्रभुणा इन्द्रयागभङ्गे कृते यदुन्नगादिकासाधारणत्वर्पणेनेन्द्रेण तद्द्रोहे कृतेपि सर्वसमर्योपित हेतुकन्तन्मदमेव दूरीकृतवान्, न तु स तदधिकार चेति तथा । तदनन्तरमिन्द्राभिषेकगोविन्दनामधारणादिभिस्तत्समानधर्मस्तथा । एवं निरूप्य तत्पूर्वोक्तं विष्णोः लीलास्थानं परमं पदं सूरयो विद्वांसः, तत्त्वं च शब्दब्रह्मपरब्रह्मस्वरूपविच्चम् । तत्र परब्रह्मबोधस्तु भक्त्यैवेति सिद्धान्तः, 'भक्त्या मामभिजानाति' 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इत्यादिवाक्यैः सूरयो भक्ता एव । न'न्वत्राह तदुरुगायस्ये'ति 'सूरयः सदा पश्यन्ती'तिवाक्यैकवाक्यतायां भूमौ तत्परमं पदं भक्ता एव सदा पश्यन्तीत्यर्थोऽवसीयते, एवञ्च काननकालिन्दीतत्पुलिनगिरिवरगह्वराधारमकत्वेनोद्भूतरूपवन्महत्त्व । तदेव हि द्रव्यं यच्चाक्षुषं, यन्महत्त्वे सति उद्भूतरूपवदिति तर्कोक्तिः । तच्चाक्षुषं द्रव्यात्मकं च तत् परमं पदं कथं भक्तैकदृश्यमेव, न साधारणजनगोचरमित्याशङ्कायां दृष्टान्तमाह–दिवीव चक्षुराततम् । दिवि स्वर्गे यथा आ समन्तात् तत व्याप्त 'यन्न दुःखेन सम्भिन्न'मितिवाक्यात्सुखैकसाधनतद्रूप तत्पदार्थं तत्रस्थानामेव चक्षुः पश्यति नान्येषाम्, तथैतल्लीलामध्यवर्त्तिनामेव तद्दृश्यमित्यर्थः । शाखान्तरेपि, 'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि' । अर्थस्तु, ता तानि, वां युवयोः कृष्णरामयोः गोपीमाधवयोः, वास्तूनि अनेकविधकुञ्जादीन्येव वस्तूनि, गमध्यै गन्तु 'तुमर्थे से स' इत्यनुशासनादेतत् साधु । वृष्णः कामान् वर्षतीति वृषा, तस्य । गोपिकासु कामवर्षकस्य । भूरि बहुरूपं, पदविशेषणम् । अग्रिमार्थस्तूक्त एव । परमपदा'दधिक तत्रानुप्रविष्टमितिन्यायो ध्वनितः अन्यथा तत्पदमित्येव श्रुतिर्वदेत् । एवञ्च, लक्ष्मीतुल्यतायामपि यथा भक्तेषु तत्र उत्कृष्टत्वं 'गोप्योन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्री'रितिवाक्यात् । अत एव 'स्वानन्दानुभवार्थ'मित्यस्य विवरणे श्रीविट्ठलेश्वरै'स्तथा च स्वपदस्य स्वामिनीवाचकत्वे'त्यादि व्याख्यानं कृतम् । तथा च प्रसिद्धतदपेक्षया प्रभो रतिप्रीतिसाधकत्वेनानिर्वचनीयत्वच्छविविधायकत्वेन [illegible] तस्य तथात्वमितिभावः । 'न श्रियो व्रजसुन्दर्यं' इत्यादि तत्रत्यबृहद्वामनपुराणीयकथाप्युक्तार्थेऽनुसन्धेयेत्यलं विस्तरेण । प्रस्तुतमनुसरामः । एतादृशस्याधिपो भजनीयः सेव्य इत्यर्थः । सेवा हि सेवकस्यैव धर्मः । 'भज' धातोः [illegible] एवार्थो निरूढः । तथा चाशेषजीवानां सहजदासत्वमसूचि । तदकरणे तद्दण्डयोग्यत्वं च इत्यपि । उक्तमेवोद्घाटयन्ति स्वस्येति । स्वस्य भगवदीयस्यायमेव भजनाख्य एव धर्मो न [illegible] मार्यादिकः [illegible] इतिभावः । एवकारस्तु पुरुषोत्तमभजनधर्मातिरिक्तधर्ममात्रव्यवच्छेदकः । अथवा स्वस्यैवाय धर्मो नेतरेषाम् । तेन भगवदीयव्यतिरिक्ता निवारिताः । ततो गोपनमप्यसूचि । अत एव 'न बुद्धिभेदं जनयेत्', 'त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारये'त्यादि भगवज्ज्ञापितम् । एतदर्थमेव शङ्करप्रभृतीनामुद्भवः । यद्वा, अयं धर्म एव

भगवदीयस्य सर्वपुरुषार्थसाधकस्तत एव सजातीयार्थादित्रितयसिद्धेः। अथवाऽयं धर्म एव स्वस्य तथा, न ज्ञानादयः। 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'त्यादिवाक्यतः। हिशब्दः कैमुतिकन्यायेन युक्तार्थं ध्वनयति। भगवता गीतायां 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इति स्वधर्मातिरिक्तसर्वधर्मपरित्यागपूर्वकं निजशरणमुपदिष्टं, तत्फलं च पापमोचनमुक्तं, न स्वरूपसम्बन्धादिकमतोऽयमुक्तमार्गो मार्यादिक एव स इत्येवं निश्चीयते। इतरथा स्वयमपि पापमोचनमेव फलत्वेन नोक्तं स्यात्। एवञ्च यत्र निखिलधर्मतो मर्यादामार्गीयोपि शरणमार्गः साधीयाँस्तत्र फलमार्गीयभक्तिमार्गोक्तप्रकारेण सेवाकरणं, तत्रापि श्रीपुरुषोत्तममुखारविन्दविरचितपद्धत्या, सुतरां तदात्मजनिर्मितरीत्या, सेव्योपि श्रीकृष्णः सदानन्दः फलात्मकस्तत्राप्युक्तभावेन भजनं सर्वधर्मपरित्यागपूर्वकं सर्वोत्कृष्टपरमफलं स्वरूपानन्दात्मकमिति किं वाच्यमिति। अतः सर्वात्मनाऽन्यं निराकुर्वन्ति नान्यः क्वापि कदाचनेति। अन्यः प्रेरणादिलक्षणो धर्मो न भगवदीयो भवतीत्यर्थः। मार्यादिकस्त्वाज्ञगवदीयैर्न कार्य इति भावः। क्वापीति देशाश्रयापरिच्छेद उक्तः। कदाचनेति कालापरिच्छेदश्च। उक्तप्रकारेण दासैस्तद्दास्यमेव विधेयमितिभावः। अत एव 'भक्तिमार्गे हरेर्दास्यं धर्म' इति तन्मार्गमर्मज्ञैर्दास्यमेव धर्मत्वेनोक्तम्। अत एव वृत्रासुरेणापि दृष्टपुष्टिफलेन 'अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूय' इति प्रभुं प्रति तदेव प्रार्थितं नेतरत्। प्रभुसाक्षात्कारे साक्षात्तत्प्रार्थनमनुचितं भक्तस्येति परम्परया तत्प्रार्थनम्। एतेन स्वस्य दीनभावो दर्शितः। प्रभुसन्तोषाधायको यतस्तादृग्भाव एवात एव 'भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनमि'ति भाषितं प्रभुचरणैः॥ १॥

एवं श्रीपुरुषोत्तमस्य भक्तिमार्गीयप्रथमपुरुषार्थरूपत्वं सोपपत्तिकं निरूप्य तस्यैवार्थरूपत्वं प्रतिपादयन्ति एवमिति।

एवं सति स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत्॥ २॥

एवं सति उक्तप्रकारेण भजनरूपे धर्मे क्रियमाणे सति। स्वकर्तव्यं स्वामिकार्यमतस्तत्स्वयमेव स्वाम्येव करिष्यति न तु वदंशावतारादि। अतः प्रभोः स्वातन्त्र्यमप्युक्तम्। 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिवाक्यैः कालादिसूचि। [illegible] जीववत्केवलं पारतन्त्र्यमेव। 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिवाक्यैः कालादिनियामकस्य प्रभोस्तत्केवलं स्वभक्तमाहात्म्यावबोधनायैव नान्यथा। अत एव 'ह्यस्वतन्त्र इव द्विजे'ति तद्वाक्ये इवशब्दः। अस्वतन्त्र इव, नत्वस्वतन्त्र एवेति ध्वनयत्तत्र भगवता तथोक्तमित्यवसीयते। भक्तवात्सल्यतोपि क्वचित्तथा, अत एव दामोदरलीलापि। 'यस्य च भावेन भावलक्षण'मित्यनुशासनात्सतीति सप्तमी। ततः स्नेहानवच्छेदतो दास्यकरणेऽव्यभिचा-

रि नित्यं स्वामिरन्वेष्यमिति च ध्वनितम् । नपुंसकलिङ्गोक्त्या स्वयमित्यप्यपोक्तेश्च प्रभुकृतेर्वास्तवत्वमानन्ददायकत्वमविशारित्वं च । अन्यथैवं कृते कृत्येति वा ब्रूयुः । स्वकर्तारिति च । ननु श्रीमदस्मदाचार्यवर्यचरणसरसिजरजोभूषणभूषितैस्सेवकैर्वाङ्मधुद्रवास्वादिनस्वान्तैस्तद्विश्वासेन तत एव 'किमलभ्य'मित्यादिवाक्यार्थानुसन्धानतः प्रार्थनमन्तरेण भजनोपयोगिनिखिलपदार्थसम्पत्त्या तादृग्भावेन स्वभाग्यसौभाग्यमञ्चयमिव तद्भजनं कर्तव्यमेव, परन्त्वाधुनिकानां तत्स्वरूपानभिज्ञतया तदनुभवाभावाच्च जीवधर्मत्वेन कदाचिदविश्वासेनोत्कृष्टसेवासाधनरूपतनुजवित्तजसेवासिद्ध्यर्थमपरापेक्षायां तत्र प्रयत्ने कृते कदाचिद्बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धौ च स्याताम्, 'त्रैवर्गिकायासे'तिवाक्यात्प्रभुकृतप्रतिबन्धोपि सम्भवेत् । न च सेवार्थं यत्ने क्रियमाणे न भगवत्कृतप्रतिबन्धः, अत एव 'त्रैवर्गिके'तिपदम्; आयासपात्रविघातहेतुत्वे 'त्रैवर्गिके'तिपदं न वदेत्; अतो भजनार्थं यत्ने कृतेपि न दोषः; मर्यादाप्रवाहसंवलितानामेव बाहिर्मुख्यादिभावो, न पुष्ट्यङ्गीकृतानामिति वाच्यं, नवरत्ने 'चापी'तिपदव्याख्यानेऽस्मत्प्रभुचरणैरेतदुत्तरितत्वात् । अपरञ्च, भगवान् पूर्णपुरुषोत्तमः सर्वकरणसमर्थोपि स्वसेवार्थमप्यर्थयत्नसापेक्षश्चेत्तत्सेवायामेव को विशेषोऽन्यसेवैव कुतो न कार्या, यत्नायासस्य तुल्यत्वात् । तस्याक्लिष्टकर्मत्वं च भज्येत । बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धौ च कथञ्चिदपि दुर्निवारौ स्याताम् । स्वामिकृतप्रतिबन्धस्याप्यतिविशिष्टत्वतः स्वकृतोपि प्रयत्नोपि व्यर्थः स्यात् । वस्तुतस्तु अस्मिन्फलमार्गीयभक्तिमार्गे सेवैव धर्म इति राद्धान्तः । अत एवान्यत्र ग्रन्थेऽस्मत्प्रभुभाषणसुधाधारा, 'स्वरूपाख्यमेव धर्मो ही'ति । इतोऽपि स न कार्य एवेत्युक्तं भवति । 'योगक्षेमं वहाम्यह'मितिवाक्यं च व्याकुप्येत । 'तुष्यतु दुर्जन' इतिन्यायेनास्तु वा मार्यादिक एव स तथा'प्यधिकृतत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिः' । अत्रायमभिसन्धिः, परमकारुण्यैकसिन्धुः श्रीगोकुलजनैकजीवनः स्वाश्रितस्य स्वल्पमप्यायासमसहमान एव सर्वकरणसमर्थस्तत्प्रयत्नमन्यथाकरोति स्वस्मिन्विश्वासदार्ढ्याय नान्यथा । तथा यत्र मर्यादाप्रवाहसवलितानामपि भक्तानां यत्क्लेशासहिष्णुः करुणाकोमलो हरिस्तत्र पुष्ट्यैवाङ्गीकृतस्य यत्किञ्चिदपि तदसहिष्णुः श्रीमद्गोकुलजनलोचनचकोरचन्द्र इति किं वाच्यमत एव 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने' इति वचनामृतं च । 'भगवदर्थोपि सा न कार्ये'त्युक्तं नवरत्नेऽस्मत्प्रभुचरणैरत एव । किञ्च, व्रजरत्नानामपि निजनाथनिदेशतोपि न निजव्रजगृहगमनमपि । यत्रैवं सूक्ष्मेक्षिका तत्रेतरेषां बाहिर्मुख्यादौ का वार्ता । अत एव तामसप्रकरणीयफलप्रकरणे 'यर्ह्यम्बुजाक्षे'तिश्लोके व्रजरत्नैर्निरुक्तं यत्प्रभृति त्वत्पादतलमस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति वयमञ्जसा अन्यसमक्षं स्थातुं न पारयामः । विवृतं चैतदस्मत्प्रभुचरणैः 'यथा देहाभिमानी व्याघ्रस्य देहविघातकत्वात्तत्संनिधौ स्थातुं न शक्नोती'ति । एवं च सर्वथोक्तदोषसम्भवभयतो न प्रयत्नं कुर्यात् । अकृते तस्मिन्सेवासाधनानुपल-

थिस्तदनुपलब्धौ भजनोच्छेदस्तदुच्छेदे स्वधर्मात्यन्ताभावादुक्तोपदेशो घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तो वृत्त इति निजजनस्वान्तभ्रान्तिमपनयन्तः प्रवदन्ति—स्वयमेवेति । स्वयं प्रभुरेव सर्वं करिष्यति । स्वाश्रितजनयत्नमन्तरेणापि भजनापेक्षितसकलपदार्थान्संपादयिष्यतीत्यर्थः । सेवकैः सेवोपयोगिसमस्तपदार्थार्थित्वेनेतरतोऽर्थार्थिनेन मनो व्याकुलं न विधेयम् । अनन्याश्रयः, आश्रयान्तररहितः स्वाश्रितजनो यदि भजनानुकूलनिखिलन्यासपुरस्सरं तदनुकूलसकलवस्तुविकारतो निजभजनमेव सर्वतोऽधिकं फलरूपं स्वसर्वस्वं ज्ञात्वा विदधाति तदा सर्वात्मरूपः फलात्मा सर्वकरणसमर्थः कालादिनियामको भगवान्पूर्णानन्दो हरिः परमकृपालुर्यतो यत्किञ्चिदपि स्वकीयपरिश्रमासहमान एव स्वसेवासाधकमेव तदपेक्षितसमस्तसामग्रीरूपं कुतो न विदध्यात् । अन्यथा 'योगक्षेमं वहाम्यह'मितिदृढप्रतिज्ञां न वदेदेव प्रभुरकुतोभयः । अप्राप्तस्य प्रापणं योगः । प्राप्तस्य परिपालनं क्षेम इति तयोरर्थः । यद्वा, स्वयमेव स्वत एव सर्वं करिष्यति प्रार्थनानपेक्षः । एतेन सेवकैर्न प्रभुः प्रार्थनीय इतिभावः । अत एव 'निजेच्छातः करिष्यती'ति नवरत्नेऽस्मत्प्रभुचरणैर्गीतं, 'प्रार्थिते वा ततः किं स्या'दिति विवेकधैर्याश्रयग्रन्थे च । यद्वा, स्वयमेवेत्यादि पूर्ववत्, न कस्यचित्प्रेरणया देवतान्तरद्वारा वा । कालादिदेवतान्तरप्रेरकोऽपि हरिरेवेति भावः । अस्मिन्नर्थेऽन्यायोगव्यवच्छेदक एवकारः । अथवा सेवकप्रार्थनस्य दोषावहत्वात्तत्प्रार्थनमन्तरेणैव ततः पूर्वमेव तदभिलषितं कुर्वन्न तत्प्रार्थनावासनां समीक्षते । अन्यथा 'यस्तु आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्', 'आशासानो न वै भृत्य' इत्यादिवाक्यैस्तत्सेवकत्वहानौ स्वस्वामित्वभावस्तत्र दुर्लभ इतिभावः । एतेन प्रभोः परमभक्तपरमहितकारित्वं समसूचि । अत एव 'योगक्षेमं वहाम्यह'मितिवाक्यम् । यद्वा, स्वयं करिष्यत्येवेति क्रियया सहान्वयेनात्यन्तायोगव्यवच्छेदक एवकारस्तेन प्रभुविश्वासेनैव सेवकैः स्थेयमतोऽस्मिन्मार्गे तदभाव एव परमबाधकः । अत एव विश्वासतदभावयो'र्ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्या'विति तयोरनुसन्धानं तत्रैवोक्तम् । ननु सर्वसमर्थोपि प्रभुः सर्वथा साधनसम्पत्तिमन्तरेण तादृक्फलदाने कथं समर्थो भवेत्, भवेद्वा यथाकथञ्चित्सम्पत्तावेव । अत एव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इतिवाक्ये प्रपत्तिरेव तत्सम्पत्तिरिति चेत्, सत्यम् । परं तत्रेदमवधेयम्—यस्य येन प्रकारेण प्रपत्तिस्तस्मै तत्प्रकारेण प्रयच्छतीति प्रभुः 'तांस्तथैव भजाम्यह'मितिवाक्यत एवमेव । एवञ्च, यत्र मर्यादामार्गोक्तरीत्या प्रपत्तिस्तत्र तद्रीत्यैव फलदानं प्रवाहिकेभ्यः प्रवाहिकरीत्या पुष्टौ तद्रीत्या तथेति विवेकः । इतरथा 'यथा तथे'तिपदे न वदेत् । ये जना मां प्रपद्यन्ते तानेवाहं भजामि हीत्युक्तेपि चारितार्थ्यं स्यात् । उक्तार्थे यथाशब्द इत्यत्र 'प्रकारवचने थालि'तिपाणिन्यनुशासनं जागरूकमेवेति नानुपपत्तिः काचित्, तथाशब्दार्थोप्यनेनैव व्याख्यातः । तथा चात्र भजनोपदेशः पुष्टिपद्धत्यनुसारेणेति तथैव फल-

दानमिति दिक् । इत्थं च मर्यादायां साधनापेक्षो भगवानन्यथासाधनं फलं ददातीति पुष्टौ तन्निरपेक्ष इति निगर्वः । अत एव श्रीमद्भागवते श्रीगोवर्द्धनोद्धरणप्रस्तावे 'गोपायेत्स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहित' इति श्रीमद्गोकुलनाथोक्तिः । अन्यथा व्रजजनस्वरूपानन्ददानं च सुतरामशक्यवचनं स्यात् । न च तत्रैव पूर्वोक्त एव प्रस्तावे पूर्वार्द्धेन 'तस्मान्मच्छरण'मित्यादिनोक्तमेन वक्ति चेच्छरणगमनादिकं तत्साधनमप्यस्तीति वाच्यं, 'निस्साधनफलात्माय'मिति प्रभुवाक्यविरोधापत्तेः । यदि ग्रहिलतया तद्वाच्यं तथापि प्रभुणैव तत्सम्पादितं न तु तैरपि किञ्चित्कृतम् । किञ्च, कदाचित्केषाञ्चित्सम्भवेपि तत्रत्योपरिभागस्थशुकमयूरमृगादीनां सुतरां तदसम्भवः । वस्तुतो नास्त्येव तेषामपि तद्गन्धसम्भवोपि, प्रत्युत विपरीतं च तत् । अत एव श्रीमद्गोकुलस्वामिना महता यत्नेनापीन्द्रबलिभागो निवारितः । अत एवा'न्नापूत'मितिवाक्यं च । न च जन्मान्तरीयं तदस्तीति चेत्, न । तथाकल्पने मानाभावात् । न चैतत्फलान्यथानुपपत्तिरेव तदिति चेन्न । उक्तोत्तपुच्छेदापत्तिः । ननु कचिचाद्युक्तिरपि स्यादिति चेत्, न । 'अस्ति चेदुपलभ्येते'तिन्यायो व्याकुप्येत्, प्रत्युत भगवतैव सर्वं सम्पादितमित्युक्तिर्लभ्यतेपि । अत एव 'प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरि'रितिवाक्यमिति चेत्,समः समाधिः, 'अहो अमीषां किमकारि शोभन'मितिवाक्यात् । अत्र ब्रूमः । यद्यप्येतद्वचनमपि कोट्द्वयावबोधमवगाहते तथाप्युत्तरदले यथोपोद्बलक'मन्नापूतं', 'निःसाधनफलात्माय'मितिवाक्यं न तथा पूर्वदल इत्यनेनापि भगवत्कृतिरेव निरणायि, न व्रजवासिनामसौ मर्यादायां तत्साधनैरेव फलं यतस्तद्रक्षकोपि प्रभुरेव । पुष्टौ तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वं कर्तुं समर्थ इति कृतं वाचां विलासैः । इदानीमुक्तार्थमेवोद्घाटयन्त्यस्मत्प्रभुचरणाः प्रभुरिति । प्रभुः सर्वनियामकः । 'अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वय'मितिवाक्यात् । अत एव समर्थ इति हेतुगर्भं विशेषणम् । सर्वेभ्यः कालादिभ्योपि समर्थः । कालसाध्यपदार्थस्यापि स्वयमेव साधकः । यद्वा, सर्वेष्वाश्रमेषु देशेषु वाहोस्विद्वर्णेषु तथा कालत्रितयेषु वर्णाश्रमादिषु तथा । देशादिषट्साधनानपेक्षः । यद्वा, सर्वस्मिन्साधनविषये तथा । तत्तत्साधननिरपेक्षः । यद्वा, सर्वैः कालादिभिः कृत्वा समर्थः सर्वकरणक्षमः । कालादयोपि तदधीना एवेति तत्साध्यपदार्थस्यापि प्रभोरिच्छामात्रेण त एव साधका न तु विघ्नकर्तारः । अथवा सर्वेषु दैवजीवेषु साधनसम्पत्तिं साधयितुं तथा । स्वस्मिन्नेव ज्ञानादेः सिद्धत्वात् । यद्वा, असाधनमपि साधनं कर्तुं समर्थः, अद्भुतकर्मत्वात् । अत एव तत्त्वार्थदीपे 'असाधनमपि साधनं करोती'त्यस्मत्प्रभुचरणोक्तिः । हिशब्दोपि समर्थमनुमोदते । तथा हि यत्र मर्यादामार्गीयसाधनाभाववत्पापात्यन्तासक्ताजामिलादिभ्यः स्वांशफलावतारः परम्परासम्बद्धेपि नामवर्णाज्ञानेन कथनेनापि परमस्नेहभरतः केवलस्वपुत्रनाममात्रजल्पनेन स्वसम्बन्धगन्धसम्भावनाऽभावेपि तन्नामवर्णमाहात्म्यावबोधार्थं

तादृक्फलदानं तत्र साक्षात्फलात्मकश्रीपुरुषोत्तमस्यैव पुष्टिमार्गीयस्वमुखारविन्दरूपाचार्योपदेशपूर्वकतदुक्तप्रकारेण भजने स्वयमेव किं किं न विधास्यतीति निखिलमनिर्वचनीयम् । य एतादृक् प्रभुः समर्थः, तेन प्रभुणा कृत्वा तेन कारणेन वा हेतुना वा भक्तो भगवति स्निग्धः निश्चिन्ततां निराकुलतां व्रजेत्प्राप्नुयात् । अत्रायं भावः । पूर्वं श्रीमदाचार्योपदेशमात्रेण तद्विश्वासोद्रेकेण भजन् पश्चात्तस्मिंस्तदुद्रेकेण स्निग्धः सन् तथा स्यादित्यर्थः । इदं भजनमेव सर्वस्वमिति ज्ञात्वा यदि भजनमेव कुर्वन्प्रभुं क्षणमात्रमपि न त्यजेत्तदा स तथात्वं प्राप्नुयादिति भावः । तथा चैतन्मार्गीयो द्वितीयपुरुषार्थोऽपि सोपपत्तिको निरूपितः । तथैवाभिहितं भक्तिरससारपरिशीलनशीलैः 'रथौ हरिरेव ही'ति ॥ २ ॥

एवं मर्यादिकौ यौ निराकृतौ तथा कुलेऽप्यर्थे सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमित्यतः कामस्यापि तत्र तदुत्कर्षत्वमाशङ्क्य तदपि प्रभुस्वरूपापेक्षया सुतरामेवाप्रयोजकमिति तृतीयमपि तं तमेव निरूपयन्तस्तत्परिहर्तुमुपक्रमन्ते यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।

ततः *किमपरैर्ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

यदि चेद्गोकुलाधीशो यशोदोत्सङ्गलालितोऽनन्यगोकुलस्वामी । श्रीपदोक्त्या तादृगन्तरङ्गभक्तसहितः । यद्वा, 'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र ही'तिवाक्यतः श्रीयुक्तं यद्गोकुलं, तस्य तथा । पूर्वोक्तवाक्यतः सर्वोत्कृष्टशोभायुक्तं यत्तत्तस्य तथा । तादृशोऽपि सर्वात्मनोक्तिभावेन धृतः भवता त्वया वेति शेषः । धृत इतिपदात्कायवाङ्मानसैस्तदेकपरता ध्वनिता । विशेषतश्चेतस्तत्प्रवणता यतः स प्रभुस्तत्सम्बन्ध्येव । अतः फलप्रकरणेऽस्मत्प्रभुचरणैर्गीतं 'सोऽन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्त' इति । आश्रयान्तरं परित्यज्य केवलतदेकनिष्ठो जात इति यावत् । तदा ततः पूर्वोक्तफलात्मकप्रभोः सकाशादपरैस्तुच्छैर्लौकिकैर्वैदिकैरपि किं ? न किमपीत्यर्थः । अयमर्थः । लौकिकैर्लोके परमोत्कर्षप्रापकैः स्तामसराजससात्त्विकैः । बहुवचनं त्रिविधत्वसूचनाय । वैदिकैस्त्रिविधगुणरूपैर्ब्रह्मलोकयोगसिद्धिमोक्षैः । बहुवचनं पूर्वोक्ताभिप्रायेण । चतुर्विधमोक्षज्ञानादिसूचनायापिशब्दः । उभयविधैस्तैर्ज्ञानादिभिश्च कृत्वा किं ? न किमपीत्यर्थः । अपरमिति पाठे उक्तैस्तैः कृत्वाऽपरमुत्कृष्टं वस्तु किमप्यस्ति । न किमपीत्यर्थः । यद्वा, अपरैर्देवतान्तरैः किं ? सर्वेषां तद्विभूतिरूपत्वात् । अत एवोक्तमस्मत्प्रभुचरणैस्तत्त्वदीपे 'कृष्णशब्देन परं वस्तूच्यते' । 'कृष्णात्परं नास्ति दैव'मित्यन्तःकरणप्रबोधे च । अत्रायमभिसन्धिः । रसातलादिषु भूम्यपेक्षयाप्यानन्दाधिक्यं, तदपि वामनावतारेणैवोद्धृतमतः प्रभोरनपायिन्याः श्रियः सकाशादपि तदप्रयोजकम् । एवं सर्वभूमीश्वरत्वं लोके यशस्करं, तच्च यज्ञदानादिसापे-

* 'अपर'मित्यपि पाठोऽत्रकारैर्वर्णितः ।

क्षमत औपाधिकं सावधि च। न च राज्यमन्ते परलोकोपकारि, 'राज्यान्ते नरकं ध्रुव'-मितिवाक्यात्। अतो भगवदनन्यत्वयशसस्सकाशाच्चथा। एवमेवेन्द्राधिपत्यमपि परिणामापायि। भगवदखण्डितैश्वर्यात्तत्तथा। एवं लौकिकत्रिविधमपि निराकृत्य वैदिकमपि निराकुर्वन्ति। अपरिपक्वयोगिनो हि स्वयोगबलेनाभिलषितपदार्थानाविर्भाव्य तदनुभवं कुर्वन्तस्तस्मादपि भ्रष्टाः सन्तो दुःखिता एव पुनर्जन्मार्हन्तीति भगवज्ज्ञानापेक्षया तद्ज्ञानमपि तथा। भगवज्ज्ञानस्य नित्यत्वात्। ब्रह्मणो रजोऽवतारत्वात्तल्लोकोऽपि राजसः, तत्र हि 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्त' इतिवाक्यात्तत्साहित्येन पारतन्त्र्यतो भोगफलयोः सिद्धिरिति स्वपराक्रमातिक्रमः। भगवद्वीर्यापेक्षातस्तौ तथा। 'तमेव विदित्वाति-मृत्युमेति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये'त्यादिश्रुत्या ज्ञानतो मोक्षस्तच्च 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमि'तिवाक्यतस्तज्जन्यं तदपि सात्त्विकमेव भवितुमर्हतीति तत्साध्यो मोक्षोपि तथा। सोऽपि गणितानन्दात्मकोऽतः पूर्णानन्दमभ्यपेक्षया सोऽत्यन्तं स्वल्पतर इति तथेति वैदिकमपि तत्तथाकृतम्। किञ्च, मायाधिकवैराग्यमपि प्रभोर्भक्तातिरिक्ते रागाभावा-ल्लोकोत्तरवैराग्यतः पूर्ववदिति भगवद्धर्मरूपतत्पञ्चगुणत। पड्विधास्तेऽकिञ्चित्करा यत्र तत्र किं वाच्यमन्तरङ्गधर्मिरूपतद्गुणनस्तथात्वमिति कैमुतिकन्यायोपि ध्वनितः। किञ्च, 'अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'तिश्रुत्युक्तेर्भगवदानन्द-लेशस्तदतिरिक्तसकलार्थेषु निर्णीतः। तर्हि विषयानन्दनिमित्तमात्रपुत्राद्यादिरूपं तदा-नन्दाभासरूपं वस्तुतो दुःखात्मकमेव तत्तथे'त्यधिकं तत्रानुभविष्ट न त तद्धानि'-रितिन्यायमपि सूचयन्तः स्वान्तरङ्गस्याश्रितमभिमुखं विधाय मानोचन्-ब्रूहि त्वमेव यद्। अत्र ब्रूहिपदतोऽस्मदाचार्यवर्यकृपाभाजुर्यतस्तत्कालावच्छेदेन तस्य स्वरूपानन्दानुभव इत्यध्यवसीयते। इतरथा ब्रूहीतिप्रश्नः कथमपि न सङ्घटेतैवेति पूर्वमेवावोचाम। न च तादृग्भाग्यशालिनस्तस्य तादृगाचार्यचरणकृपाकटाक्षपक्षपाततस्तादृक्तदनुभवो दुर्घटस्तस्य तादृङ्मुखारविन्दरूपत्वात्तद्रसपूर्णत्वाच्च। अत एवास्मत्प्रभुचरणैः'स्तत्सा-रभूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रह' इति सर्वोत्तमे तादृगस्मत्स्वामिनाम गीतम्। एवञ्च भक्तो-
१ पदेशपक्ष एव साधीयानान्तःकरणोपदेशपक्षः। फल्प्रकरणे 'ब्रूहि किं करवाणि ते' इतिवत्। अन्यथा स्वमनोबोधे यथा 'किं स्यादिति विचारये'ति तत्प्रत्यवदंस्तथात्रापि तत्पदमेव वदेयुः, यतो विचारो ह्यन्तःकरणधर्म एव, परं तादृगवेपणीय एवेति यदी-तिपद भावितपस्मत्सौभाग्यसुभगभूषणैः श्रीमदाचार्यचरणैरिति दिक्। अत्रायं निगूढा-शयः। पूर्वं देवभजनमेव दुर्लभ, तत्रापि देवाधिदेवस्यातिदुर्लभम्। क्व योगिध्येयो भगवान्ब्रह्मादिदुर्लभो निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः, क्व सकल-

१ उपदेशज इत्यपि पाठ

दोषात्मको दुःखैकसदनरूप आनन्दशून्यो जीवः । अत एव सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यन्यथाकृतौ श्रीविट्ठलवरोक्तिसुधासारो 'ब्रह्मस्तुत्यादिदुरापचरणरेणुरीश्वरः क्वाहं तुच्छो जीव' इति । ततोपि गोकुलेशस्य यशोदोत्सङ्गलालितस्य श्रीगोकुलैकस्वामिनः पुरुषोत्तमस्य श्रीनन्दात्मजस्यात एव 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एवे'त्यस्मत्प्रभुवाक्पीयूषं, तत्रापि श्रीगोकुलेशस्य परमसौन्दर्यसुन्दरस्य सुतरां ततोप्युक्तभावेन ततस्तरां तत्तथा । अत एव श्रीभागवततत्त्वार्थदीपे 'कृष्णशब्देन परं वस्तूच्यते तदेव कदाचित्परमसौन्दर्यं प्रकटं करिष्यामीतीच्छया प्रादुर्भूतं सच्छ्रीकृष्ण' इति श्रीमदाचार्यमधुरं वचः । 'भक्तिमार्गे फलं कृष्णस्तदास्वादस्सुदुर्लभ' इति च । इति च प्रस्तुतासंभावनायां, कदाचित्कस्यचिदेव जीवस्य देहस्य च प्रचुरतरभाग्योदयेन 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतितः स्वमुखारविन्दनिःसृतसुधासाररूपाचार्यचरणापारकरुणया तदनुग्रहतस्तद्दूरीकारेण तादृग्भजनतस्तदुद्रेकदशायां श्रीनन्दराजकुमारसुकुमारनिजचरणकुवलययुगलतरलतरलितपरागसंवलितमनोमधुलिड् एव तल्लेभमिति निगर्वः । एतेनैतादृग्भजनाधिकारी चैतत्कालावच्छेदेन दुर्लभ इति सूचितम् । तथा चैतन्निरूपणेनैतन्मार्गीयदिदृक्षालक्षणतृतीयपुरुषार्थोपि निरूपितोप्यभूत् । न हि तादृक्स्वरूपानन्दानुभवोत्तरं कस्यचिदपि लोकोत्तरपरमानन्दरूपस्य पुनर्दिदृक्षाऽसंभवः, प्रत्युत क्षणमपि तद्दर्शनमन्तरेण स्वरूपानन्दसुधापानपरैस्ततोन्यत्र स्थातुमशक्यं, किं पुनर्वाच्यं दिदृक्षामूले तथात्वं तथेति । अत्रोदाहरणानि व्रजजनरत्नान्येवानुसन्धेयानि । अत एव फलप्रकरणे 'यर्ह्यम्बुजाक्षे'त्यादि तैरेव गीतम् । 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभव'दितिवाक्यतस्तासां तद्वियोगकालीनं क्षणमपि सोढुं तावत्परिमाणकमिति पूर्वोक्तमखिलं कमनीयम् ॥ ३ ॥

एवं तृतीयं तं निरूप्य तुर्यं तथा निरूपयन्ति—अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः ।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

अत्रायमाशयः । व्रजजनवृन्दवाञ्छाकल्पतरुशीलः श्रीगोकुलाधिपतिरदेयस्वस्वरूपानन्ददानक्षमोपि प्रभु'र्मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु'रितिवाक्यतः पुष्टिश्रुतिरूपभक्तवाङ्मनोगोचरातीतपरमानन्ददायको यतः, अतः कारणाद्धेतोर्वा सर्वात्मनोक्तभावेन शश्वन्नैरन्तर्येण गोकुलेश्वरपादयोरनन्यगोकुलस्वामिनः पुरुषोत्तमस्य भक्तिरूपचरणसरसिजयोः स्मरणं भजनं सेवनं, स्मरणं नामानुभवजन्यसंस्कारावबोधरूपमिति तु तार्किकाः । भगवन्मते त्वनुभवजन्यमेव स्मरणमिति राद्धान्तः । एतत्स्फुटीकृतं 'सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपी'त्यत्र सुबोधिन्याशयविशदीकरणे भगवद्दासवर्यैरित्यलं बहुना । चकारात्तद्रजोभिलषणमपि न त्याज्यम् । भक्तैरिति शेषः । यत्र वक्षःस्थलस्थितायाः

चार्यचरणवचनरचना भक्तिवर्धिन्याम्। ननु 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इतिश्रुतेस्त्वदूरयेनै-वोक्तभावेन त्वच्चरणस्मरणादिसम्भवेऽप्युपदेशप्रयासः प्रयास एवेति कस्यचिद्वहिर्मुख-मौखर्यं परिहरन्तः स्वमतिं प्रथयन्ति इति मे मतिरिति। मे मत्सम्बन्धिनी मदीया, मतिः बुद्धिरिति एवंरूपा उक्तप्रकारे व्यवसायात्मिकेत्यर्थः। अत्रायमभिसन्धिः। यद्यपि पूर्वोक्तश्रुत्यादिना तदनुग्रहसाध्यं, तथापि स्वस्य तादृग्भगवन्मुखारविन्दरूपाधिष्ठा-तृत्वात्तदभिन्नतया मे मतिरित्युक्तिर्भगवदुक्तिरेव। तथा चोक्तप्रकारेण तत्करणेऽनुग्रहं करिष्यत्येव परमदयालुः श्रीमन्नन्दराजकुमारः श्रीगोकुलजनलोचनचातकचेतोहरनवनीर-दसुन्दरो, यतो यथा श्रीगोकुल उलूखलबन्धनप्रस्तावे मसङ्गतो नारदोक्तमपि निजोक्तमे-वेति तद्वस्थातोपि तत्साधनमन्तरेणापि स्वमयत्नेन तदुक्तमात्रेण महदायासेन स्वयमेव तत्र गत्वा मलकूवरमणिग्रीवयोस्तद्वृक्षयोरन्तरगतयोलूखलतस्तद्दृढनेन सौ भूमौ पातयि-त्वा निसृतलब्धस्मृतदिव्यशरीरयोस्तयोस्ताद्दक्स्तवननमनपदक्षिणादीनङ्गीकुर्वन्नुत्तर-वानत एव 'तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मने'ति श्रीकृष्णचन्द्रोक्तिः। एवञ्च स्वमुखारविन्दोक्तमखिलं स्वोक्तमेव कुतो न कुर्यादिति मद्विश्वासेन पूर्वोक्तमदुक्तकरणेन भगवदीयैर्निश्चिन्ततया स्थेयमिति भावः। यद्वा, मे मतिरिति भेदबोधकपष्ठ्या स्वमते-स्वातन्त्र्यमसूचि। अत एवासमासोक्तिरपि। अन्यथा मन्मतिरित्येव वदेयुः। तेनाय-माशयः। भारते भीष्मयुद्धे पार्थरक्षार्थं श्रीमद्यदुकुलजलधिसुधाकरः स्वमतिज्ञातामप्यज्ञा-यरूपां स्वोक्तिं वितथीकृत्य तत्प्रार्थनाभावेपि स्वत एव तत्स्यन्दनकगिरिशिखरतः सत्वरमुत्तरश्चपलजलद इव चक्रपाणिस्तेन सह युद्धार्थं मद्भक्तस्तत्प्रतिज्ञामेवापालयत्। यत्र मर्यादायामपि तद्भक्तकृतप्रतिज्ञानिर्वाहकरणं तत्र पुष्टौ निजाज्ञया प्रकटीभूतसाक्षात्स्व-रूपैव मुखारविन्दाधिष्ठातृरूपस्य वस्तुतः स्वस्यैव तस्य तत्साधनसम्पत्तौ सत्यां स्वयमेव स्वस्यैवाभिलषितसम्पादनेन स्वोक्तमेव तदुक्तं कथं न करिष्यतीतिभावः। स्वानभिल-षितमपि वा पूर्वोक्तहेतोर्मदुक्तमिति करिष्यत्येव। एतेन स्वस्य धर्मिमार्गाभिमानमौढत्वम-पि ध्वनितम्। अत एव सिद्धवत्कारेणास्मत्प्रभुचरणानां तादृग्व्याहार इत्यलं शङ्कान्वेषणा-विलासैः। एतेन तदीयत्वसिद्धिस्ततिसद्धौ पुष्टिमार्गीयचरमपुरुषार्थोपि सिद्ध इत्युक्तं भवति। अत एव 'मोक्षः कृष्णस्य चेद्धुव'मित्युक्तलक्षणो मोक्षस्तदभिन्नैरेव भापित इति संक्षेपः॥ ४॥

यद्यप्यनुचितमेतन्मत्योचितं रचितमेतदस्माभिः।
सन्तुं तदपि प्रभवो मन्तुं मे वल्लभप्रभवः॥ १॥
मया नामानुसारेण महानेवानयः कृतः।
यवत्कृतचतुःश्लोकीव्याख्याने विस्तृता मतिः॥ २॥

कृपालवस्त एवैतदागःसन्तु ममेदृशः ।
प्रभवो विट्ठलाधीशा मदीयोयमिति स्वतः ॥ ३ ॥
रमणी रुचिरा टीका भूयान्मधुरभाषिणी ।
करसम्बन्धमात्रेण विद्वदानन्ददायिनी ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणशरणैकधनिना श्रीविट्ठलपदकमलप-
रागपरिमललुब्धमधुना निर्मिता
चतुःश्लोकीव्याख्या वृत्ता

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

चतुःश्लोकी।

श्रीकृष्णरायभट्टविरचितसर्वार्थबोधिकाव्याख्यासमेता।

श्रीमद्वल्लभपादाब्जयुगलं विगलन्मधु।
नमाम्यहं सदानन्दरूपं सर्वार्थसिद्धिदम् ॥ १ ॥
श्रीविट्ठलपदद्वन्द्वं नत्वा मधुसुपूरितम्।
कुर्वेहं श्रीमदाचार्यकृपापूरितवाङ्मनाः ॥ २ ॥
तत्कृतायाश्चतुःश्लोक्या व्याख्यां सर्वार्थबोधिकाम् ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां सकलनिरस्तिसाधनसाध्यफलप्राप्त्यर्थं शुद्धपुष्टिमार्गीयातिरिक्तसाधनासाध्यफलं चात्र ज्ञापयितुं सकलवेदवेदान्तप्रतिपाद्यशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिस्वरूपं तत्साधनं तत्सेव्यस्वरूपं च वक्तुं स्वसिद्धान्तोक्तसुबोधिन्यणुभाष्यादिरहस्यं संक्षेपतश्चतुःश्लोक्या आहुः—सर्वदेति।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदेति न कालनियमोत्र। सर्वकाले निरन्तरम्। नो चेद्भजनाभावे ह्यासुरावेशः स्यादित्यर्थः। सर्वभावेन व्रजाधिपो भजनीयः। यादृशो भावो भगवता सम्पाद्यते, कोपि भावः। भावो मनोवृत्तिः। यथा नन्दयशोदादीनां वात्सल्यभावः। तथाभावेन भजनीयः। अथवा, सख्यभावेन। यद्वा, मुख्यस्वामिनीनामिवासाधारणस्नेहभावेन। तत्र साधनदशायां यावद्भगवति कोपि भावो नोत्पद्यते तावद्भजने क्रियमाणे राजसेवकवद्भयेपि रक्षणीयोपराधाभावार्थम्। नियमस्तु पतिव्रताया इव सर्वथैव भगवद्भजने रक्षणीयः। यथा पतिव्रतायाः पतिभजनं विहायान्यद्धर्मादिकं गौणं, तथा भगवद्भजनं विहायान्यद्धर्मादिकं गौणमेवेति। यद्वा, सर्वभावेन सर्वात्मभावेन सर्वप्रकारेणात्मनः स्वस्य जीवस्य भावो मनोवृत्तिर्भगवति। यद्वा, सर्वेषु स्थावरजङ्गमेषु आत्मनो

---

१ भजनमपि रक्षणीयमिति इक्ष, 'भावो, इतीयमी साध्यस भव'मित्यपरे तस्य नश्वरत्विद्यमानात्।

भगवतो भावनाभावः । तेन तदुक्तं 'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम' इतिवाक्यात् । भजनीयः सेवनीयः । सेवा कर्त्तव्या । सेवा च स्वामिनो मनोनुकूला स्ववृत्तिः, तस्या ज्ञानं तु शास्त्रद्वारेति विवेकधैर्यपूर्वकं कायवाङ्मनोभिर्भगवदाश्रयपूर्वकं चित्तोद्वेगप्रतिबन्धभोगादिकं विहाय सेवनं कर्त्तव्यम् । यद्वा, 'श्रवणं कीर्त्तन'मितिवाक्यात्श्रवणादिरूपा नवधा भक्तिः प्रेमरूपा कार्या । सेव्यस्वरूपमाहुः–व्रजाधिप इति । व्रजस्य निस्साधनस्याधिपः स्वामी नियामकः प्रभुः फलात्मा भक्तानां त्रिविधदुःखदूरीकरणार्थमाविर्भूतः साकारो व्यापक आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपः पूर्णः परब्रह्म 'रसो वै स' इतिश्रुत्या रसात्मा युगलस्वरूपः । सर्वात्मभावेन विरहाकुलितहृदयेन 'यत्र दुःखं यशोदाया' इत्यादिभावनया पूर्वोक्तवात्सल्यादिभावाविष्टेन सेव्यः । ननु 'धर्मेण पापमपनुदति' 'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठित'मित्यादिश्रुतिभि'र्न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशु'रित्यादिना त्यागेनैवामृतत्वप्राप्तेरुक्तत्वात्कथं भजनमेवोपदिश्यत इत्यपेक्षायामाहुः–स्वस्यायमेवेति । स्वस्य जीवस्यात्मनोऽयमेव भगवद्भजनमेव धर्मः । हीति निश्चये । जीवात्मनो भगवद्दासत्वाद्दासिनः सेवा युक्तैव । तस्मादस्यैव मुख्यधर्मत्वम् । अन्ये धर्मास्तु दैहिकाः । तस्मादन्येषां गौणत्वम् । अत एव 'त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे'रित्यस्य व्याख्याने 'अस्वधर्म'मिति पदच्छेदं कृत्वा भगवच्चरणारविन्दभजनमभिहितम् । तदेव स्वधर्म इति द्योतितम् । अत एव धर्मादिभिर्यद्भवति तद्भजनेनैव भविष्यतीति दैहिकधर्माणां गौणत्वं द्योतितम् । अत एव भगवद्वाक्यं 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि', 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसे'ति । 'यत्र योगेन साहचर्येन दानधर्मयोरन्वयः । व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्तुमायत्नवानपि'तीतरसाधनाप्राप्यत्वं स्वस्योक्तम् । धर्मादिप्राप्त्यं ॥ भक्तेरानुषङ्गिकफलत्वमुक्तम् । नान्य इति । क्वापि कुत्रापि कदाचिदप्यन्यो धर्मो नास्ति । अन्यथा, 'य भगवान्स्वीयत्वेनानुगृह्णाति 'यमेवैष वृणुत' इतिश्रुते'र्भक्त्या त्वनन्यये'त्यादिवाक्यैश्च भजनमेव स्वधर्मः । किञ्च; 'त्रैवर्गिकं निरासयेन यस्मिन् महाननुग्रहस्तस्मिन्लौकिकत्वापादनार्थं त्रिवर्गविघातं स्वयमेव भगवान्करोति । मोक्षस्तु भक्तानामेव नापेक्षितो 'दीयमानमि'तिवाक्यात् । तथा च भक्तिमार्गे कः पुरुषार्थ इत्यपेक्षायां 'हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि । कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुव'मिति श्रीमदाचार्यप्रभुचरणै'रहं हरे तव पादैकमूलदासानुदास' इत्यस्य व्याख्याया निरूपितमिति जीवमात्रस्य भगवद्भजनमेव स्वधर्मः ॥ १ ॥

ननु सर्वेषां भगवद्भजनमेव स्वधर्मश्चेत्तर्हि सर्वे भगवद्भजनमेव किमिति न कुर्वन्तीत्यपेक्षायामाहुः–एवमिति ।

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

एवमनेन प्रकारेण स्त्रियः स्वपतिभजनवत्सदा निरन्तरं दैवजीवैः सद्भिर्येत्कर्तव्यं तदस्माभिरुक्तम् । दैवजीवानां सतां सत्पुरुषाणां सम्बन्धी कर्तव्यो यो भगवद्भजनरूपो धर्मः सोऽस्माभिरुक्तः । स्म इति प्रसिद्धिः । दैवजीवानामेवायं धर्मो, नत्वासुरजीवानाम् । आसुरावेशिनां तु व्यभिचारिणीनामिवान्यधर्मेष्वपि प्रवृत्तिः । दैवजीवानां तु गृहाश्रमिणां श्रौतस्मार्तादिकर्मानुष्ठाने वेदरूपभगवदाज्ञया देवतान्तरयजने क्रियमाणे भगवदङ्गत्वेन तद्विभूतित्वेन यागकरणस्योक्तत्वान्नानन्यत्वभङ्ग इति । तथा च 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मामि'तिवाक्यायोगक्षेमनिर्वाहकत्वं भगवत एवेति यद्धर्मादिभिरैहिकामुष्मिकफलादिकं तदनायासेन भगवान्स्वयमेव करिष्यति सम्पादयिष्यति । कुत इत्यपेक्षायामाहुः—प्रभुरिति । सर्वेषां ब्रह्मेन्द्ररुद्रादीनामपि प्रभुः स्वामी नियामकः सर्वसामर्थ्यविशिष्टः । सर्वैर्मिलित्वा यत्कर्तव्यं तत्स्वयमेव कर्तुं समर्थः । हीति प्रसिद्धिः, क्षीरोदमथने मन्दरानयने । तेन सर्वप्रकारेण देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्माद्याग्रहं परित्यज्य चतुर्विधपुरुषार्थरूपो भगवानेवेति भगवदाश्रयेण भगवद्भजनमेव कुर्वाणो निश्चिन्ततां व्रजेत् । तेन दैवजीवैर्भगवदाश्रितैः कदापि क्वापि चिन्ता न कार्या । चिन्ताया आसुरधर्मत्वात् । सर्वं भगवानेव करिष्यतीति भावः ॥ २ ॥

ननु लौकिकवैदिकधर्माद्याश्रयपरित्यागेन भगवद्भजने क्रियमाणे कदाचिद्भगवानप्येतन्मनोरथं न कुर्यात्तदा किं भविष्यतीत्यपेक्षायामाहुः—यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

यदि कदाचिच्छ्रीगोकुलस्यानन्यशरणस्यानन्यगतिकस्य 'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रह'मित्येवं भगवता श्रीनन्दनन्दनेनाङ्गीकृतस्य निरस्तसाधनस्याधीशोऽधिपतिः स्वामी रक्षकः फलात्मा पालकश्च, सर्वात्मना कायवाङ्मनसा सर्वात्मभावेन वा हृदये धृतो धारितः । येषां भगवन्तं विहाय दारागारसुतधनादिकं किमपि प्रियं नास्त्येव सर्वस्वरूपेण भगवानेव येषामस्ति, भगवदर्थमेव यैः सर्वं त्यक्तं, येषां प्राणादयोऽपि भगवदर्थमेव प्रिया नात्मार्थम् । यदीतिपदादेतादृशवत्ता दुर्लभेति सूचितम् । भगवद्रूपातिरिक्तसाधनासाध्येति भावः । गोकुलाधीश इतिपदेन यथा श्रीगोकुले भक्तवश्यत्वेन भगवता स्थीयते तथैतस्यापि वशो भूत्वा भगवान् वर्तेत इति द्योतितम् । अत एव 'एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता । स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे', 'नायं सुखापो भगवान्देहिनां गोपिकासुतः । ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह'

ति । नन्वेवं भगवति हृदि विद्यमाने गृहस्थानां धनाद्यभावाल्लौकिकवैदिककार्यादेः कथं निर्वाह इत्यपेक्षायामाहुः—तत इति । यदा श्रीभगवानेव सर्वसामर्थ्यविशिष्टो हृदये स्थितस्तदा लौकिकैर्व्यवहारादिकर्मभिर्वैदिकैराश्रमवर्णादिविहितैः कर्मभिर्यागदानादिभिश्चैतस्य किं फलमन्यत्? न किञ्चिदपीत्यर्थः। सर्वस्यैव ब्रह्मलोकपर्यन्तस्यापि फलं 'स्याब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुने'तिवाक्यान्नश्वरत्वमेवेति न किञ्चिदित्यर्थः । ततस्तस्मादपरं किं फलमिति त्वमेव ब्रूहि। यतो येषां सर्वभावेन भगवानेव हृदि स्थितस्तेषामैहिकं पारलौकिकं सर्वं भगवानेव करोति 'तेषामहं समुद्धर्ते'तिवाक्यात् । 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामी'ति वाक्याच्च ॥ ३ ॥

ननु तर्हि जीवैः सदा किं कर्त्तव्यमित्यपेक्षायामाहुः—अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः ।

स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतः कर्मयोगज्ञानादिसाध्यं फलं तद्भक्तेरानुषङ्गिकमतः सर्वात्मना सर्वप्रकारेण शश्वन्निरन्तरं गोकुलेश्वरस्य निस्साधनफलात्मनो भक्तवश्यस्य परब्रह्मणो रसात्मकस्य भगवतः पादयोश्चरणारविन्दयोः स्मरणं भजनं चकाराच्छ्रवणं कीर्त्तनं कदापि न त्याज्यम् । स्नेहाभावेपि मनोधर्मत्वात्स्मरणस्य मुख्यतया स्मरणमेवोक्तम् । अत एव 'तस्माद्भारत सर्वात्मे'त्यस्य व्याख्याने श्रवणकीर्त्तनस्मरणानामेवोक्तौ कथं नवधा भक्तिर्नोक्तेति स्वयमेवाशङ्क्य समाहितम् । पादसेवनादारभ्यात्मनिवेदनपर्यन्तानां षण्णां प्रेमोत्तरभावित्वान्मुख्यतया श्रवणकीर्त्तनस्मरणमेवाभिहितम् । तस्मादहर्निशं स्मरणं कर्त्तव्यं लीलाविशिष्टस्य । रासादिलीला अपि सर्वाश्चिन्तनीया भावाविष्टतया । तथैव भजनं सेवनं कर्त्तव्यं, कदापि न त्याज्यम् । 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'तिवाक्ये मानस्या एव फलरूपत्वमुक्तम् । अत एव सेवालक्षणं चेतसो भगवत्प्रवणत्वम् । भगवत्प्रवणचित्तसिद्ध्यर्थं तनुवित्तजा सेवा । तेन सेवाकरणेन संसारदुःखनिवृत्तिपूर्वकब्रह्मज्ञानाद्यवाप्तिरवान्तरफलम् । परमफलं तु यथाधिकारतो भगवदनुग्रहेण नित्यलीलाप्राप्तिरेवेति मे मम मतिरिति ।

श्रीमदाचार्यकृपया व्याख्या सर्वार्थबोधिका ।
मया कृता चतुःश्लोक्याः कृष्णरायाभिधेन हि ॥ १ ॥
तुष्यतां तेन भगवाञ्श्रीमदाचार्यवल्लभः ।
दासे निस्साधने दीने कृष्णराये दयानिधिः ॥ २ ॥

इति श्रीमद्वल्लभदेवविरचितायाश्चतुःश्लोक्याः कृष्णरायभट्टविरचिता सर्वार्थबोधिका व्याख्या

सम्पूर्णा ।

श्रीकृष्णाय नमः।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

चतुःश्लोकी।

मठेशश्रीनाथभट्टकृतटीकया संवलिता

श्रीवल्लभाभिधानौमि तान् स्वाचार्यान् मुदा।
उपदिष्टा चतुःश्लोकी स्वीयेभ्यो यैः समासतः॥ १॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वीयजनानां सुग्रहार्थं समासतः स्वात्मधर्ममनुशिक्षयन्तश्चतुःश्लोक्या सर्वशास्त्रार्थं निरूपयन्ति सर्वदा सर्वभावेन भजनीय इति।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥ १॥

परमेश्वरो देवः सेव्य इति सर्वशास्त्रार्थः। स च केषाञ्चिन्मते निराकारः, केषाञ्चिन्मते साकार उपास्यः। तत्र निराकारस्तु नोपपन्न एव। तथा हि, किमाकारो देह आत्मा वेति विचारणीयम्। तत्र देहस्तु पाञ्चभौतिकः प्राकृतः स नोपपद्यत एव, 'देहेन्द्रियासुहीनाना'मितिवाक्यात्तदीयानां पार्षदानां यत्र तथात्वं तत्र तत्प्रभुस्वामिनः परस्य ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य तथात्वे किमु वाच्यमिति कैमुतिकन्यायः। अत एव आत्मैव परः स तथाभूतो दिव्यः स्वीकार्यः। न च दिव्यपदवाच्यो देह एव तदाकारः स्वीकार्य इति वाच्यं, देहदेहिविभागाभावात्। 'स यथा सैन्धवघन अान्तरो बाह्यः कृत्स्नो रसघन, एवं वाऽरेऽयमात्मे' त्यादिश्रुतिभिरनाहतत्वात्। दिव्यपदेन दिवि भवो दिव्य इतिव्युत्पत्त्यासम्बन्धेऽपि देवानामिव तथादेहस्य प्राकृतत्वापत्तिः, दैवेष्वनरसृष्टिकृतस्त्वस्यैव दिव्यपदवाच्यत्वस्वीकारात्। यत्तु 'जन्म कर्म च मे दिव्यमि'त्युक्तं तदप्यप्राकृतत्वाभिप्रायेण, दिव्यपदस्य रूढार्थत्वस्वीकारात्। अत एव 'देहेन्द्रियासुहीनानामि'त्यत्र निषेधः। न तत्र सामान्योक्त्या निषेध एव देहादेरस्त्विति वाच्यम्, पुनरनन्तरमेव, 'वैकुण्ठपुरवासिनां पश्यतां पुरतां गानपि'त्यनुवदनेन तथाकारत्वेन निरूपणात्, तेन प्राकृताकारस्य निषेधस्तत्र पर्यवस्यति, न त्वप्राकृताकारस्य। प्राकृतभौतिकाद्विकारत्वं न तथा भगवतीति बोध्यम्। अत एवोक्तं 'साकारब्रह्मवादैकस्थापको वेदपारगः' इति

•

स्वाचार्यनाम सर्वोत्तमे । तत्रैकशब्दो मुख्यार्थवाची । साकारत्वमुक्त्वा यद्ब्रह्मत्वं निरूपितं, तद्यथा ब्रह्म केवलं सच्चिदानन्दमयं तथा तत्करचरणादीनामपि केवलसच्चिदानन्दमयत्वं ज्ञापितम् । साकारत्वकथनेन पुष्टिमार्गीयफलस्य तत्स्वरूपस्य सर्वेन्द्रियास्वाद्यत्व, फलानुभवप्रकार उक्तः । ननु यदपि सर्वशास्त्रार्थविचारकैरपि परब्रह्मणः साकारत्वनिरूपणात् कथमाचार्याणामेव साकारत्वनिरूपकत्वमिति चेत्, उच्यते । ब्रह्मणोऽत्यलौकिकत्वाच्चक्षुरादीनां लौकिकप्रमाणत्वान्न चक्षुरादिगम्यत्वं ब्रह्मणि, किन्तु स्वेच्छया संभवतीति श्रुतीनामलौकिकप्रमाणत्वेन श्रुतय एव परब्रह्मणि प्रमाणमिति तत्प्रतिपाद्यमेव ब्रह्म । तास्तु 'स ईक्षाञ्चक्रे' 'तस्मादेकाकी न रमते' 'स द्वितीयमैच्छत्' 'स हैतावानास' इति साकारमेव निरूपयन्ति । गीता च 'सर्वतः पाणिपादान्त सर्वतोऽक्षिशिरोमुखमि'त्यादि साकारत्वमेव वदति । ननु निराकारवादिभिरपि निराकारप्रतिपादने 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमि'त्यादिश्रुतय एव प्रमाणत्वेनाङ्गीक्रियन्ते कथं न निराकारत्वमिति चेत्, उच्यते । निराकारत्वप्रतिपादका अपि श्रुतयो ब्रह्मणि देवाद्याकारवत् प्राकृताकारत्वमेव प्रतिषेधन्ति, नत्वानन्दमात्रकरपादमुखोदराद्याकारम् । यदि सर्वथा निराकारत्वमेव शुभ मतं स्यात्तदा निराकारत्वमुक्त्वापि अग्रे 'स ईक्षाञ्चक्रे' इत्यादिना साकारं न प्रतिपादयेयुः । अत एव व्याससूत्रमपि 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय' इति । अस्यायमर्थः, प्रकृतमेतावत्त्वं प्राकृतं साकारत्वं, तन्निषेधति निराकारश्रुतिः, न त्वानन्दैकाकारत्वं, तत्र हेतुः 'ततो ब्रवीति च भूय' इति । अस्याप्यर्थः ततोऽग्रे । पुनरपि 'स ईक्षाचक्रे' 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण' इत्यादि साकारत्वमेव वदतीति निराकारवादिना यत्किञ्चिच्छ्रुतिज्ञानवत्त्वेऽपि सर्वशाखीयोपनिषज्ज्ञानाभावात्तासु च प्रकारभेदतो ब्रह्मनिरूपणात्, तत्र परस्परविरोधपरिहारपूर्वकनिष्प्रत्यूहव्यवस्थया यत्सिध्यति तादृग् ब्रह्म मन्तव्यम् । निराकारवादिना सर्वशाखीयोपनिषत्तात्पर्यज्ञानाभावात्स्वबुद्ध्यनुसारेण यत्किञ्चिच्छ्रुतितात्पर्यं स्वसिद्धान्तानुसारं कल्पयित्वा निराकारत्वकथनमिति न तदुक्तं प्रमाणम् । स्वाचार्यैस्तु सर्वशाखोपनिषत्तात्पर्यस्य विरोधपरिहारेणावगमात्तत्र च साकारस्यैव निरूपणात् सर्वप्रकारेणैव साकारत्वमुक्तमिति सिद्धं साकारत्वम् ।

स च साकारः परमेश्वरः को वा भजनीयः, किं वा विष्णुर्वा व्यूहात्मा वा नारायणो ब्रह्माण्डविग्रहो विश्वरूपादिर्वेत्याकाङ्क्षायामाहुः व्रजाधिप इति । अनेन सर्वतो व्यापकत्वावतारदशापन्नेष्वपि भगवदंशेषु स्वरूपेषु भजनीयः श्रीकृष्णः पुरुषोत्तमो व्रजाधिप एवोक्तः । 'क्वचित्पाण्डित्यमि'तिश्लोके निर्णीतत्वात् । सोऽपि नोपास्यः किन्तु भजनीयो, 'भज' सेवायामिति धातोः । उपासनायाः कर्मान्तर्गतत्वेन मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविध्यधीनत्वं भजनीयस्यायातीति विभूतिरूपं व्यावर्त्यते । भजनञ्च सेवा, सैव भक्तिपदवाच्यार्थः । 'धात्वर्थः सेवा, प्रत्ययार्थः स्नेह'

इति निबन्धोक्तेः । 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इतिभक्तिसूत्रात् । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे'ति नारदपञ्चरात्रोक्तेश्च । ज्ञानपूर्वकत्वे विहितस्नेहो भक्तिपदवाच्यः, अन्यथा त्वविहितः स्नेह इत्यन्यत्र विस्तरः । सा सेवा तनुवित्तजा कायिक्येव केवला संभूतेति मानसीत्वमपि लक्षणे निवेश्यते । 'प्रत्ययार्थः स्नेह' इत्यान्तरो धर्म उक्तः । तथैतदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा' इति । तथा च देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणैर्निवेदितात्मभिः संसेव्य इत्यभिप्रायतः सर्वभावेनेत्युक्तम् । सर्वो यो भावो देहेन्द्रियादीनां यथार्हं तत्तद्विनियोगात्मकस्तेन सेव्यः । सर्वात्मभावेनेति केचित् । सोऽप्यत्र पुष्टिमार्गीय एव । सर्वोऽपि आत्मनो भावो, न तु सर्वत्रात्मत्वभावनं, तस्य मर्यादामार्गीयत्वादिति विवेचनीयम् । किञ्च, स सर्वदा भजनीयः, न तु कदाचित् कर्ममार्ग इव, नैमित्तिकदेववद्वा ।

ननु वेदादिप्रमाणग्रन्थेषु तु तदुपासनं विहितमभिहितं न त्वेतद्दिदमप्यविहितमेव भजनमिति चेन्न, सर्वतः पृथक्त्वेनैतत्प्रमातो व्यवस्थापितत्वात् । 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामि'तिभगवद्वाक्ये भजनविध्युपपादितत्वाच्च । 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे' इत्यादिना । अत एवात्राप्यावश्यकत्वार्थकतयानुशिष्टानां तव्यत्तव्यानीयर्प्रत्ययानां मध्ये अनीयर्प्रत्यय उपात्तः । तथा विध्यर्थकश्च । न चैवं विध्यधीनत्वप्रसङ्गः । मर्यादातो व्यतिरेकात् पुष्टिमार्गीयत्वाच्च । अत एवोक्तमेकादशस्कन्धे भागवते भगवद्धर्मनिरूपणप्रसङ्गे 'यानास्थाय नरो राजन् प्रमाद्येत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिहे'त्यादि । अयमेव धर्मः ॥ १ ॥

इति मठेशश्रीनाथभट्टकृता चतुःश्लोक्याः प्रथमश्लोकटीका समाप्ता ।

---

(१) तव्यत्तव्यानीयरः (३-१-९६) इतिसूत्रात् । (२) नाधिका लभ्या ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीद्वारिकेशविरचितव्याख्यायुता ।

श्रीगोवर्धनधराय नमः ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान्विठ्ठलेशांश्च सद्गुरून् ।
स्वसिद्धान्तचतुःश्लोकीं विवृणोमि यथामति ॥ १ ॥

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयग्रन्थे सपरिकरस्याश्रयस्य निरूपितत्वादाश्रितान् स्वमार्गीयप्रमाणप्रमेयसाधनफलानि निर्देष्टुं तद्बोधरूपधर्मार्थकाममोक्षार्थोपदेष्टुं पूर्वश्लोके धर्मं प्रमाणं च निरूपयन्ति सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदेति सर्वस्मिन्काले । सर्वभावेनेति पतिपुत्रादिभावेन । तदुक्तं 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे'ति, 'सर्वेषामात्मनो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वर' इति, 'येषां च त्वं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवतञ्च' । व्रजाधिपः । व्रजस्य निःसाधनस्यानन्यस्वामिनः अधिपः स्वामी । कर्तव्यं निर्दिशन्ति भजनीय इति । कायवाङ्मनोभिरवश्यं सेवनीयः । यद्वा, सर्वेषामिन्द्रियाणां भावेन 'तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः' इतिरीतिकेन, निरोधलक्षणे वक्ष्यमाणरीतिकेन वा सेव्यः । स्वस्येति 'देवोऽसुरो मनुष्यो वे'तिवाक्यात्, 'को नु राजन्नि'तिवाक्याच्च स्वस्यात्मनो जीवमात्रस्य । स्वस्य कृष्णाश्रितजीवस्यायमेव धर्मः । तदेव भक्तिहंसे ' स्त्रियाः स्वपतिभजनव'दिति । अकर्तव्यं निषेधयन्ति..................

न काले श्रौतकर्तव्यस्य । 'वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः । तथैव विधिवत्कार्यः' बालबोधे 'स्वधर्ममनुतिष्ठन्वै भारद्वैगुण्यमन्यथा' । अत एव सर्वोत्तमेऽपि 'कर्ममार्गप्रवर्तकः' 'यागादौ भक्तिमार्गैकसाधनत्वोपदेशकः'; 'यज्ञभोक्ता यज्ञकर्ते'त्यादिनामानि । तथाकृतिश्च परम्परया दृश्यते । न चैवं ' सर्वदा'पदबाधः शङ्क्यः, भक्तिमार्गे साधनफलयोरैक्येन तेषामपि सेवा मध्यपातिनीति न बाधः ॥ १ ॥

एवं 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीय' इत्यनेन प्रमाणं निरूप्य ' धर्मो ही'त्यनेन धर्मं च निरूप्य प्रमेयमर्थं च निरूपयन्ति एवं सतामिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

उक्तप्रकारेण भजताम् । स्मेति प्रसिद्धिः । भगवद्गीतासु 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहं'मितिभगवद्वाक्यात् । एकादशस्कन्धे च 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसे'तिभगवद्वाक्यात् । कर्तव्यं सेवोपयुक्तपदार्थसम्पादनं स्वयमेव करिष्यति । स्वकर्तव्यमितिपाठे स्वस्य जीवस्य भगवतो वा यद्यत्कर्तव्यं तत्तद्धरिः स्वयमेव अविकृत एव अप्रार्थित एव करिष्यति, न त्वन्यद्वारा । नापि कल्पवृक्षादिवत् । स हि प्रार्थित एव करोति । अत एव दशमस्कन्धे 'प्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान्बालचेष्टितैः' । सर्वोत्तमेऽपि 'स्वदासार्थकृताशेषसाधन' इति । मार्यादिकभक्तेषु नृसिंहमहत्तरादिषु तथाकृतमपि श्रूयते । ननु भगवान् केन प्रकारेण करोतीत्याशङ्कायामाह प्रभुरिति । प्रकर्षेण भवतीति । भगवदीयाभिलषितशय्यासिंहासनादिरूपो भवति । यथा मैथिलश्रुतदेवयोर्गृहयोर्शय्यादिवाहनादिसर्वरूपो भूत्वा विवेश । तदुक्तं 'उभयोराविशद्गेहमुभाभ्यां तदलक्षित' इति । यथा च षोडशसहस्रनायिकाविवाहे श्रीवसुदेवादिवीरयात्रिकसर्ववस्तुरूपो भूत्वा सर्वत्र विवाहं कृतवान् । तदुक्तं 'अथो मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु ताः स्त्रियः । यथोपयेमे भगवाँस्तावद्रूपधरोऽव्यय' इति । ननु सर्ववेदप्रतिपाद्यो भगवानुच्चावचभावं कथं भजते इत्यत आहुः सर्वसमर्थ इति । सर्वं कर्तुं समर्थः । अथवा । सर्वेषूच्चावचभावेषु समस्तुल्योऽर्थो यस्य । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति'श्रुत्या वस्तुतः सर्वस्य भगवत्त्वात् । तथा चोक्तमष्टमस्कन्धे 'उच्चावचेषु भूतेषु चरन्वायुरिवेश्वरः । नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धियो गुणैः' । हि युक्तोऽयमर्थः । एतेन सिद्धमाहुः तेनेति । भगवतैव संपादितेनार्थेन निश्चिन्ततां भगवदेकतानतां व्रजेत् । निश्चिन्तो भूत्वा सेवां कुर्यात् । अत एव भक्तिवर्द्धिन्यां 'अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः' । नवरत्नप्रकाशेऽपि 'भगवत्यपि सा न कार्या' । विवेकधैर्याश्रयेऽपि 'प्रार्थिते सेवेन निर्ममः' । गदाधरदासादीनां तथाकृतिश्च श्रूयते । एवं प्रभुपदेनार्थं सर्वसमर्थपदेन मर्मेयं च निरूप्य 'भक्तियोगस्य तत्सर्वमन्तरायतयार्भक' इत्युपक्रम्य, 'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् । आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः । न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिष'इत्युक्तत्वात् ॥ २ ॥

एवं तु भगवतार्थसंपादने कृते भक्तिमार्गान्तरायः, स्वयं कृते सेवाऽनिर्वाह इति प्राप्ते; भक्तिमार्गीयं साधनं निरूपयन्तो हरेर्दिदृक्षाऽपूर्वं कामं निरूपयन्ति यदि श्रीगोकुलाधीश इति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

एतेन दुर्लभतोच्यते। अत एव दिदृक्षा। श्रिया युक्तो गोकुलाधीश, एतेन कामसम्पत्तिर्निरूपिता। 'कामः स्त्रीषु प्रतिष्ठित' इतिवाक्यात्। 'कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तदि'तिवाक्यात् साधनसंपत्तिर्निरूपिता। तयोः स्वस्मिन्समावेशमाहुः धृतः सर्वात्मना हृदि। 'एकादशेन्द्रियैः काम' इतिवाक्यात्। अत्राऽऽत्मपदं इन्द्रियपरम्। सर्वपदं एकादशपरम्। सर्वेन्द्रियैः कामसाधनसंयुक्तो गोकुलाधीशो हृदि धृतो हृदये कृतस्तदा लौकिकफलस्य स्वाधीनपतित्वस्य वैदिकफलस्य चित्तशुद्धेश्च 'हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूत' इतिवचनादासत्वेन लौकिकैरध्ययनादिभिः वैदिकैर्यज्ञादिभिरपि किं? नास्ति परमुत्कृष्टं, यस्मादेतावताप्युत्कृष्टमस्ति चेद्ब्रूहि ॥ ३ ॥

एवं श्रीपदेन कामं साधनं च निरूप्य भगवदीयत्वरूपं मोक्षं स्मरणसेवारूपं फलं निरूपयन्ति—अत इति।

अतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतो हृदये श्रीगोकुलाधीशधारणादन्यसाधनं नास्ति, अतः परं सर्वात्मना देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणैः शश्वन्निरन्तरं, गवां कुलस्य, गवां धनूनां गोपगोपीनां, गोकुलग्रामस्य वा ईश्वरस्य नियामकस्य पादयोर्भगवदीयदेहसंपादकयोः स्मरणमाध्यानं भजनं सेवनं, चकारेण श्रवणं कीर्तनं च, न त्याज्यम्। सादरं सर्वथा विधेयम्। अपिः संभावनायाम्। त्यागसंभावनैव नास्ति। एवं भगवदीयत्वरूपमोक्षं सेवारूपफलं चेति। स्वयं स्वाभिमामाण्येन ग्रन्थं समापयन्ति—इति मे मतिरिति। मे श्रीकृष्णवल्लभस्य इति एवं प्रकारिका मतिः ॥ ४ ॥

एवं भगवदीयानां धर्मार्थिश्चामृतप्रदा।
व्याख्यातेयं चतुःश्लोकी प्रमाणादिप्रदर्शिका ॥ १ ॥
येन श्रीवल्लभाचार्याः स्वदासे मयि वंशजे।
प्रसीदन्तु स्वकृपया सान्वयाः ससेवकाः ॥ २ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीमथुरानाथात्मजद्वारिकेशविरचिता
चतुःश्लोकीव्याख्यान्वयबोधिनी
समाप्ता।

परिशिष्टम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-श्रीमद्-विट्ठलेश-प्रभुचरण-विरचिता

श्रीवृत्रासुरचतुःश्लोकी विवृतिः

व्याख्यात्रय-समलंकृता

१. श्रीहरिरायाणां टिप्पणी
२. श्रीवल्लभानां टिप्पणी
३. श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाशः

॥ श्रीनवनीतप्रियो जयति ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

महानुभावश्रीहरिरायचरणानां श्रीवल्लभानाथ टिप्पणीभ्यः समुद्धृत, श्रीमद्विठ्ठलेश्वर-चरणविरचितप्रकाशेन विशदीकृता, श्रीमद्विठ्ठलेशप्रभुचरणानाम्।

॥ श्रीवृत्रासुरचतुःश्लोकीविवृतिः ॥



ननु पुरुषार्थाश्चत्वारस्तत्र त्रिवर्गविचारं भगवानेव करोति मोक्षस्तु भक्तानामेव नापेक्षित इति भक्तिमार्गे न कोपि पुरुषार्थः सिद्धवर्तीत्याशङ्क्य भक्तिमार्गीयं चतुष्टयं भिन्नमेवेत्याह—चतुर्भिः,

पूर्वमिन्द्रं प्रति प्राह ततो भगवयाग्नो हरिम् ।
दृष्ट्वा तत् प्रार्थयामास पुष्टिदृष्टफला यतः ॥ १ ॥
आद्ये तु पुष्टिमार्गीयो धर्मः स्मरणकीर्तने ।
सेवा चेति त्रयं तेन प्रार्थितः स निरूप्यते ॥ २ ॥
आत्मनश्चाधिकारित्वमुत्तमं दीनभावनः ।
प्रार्थनीयतया तस्य साधनं च कृपोच्यते ॥ ३ ॥

धर्मं प्रार्थयन् प्रथममधिकारित्वं स्वस्य निरूपयति, अहमिति,

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।

दास्ये तु न तथेत्याशयेनासच्छब्देन भेदमुपपादयति–अहमिति। ननु दास्यं कथं सेत्स्यतीत्यत आह–तवेति त्वदीयोऽहमित्यर्थः तेनावयोः सेव्यसेवकभावः सहज इति सूचितम्, अन्यथा त्रिवर्गविघातप्रभुत्वेऽपि सति कथं कुर्याः, ततो मोक्षे चानधिकार उक्तः, एवं चेत् कथं दास्यं न करोषीत्यत आह–भवितेति, जीवस्य त्वदीयत्वेऽपि देहस्यासुरत्वेनायोग्यत्वाद्देहान्तरे दासो भविष्यामीत्यर्थः, अतस्त्वदनुग्रहेणैव तथा भवितेत्यत्र विश्वासमाह–अस्मीति। साक्षात्प्रभुदास्ये हि स्वस्य दीनभावो गच्छतीति परम्परादासत्वमुक्तं, यद्वा, प्रभुदास्ये हि स्वस्य सर्वोत्तमत्वाभिमानेन भक्तान्तरे अपराधसम्भवात् प्रभुदास्यादपि भ्रंशो भवेत्तच्चानुभूतं चित्रकेतुदशायाम्, अतः परम्परादासत्वेन दैन्यमेवोषितमिति भावः।

अथवा तवेत्यादिपदसमुदायेन मोक्षादिक्रमेण वक्ष्यमाणपुरुषार्थचतुष्टयेऽध्यधिकाररूपं चतुर्विधं दास्यमुच्यते, तत्र पुष्टिमार्गे मोक्षो हि भजनानन्दानुभवः, स च देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणयुक्तानामेव, 'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम'[1] इत्यत्र श्रुतिप्रतिपादितः, तत्र चाधिकाररूपं प्रभुदास्यं 'भवाम दास्यः'[2] 'पुरुषभूषण देहि दास्य'[3]मिति श्रुतिवाक्याद्दतस्तवेति पदान्मोक्षाधिकाररूपं प्रभुदास्यमुक्तम्, तस्येत्यसमासः, अन्यथा त्वत्पादेति वदेत्, तव पादावेवैकं मूलं येषां ते तथा, अर्थाद्व्रजस्थितभक्ता एव, 'तदङ्घ्रिमूलं गताः'[4] इति तेषामेवोक्तेः, तेन कामाधिकाररूपं तद्दासत्वमुक्तमन्यथा कामासिद्धेः, अत एवोक्तमाचार्यचरणैः 'तद्द्वारा गुरूपाणां च भविष्यामि न चान्यथे'ति। अनुपदेन तद्दासदासत्वमर्थाधिकाररूपमुक्तम्, ततस्तव दासत्वं धर्माधिकाररूपमुक्तम्।

ननु सत्सङ्गाभावेऽप्येवम्भावस्तव कथं जात इत्यत आह–भूय इति, पूर्वमहं चित्रकेतुर्दास एव स्थितोऽतः पुनरपि तथा स्थितेति भावः। एवं स्वस्याधिकारचतुष्टयं प्रतिपाद्य तारतम्यभावादादौ धर्मं प्रार्थयते मनः स्मरेतेति। असुपतेरिति गुणानामिति च कर्मणि षष्ठी, तथा च मनः असुपतिं स्मरेत चिन्तयेत्, स्मरणस्यात्मसुखैकसाधनत्वादात्मनेपदम्। वाक् तस्यैव गुणान् गृणीत कीर्तयेत्, कीर्तनस्यापि मुख्यः स्वार्थ एव परार्थस्त्वानुषङ्गिक इत्यात्मनेपदम्। कायस्तस्यैव कर्म सेवां करोतु, सेवा तु यथा प्रभोः सुखं भवति तथा क्रियते, न तु तत्राणुमात्रमपि स्वार्थपरत्वमतः परस्मैपदम्। स्मरणकीर्तनयोः श्रवणाधीनत्वेनान्यकथनसापेक्षत्वाद्द्विधिरुक्तः। सेवायां स्नेह एव नियामकः, स च प्रभुकृपैकसाध्य इति तत्प्रार्थीनिरूपिता ॥ १ ॥

---

(१) भा० १०, २१, ७ (२) भा० १०, २९, ३९ (३) भा० १०, २९, ३८ (४) भा० १०, ३९, ३८ (५) भा० १०, ३६, १.

एवं मनोवाक्कायभेदेन त्रिविधमपि धर्मं सम्प्रार्थ्यार्थं निरूपयति—न नाकपृष्ठमिति।

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥२॥

लौकिको वैदिकश्चार्थस्त्रिविधः प्राकृतैर्गुणैः।
क्रमेण ते भगवतो गुणैः षड्भिर्निराकृताः ॥ १ ॥
स्वर्गभूमिरसैश्वर्यं सात्त्विकादि तु लौकिकम्।
मोक्षश्च पारमेष्ठ्यं च सिद्धयश्चेति वैदिकम् ॥ २ ॥
प्रवृत्तिधर्मसाध्यत्वात्सामान्यं तत्तु लौकिकम्।
निवृत्तिधर्मसाध्यत्वाद्विशेषाद्वैदिकं परम् ॥ ३ ॥
प्रत्येकमेव ते धार्या न तु सम्भूय कुत्रचित्।
भगवत्यखिलात्मत्वाद्भवन्त्येव सदा हि ते ॥ ४ ॥
अतोऽर्थो भगवानेव पुष्टिमार्गे ह्यनन्यतः।
सर्वतो नैरपेक्ष्यं च तथात्र विनिरूप्यते ॥ ५ ॥

आदौ लौकिकमाधिकारार्थं निराकरोति—न नाकपृष्ठमिति, नाकः स्वर्गस्तस्य पृष्ठं राजासनम्, इन्द्रासनमिति यावत्, तत् नश्यति कालान्तरे, अतस्त्वय्यनवच्छिन्नैश्वर्यस्य विद्यमानत्वात्तत्र काङ्क्षे नेच्छामीत्यर्थः। वैदिकतामसमर्थं निराकरोति—न पारमेष्ठ्यमिति, परमेष्ठी ब्रह्मा, रजोगुणावतारत्वात्तत्स्थानं राजसम्, तत्र च 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते'[1] इति वाक्यात्पारतन्त्र्येण फलसिद्ध्या स्वातन्त्र्यहानिरेव, त्वयि चात्यन्तिकवीर्यस्य विद्यमानत्वात्तदपि न काङ्क्षे। लौकिकराजसमर्थं निराकरोति—न सार्वभौममिति, सर्वभूमेरीश्वरत्वे हि सर्वत्र लोके यशो भवति, तच्च दानादिसापेक्षत्वादौपाधिकं सावधिकं च 'लोकायतं लोभं'मिति वचनात्स्वल्पमपि दुष्टं 'राज्यान्ते नरकं ध्रुव'मिति वचनाद्भयानकमपि तथा, त्वयि चानन्तयशसो विद्यमानत्वात्तदपि न काङ्क्षे। लौकिकसात्त्विकमर्थं निराकरोति—न रसाधिपत्यमिति, रसेषु पुष्पफलादयो ये भोग्याः सर्वे निरूपिताः, तत्र च भूम्यादौ सुखभोगोऽपि यः स च श्रिया भवति, सा च त्वया वक्षःस्थले धृता च, त्वयि चानपायिन्याः श्रियो नित्यं विद्यमानत्वात्तदपि न काङ्क्षे। वैदिकसात्त्विकमर्थं निराकरोति—न योगसिद्धीरिति, अतस्त्वयोगिनो हि सिद्धिविशेषादणिमादिविशेषान् संसृज्य भोगं कुर्वन्ति तेन योगादपि भ्रष्टा भवन्तीति तेषां ज्ञानं भ्रान्त्येव, त्वयि च नित्यानवच्छिन्नज्ञानस्य विद्यमानत्वा-

(१) श्रु. ०६. १-५-१० ।

णा अपि न काङ्क्षे । पारत्रिकमधिकारपर्यं निराकरोति—अपुनर्भवं चेति, 'मैत्त्वात् म-
त्प्रापणे ज्ञान'मित्यनेनाज्ञानस्य मायिकत्वेन जन्माद्यभावोऽस्त्यापि तथात्वमुक्तम्,
स च गणितानन्दत्वेन ब्रह्मानन्दांश एव न तु त्वम्, यद्यपि सेव्यसेवकभावेन नान्योन्यं
सम्भावना भेदाभावात्तस्मात्पर्यन्ताभावाद्यपुनर्भवत्वम्, जन्माभावातिरिक्तविशेषाभा-
वात्, त्वं तु पूर्णानन्दो भक्तानां सेव्यश्चेति 'मैत्र्यपणे न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनाग-
पी'ति वाक्याद्यतो भजनातिरिक्तगणाभावेन त्वत्पादपद्मविरहेण त्वद्भक्तिरहितस्य विद्यमानत्वाच्चमपि
न काङ्क्षे । सर्वादृश्यं मोक्षानुगीयपुरुषार्थः स च पुष्टौ इत्यन्वेनार्थमध्ये गणित इत्यनादरयो-
क्षणार्थं चेत्युक्तम्, यद्य मोक्षस्याप्यनादरस्तदान्येषां किं वाच्यमिति च । तर्हि कोऽर्थस्तत्रापेक्षित
इत्यत आह—समञ्जसेति, हे समञ्जस पूर्णत्वात्सर्वगुणधर्मस्य, अतस्त्वया त्वां विरहय्य
पृथक्त्वेनोक्तार्थानहं न काङ्क्षे, किन्तु त्वामेव सर्वार्थरूपत्वात्सर्वत्वेन काङ्क्षे इत्यन्तरमित्यभि-
प्रायः । यद्वा उक्तार्थान्परित्यज्य त्वामेव प्रार्थ्यत्वेन काङ्क्षे ॥ २ ॥

एवमर्थं निरूप्य कामं निरूपयति—अजातपक्षा इवेति ।

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥ ३ ॥

पुष्टिमार्गे हरे रूपदिदृक्षा मनसोऽस्य हि ।
कामो निरूप्यते तत्र दृष्टान्तत्रितयं यथा ॥ १ ॥
त्रितयं लौकिकं मोक्षभेदं शास्त्रीयमुत्तमम् ।
लौकिकस्त्रिगुणीभूय दृष्टान्तः स्यादविवेके ॥ २ ॥
अन्यथैकतरेणापि सिद्धेऽर्थे त्रितयेन किम् ।
क्षुद्रूपो लौकिकः कामो रसरीत्या तु शास्त्रतः ॥ ३ ॥
धर्मोऽस्तु रसरूपत्वात्सर्वस्यैकत्वेन चोत्तमः ।
अयमेव हि दृष्टान्तस्तेनान्ते चैकतोदिता ॥ ४ ॥

हे अरविन्द ? मनुस्त्वां दिदृक्षत इति सम्बन्धः । नेत्रयोरम्बुजत्वेन तद्दिदृक्षया
मनसो मधुपत्वं बोधितम् तथा चारविन्दे विकसिते मधुपस्य कामः सिद्ध्यति नान्यथेति तथा दृष्टिं
मयि संपादयेति प्रार्थितम्, दिदृक्षाहेतुभूतं स्वरूपसौन्दर्यं च संबोधनेन ध्वनितम् । मनसः
स्वतन्त्रत्वायास्मच्छब्दप्रयोगाभावः । किञ्च, दिदृक्षा दृशो धर्मः, स च मनसो निरूप्यते, तेन
सर्वेन्द्रियाणामपि मनःसंनिकर्षात्पूर्णः कामो निरूपितः, अन्यथा भजनानन्दानुभवो न स्यात्

(१) गीता अ १४. १० । (२) भा ९-४-६८ । * अरविन्दाक्षेत्यपि पाठः ।

तस्य सर्वेन्द्रियैकवेद्यत्वात्। प्रभोः पूर्णकामत्वेन क्रियाफलस्यान्यगामित्वादात्मनेपदम्। मनसश्चञ्चलत्वान्मधुपत्वबोधनेन च कामान्तरं संभवतीति तदभावाय दृष्टान्तमाह—खगा इवेति, यथा पक्षिणः कदा किमानीय दास्यतीति मातरं द्रष्टुमिच्छन्ति, खगानां नियतभक्ष्याभावादनिपतस्य च क्षुधार्ततयार्थसिद्धत्वात्तदत्र नोक्तम्, तदपि न सर्वदा किन्तु कियत्कालपर्यन्तमेवेत्याह—अजातपक्षा इति, पक्षोद्गमानन्तरं न वर्तेते तावदेव दृष्टान्तेनेत्यर्थः। तथाचात्र क्षुदुपाधिकृतत्वमनियतविषयत्वमनियतकालत्वं चेति दूषणत्रयं संभाव्य द्वितीयं दृष्टान्तमाह—स्तन्यं यथेति। वत्सतरा अतिबाल्यवत्सास्ते यथा कदा स्तन्यं प्राप्स्याम इति तदिच्छन्ति तथेत्यर्थः। तेषां स्तन्यमात्रैककामत्वादत्र तदेव प्रोक्तम्, मातुरभावे तद्दुग्धा परस्या अपि स्तन्यं पिबन्तीति तदनुक्तिः। अत्रापि नियतविषयत्वेऽपि वत्सतरपदादनियत कालत्वं क्षुदुपाधिकृतत्वं चेतिदूषणद्वयं संभाव्य तृतीयं दृष्टान्तमाह—प्रियं प्रियेवेति, प्रियपदादुभयत्र निरुपाधिकस्नेहो निरूपितः, स्नेहस्य तथात्वं मदभिप्रेतोक्तं 'आधिर्मोचदिने न येन गणितो हेतुस्तमीयानपो'ति, तेनोपाधिदूषणमत्र परिहृतम्, व्युषितमिति प्रवासितमित्यर्थः, तेन गमनक्षणमारभ्यागमनावधि दिदृक्षाया एकरसत्वादनियतकालत्वं चापास्तम्। विषण्णेतिपदादनियतविषयत्वं च, अन्यथा विषादासम्भवात्, एवं दोषत्रयाभावादयमेव दृष्टान्तो युक्त इत्याशयेन स्वस्यैकत्वाद्गणैकवचनमुक्तमन्यथा पूर्ववदत्रापि बहुवचनं वदेत्, बहुषु तथात्वस्यासंभवात्, अत एवान्ते च निरूपणं कृतम्, पूर्वोक्तद्वयमेकदेशाभिप्रायेणेति तत्कथनमपि नानुपपन्नम्। किञ्च, प्रिया हि विप्रयोगे केवलं विषादमात्रं न करोति किन्तु, प्रिये विविधरसभावानन्तःप्रकटयति, अन्यथान्तरेण जीवनमेव न स्यात्, जाते च जीवने प्रियत्वं तु बाधितं स्यात्। स्वस्य पुरुषत्वेन स्त्रीदृष्टान्तान्यथानुपपत्त्या च सजातीयरसभाव उक्तः, अतो रसस्याविशेषेऽप्यत्रायं भावः प्रियापदेनाभिव्यज्यते, विषादस्य तु बहिरप्यनुभूयमानत्वादेव्यज्ञानविषयत्वाच्च तथाविशेषणम्, एवमनेकरसभावविशिष्टं विषण्णं च मनस्त्वां दिदृक्षते, न तु दर्शनमात्रमिच्छति, तत्तु पूर्वमर्थत्वेन व्याख्यातत्वादत्रानुपपन्नं विशेषाभावात्, अन्यत्र, अस्मच्छब्दप्रयोगे हि देहाध्यासहेतो भवति साम्प्रतं तु रसानुभवयोग्यदेहाभावादुपसर्गस्य च तत्रानिरन्तरत्वादध्यासाभावान्मन एवोक्तं न तु मयेति। दृष्टान्ते च तदध्यासस्य दृढत्वात्प्रियेयेति निरूपितं न तु मनः, अन्यथा प्रियेवाहं दिदृक्षे इति दृष्टान्तसाधर्म्यं वक्तव्ये मनो दिदृक्षत इति न वदेत्, अतो रसमार्गीयः कामो रसदानेन पूरणीय इति तथा सम्बोधनेन भावितम्॥ २॥

---

१ निजमति नपुंसके पाठः। * अत्राविनियशाद्विभीति पाठः।

एवं कामं निरूप्य मोक्षं निरूपयति–ममोत्तमेति,

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥ ४॥

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि ।
कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥ १ ॥

पुष्टिमार्गे* मोक्षो निरूप्यते,

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकमलरेणुभ्यो नमः ॥

अथ श्रीहरिरायचरणविरचिता टिप्पणी ।

श्रीवल्लभाचार्यपद स्वीयसर्वार्थसम्पद ॥
प्रणमामि तदुक्तार्थबोधनाय मुहुर्मुहु ॥ १ ॥

[१] अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणा पुष्टिमार्गे धर्मार्थकामाना पूर्वपद्येषु स्पष्टत्वमवगम्यमानत्वान्मोक्षमात्रस्य सन्दिग्धत्वादतिविलक्षणत्वाच्च तन्निरूपयन्ति–पुष्टिमार्गे इति पुष्टिर्हि प्रभोरनुग्रह स च फलदानेच्छा, सापि द्विधा, केवला विशिष्टा च, तत्र केवला नि प्रकारा, साधन प्रकारस्तद्रहिता, विशिष्टा ससाधना सैव फलप्राप्त्युपायतया मार्ग इत्यर्थ । तत्र मोक्षो निरूप्यत इत्यर्थ ।

अथ श्रीपुष्टिमार्गीयमुक्तिविवृतिप्रकाशः ।

दशदिगन्तविजयि–श्रीपुरुषोत्तमपाद–प्रणीतः ।

श्रीकृष्णाय नमः

प्रणम्य श्रीमदाचार्यचरणाँस्तत्कृपाबलात् ।
तदीया पुष्टिमार्गीयमोक्षोक्तिं विवृणोत्ययम् ॥ १ ॥

[१] अथ श्रीमदाचार्यचरणा पुष्टिप्रवाहमर्यादाया पुष्टेर्मार्गस्य विवृतत्वेन तत्र पुमर्थाना॰ मवश्यवक्तव्यत्वात् पुष्टे पञ्चस्कन्धार्थत्वेन तत्र सपरिकरायास्तस्या निरूपितत्वात् तदन्तरैर्वाक्यैरेव तान्विवरिषव पूर्ववाक्येषु धर्मार्थकामाना स्पष्टत्वात्तुरीयस्य चास्पष्टत्वात्तन्निरूपण प्रतिजानते–पुष्टिमार्गे मोक्षो निरूप्यत इति,† "पोषणं तदनुग्रह" इतिलक्षणवाक्यात्पुष्टिरनुग्रह,, स च धर्मान्तरमिति भक्तिहेतुनिर्णये स्थितम्, स एव फलसाधनत्वान्मार्ग । तत्र मोक्षो (भा० २, १०, ६.) " मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिरि "तिवाक्योक्तलक्षणकमन्यथारूपत्यागपूर्वक स्वरूपेणावस्थानम् । निरूप्यते इतरवैलक्षण्येन ज्ञाप्यत इत्यर्थ ।

---

१ इयं चतुर्थश्लोकविवृतिः श्रीमदाचार्यचरणानामेवेति तद्विवरणेष्ववगम्यते दृश्यते चैतत्प्रमापकः पेङ्कुलेखो ग पुस्तके । * पुष्टिमार्गीय इत्यपि पाठः । † भा २ १०, ४.

तत्र स्थितौ बन्धो नामाहन्ताममतास्पदेष्वासक्तिस्तदन्येषु सङ्गश्च, तस्य सहेतुकस्याभावो मोक्षश्च, पुष्टिस्तु तद्विपरीता, तत्र व्यवस्थया मोक्षद्वयमाह—ममोत्तमेति ।

टिप्पणी—[१] अत पर पुष्टिमार्गे बन्धमोक्षाभ्यां वैलक्षण्यं निरूपयन्ति तत्र स्थिताविति, तत्र स्थितौ पुष्टिमर्यादाया बन्धोऽहन्ताममतास्पदेषु पुत्रदारगृहधनादिषु आसक्तिः सर्वात्मना तन्निष्ठमनोवृत्ति, तदन्येष्वासक्तिविषयान्येषूदासीनेषु सङ्गश्च तस्य बन्धस्य सहेतुकस्य तदुत्पादककारणकलापसहितस्य योऽभावः स मोक्ष इत्यर्थ । पुष्टौ तद्वैपरीत्यमाहु—पुष्टिस्त्विति, पुष्टिः पुष्टिमार्गस्ताभ्यां बन्धमोक्षाभ्यां विपरीता, पुष्टिमार्गे बन्धो हि पुत्रादिष्वासक्तिविपर्ययेषु भगवदीयत्वेनानासक्तिरुदासीनेषु भक्तेष्वसङ्गश्च, तदभावो मोक्ष । भगवदीयेषु पुत्रादिष्वासक्तिभंगवद्भक्तसङ्गस्य च मोक्ष इति वैपरीत्यमित्यर्थ ।

प्रकाशः— [२] ननु "असङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुरि"ति (भा० ३, २५, २०) "स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान्सर्वमिदञ्जगदि"त्यादिवाक्यैर्बन्धस्य स्पष्टत्वेन तदभावरूपमोक्षस्यापि तथात्वात्तस्य च मार्गमात्रतुल्यत्वादपार्थोऽयं प्रयास इति शङ्कायामाहु—तत्रेत्यादि, मोक्षस्येतरवैलक्षण्येन ज्ञाप्यतया वैलक्षण्यप्रतियोगिनोऽवश्यवक्तव्यत्वे, स्थितौ उपादेयतया प्रतियोगिभूतायाम्, बन्धः संसारकारणभूत उक्तविधः, तस्य सहेतुकस्य "तत्र सत्वं निर्मलत्वादि"त्यादिगीतावाक्यात्तद्धेतवो गुणास्तत्सहितस्य बन्धस्याभावो ध्वस्तविमोक्षः । पुष्टिः पुष्टिसरणी, तद्विपरीता विरुद्धलक्षणा, तथा च तत्र संसारास्पदेषु असङ्गासक्ती मोक्षस्तदभावश्च बन्ध इत्यर्थ । तत्र मोक्षस्तु अत्र स्फुटिष्यति, बन्धस्तु तृतीयस्कन्धनवमाध्याये ब्रह्मस्तुतौ "अन्नाप्तुतार्त्तकरणा" इत्यस्य सुबोधिन्यां व्युत्पादित । ये पूर्वजन्मनि प्रभात्मभावचिन्तपरा स्तेभ्य' स्वोत्तनिवृत्तिमार्गेकरणाद्भगवान्प्रसन्नो भूत्वा सत्यादिलोकेष्विह वा किञ्चित्प्रसाद प्रयच्छति तदा नेदमस्माकमपेक्षितमिति ततो विमुखा प्रभात्मभावचिन्तनेनैव "मामवेहावसानाध्रे"विश्लोकोक्तरीत्येहैव सञ्चरन्तीति स्वमुक्तत्वाभिमानेन भगवत्प्रसादागृहाणा ऋषीणामप्येव भाव इति ।

श्रीकृष्णाय नम

अथ श्रीमद्वल्लभानामियं टिप्पणी ।

ममोत्तमेतिश्लोकविवरणे तत्रेति मोक्षविषये इत्यर्थ, स्थिताविति मर्यादामार्गे इत्यर्थ । पुष्टिमोक्षप्रबोधकतया प्राक् तन्निरूपणस्यावश्यकत्वात् । तद्विपरीतेति, स्वरूपत साधनत फलतश्चेत्यर्थ । स्वरूप कृपया निःसाधनाङ्गीकार, साधनं गृहस्थितिपूर्वक भजनम्, फल साक्षाद्भजनानन्दानुभव । अत एव फलप्रकरणे प्रमाणनिष्ठात्यागेन तदनुभव, नो चेत् द्विप्रदायकपक्षिभावौ शून्यासनमेव स्यात् । तत्र व्यवस्थयेति, पुष्टिमार्गे व्यवस्थयेत्यर्थ ।

---

१ गीता १४. ६

एवं कामं निरूप्य मोक्षं निरूपयति—ममोत्तमेति,

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥ ४ ॥

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि ।
कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ॥ १ ॥

पुष्टिमार्गे* मोक्षो निरूप्यते,

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

अथ श्रीहरिरायचरणविरचिता टिप्पणी ।

श्रीवल्लभाचार्यपदं स्वीयसर्वार्थसम्पदं ॥
प्रणमामि तदुक्तार्थबोधनाय मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

[१] अथ श्रीमदाचार्यचरणाः पुष्टिमार्गे धर्मार्थकामानां पूर्वश्लोकेषु स्फुटत्वेनावगम्यमानत्वा-न्मोक्षमात्रस्य सन्दिग्धत्वाल्लोकविलक्षणत्वाच्च तन्निरूपयन्ति—पुष्टिमार्ग इति पुष्टिर्हि प्रभोरनुग्रहः स च फलदानेच्छा, सापि द्विधा, केवला विशिष्टा च, तत्र केवला नि प्रकारा, साधन प्रकारस्त-द्रहिता, विशिष्टा ससाधना सैव फलप्राप्त्युपायतया मार्ग इत्यर्थः । तत्र मोक्षो निरूप्यत इत्यर्थः ।

अथ श्रीपुष्टिमार्गीयमुक्तिविवृतिप्रकाशः ।

दुर्जनदिग्गजविजयि–श्रीपुरुषोत्तमपाद–प्रणीतः ।

श्रीकृष्णाय नमः

प्रणम्य श्रीमदाचार्यचरणाम्भोजपांसवम् ।
वक्ष्यामि पुष्टिमार्गीयमोक्षोक्तिं विवृणोम्यहम् ॥ १ ॥

[१] अथ श्रीमदाचार्यचरणाः पुष्टिमार्गीयधर्मार्थकामानां विवृतत्वेन तत्र पुरुषार्थाना-मवान्तरफलत्वात् पुष्टे फलरूपत्वेन तत्र सपरिकरतया निरूपितत्वात् तन्निर्णयेन तान्विवरिषवः पूर्वश्लोकेषु धर्मार्थकामानां स्फुटत्वात्तृतीयस्य चात्मत्वात्तन्निरूपणं प्रतिमानते—पुष्टिमार्गे मोक्षो निरूप्यत इति,१ "पोषणं तदनुग्रहः" इतिलक्षणवाक्यात्पुष्टिरनुग्रहः, स च भक्तोन्नतमिति प्रसिद्धमुनिर्णये स्थितम्, स एव फलसाधनत्वान्मार्गः । तत्र मोक्षो (भा० २, १०, ६) "मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" इति लक्षणोक्तमन्यथारूपत्याग-पूर्वकं स्वरूपेणावस्थानम् । निरूप्यते इत्यनेनेत्यादिना लभ्यत इत्यर्थः ।

---

१ इदं चतुर्थश्लोकविवृतिः श्रीमदाचार्यचरणानामेवेति नद्विवरणव्याख्यानाम्दने दृश्यते कैश्चनमाणक-वेदुर्व्येरनो न मुद्र्यते । * पुष्टिमार्गीय इत्यपि पाठः । १ भा २ १०, ४

तत्र स्थितौ बन्धो नामाहन्ताममतास्पदेष्वासक्तिस्तदन्येषु सङ्गश्च, तस्य सहेतुकस्याभावो मोक्षश्च, पुष्टिस्तु तद्विपरीता, तत्र व्यवस्थया मोक्षद्वयमाह—ममोत्तमेति।

टिप्पणी—[१] अत पर पुष्टिमार्गे बन्धमोक्षाभ्यां वैलक्षण्यं निरूपयन्ति तत्र स्थिताविति, तत्र स्थितौ पुष्टिमर्यादाया बन्धोऽहन्ताममतास्पदेषु पुत्रदारगृहधनादिषु आसक्तिः सर्वात्मना तन्निष्ठमनोवृत्ति, तदन्येष्वासक्तिविषयान्येषूदासीनेषु सङ्गश्च तस्य बन्धस्य सहेतुकस्य तदुत्पादककारणकलापसहितस्य योऽभावः स मोक्ष इत्यर्थ । पुष्टौ तद्वैपरीत्यमाहु—पुष्टिस्त्विति, पुष्टिः पुष्टिमार्गस्ताभ्यां बन्धमोक्षाभ्यां विपरीता, पुष्टिमार्गे बन्धो हि पुत्रादिष्वासक्तिविषयेषु भगवदीयत्वेनानासक्तिरुदासीनेषु भक्तेष्वसङ्गश्च, तदभावो मोक्ष । भगवदीयेषु पुत्रादिष्वासक्तिर्भगवद्भक्तसङ्गस्य च मोक्ष इति वैपरीत्यमित्यर्थ ।

प्रकाशः—[२] ननु "प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुरि"ति (भा० ३, २५, २०) "स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान्सर्वमिदञ्जगदि"त्यादिवाक्यैर्बन्धस्य स्पष्टत्वेन तदभावरूपमोक्षस्यापि तथात्वात्तस्य च मार्गमात्रतुल्यत्वाद्वर्णनीय प्रयास इति शङ्कायामाहु—तत्रेत्यादि, मोक्षस्येतरवैलक्षण्येन ज्ञाप्यतया वैलक्षण्यप्रतियोगिनोऽवश्यवक्तव्यत्वे, स्थितौ उपादेयतया प्रतियोगिभूतायाम्, बन्धः संसारकारणभूत उक्तविध, तस्य सहेतुकस्य "तत्र सत्त्वं निर्मलत्वादि"त्यादिगीतावाक्यात्तद्धेतवो गुणास्तत्सहितस्य बन्धस्याभावो भवादिर्मोक्षः। पुष्टिः पुष्टिसरणी, तद्विपरीता विरुद्धलक्षणा, तथा च तत्र संसारास्पदेषु प्रसङ्गासक्ती मोक्षस्तदभावश्च बन्ध इत्यर्थ । तत्र मोक्षस्तु अत्र स्फुटिष्यति, बन्धस्तु तृतीयस्कन्धनवमाध्याये प्रकरणे "अन्धापृतार्तकरणा" इत्यस्य सुबोधिन्यां व्युत्पादित । ये पूर्वजन्मनि ब्रह्मात्मभावचिन्तनपरास्तेभ्य स्वोक्तनिवृत्तिमार्गकरणाद्भगवान्प्रसन्नो भूत्वा सत्यादिलोकेष्विह वा किञ्चित्प्रसाद प्रयच्छति तदा नेदमस्माकमपेक्षितमिति ततो विमुखा ब्रह्मात्मभावचिन्तनेनैव "प्राप्तदेहावसानाश्चे"ति श्लोकोक्तरीत्यैहैव सञ्चरन्तीति स्वमुक्तत्वाभिमानेन भगवद्दत्तप्रसादाग्रहणात्तेषामप्येव भाव इति ।

श्रीकृष्णाय नम

अथ श्रीमद्वल्लभानामियं टिप्पणी।

ममोत्तमेतिश्लोकविवरणे तत्रेति मोक्षविषये इत्यर्थ, स्थिताविति मर्यादामार्गे इत्यर्थ । पुष्टिमोक्षप्रदर्शकतया प्रकृतनिरूपणस्यावश्यकत्वात्। तद्विपरीतेति, स्वरूपत साधनत फलतश्चेत्यर्थ । स्वरूप कृपया नि साधनाङ्गीकार, साधन गृहस्थितिपूर्वक भजनम्, फल साक्षाद्व्रजनानन्दानुभव । अत एव फलप्रकरणे प्रमाणनिष्ठात्यागेन तदनुभव, नो चेत् द्विजदारवत्तच्चिन्तायां गृहगमनमेव स्यात्। तत्र व्यवस्थयेति, पुष्टिमार्गे व्यवस्थयेत्यर्थ ।

---

१ गीता १४, ६

मोक्षो हि द्विविधः, पुष्टिमर्यादया पुष्टिपुष्ट्या च। † (मर्यादाया ज्ञानेनैव मुक्तिः, पुष्टौ च ज्ञानेन भक्त्या वा मुक्तिः) भगवत्पारोक्ष्यापारोक्ष्याभ्यां व्यवस्था, प्रत्यक्षेपि भगवति

टिप्पणी—[३] अथ पुष्टे शुद्धमिश्रभेदेन द्विविधाया मोक्षैक्यस्य बाधितत्वाद्व्यवस्थया तद्द्वयमाहु—तत्रेति, पुष्टिमार्गे व्यवस्थयैकेन पद्येनार्द्धाभ्यां मार्गभेदेन मोक्षद्वयमाहेत्यर्थः। **ममोत्तमेति मोक्षो हि द्विविध** इति, कर्मभिः संसारचक्रे भ्रमणेन भगवदीयत्वप्रकारेण पुत्राद्यासक्त्या, चोत्तमश्लोकजनसङ्गस्य मोक्ष इति द्विविध इत्यर्थः। उपायद्वैविध्यमाहु—**पुष्टिमर्यादयेति**, पुष्टिमर्यादा ह्यनुग्रहः साधनसाहित्यम्। पुष्टिपुष्टिश्च तत्र तद्राहित्यमिति भेदः।

[४] ननु प्रकारभेदेपि तत्सख्यस्यैकरूपताया कथं व्यवस्थया द्वैविध्यमित्याशङ्क्याहु—**भगवत्पारोक्ष्येति**, पुष्टिमर्यादामोक्षरूपसख्ये भगवत्पारोक्ष्यं शास्त्रार्थतया गुणगानकर्तृशुकादिसख्ये तथात्वस्य स्पष्टत्वात्। अत एव *"**मथुराया व्रजङ्गता**" इत्यादिषु परोक्षेणैव कथनम्। पुष्टिपुष्टौ तु गुणगानविषयलीलाविशिष्टप्रभोरपारोक्ष्यम्, ‡"**नन्दसूनुरय**"मित्यादिषु तथात्वे स्वव्मायथेत्याभिमुख्योक्तेश्च स्पष्ट एव व्यवस्थया भेद इत्यर्थः।

प्रकाशः—[३] ननु मार्गैक्ये साधनस्य समानतया वैजात्याभावात्फले कथं भेद इत्यत आहुः तत्रेत्यादि, तथा च मार्गे अवान्तरभेदान्मोक्षभेद इत्यर्थः।

[४] ननु किंनिबन्धनो भेदः, कथं च मोक्षभेद इत्यत आहुः—**मोक्षे** हीत्यादि। वेदोक्तकर्मज्ञानभक्त्यो मर्यादेति पुष्टिप्रवाहमर्यादाया स्थितम्, तेष्वत्र प्रकरणवशाद्विहितज्ञानभक्ती ग्राह्ये योगोपासनादिग्रहणे त्रयो वा, तथा च यया ताभ्यां तैर्वा मिश्रितोऽनुग्रहः पुष्टिमर्यादा, तथैक। अनुग्रहान्तरेण मिश्रितोऽनुग्रहः पुष्टिपुष्टिश्चेतर इति भेदनिबन्धकमुक्तम्। स्वरूपभेदमाहुः—**भगवदि**त्यादि, तथा चाद्यया भगवत्परोक्षानुभवः, इतरया च प्रत्यक्षानुभवः, इति ताभ्यां कृत्वा भक्तरूपावस्थितिरूपमोक्षस्यापि स्वरूपभेद इत्यर्थः।

[५] एवं श्लोकार्थं सङ्गृह्य पूर्वस्य गुणभावं स्पष्टयितुं पूर्वार्द्धस्थपदानि विवृण्वन्तः पूर्वश्लोकेषु हरेसमग्नसारत्रि-दाक्षपदे सम्बोधनेन भगवत्प्रत्यक्षताया स्पष्टत्वादत्रापि सबुद्धि सभाव्यते, तथा सति हे उत्तमश्लोक! उक्तविधस्य मम जनेषु सख्यं न भूयादिति जननादिधर्मवत्सख्याभावप्रार्थनं श्लोकार्थो भवति ■ वाऽपुनर्भवपर्यन्तमनाकाङ्क्षतो मनसा भगवन्तं दिदृक्षतश्च प्रतिबन्धनिरासस्य प्रागेव आतत्वाचादृशा सख्याभावे स्यादेव निरस्त इति न युज्यतेऽत समासमादृत्यान्य एवार्थो वक्तुमुचित इत्याशयेनाहुः—**प्रत्यक्षेपी**त्यादि, अप्रत्यक्षत्वादिनापि सम्बो

श्रीवल्लभटि०—ननु एकस्मिन्नेव मार्गे कथं व्यवस्थाभेद ? तत्राहुः—**भगवत्पारोक्ष्येति**, पुष्टिमर्यादास्था परस्परं गुणसमाजनेनान्तःप्रकटेनैव भगवता पूर्णतां मन्वाना लोकोपकारिणः शुकादय इवात्मारामा रमन्ते। शुद्धपुष्टिमार्गीयास्तु साक्षाद्धरिं सर्वं वमन्तरा नैतावतैव पूर्णतां मन्यत इति एतत्कृतो व्यवस्थाभेदः। अत एव फलप्रकरणे भगवद्भावसम्पत्त्या गुणगानेन च न तापशान्तिः, पश्चादाविर्भूते एव तास्मिंस्तच्छान्तिः।

ननु पुष्टिमर्यादास्था कदाचित्प्रत्यक्षे भगवति प्रमाणनिष्ठां परित्यज्य तमेव गृह्णीयुस्तदा कथं

---

† इयं पङ्क्तिर्नहि कैश्चिदपि टीकाकारैर्व्याख्याता तथा घ च* पुस्तकयोरपि नोपलभ्यते।
* भा० १०, ६, ३१ ‡ भा० १०, ३५ ४

शास्त्रार्थत्वाय उत्तमश्लोकजनेष्विति समासः। भक्तसंवलित एव भगवांस्तद्वारा फलं द-

टिप्पणी—[९] नन्वस्ति भगवान् शास्त्रार्थ "'वेदैश्च सर्वै'"रितिस्मृते "त त्वौपनिषदं पुरुषमिति" श्रुते "सर्ववेदान्तप्रत्यय"मिति न्यायाच्चातस्तत्प्राप्त्यर्थं तज्ज्ञानार्थं च तथाप्रतिपादकभक्तसख्यापेक्षा इति तदुपायापेक्षा। तत्र परोक्षे भगवति गुणगाने भक्तवाक्यप्रतिपाद्यतया तदपेक्षा। प्रत्यक्षे वचसा गौणतया न शास्त्रार्थता, साक्षादनुभूयमानत्वादिति तैदुत्तरतैदुपायरूपभक्ता नापेक्षन्त इति तदा किमिति तत्सख्यप्रार्थनमित्याशङ्क्याहु —प्रत्यक्षेपीति।

उत्तमश्लोकजनेष्वितिसमासेनैकार्थताबोधकेन प्रभोर्भक्तानां च परस्परं सापेक्षता सूचिता। तथा च भक्तानां प्रभुसंवलितत्वमेव तत्सापेक्षत्वं, प्रभोश्च तद्द्वारैव फलदातृत्वमिति सापेक्षत्वात्प्रत्यक्षेपि प्रभौ भक्तापेक्षासत्त्वान्न भक्तप्रतिपाद्यतारूपशास्त्रार्थत्वव्याहतिरित्यर्थः। एतेन प्रभुस्वरूपमनुभूयमानमपि भक्तनिरूपितमेव विदित भवतीति भाव।

प्रकाशः—

धनानुरोधेन बौद्धसंभिधानस्य "*अहं समाधाय मनो यथाह सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्द" इतिवाक्यात्पूर्वं सर्वस्मरणस्य चावश्यंवाच्यत्वात्तस्यैकान्तभक्तत्वमवश्य वाच्यम्, तथा तादृशस्यासुत्यागावसरे भीष्मप्रभृतीनामिव भगवदनुकम्पा, तया दर्शनदान चावश्य मन्तव्यम्, तथा सति कालुष्यापि प्रत्यक्षे ? तस्मादुक्त प्रत्यक्ष इति। एव यद्यपि भगवान्प्रत्यक्ष इति मम त्वदीयेषु जनेष्विति वक्तव्यम्, तथापि यदेवमुक्त तेन उत्तमैर्यथार्थशास्त्रार्थविद्भिः श्लोक्यते कीर्त्यत इत्युत्तमश्लोकः। उत्तमा परापरविद्यागोचरा वा श्लोका कीर्तिर्यस्य स तथा। तस्य ये जना, "न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते, विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिण" इति पाद्मात्तादृशजन्मयुक्तास्तेष्विति च समास स शास्त्रार्थत्वाय, भगवत शास्त्रार्थरूपत्व ज्ञापयितुमित्यर्थ। अत्र "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन" इत्यनेन तुमुन प्रयोगे चतुर्थी। फलेभ्यो यातीतिवत्।

ननु शास्त्रार्थत्वमुत्तमश्लोकपदीयसमासेनैव प्राप्यते, न तु पदत्रयसमासेन। तथा च तादृशत्वेन सम्बोध्य प्रतिबन्धकाभावप्रार्थनेन सत्सङ्गादौ पर्यवसास्यतीति कथ सम्पूर्णोय तथार्थ इत्यत आहु -भक्तेत्यादि। तथा च वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातमि"त्यनेन तादृशसत्सङ्गे

श्रीवल्लभटि०—तन्देदस्तत्राहु –प्रत्यक्षेपीत्यादि। कदाचित्प्रत्यक्षेपि देवा शास्त्रार्थत्वमेव। गुणसभाजनरूपेण शास्त्रेणैवार्थ पुरुषार्थो यया ते तथा। तत्रावस्तत्त्व तदर्थमित्यर्थ। समासतात्पर्यमाहु —उत्तमेति। उत्तमै शुकादिभि शास्त्रद्वारा श्लोक्यत एव न तु पुष्टिस्थैरिव बहिरनुभूयते। तत्सम्बन्धिनो जना। ययोत्तमानां भगवतश्च श्लोकितृश्लोक्यभाव एव सम्बन्धो न त्वन्योपि बाह्यत्तया तेषु समासेन पदैकत्ववदर्थैकत्वमपि ज्ञापितमिति तद्द्वेन त इत्यर्थ। तादृग्जनेषु सख्यप्रार्थनया तत्समानशीलव्यसनत्व सिद्धो मुक्तवा सिद्धेति सख्यस्य मोक्षरूपत्व सिद्धमिति स एव प्रार्थ्यते।

ननु भगवत्सख्यमेव कुतो न प्रार्थ्यते तत्राहु—भक्तसंवलित इति। तादृग्जनसख्यद्वारा नकुलादौ लक्ष्म्यादिभक्तसंवलित एव फलरूप स भवतीत्येकम्।

१ गीता १५, १५। २ प्रत्यक्षोत्तरम। ३ प्रत्यक्षोपायरूपा * भा ६, ११, २१

दातीति पौरुषसभाजनञ्च (" येन्योन्यतो भागवता" इति तृतीयस्कन्धे दर्शनकारणं पौरुषसभाजनमुक्तं) फलम्। भक्तेषु दास्यपर्यन्तस्य साधनत्वात्सख्यं मार्थयते।

टिप्पणी—[६] ननु प्रकटे प्रभौ फलरूपे तत्सख्य कोपयुज्यते तस्य तु गुणगानसाधनत्वादत्र कथं शास्त्रार्थत्वप्रत्यय इत्यत आहु—पौरुषसभाजनञ्च फलमिति। उभयत्रापि परोक्ष्यापरोक्ष्ययो पौरुषसभाजनं श्रीअभिनन्दन विषयत्वाप्यर्थेत्यावित्य तदेव फलं, स्वरूपस्य तु गुणगानावसरमात्रभावत्वस्य तद्रूपस्य तदनुभवाधीनानुभवस्य तच्छेषत्वमिति तस्यैव फलतया प्रारब्धेपि तद्वत्तमस्योपयोगेन शास्त्रार्थत्वसिद्धिरिति भाव।

[७] ननु भक्तानामीदृशत्वे तेषु दास्यमप्रार्थयित्वा सख्यमप्राप्य सख्य कथ प्रार्थितमित्याशङ्क्याहु—भक्तेष्विति। भक्तेषु "मद्भक्तपूजाभ्यधिके"त्यादिना श्रवणमारभ्य दास्यपर्यन्तस्य सर्वस्य सख्यरूपफलसाधनत्वात्फलप्रकरणत्वात् फलरूप सख्यमेव प्रार्थयत इत्यर्थ।

प्रकाशः—

तैरप्याविष्टो भगवांस्तद्द्वारा फलतीति पदत्रयसमाससमर्थित्वा लभ्यते, तदभावे तु वैयक्त्येन सम्बोधनेनोदासीनतया सत्सङ्गाक्षेपात्प्रार्थनमसङ्गतं स्यादत पदत्रयसमास एवादरणीय इत्यर्थ।

[६] ननु पारोक्ष्यसत्सङ्गेपि शास्त्रार्थरूपस्य परोक्षेण प्रकाशात्तत्र चानुभवामीति प्रत्ययाभावात्कथ फलतीत्युच्यत इत्यत आहु पौरुषेत्यादि। "नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः। येन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणी—" इत्यत्र श्रीकपिलदेवैर्भगवदीयानां परस्परासक्तिपूर्वकं भगवत्पौरुषसम्भाजनरूप जीवना साधनमुक्त, तथापि " प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः, नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः" " परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया, गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्" "तदहं तेभिधास्यामि" "निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरि—" त्यादिषु गुणातीतानां स्वरूपावस्थितानां रतिविषयत्वेन कथनात्फलम्। तथा च तद्दानेन फलतीत्यर्थ। यद्वा च समुच्चये। तथा च यथा काव्यश्रवणे वर्णनीयस्य परोक्षत्वेऽपि विगलितवेद्यान्तर आनन्दो लौकिकानां, तथात्र स्वानन्दवद्गुणाश्च सभाजयन् तथेत्यर्थ।

[७] नन्वेतादृश फल श्रवणेपि भवति यथा परीक्षित, तस्यापि "नातितृप्ये जुषन्युष्मद्वचो हरिकथामृतम्" " येनै येनावतारेणे" त्यादीनां गुणसभाजनवाक्यानां दर्शनात्। तत्र च वक्तुरपेक्षया हीनभावस्य स्फुरत्वात् सङ्गममात्रमेव तदर्थं प्रार्थ्यं, सख्ये को विशेष इत्यत आहु—भक्तेष्वित्यादि। इमानि वाक्यानि सभाजनप्रयोजकानि न सभाजनरूपाणि। स्वरूपादि-

श्रीवल्लभटि०—इह तादृशे सह गुणसभाजन देहधर्मनिवारणपूर्वकं ब्रह्मानन्दादप्यधिकविलक्षणरसानुभवो भवतीत्यपर फलम्, तदप्युक्त पौरुषसभाजनञ्च फलमिति। तेन सत्सख्ये फलद्वयमिति सप्रार्थनेत्यर्थं। भगवत्सख्ये तु एकैव फलमिति कदाचिदर्जुनवत् (गीता अ ११-७-४१) "यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि" इति वाक्येतत्सख्यमपोषीति न तु प्रार्थनेति भाव।

---

१ भा १०,३१,२ २ भा ११,१९,२१। ३ भा ३ २५,३४। ४ भा २ १,७।
५ भा २,१,९। ६ भा २,१,१०। ७ भा १ १,४। ८ भा ११ २ २। ९ भा १०,७,१

सर्वथा स्वतन्त्रत्वाय स्वनिष्ठभक्तविषयकीर्तनम् । गुणसभाजने स्वस्यापि स्वातन्त्र्यार्थं,

---

टिप्पणी—[८] ननु तन्निरूपितसख्यमप्रार्थ्यं मम उत्तमश्लोकजनेष्विति षष्ठीसप्तमीभ्यां निष्ठताविषयताबोधिकाभ्यां कथं स्वनिष्ठतद्विषयकसख्यप्रार्थनमित्यत आहुः—सर्वथा स्वतन्त्रत्वायेति । सख्यस्य भक्तिमार्गीयमोक्षतया स्वातन्त्र्यमुचितं, न तु स्वनिरूपितत्वे तन्निरूपितत्वे वा तस्य व्याहन्येत । अत स्वनिष्ठभक्तविषयसख्यकीर्तनमित्यर्थः । एतेनैतन्मार्गीयमोक्षस्या साधनसाध्यत्वमुक्तं भवति ।

[९] ननु पौरुषसभाजनं हि फलं तदस्वातन्त्र्ये न भवति, तथा सति श्रवणमेव भवेन्न सभाजनमिति फलप्रतिबन्धकतया न सख्यं मोक्ष । सभाजनविशिष्टस्यैव तस्य तथात्वादित्यत आहुः—गुणसभाजन इति । गुणानां समाजने अभिनन्दने स्वस्यापि स्वातन्त्र्यार्थं स्वस्यापि प्रकाशः—

ज्ञानपूर्वकतदनुवादस्य सभाजनत्वात् । "कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः" इत्यादौ तथा दर्शनात् । परीक्षिच्छुककथाना गुणादिज्ञानार्थत्वात् । अतस्तादृशसभाजनस्य वक्तृश्रोतृत्वकथनेन साधनत्वम् । तच्च वाक्यपर्यन्ततानां तुल्यं, सख्यस्य तु तदीयस्वरूपमानसजनकत्वमिति विशेषात्तत्प्रार्थनमित्यर्थः ।

[८] नन्वभयं विशोकत्वमपारतन्त्र्यं च मोक्षलक्षणं "अभयं वै जनक प्राप्तोसि" "स्मर्तव्यश्चेच्छतामयं," "तरति शोकमात्मवित्" "तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतमि"त्यादिवाक्यात् । प्रकृते तु "निष्ठया विधिषेधत" इत्यनेन "एष ह वाव न तपतीति" श्रुत्यर्थस्फुरणात्तेषा भयाभावशोकाभावयोः सत्त्वेपि सख्यस्य ससम्बन्धकत्वेन पारतन्त्र्यान्न मोक्षत्वमित्यत आहुः—सर्वथेत्यादि । तथा च दयाप्रश्रयादिवत् ससंबन्धकत्वेपि स्वधर्मत्वेन तेषु विद्यमानः सख्यरूपो धर्मो मत्सम्बन्धोप्यस्त्वित्याशयेनात्र स्वनिष्ठस्य भक्तविषयस्य सख्यस्य कीर्तनं पृथक्त्वनैमित्तिकत्वेपि तस्य विद्यमानतया सर्वथा स्वातन्त्र्यं ज्ञापयितुं, तेन न मोक्षत्वहानिरित्यर्थः ।

[९] ननु सख्यस्य स्वतन्त्रत्वेपि स्वस्य सख्येन भोक्तृत्वे वक्तृपारतन्त्र्यान्मुक्तत्वहानिस्तेषां च जनत्वेनोपशान्त्यादिभावविकारदशापत्तौ प्रतियोग्यभावेन सख्यस्याप्यभावे देशकालपरिच्छेदात् सख्यस्य मुक्तित्वहानिरित्यत आहुः—गुणेत्यादि । तथा च बहूनां युगपद्वक्तृत्वासम्भ-

श्रीवल्लभटि०—ननु स्वाधीनत्वात्तादृश्जनदास्यमेव कार्यं तेन गुणसभाजनमपि सेत्स्यतीति किं सख्यप्रार्थनयेत्यत आहुः—सर्वथेति । तद्दास्ये लोकस्य स्वातन्त्र्येपि दास्यव्यासङ्गेन तत्सभाजने सर्वथा तत्स्यादिति तदर्थं स्वस्मिन् विद्यमानस्य लोकविषयसख्यधर्मस्य भक्तविषयकं कथनमित्यर्थः ।

ननु गुणसभाजको महान् "मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने" इति वाक्यादेक एव भवति । तत्सभाजनं च तदधीनमतः स्वातन्त्र्यमसंभावितं तदपि तत्सख्ये सति भवति तादृशेन तदप्यसम्भावितमिति किं तत्प्रार्थनयेत्यत आहुः—गुणसभाजने स्वस्यापीत्यादिना । जनेषु इति बहुवचनतात्पर्यं, न हि तादृश एक एव किन्तु

---

१ वा इति पक्षान्तरे सख्यस्य भक्तनिष्ठनिरूपितत्वे सति स्वातन्त्र्यं व्याहन्येत. २ सकलस्य, ३ भगवत्प्रार्थनेन ।

क्लेशसाधनपदेन कृपया साधनसंपत्तिश्च सूचिता । योग्यायोग्यदेहानां बहुधाजातत्वादिदानीं तदभावार्थं प्रार्थना । क्लेशे स्वामिनामग्रहणस्य हेतुत्वेनायुक्तत्वात्कर्मपदम् । आवश्यकत्वाय स्वपदम् । निरवधित्वाय बहुवचनम् ।

टिप्पणी—[१२] ननु तथापि भगवद्दर्शनमस्ये किं साधनं, न हि ते संसारपरिभ्रमणमात्रेण मिलन्ति तत्सङ्गस्य भवापवर्गसाधनत्वात् “भवापवर्गो भ्रमत” इति वाक्यादित्याशङ्क्याहुः—क्लेशसाधनेति । क्लेशसाधनपदेन परिभ्रमणपदेन कृपया सतां तत्साध्यसाधनसंपत्तिः सिद्धिः सूचितेत्यर्थः । ते हि कर्मभिर्भ्रममाणमवलोक्य सहजकरुणा' कृपालवो भवन्ति । सैव च साधनमिति तथेत्यर्थः । एतेन भक्तिमार्गस्य सांशस्यापि निःसाधनत्वं द्योतितं, न हि तदीयोंऽशः कोपि साधनैः सिद्ध्यति ।

नन्वेवं सति कथं प्रार्थनेत्याशङ्क्याहुः—योग्यायोग्येति । संसारचक्रभ्रमणेन योग्यायोग्यदेहा बहवो जाता इतीदानीं क्लेशेन स्वधर्ममविचार्यापि तदभावार्थं प्रार्थना, न फलार्थमित्यर्थः ।

[१३] ननु कथं भक्तिमार्गीयस्य वृत्रस्य सर्व्योपयोगिचक्रभ्रमणहेतुत्वेन कर्म युज्यत इत्यत आहुः—क्लेश इति । स हि भक्तिमार्गीय एवेति भ्रमणरूपे क्लेशे हेतुत्वेन स्वामिनो नामग्रहणमयुक्तमिति हेतुत्वेन कर्मोक्तवानित्यर्थः । ननु तानि कर्माणि त्यक्तव्यानि भ्रमणसाधनत्वादित्यत आहुः—आवश्यकत्वायेति । स्वकृतत्वेनावश्यंभोक्तव्यतया कर्माणि न त्यक्तुं शक्यन्त इति भावः । ननु किं बलं कर्मणां स्वसाध्यत्वादित्यत आहुः—निरवधित्वायेति । बहुवचनेन कर्मणां निरवधित्वमुक्तं, नैहि कश्चिदिति भावयान् ।

प्रकाशः—[१२] ननु तथापि संसारपदेन क्लेशसाधनतापि स्फुरतीति कथं दुःखासम्भेद इत्यतस्तात्पर्यमाहुः—क्लेशसाधनेत्यादि । तथा च तेन पदेन भगवन्तं प्रति तया सा सूचितेति तदर्थं तत्पदप्रयोगो न क्लेशबोधनायेति न दुःखसम्भेद इत्यर्थः ।

नन्विदं सूचनं प्रार्थनाफलं तथा सति कथं क्लेशाभाव इत्यत आहुः—योग्येत्यादि । तथा चेतः परं भगवद्दययाऽन्तिमदेहभावनाद्वितः प्रागेव क्लेशो, न त्वेतदुत्तरमपीति न दुःखसम्भेद इत्यर्थः ।

[१३] ननु कार्यमात्रं प्रति भगवदिच्छायाः कारणत्वेन क्लेशेपि तस्या एव तथात्वादीशमकस्य तत्स्तुतेरेवोचितत्वात् कथं तदनुक्तिरित्यत आहुः—क्लेश इत्यादि, बहुवचनमित्यन्तम् ।

आवश्यकत्वायेति । तत्फलभोगावश्यकत्वाय । तथा च तमोचितं, किन्तु कर्मपदमेवोचितम् । तथेदृशक्लेशे प्रार्थनाप्युचितेत्यर्थः ।

ननु “ जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः, उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन्नि ”त्यत्र त्रयाणां भ्रमणकारणत्वसिद्धेः कथं कर्ममात्रस्यैव कारणत्वेन कथनमित्यत

श्रीवल्लभटि०—

क्लेशेति । क्लेशसाधनं संसारस्तत्पदेनेत्यर्थः । तत्र पतितस्य चेतत्कृतनमनम्बन्धसाधनमिति, गा तदेवेतरपः

---

१ भा. १०, ६१, ६४. २ स्वभावानुत्वेन । ३ भक्तिमार्गीयस्य भगवति प्रार्थनानुचितम्. । ४ गीता ३, ९.

चक्रपरिभ्रमणे दण्डस्येव मुख्योपयोगे तृतीया। अस्या मुक्तेर्गौणत्वाय नात्र प्रार्थनापद प्रयोगः। तथा च तादृशभगवद्भक्तसख्यं पुष्टिमर्यादीया मोक्ष इत्युक्तम्।

टिप्पणी—ननु संसारचक्रभ्रमणे साधनान्तराणामविद्याकामादीनां सत्त्वात्कथं कर्ममात्र तत्साधनत्वेनोक्तमित्यत आहुः—चक्रपरिभ्रमण इति। सर्वेषां निमित्तकारणत्वेपि कारणता भोगविषयत्वेन मुख्योपयुक्तानां कर्मणामेव। चक्रे दण्डस्येवेति ज्ञापनाय तृतीयेत्यर्थः।

[१४] नन्वर्थतः प्रार्थनासिद्धावपि तद्बोधकपदप्रयोगाभावतात्पर्यमाहुः—अस्या इति। अस्याः पुष्टिमर्यादामुक्तेर्द्वितीयापेक्षया गौणत्वज्ञापनायात्र प्रार्थनापदानुक्ति। निर्गलितार्थमाहुः—तथा चेति। एतादृश पूर्वोक्तधर्मविशिष्ट चक्रभ्रमणादिक्लेशप्राप्य भगवद्भक्तसख्य पुष्टिमर्यादाया मोक्ष इत्युक्तम्।

प्रकाशः—

आहुः—चक्रेत्यादि। कर्माभावे ताभ्यां तथाभ्रमणाभावस्यानुभवसाक्षिकत्वाद्भ्रमणे मुख्योपयोग कर्मणामेवातस्तेषामेव तथात्व बोधितमित्यर्थः।

[१४] ननु भवत्येव तथापि सख्य प्रार्थयत इति यदुक्त तदसङ्गतम्। प्रार्थनावाचक पदस्यात्रानुपलम्भादतो व्याख्यान सर्वमेव सन्दिग्धमित्यत आहुः—अस्या इत्यादि। तथा च तदप्रयोगमात्रेणोक्तेऽर्थे न सन्देहमित्यर्थः। सिद्धमाहुः—तथा चे त्यादि। पुष्टिप्रवाहमर्यादाया "तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशय" इति जीवभेद पूर्वोक्तहेतुभिर्निगमयित्वा भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः, तेषा स्वरूपादिभिर्भगवत्तुल्यत्व, सेवासिद्धयर्थमीषत्तारतम्य चोक्त्वा तेषां शुद्धमिश्रभेदेन द्वैविध्य प्रतिज्ञाय मर्यादामिश्राणा गुणज्ञत्व लक्षणमुक्त, तत्र भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टत्वे सति स्वरूपादिभिर्भगवत्तुल्यत्वे सति सेवार्थमीषत्तारतम्यवत्त्वे सति भगवद्गुणज्ञत्व मर्यादामिश्र पुष्टजीवत्वमिति फलति। तथा "वैदिकत्व लौकिकत्व कापट्यात्तेषु नान्यथा। वैष्णवत्व हि सहज ततोऽन्यत्र विपर्यय" इत्यन्यथारूपज्ञापनपूर्वक सामान्यलक्षण त्रयाणां तत्रोक्तम्। तन्मूले "नैकात्मता मे" "प्रायेण मुनय." "परिनिष्ठितोपी"त्येतेषु "तत्रोभवद्भगवान् व्यासपुत्रः" "त व्यष्टवर्षं" "द्वैपायनाच्छुको जज्ञे भगवानेव शङ्करः। अंशांशेनावतीर्योर्व्यां समाप परम पद" "त स्कन्द इत्याचक्षते" सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्क्षे "गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारावत्यां कुरूद्वह। अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः" इत्यादिभिः शुकसनत्कुमारनारदेषु स्फुटम्, तथा "कायेन तु फलं पुष्णाति" इति पुष्टिफलस्य स्वरूपसाध्यत्व तत्रोक्तम्। तदत्र "वैयासकिः स भगवानि"त्यनेनोक्तम्। तेन लौकिकत्ववैदिकत्वरूपा इत्यर्थः। अत्रापि पूर्वकक्षा परीक्षिति, उत्तर-कक्षा सनत्कुमारादिषु ज्ञेया। छान्दोग्ये सनत्कुमारनारदसंवादे सर्वोत्तमभावविवरकतया तस्मिंस्तथा-त्वस्य शक्यवचनत्वाच्छ्रुतिगीतायनिर्णयस्य भजनार्थताया सुबोधिन्या निर्णीतत्वाच्चेति। अथ मोक्ष प्रायस्तुरीयाश्रमाणां हंसपरमहंसानामेवेति भाति। तदाहरणस्य तेष्वेवोपलम्भादिति दिक्।

श्रीवल्लभटि०—अस्या इति। शुद्धपुष्टिमुक्त्यपेक्षया गौण वादित्यर्थः।

१ भा १, १९ २६। २ भा १, १९, २६। ३ भा ११, ३०, १.।

द्वितीयमाह—त्वन्माययेति । समासादेव भिन्नतया न मायामोहनम् ।

टिप्पणी—[१६] पुष्टिपुष्टिमोक्षं वक्तु सजातीयत्वबोधनायाभासमाहु —द्वितीयमाहेति । द्वितीयं भक्तिमार्गीयं मोक्षमाहेत्यर्थः । तस्य मर्यादाऽप्राप्यकेवलपुष्टिप्राप्तिप्राप्यत्वात् तत्सजातीयत्वसिद्धिरित्यर्थः । त्वन्माययेति । संसारचक्रे भ्रमतो भगवदिच्छया कुटुम्बासक्तस्य न किन्तु, त्वन्मायया तदासक्तस्य मे भूयादिति संबन्धः । पूर्वस्माद्वैलक्षण्यमाहु —समासादेवेति । त्वन्माययेतिसमासेन तस्याः स्वरूपसम्बन्धित्वमुच्यते । सा च स्वरूपसम्बद्धैव तदर्थं मोहयति न तु पृथग्भावेन लीलार्थमेव तस्याः प्राबल्यादत एव तदुपक्रमे तस्या आज्ञापनम् । वैष्णवीं व्यतनोन्मायामित्यादिष्वपि सैवोक्ता । सा च भगवान् यत्र प्रकटीभूय लीलां करोति तत्रैवोपयुज्यते, तदभावे लीलाऽसम्भवात् । एवं सति पुष्टिपुष्टिमोक्षस्य प्रकटलीलाविशिष्टप्रभुस्वरूपान्तररमणरूपत्वात् तदुपयोगित्वेन गृहादिष्वासक्त्यपेक्षणात् त्वन्माययेत्युक्तम् । पूर्वत्र तु पारोक्ष्येण साक्षाल्लीलाऽसंभवान्नासक्तेरुपयोगः । माया तु तत्रापि भगवदीया परं न स्वरूपसम्बन्धिनी, "मम माये-" तिव्यत्यासेन कथनात् तदुक्तेश्च । अत एवात्रोक्तं न भिन्नतया प्रभुपृथग्भावेन मायामोहनमिति, किन्तु प्रभुरेव तया मोहयतीत्यर्थः ।

[१५] प्रकाशः—अतः परं पुष्टिपुष्टिमोक्षं विवरितुमाहुः—द्वितीयमित्यादि । ननु "प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्" "त एते साधवः साध्वि" "सर्वसङ्गेन हि देतेया" इत्यादिवाक्ये सत्सङ्गस्य मोक्षद्वारत्वात् पूर्वोक्तवाक्येषु गुणगानस्य फलत्वसाधनाच्च पुष्टिमर्यादामोक्षरूपत्वं वक्तव्यस्योचितम् । तच्च पूर्वार्द्धे भूयादित्यदूरान्वयाङ्गीकारेण सिद्धम् ।

अतः परमुत्तरार्द्धे देहाद्यासक्तिशोभकं स्वविशेषणमवशिष्यते, निषेधो नाथस्य च । तथा सति देहाद्यासक्तिनिषेधः प्रार्थनीयत्वेन फलिष्यतीत्यासक्तिरूपो मोक्षः कथमत्र कथं वा देहाद्यासक्तेर्मोक्षत्वमित्याकाङ्क्षायां भगवदपरोक्षज्ञानेन पुष्टिपुष्टिमोक्षस्य पूर्वं व्यवस्थापितत्वादत्र तादृशत्वेन तस्या मोक्षत्वं वक्तुं देहाद्यासक्तिजनकमोहने विशेषमाहु—समासादित्यादि । मायाशक्तिर्हि मोहने अधिकृता । तत्र यदि "माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति" श्रुत्या मायाविद्ययोरभेद आद्रियते यद्यपि "ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत् । महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः" इति "तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो महातमः" इति द्वादशविंशाध्यायवाक्ययोः पर्वपञ्चभेदेनाविद्याभेदस्य तृतीयस्कन्धसुबोधिन्यां विंशाध्याये भगवत्कर्तृकत्वकथनपूर्वकं श्रुत्या-

---

१ गच्छ देहि व्रज भङ्ग इति । २ भा. १०, ८, ४३. । ३ गीता ७, १४ मम माया दुरत्ययेति गीतावाक्ये मम मायेति पदे बोध्यम् तत्र मायाया मोहरूपत्वात् तत्साक्षात्सम्बन्धिनम् न तु श्री कृष्णमायायाःस्वरूपम् । ४ भा ३, २५, २४. । ५ भा. ११, १२, ३. । ६ भा ३, १२, २. । ७ भा ३, २०, १८ ।

पूर्वस्मादेतस्य विशेषस्त्वत्पदेनोक्तः । आभिमुख्यञ्च । त्वदिच्छया प्राप्तस्यात्मात्ममादिषु सख्यं पुष्टिपुष्टिमोक्षः ।

टिप्पणी—[१६] ननु को विशेषो मोहस्यैकजातीयविषयत्वादित्याशङ्क्याहु –पूर्वस्मादिति । पूर्वस्मात् मोहादेतस्य पुष्टिपुष्टिमोक्षाय मोहस्य विशेष आदरणीयत्व मोक्षाङ्गत्वादिरूपस्त्वेत्पदेन प्रकारतया तत्सम्बन्धसूचकतोक्त इत्यर्थ । यद्वा, नन्वेतस्मिन्नपि मोक्षे मायामोहस्य तुल्यत्वात्को विशेष इत्यत आहु –पूर्वस्मादिति । एतस्य पूर्वस्मात् मोक्षाद्विशेषस्त्वत्पदेनोक्त । एतत्सम्बन्धिमायाया अपि सदा स्वरूपसाहित्यादिति भाव । किञ्चात्र मोक्षे विशेष प्रकारान्तरेणाप्युपपादनीय इत्याहु –आभिमुख्यं चेति । एतत्प्रार्थनावसरेपि यत्र वृत्रस्य प्रभु प्राकट्यम्, अन्यथा त्वत्पद न प्रयुञ्ज्यात् । तत्र तदनुभवे तस्य का वार्तेति भाव ।

प्रकाशः—

वृनात्पूर्वापेक्षयोत्तमत्वस्य च ततोपि दहाहङ्कारो भगवत्सेवौपयिकत्वादुत्कृष्ट इति पञ्चमपर्वव्याख्यानेन सूचनाद्भगवद्वैमुख्येन महाभोगेच्छारूपस्य तत्प्रथमपर्वण इन्द्रे वर्तमानस्य मखभङ्गगुवर्धनधरणलीलोपयोगिताया, भोगेच्छारूपस्य द्वितीयस्योग्रसेनादौ, अज्ञानस्य तृतीयस्य “ सैयो नष्टस्मृतिरि ”त्यादौ, मोहस्य चतुर्थस्य कालियदमनादौ, महामोहस्य पञ्चमस्य सेवौपयिकताया सर्वत्र स्फुटत्वाच्च तदुत्तमताया स्फुटत्वेन प्रकारभेदो मोहने । यदि च “ विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणा । मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मित ” इतिवाक्ये कार्यकारणभावोपचा भेद आद्रियते तदाप्यविद्याकृत मोहन ससाराय, मायाकृत तु भगवल्लीलार्थं, तदपि “ वैष्णवीं व्यतनोन्माया मजास्नेहमयीं प्रभुरि ”त्यादौ स्फुटम् । प्रकृते च सदभिप्रेतमवस्तव माया त्वन्मायेति साक्षात्सम्बन्धबोधकात् त्वदविनाभूता माया त्वन्मायेति वा तथाभूतात्समासादेव भिन्नतया भगवत्सम्बन्धराहित्येन केवल ससारार्थतयेति यावत् । तथा न मायामोहनमित्यर्थ ।

[१६] ननु शक्ते शक्तिमदविनाभावस्य साक्षात्सम्बन्धस्य च सर्वजनीनत्वात् सर्वतन्त्रसिद्धत्वाच्च सर्वदैव तथात्वेन प्रागपि वैष्णव इति पूर्वजन्मीनस्यापि देहपुत्राद्यासक्तिरूपमोहस्य तथात्वेनस्य च बन्धकताया मूले पुत्रशोकशापादिकथया स्फुटत्वेन प्रकृते तत को विशेषो ? येन मोक्षस्वमित्यत आहु–पूर्वेत्यादि । अविनाभावस्यानुक्तसिद्धत्वेन तद्बोधकपदोक्तिप्रयोजनाभावेपि या तदुक्तिसैदानीं प्रार्थ्यमानस्य मोहस्य तच्चिकीर्षितलीलार्थत्व बोधयतीत्येष पूर्वस्माज्जन्मनो विशेष इत्यर्थ ।

ननु भवतु लीलार्थत्व तथापि मायामोहो भगवदज्ञानस्य “ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपमि”त्यादिषु सिद्धत्वात् परोक्षज्ञानमपि चेद्दूरे कुतस्तर्हि प्रत्यक्षसभावनेति पूर्वोक्तव्यवस्था न भज्येतैवेत्यत आहु –आभिमुख्य चेति, तद्धि भगवतो नाभिमुख्ये, प्रकृते

श्रीवल्लभटि०—पूर्वस्मादित्यत्र । पूर्वत्र माया भिन्ना, तस्याश्च परित्याग । अत्र तु स्वरूपाभिन्नेति न तत्परित्याग प्रत्युत स्वरूपविषयकासक्तिजनकत्वेन फलसाधकत्वाद्गुण एव, अतो विशेषस्तेनेत्यर्थ । आभिमुख्यञ्चेति । प्रत्यक्ष एव त्वत्पदव्यवहार इति तत्प्रार्थनायामेव भगवदाभिमुख्यमितीदमपि विशेषहेतुरित्यर्थ ।

---

१ त्वत्पदेन मायाया तत्सम्बन्धवत्त्वेनापि स्पष्टोऽर्थ । २ भा १०, ८, ४४

त्वत्सेवौपयिकत्वेन चित्तस्य तेष्वासक्तिं नाथपदेन प्रार्थयते । तेषां नाथत्वे तथा भवतीत्यर्थः । चक्र एव परिभ्रमतः सख्यं न भगवदिच्छया हिरण्यकशिपुप्रभृतिष्विव कुटुम्बासक्तस्य, सर्वथानन्यत्वभङ्गप्रसङ्गात् ।

टिप्पणी—[१७] ननु त्वन्माययेति को विशेषो [1] यथाऽन्यस्यचिदपि पुत्रादेर्भगवदीयत्वेन तदासक्त्या तत्सख्यस्य मोक्षत्वादित्याशङ्क्याहु —चक्र एवेति । चक्र एव परिभ्रमतस्तत्सख्यं भवतु, अनन्यत्वात्क्षते पुष्टिमर्यादामोक्षरूपत्वाच्च, न तु भगवदिच्छया स्वावतारकारणीभूतया, हिरण्यकशिपुप्रभृतिषु यथा दैत्यात्या प्रह्लादे पुत्रतया आसक्तिं सख्यश्च पुत्रवात्सल्यरूपं, अन्यथा न शिक्षां दापयेत्, तथा कुटुम्बासक्तस्य मे न भूयात्किन्तु त्वन्माययेत्यर्थः । सोऽपि पुरा भक्त एव शापेनासुरो जात इति साम्येन प्रार्थना तज्जातीया मन्येत प्रभुरितिभिया निषेधप्रार्थनमिति भावः ।

ननु तथापि भगवद्भक्तासक्तेस्तत्सख्यस्य विद्यमानत्वात् को दोष इति चेत्तत्राहु —सर्वथेति । न हि भगवन्मायामन्तरा केवलं भगवदीयपुत्राद्यासक्तावप्यनन्यत्वभङ्गस्तदशे तत्सम्बन्धाप्रवृत्तेः । न हि अनन्या कदाचिदपि तदसम्बद्धं किञ्चिदपि स्मरन्ति । दृष्टं च हिरण्यकशिपौ प्रह्लादासक्त्या शिवभजनमतोऽन्यथा सर्वथैवानन्यताभङ्ग एव । तस्मात् त्वन्माययैव तयासक्तस्य सख्यं भूयादितिभावः ।

प्रकाशः—

प्रत्यक्षं भगवन्तं प्रति युष्मत्पदोक्त्याभिमुख्यं सूच्यते, तेन यथा “ वैष्णवीं व्यतनोदि”त्यादौ मोहनं तथाभिप्रेत्य, तत्र प्रत्यक्ष इति न व्यवस्थाभङ्गलेशोऽपीत्यर्थः ।

[१७] उक्तं विशेषं निगमयितुं पूर्वं जातयोः सख्यासक्त्योः स्वरूपं परिच्छिन्दन्त्व प्रथमं सख्यं परिच्छिन्दन्ति—चक्र एवेत्यादि । पूर्वं नारदाङ्गिरसोर्मैत्रीं प्राप्य पुत्रपत्न्योर्यत्सख्यं तत्स्वकर्मभिः संसारचक्रे भ्रमत एव । अत एव “ ज्ञात्वान्याभिनिवेशं ते पुत्रमेव ददाम्यहमि”त्यन्वान्यधिक्षेपवाक्यानि, कर्मेन्धिकाशापो वृत्रदेहप्राप्तिश्च न भगवदिच्छया परीक्षित इव कर्मबन्धत्याजिकया तदैवेति, पौर्वभविकसख्यस्वरूपं परिच्छिन्नम् । तेन एतादृशभगवद्रूपसख्यं पुष्टिमर्यादायां शिक्षया तदैवेति विशेषणीयमिति बोधितम् । अथ परमासक्तिं मोक्षं इत्यत्रापि कर्मबन्धत्याजिकया भगवदिच्छयेति विशेषणीयमिति बोधितम् । अथ परमासक्तिं परिच्छिन्दन्ति—हिरण्येत्यादि । अत्र सख्यपदरहिता पूर्वंरक्षिकामनुपजय्यासक्तिपदं चाप्याहृत्य योजनीयम् । तथा च तत्प्रभृतिष्विव स्वस्यापीतः पूर्वं वृत्रदेहे चित्रकेतुदेहे च शापप्रयोजकशिवोपहासादिना सभार्यादासविपरीतं प्रापणा चक्रे परिभ्रमत एव । न तु कर्मत्याजकदूरोत्कर्षोपहासादिना सभार्यादासविपरीतं प्रापणा चक्रे परिभ्रमत एव । तेनैव प्रार्थनोभयस्वरूपनिष्कर्षेण प्रार्थ्यमानयोर्विशेषो निगन्तव्य इत्सपादकभगवदिच्छयेत्यर्थः । तेनैव प्राप्तनोभयस्वरूपनिष्कर्षेण प्राप्यमानयोर्विशेषो निगन्तव्य इति भावः ।

श्रीरत्नभट्टि०—चक्र एवेत्यत्र । यद्यपि हिरण्यकशिपुप्रभृतिषु भगवदिच्छया भावेन स्नेहे जातेषु तद्दुष्टभिन्ना सख्यगुणमभोक्ष्यत्वम्, तथापि तत्र मोक्षत्वम् । पुष्टिः चैतेनोत्पत्तिपत्वम् । भगवदुष्टभिन्ना सख्यगुणमभोक्ष्यत्वम्, तथापि तत्र मोक्षत्वम् । तथा च तथैव परिभ्रमतस्तदनुसार्यत्वं । हरिप्रभृतीनामनुक्रमेण तत्तथा, सर्वदाऽनन्यत्वभङ्गत्वम् । तथा च तथैव परिभ्रमतस्तदनुसार्यत्वं । विना तदनन्ता जन्मायाश्चुद्दृष्टित्वेन सख्याभाव इति भगवदिच्छयेत्युक्तम् ।

[1] पुत्रादावन्यथैव तदि । [2] भागवतस्कन्धे । भा ६, १५, २०. ।

१

कृतार्थत्वं तु नाथपदप्रयोगादेव सूचितम् । तदन्ते च प्रार्थना, *[१] "भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः" इति सिद्धान्तात् ।

टिप्पणी—[१८] नन्वयं प्रकारस्तु श्रीमदाचार्यैरुक्त एव, पुनरस्य कथमेवं कथनाविचार इत्यत आहुः—कृतार्थत्वं त्विति । स हि तद्भावद्व्यागत्यैव कृतार्थः पूर्णसर्वार्थः । न ह्येन दतिरिचमन्यास्य निश्चित्फलं भवति । रसानुभवस्तु तेषामेव । अन्यः कामयमानोऽप्यपोष्य पैतेद्-तत्सद्भावस्फुरणेन भगवदीयत्वसिद्ध्या कृतार्थ एव । अन्यथा नाथपदं न प्रयुञ्ज्यात् । न हि केचिदप्यभगवदीया भगवन्तं नाथत्वेन संबोधयन्ति, तदनधिकारात् । अनधिकारकृतस्य दोषावहत्वाच्च । प्रकृते तत्कथनाधिकारसिद्धौ सिद्ध कृतार्थत्वमिति भावः ।

[१९] नन्वेवं सति फलान्तरानभिलाषिण प्रार्थना न घटत इत्याशङ्क्याहुः—तदन्ते चेति । नाथपदप्रयोगान्तेऽपि या सत्यप्रार्थना सा भक्तिसिद्धान्तबोधनाय । तत्र हि भगवदीयत्वमेव परमपुरुषार्थः । "भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः" इतिवाक्यात् । स च तत्सख्येनैव भवतीति ज्ञापनाय तथाप्रार्थनमिति भावः ।

प्रकाशः—[१८] नन्वस्त्वेवं तथाप्यग्रे प्रार्थितं सेत्स्यतीत्यत्र किं गमकमत आहुः—कृतार्थेत्यादि । पूर्वसन्दर्भे भक्तत्वस्य स्फुटत्वादत्र च नाथपदप्रयोगेण दैन्याविर्भावबोधना "दुःस्थाना दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनमि"ति सर्वत्र दर्शनेन भगवत्तोषादिति तत्प्रयोगादेव तत्सिद्धिः सूचितेत्यर्थः ।

[१९] नन्वत्रासक्तिरूपैव कृतार्थतेत्यत्र किं गमकमत आहुः—तदन्त इत्यादि । इदं वाक्यं पञ्चमस्कन्धीयषष्ठे ऋषभचरितसमाप्तावस्ति, तत्र च पूर्वं तयोः चरित्रश्रवणाख्यानयोः फलं भक्तिरिति "भगवति तस्मिन् वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते" इत्यनेनोक्ता । तदग्रिमे "यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिनसंसारपरितापोपतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्तस्तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः" इति वर्तते । तत्र संसारावस्थावस्थितानां कविस्वेन भगवद्गुणगातॄणां भक्तिजन्यसुखेन भगवद्दत्तपरमोक्षानादरपूर्वकं भगवदीयत्वधर्मेण सर्वेद सम्यक्प्राप्तसर्वपुरुषार्थत्वमुक्तम् । तावता "सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः" "स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत"

श्रीवल्लभटि०—ननु सर्वसाधनापेक्षारहितेन कृतार्थेन पुष्टिमोक्षः प्रार्थ्य इति तत्राहुः—कृतार्थत्वं त्विति । सर्वसाधनैस्त्वं चेन्नाथस्तदा न किञ्चित्कर्तव्यमिति त्वत्पदेन तत्सूचितमित्यर्थः । तदन्ते चेति कृतार्थत्वान्ते । पुष्टिमोक्षप्रार्थनेत्यर्थः । पुष्टिमोक्षस्वरूपमाहुर्भगवदीयत्वेनैवेत्यनेन ।

---

* भा० ५ ६-१७ १ अयोग्यमिच्छन्पुरुषः पतत्येव न संशयः । २ लीलास्थितिरथत्वम् । ३ भा० ३, २९, १३+१४ ।

धर्मार्थकाममोक्षचतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं माया क्रमाद्देहाद्यध्यासं करोति । तत्र देहाध्यासे धर्मसिद्धिः प्रसिद्धा । पुत्रापेक्षया अन्यार्थस्योत्कृष्टस्याभावादर्थसिद्धिः ।

टिप्पणी—[२०] नन्विदमद्भुतमिवाभाति यन्मोक्षे मायातत्कार्यसंबन्धसाहित्यमित्याशङ्क्य मोक्षेऽद्भुतत्वसाधनाय वैलक्षण्यं निरूपयितुमाहुः—धर्मार्थेति । अत्रायमाशयः मर्यादामार्गीयमोक्षे हि तन्मायासंबन्धो न धर्मार्थकामानां प्रत्युत विरुद्धत्वं च । प्रकृते तत्साहित्याविरुद्धत्वादिबोधनायास्मात्ममदारगेहेष्वासक्तचित्तस्येत्युक्तम् । यतो माया क्रमात् देहेन्द्रियादिक्रमाद्देहाद्यध्यासं चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं करोति । तत्रैकेनैव देहाध्यासेन धर्मार्थकाममोक्षान्तान्साधयति । एवमिन्द्रियाद्यध्यासेनेति क्रमो ज्ञेयः ।

[२१] तत्र देहाध्यासं विवृण्वन्ति तत्रेति । तत्रैतेष्वध्यासेषु देहाध्यासे धर्मसिद्धिः प्रसिद्धा, तदध्यासवतामेव तत्राधिकारात् । अर्थसिद्धिरपि देहाध्यासेन यत पुत्ररूपस्योत्कृष्ट-

प्रकाराः—

इति च स्मारितम् । तेन तादृशपरमभक्तियुक्तां संसारस्य मुख्याभिख्यं तत्र स्फुटति, तत्रापि स्वविशेषणनाथपदप्रयोगाभ्यां स्फुटतीति तदन्ते तादृशसिद्धान्तं हृदि कृत्वा प्रार्थनैव तादृशासक्तिरूपफलार्थत्वगमिकेत्यर्थः । सिद्धान्तादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी ।

[२०] ननु भवत्वेवं तथापि त्रिवर्गस्य गृहाश्रमे संसिद्धेर्मोक्षस्येतरेषु संसिद्धेः प्रश्ने च दारादमपत्राभ्यां गृहाश्रमयोजनात् तस्मिन्नितरेतरविरुद्धचतुर्वर्गानुभवसिद्धिर्न युक्तिमधिरोहतीत्याकाङ्क्षायां तदनुभवप्रकारमाहुः—धर्मेत्यादि । मायेति पूर्वोक्ता । करोतीति पुष्टिपुष्टिभक्तानां करोति ।

[२१] तत्रेति । तेष्वध्यासेषु । प्रसिद्धेति । ब्राह्मणत्वाद्यभिमानाभावे वासन्तिकाधानादिकरणायोगात्तदुपदेशशास्त्रादरतत्करणाभ्यां प्रसिद्धा । पुत्रेत्यादि । पुत्रे प्राणाधिकप्रियत्वभानात्तत्र ममतारूपतत्साधनत्वनैकल्ये स्वसाकल्यनैकल्यभानाभावे देहप्राणवियोगात् तदापर्येऽन्तारूपो वा प्राणाध्यासस्तस्मिन् सति तदुपार्जनप्रयत्नात् प्राणाध्यासेऽर्थसिद्धिः । प्रसिद्धेत्यध्याहारेण

द्विधा कामसिद्धिः प्रसिद्धा । * 'भक्तानां गृह एव विशिष्यते' इति न्यायान्मोक्षः ।

टिप्पणी—

स्वार्थस्य तदभ्यासेनैव सिद्धेः । कामसिद्धिरपि स्त्र्यपेक्षा देहाध्यासमूलैव । गृहासक्तिरपि तन्मूलैव ।

[२१] चतुर्विधस्यापि मोक्षरूपत्वमाह—भक्तानामिति । भगवन्मायया लीलोपयोगिपदार्थत्वेन तत्रासक्त्या तन्निरोधेन ब्रह्मभावापेक्षया गृहमेव भक्तानां विशिष्टं, यतो ब्रह्मभावेऽपि पुरुषार्थाननुभव इन्द्रियादिविकल्पश्च । अतोऽलौकिकदेहप्राप्त्या प्रभुप्राकट्येनालौकिकपुरुषार्थरूपलीलायामद्वन्द्वसाहित्येनान्तरमणात्मकोऽनुभवो मोक्ष इति सिद्धम् ।

प्रकाशः—

योऽयम् । तेष्वेव समवायरूपोऽध्यासो वा । मूले पुत्रपदमर्थमात्रोपलक्षणमित्याशयेनैवमुक्तम् । द्विधेत्यादि । अत्र इन्द्रियाध्यासः स्त्रियामेव, ममतादि वा तेन कामसिद्धिस्तयोरित्यर्थः ।

[२२] भक्तानामित्यादि । † "ब्रह्मानन्दं प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा । संघातस्य विलीनत्वाद्भक्तानां तु विशेषतः" "सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तःकरणैरात्मनापि हि । ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते" इति निबन्धकारिकाभ्यां, ‡ "पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यवतंससमसन्नवक्त्रारुणलोचनानि । रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति" "तैर्दर्शनीयावयवैरुदारविलासहासेक्षितवामसूक्तैः । हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते" इति श्रीकपिलदेववाक्यद्वयार्थं सङ्गृहीत, तदुक्तन्यायान्मोक्षोऽनिच्छापूर्वकभगवदेकमात्रतात्पर्यान्मोक्षरूपविशिष्टलीलोपयुक्तपदार्थत्वनिरूपणभगवदानन्दानुभवरूपो मोक्षः । गोपिकादितुल्यानां प्रसिद्ध इति योजना । तथा च हृदयरागपक्षपातविरोधो व्रजभक्तादीनामित्ययं प्रकार इत्यर्थः ।

श्रीवल्लभटि०—

स्यात्, तेन तत्सिद्धिरित्यर्थः । अलौकिकत्वं तु भगवदर्थत्वादितादर्थ्यश्रवणेन मुख्यतया सर्वोपाधिकत्वेन वजननद्वारा परम्परया सेवानिर्वाहकत्वेनैकान्तिकपुरुषोद्धारकत्वेन च । लोके पुत्रस्यार्थत्वेन प्रसिद्धत्वाभावात् सा नोक्ता ।

द्विधेति । तथा यथा विषयार्थं कामसिद्धिः प्रसिद्धा तद्वदत्रापि सेवायामुभयोश्चित्तचाञ्चल्याभावाद् भगवदीयपुत्रोत्पत्त्यैव तत्सिद्धिरित्यर्थः । भक्तानामिति । यथा तेषां भजनोपयोगित्वेन विविधलीलारसानुभावकत्वेन शून्यस्थितितुल्यमोक्षापेक्षया गृहमेव विशिष्यते तन्न्यायेनैवत्वापि पुष्टिमार्गीयत्वात्तन्मार्गीयत्व सम्भावभावनया भजने तथैव परमानन्दानुभवे स ततो विशिष्यते । अतएव "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह" इत्यत्र मुख्यतया निरूपित पुष्टिमार्गीयो मोक्षो, न तु कैवल्यम् ।

---

* निबन्धशास्त्रार्थप्रकरणे का० ५१ † निबन्ध शा० ५३+५४. ‡ भा ३, २५, ३५+३६

चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वान्मोक्षप्रकरणत्वाच्चित्तपदप्रयोगः । क्रीडामतिबन्धकत्वात्कृते विरोधाच्च निषेधप्रार्थना ।

टिप्पणी—[२३] ननु कथमस्य तदधिकत्वेपि मोक्षरूपत्वं, चित्तासक्तेः संसाररूपत्वादित्याशङ्क्याहुः—चित्तस्येति । चतुर्विधेऽन्तःकरणे चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वात्तस्य च मोक्षदातृत्वात्तद्वाचिचित्तपदप्रयोगेण मोक्षरूपत्वं सिद्धमित्यर्थः । किञ्च, प्रकरणमपि मोक्षस्येतिज्ञापनायापि चित्तपदप्रयोग इत्याहुः—मोक्षप्रकरणत्वादिति ।

[२४]ननु भगवन्मायाजनितासक्तिमात्रं प्रार्थ्येत, किं केवलासक्तिनिषेधप्रार्थनेनेत्यत आहुः—क्रीडामतिबन्धकत्वादिति । केवलासक्तिनिषेधाभावे 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती'तिन्यायेन भग-

प्रकाशः—[२३] प्रकृते तादृशोनुभवप्रकारो विवक्षितोन्तःकरणाध्याससाध्यश्चेन्यत्र किं गमकमत आहुः—चित्तस्येत्यादि । *यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् । यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकमितिकपिलवाक्येन सर्वेष्वन्तःकरणेषु चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वात् सृष्टिस्थितिप्रलयमोक्षकर्तृषु प्रद्युम्नादिषु चतुर्षु वासुदेवस्य मोक्षदातृत्वादत्र मोक्षप्रकरणादत्र चित्तपदप्रयोगः । तथा च ग एवोक्तप्रकारानुभवस्य तस्यान्तःकरणाध्याससाध्यतायाश्च विवक्षितत्वगमक इत्यर्थः । अनेन तादृशासक्तेर्मोक्षत्वे युक्तिरपि स्मारिता । तथा हि यत्रेदं चित्तस्य वासुदेवात्मकत्वबोधकं वाक्यं तत्रैव मनसोऽनिरुद्धत्वबोधकमहङ्कारस्य सङ्कर्षणत्वबोधकं च वाक्यमस्ति, तेन तत्तदन्तःकरणाधिदैविकत्वं तेषां व्यूहानां तत्र सिद्धम् । भक्तान्तःकरणरूपाश्च त एव । किञ्च, यो योऽध्यासः स सर्वोप्यहङ्काराध्यासमूलकः, अहङ्कारश्च सङ्कर्षणात्मकः, तत्राऽस्याहमित्यध्यासस्तदहङ्ग्रहोपासनातुल्यफलो भवति, अहङ्ग्रहोपासना च सर्वत्राप्यमोक्षसिद्धा । तथा च सा यथा मोक्षफलकत्वान्मोक्षरूपा तथायमध्यासोपि मोक्षफलकत्वान्मोक्षरूप इति तन्मूला देहाद्यासक्तिरपि तथेति ।

[२४] ननु सर्वमिदं तदोपपद्येत यद्यन्तरा प्रयोगो न स्यात्, दृश्यते च ॥ इति नायमर्थः साधीयान् । किन्तु स्वकर्मभिः संसारचक्रे भ्रमतो मम उत्तमश्लोकजनसख्यं भूयात् तस्य प्रार्थनीयत्वे हेतुः त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य नेति "भैवापवर्गो भ्रमतो यदे"तिवाक्योक्तासक्तौ सत्र भवतीति तदभावपूर्वकतत्सख्यमात्रप्रार्थनेत्ययं युक्त इत्यत आहुः—क्रीडेत्यादि । उत्तमसख्यायेति शेषः । अयमर्थः, त्वया ह्येतस्यासाधुत्वेन अनुपपत्तिमात्रमविवक्षितत्व-

श्रीवल्लभटि०—चित्तस्येति । चिती संज्ञाने इति धातोश्चित्तं ज्ञानात्मकम् । तच्च सत्त्वजन्यम् । तदधिष्ठाता वासुदेव इति तदात्मकत्वमुक्तम् । इतः पूर्वं त्रिभिः श्लोकैः पुष्टिमार्गीयपुरुषार्थत्वमुक्तम् । अत्र तन्मार्गीयो मोक्षो निरूप्यते इति तत्प्रकरणत्वम् । "ज्ञानान्मोक्ष" इतिन्यायेन चित्तपदप्रयोगो मूले । तेन शुद्धज्ञानात्मकत्व एव तस्य यथा मोक्षसाधकत्वं तथा शुद्धपुष्टिमार्गीयभावात्मकत्व एव तन्मोक्षसाधकत्वमित्यर्थो ज्ञापितः । क्रीडेति । संसारहेतुभूतमायामोहात्मक एव बद्धे भगवान् क्रीडतीति तत्प्रतिबन्ध-

---

* भा० ३, २६, २१. १ भा० १०, ५१, ५४.

तथा च कर्मसंबन्धव्यतिरेकेण केवलभगवन्मायया रमणरूपया भगवत्सेवाश्रवणादितत्पर-

टिप्पणी—

वन्मायायामपि तत्सत्त्वे तन्मिश्रणेन पुत्रादिषूममप्रसक्तबुद्धौ केवलभगवन्मायाभावान्न भगवान् क्रीडतीति क्रीडायां प्रतिबन्धकत्वाच्चन्निषेधप्रार्थनमिति भाव । अत एव "सैमागतान्पूजयती प्रजौकस"इत्यत्र भगवदीयत्वेपि ज्ञातिबुध्या तत्रासक्तौ मातृचरणानां तथैभाववर्णनं, लीलारसानुभवप्रतिबन्धकत्वात्पद्धश्चेति । किञ्च, मोक्षविरुद्धत्वादपि केवलासक्तिनिषेधप्रार्थनमित्याहु —प्रकृते विरोधाचेति। प्रकृते विरोधो नामासत्यां शब्दभेदमरिते लौकिकभाववर्णनं चेति। मोक्षो हि भगवदीयत्वं, तच्च सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानरूपं, तत्र केवलासक्तेरंशत सत्या अपि बाधकत्वान्निषेधप्रार्थनमित्यर्थ । [२१] सिद्धमर्थमाहु —तथा चेति । कर्मसंबन्धव्यतिरेकेण संसारेपि प्रभुसंबन्धात्सर्वे-

प्रकाशः—

गमकतयोच्यते, सा तु नास्ति । तथा हि अत्र संदर्भे "अहं समाभाये"त्यादिवाक्यैर्द्विजस्य स्वपूर्वजन्मीनसर्ववृत्तान्तस्मरणं निश्चीयते । "त्रैवर्गिकायासे"तिवाक्यात्स्वस्मिन्प्रसादोऽनुमित इति च । एवं सति पूर्वजन्मीनान्याभिनिवेशाद्धिरःसद्भपुत्रदानवच्छोकनारदोपदेशभगवत्प्रसादविधाधराभिपत्यशिवोपहासाऽम्बिकाशाप अपि तस्य स्मृतिगोचरा इति पूर्वप्रसादस्य परमफलसाधकत्वं स्मृत्वा साम्प्रतं प्रसादे किं भगवता विधेयमिति तदाशये सन्दिहानः इदानीं च मरणकाल इतीदानीगोचरो मोचयिष्यत्येवेति निश्चिन्वानः अनुगृहीतस्यात्पौष्टिकमेव दास्यतीति निश्चित्य पूर्वजन्मीननारदाद्धिरःसत्यस्य भमत्सत्यस्वञ्च निश्चित्य यदि पुष्टिमर्यादया दित्सति तदा पूर्ववन्माभूदिति सख्ये माविरोधणे दीति प्रकारनिषेधस्य पूर्वार्धेन प्रार्थना, सख्यं भूयात्परं तथा न भूयादिति । यदि पुष्टिपुष्टा दित्सति तदा तथाऽसक्तचित्तस्य पूर्वार्द्धप्रार्थितसख्यं ■ भूयादितिविशेष्य निषेधस्योत्तरार्द्धेन प्रार्थनेति प्रकरणवशेनात्र वाक्यद्वयाङ्गीकारस्योपपन्नत्वात् तत्र नोपपत्तिरिति न सौर्थः किन्त्वयमेव साधीयानिति ।

[२५] सिद्धमाहुः—तथा चेत्यादि। "वैष्णवत्वं हि सहजमि"ति पुष्टिप्रवाहमर्यादायां पौष्टिकानां सामान्यलक्षणात्वादत्र, "न कर्मबन्धनं जन्म"तिवाक्यात्तद्व्यतिरेकेण केवला "अविद्याकामकर्मभिरि"तिवाक्योक्तभ्रमणसाधककामकर्मासंसृष्टा या क्रीडासाधिका भगवन्माया, तया गृहे गृहाश्रम एव "पश्यन्ति ते मे" इत्यत्रोक्तरीत्या तदनुभवन्, "पुंश्चल्या विमिश्राः सर्वशः" इति तेषा विशेषलक्षणात्सर्वं भगवदाशयपर्यन्तं जानन् भगवदीयः "यावन्न मयि ते

श्रीवल्लभटि०—

त्त्वम् । प्रकृतेऽर्थम् क्रीडैव प्रार्थ्यत इति तद्बाध्यबाधकविरोधात् तज्जनितासक्तिनिषेधप्रार्थना । तेन त्वन्मायायाऽऽसक्तचित्तस्य ममात्मजादिषु सख्यं भूयान्नेतरमायासक्तचित्तस्य लोकवदिति मूलार्थः पर्यवस्यति । तथा चेति । लोके कर्मसम्बन्धसत्त्वात् पुरुषार्थानुभवस्तथा तु विनात्र तदनुभवः । "तस्मिन्न दृष्टे परावरे" इति

१ भा. १०, ७, ६, १२ बहिर्भवत्याय इत्यर्थः । यशोदा अप्येवं बहिर्गता भावन्ते इति सुबोधिनी ।
३ पु० प्र० म० ।

तथा गृह एव चतुर्विधपुरुषार्थसुखमनुभवन् भगवदीय इति द्वितीया मुक्तिरियमेव मुख्या, आशीरिति सर्वान्ते क्रियाप्रयोगः । हे नाथ ? मर्यादाज्ञानमोक्षो मे मा भूयादिति ॥

॥ इति श्रीमत्प्रभुचरणकृता वृत्रासुरचतुःश्लोकीविवृतिः संपूर्णा ॥

टिप्पणी—

या तत्सम्बन्धराहित्येन केवलं भगवन्मायया लौकिकासक्तिसम्बन्धरहितया गृह एव लीलारूप-चतुर्विधपुरुषार्थसुखमनुभवन् भावप्रकारेण लोकवेदातीतप्रभुस्वरूपेण सह सर्वलीलानुभवं कुर्वन् भगवदीयः स्वतन्त्रभक्त इति द्वितीया पुष्टिपुष्टिमार्गीया मुक्तिरित्यर्थः ।

[२६] तदुदाहरणं तु स्वामिन्य एवानन्तान्या, एतस्यैव सकलफलमूर्द्धन्यफलस्वहाप-नायाहु —इयमेवेति । इयमेव नान्या मुख्याखिलफलेषु, आशीरिति ज्ञापनाय सर्वान्ते पद्य-निष्ठार्थमात्रनिरूपणान्ते भूयादित्याशीर्वादार्थक क्रियापदप्रयोग इत्यर्थः ॥

प्रकाशः—

नाथे"तिविज्ञप्तिश्लोकोक्तरीत्या भगवता स्वीयत्वेन निश्चित इति द्वितीया पुष्टिपुष्टिकृता मुक्तिः । यथा च गृह एव तथानुभवत्वेन मर्यादापुष्टयुक्तव्यावृत्तत्वे सति "निर्गुणो मदपा-श्रय"इत्येकादशे गुणातीतकर्तृलक्षणाद्भगवदीयत्वेन त्रिविधलौकिककर्तृव्यावृत्तत्व पुष्टिमिश्रपु-ष्टजीवस्य तेषां स्वरूपं तेन रूपेण यावज्जीवं स्थितिः सेत्यर्थः । अत्रापि पूर्वकक्षा यादवादौ, उत्तमा श्रीमदुद्धवादौ ज्ञेया, "नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः" इति कर्मबन्धव्यतिरेकस्य "सुदुस्तरः मे मोहमहान्धकार" इत्यत्र "प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वये"ति भगवन्मायया देहाद्यासक्ते, 'मयापि तदभिप्रेतं जानन्ति'ति तादृशत्वस्य स्फुटत्वाद्दिति ।

[२६] एवं पुष्टिमार्गे द्विविधं मोक्षं निश्चित्य "शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभा" इत्यत्र विचा-रितानां शुद्धपुष्टानां फलस्य स्वरूपस्य चेतोप्यधिकस्य हृदि कृत्वा प्रकृतानामेवदन्यता ज्ञाप-यितुमाहु—इयमित्यादि, इयमेव, नेतोऽधिकेत्यर्थः ।

नन्वत्रायमेवाशय इत्यत्र किं मानमिति चेत् उच्यते । अत्र "भक्तानामहं एव विनिश्चित" इतिन्यायोपक्षेपान् तद्रूपाख्याने साधनं भक्तिः फलं मोक्षस्तथापि फलदशायां साधनदशावैलक्षण्यवि-कथनेन "अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते"इति मुक्तिदित्सासूचनात् । शुद्धपुष्टानां तु मुक्तीच्छाया-मपि तदनुक्तेरिति जानीहि । न च भक्तानामित्यस्य स्वतन्त्रभक्तानां गोपिकादितुल्यानामिति व्याख्या-नादेवमिति शङ्क्यं, तस्य साधनदशामात्रोत्कर्षज्ञापनपरत्वात् । अन्यथा फलदशाकथनविरोधापा-तात् । प्रकरणेषु वेणुगीते "ईशाश्रयमाणं च मत्यागतिरि"ति प्रत्यागतेरकल्होकारात् ।

श्रीवल्लभटि०—

साक्षाद्भगवदीयस्य सर्वकर्मस्य पुरुषार्थः । भक्तिमार्गे इदमस्यामित्यादि च चतुर्विधपुरुषार्थपुनरभिप्रायः । अग्रे स्पष्टम् ॥

इति श्रीविट्ठलपादात्मजश्रीवल्लभकृता "कर्मोत्तरे"त्यस्य टिप्पणी समाप्ता ॥

---

१ भा० ११, ११, २८, । २ भा० ३, ४, ३१ । ३ भा० ३, २६, ३९ । ४ सर्वसौरमित्यस्य द० भा० १०, ११, ९ ।

टिप्पणी—

इति श्रीवल्लभाचार्यकृपया विनिरूपित । ममोत्तमेतिपद्यार्थव्याख्यानार्थो मया मुदा ॥ १ ॥
मयोदितमिदं भक्ता अवलोक्य विचारितम् । भवन्तु सतत श्रीमदाचार्यचरणाश्रया ॥ २ ॥
एतत्फल तत्कृपातो भविष्यति न संशय । अतस्तदुक्तमार्गेण भजनीय प्रभु सदा ॥ ३ ॥
स एव श्रीमदाचार्यपक्षपाती मम प्रभु । करिष्यति स्वकीयानामैहिक पारलौकिकम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्प्रभुपादपद्मदासानुदासहरिदासविरचिता
ममोत्तमेतिपद्यव्याकृतिटिप्पणी समाप्ता

प्रकाशः—नन्वस्त्वेव, तथापि परमभक्तिस्वरूपे साधने तारतम्याभावात् फलभेद किमुक्तो च स्वरूप भिनत्तीति चेद्, उच्यते । उत्तरतन्त्रतातीयिकतृतीयपादीयाऽ“सर्वेधिया त्वविरोध” इतिसूत्रोक्तोपसद्न्यायेन भगवदिच्छाभेदादेवेत्यवेहि । तवस्तेष्वपि तारतम्य भ्रमरगीतोक्तसंदेशस्वरूपाद्ज्ञातव्यम् । एकादशीयद्वादशाध्यायस्था ‘न रोधयति मा योग’ इत्यारभ्य “यास्यसे ह्यकुतोभयम्” इत्यन्तात् सर्वात्मभावपूर्वकशरणोपदेशसंदर्भाच्च । तेन धर्मो हि पुष्टिमर्यादायामङ्गीकृतो न तु पुष्टिपुष्टाविति “न्यासादेशे”ष्वित्यत्र प्रभुचरणोक्तेः । सात्त्विकप्रकरणोक्तानां तत्सजातीयभाववता बाधः, राजसप्रकरणोक्ताना तादृशा चेतर, तामसप्रकरणोक्ताना तु मध्यापचिरेवेति लीलापरिकरस्य यथास्थितस्य नित्यत्वमस्यामेव लीलायां सिद्ध्यतीति । किं च पूर्वोक्तोपदेशश्रवणोत्तरमपि “सन्नेयः शृण्वतो वाच तव योगेश्वरेश्वर । न निवर्तत आत्मस्थो येन मे भ्राम्यति मन ” इतिश्रीमदुद्धवोक्तेरप्य भावोतिदुर्लभो भगवत्परमप्रसादादेव लभ्य इति च । तथाग्रे “त्वद्भक्तियोग च महद्विमृग्य” “आख्याही”ति प्रश्ने ‘भक्तियोगः पुरैवोक्त’ इति द्वादशाध्यायोक्त तत्स्वरूप स्मारयित्वा “पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणम्”- इत्यादिना तदुपायकथनात्तथा तदुपायस्वज्ञानपूर्वकतत्करणेन प्रसभाद्भगवत एव तादृशप्रसादसिद्धिर्नेतरथेत्यादिकमालोचनीयमिति तदेतत्सर्वं हृदि कृत्वोक्तमियमेवेत्यादि । इति दिक् ।

रससिन्धुचन्द्रमुखवारिजोद्गतपुष्टिपुष्टिमकरन्दरस ।
इति कृष्णचन्द्रकृपया विदित पुरुषोत्तमेन वचसा विवृत ॥
इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीपीताम्बरतनुजपुरुषोत्तमकृत
पुष्टिमार्गीयमुक्तिविवृतिप्रकाश सपूर्णतामगात् ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

---

१ ब्र० भा० ३० ३ ३ ३३ अत्र उपसन्नाख्ये कर्मणि एके तानूनप्त्रस्पर्शरूप औपसद कर्मोक्त, अस्मिन् कर्मणि सर्वेषां ऋत्विजां तानूनप्त्रत्व समान, तथापि “अथ यत्र यजमानस्पृष्टोऽस्मि”ति यजमानस्य यस्मिन्स्नेहातिशय तमेव ऋत्विज यजमानो वृणुते न हि तत्र समानेषु तेषु कथं इच्छाभेद इति प्रश्न संभवति। एवमत्रापि भगवदिच्छया फलभेद इत्याशय । २ भा० ११ १२ १६

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तगता-एकादशी

भक्तिवर्धिनी

चतुर्दशटीकाभिःसमलंकृता

१. श्रीबालकृष्णानाम्
२. श्रीगोकुलनाथानाम्
३. श्रीरघुनाथानाम्
४. श्रीकल्याणरायाणाम्
५. श्रीहरिरायाणाम्
६. श्रीगोपेश्वराणाम्
७. श्रीपुरुषोत्तमानाम्
८. श्रीवल्लभानाम्
९. श्रीजयगोपालभट्टानाम्
१०. श्रीलालूभट्टानाम्
११. केषाञ्चित्
१२. श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णानाम्
१३. श्रीगिरिधराणाम्
१४. श्रीद्वारकेशानाम्

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-वंशावतंस-गोस्वामि श्री १००८
श्रीगोपीनाथ-महाराजश्रीत्येतैः — प्रकाशिता

प्रकाशक:

गोस्वामिश्री १००८ श्रीगोपीनाथजी महाराज,
बड़ा मन्दिर, श्रीजीवनजी महाराज लेन,
भुलेश्वर, बम्बई-४०० ००२, भारत.

साधारण संस्करण २००० प्रति

राज संस्करण १००० प्रति

श्रीवल्लभाब्दाः ५०३.

ग्रन्थ-परिचय लेखकः गोस्वामी श्याम मनोहर

मुद्रकः

स्टूडियो बहार, २३-ए, सेन्ट्रल चौपाटी बिल्डिंग, चौपाटी,
बम्बई-४०० ००७.



गोस्वामिश्री १००८ श्रीविठ्ठलेशरायजी महाराज

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ग्रन्थ—परिचय

चौरासी वैष्णवोंकी वार्ताके भावप्रकाशके अनुसार भक्तिवर्धिनी ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने साचोरा पुरुषोत्तम जोशीके लिए लिखा था. एक किंवदन्तीके * अनुसार इस ग्रन्थका प्रणयनकाल वि. स. १५५२ माना जाता है तथा प्रणयनस्थल प्रयाग, परन्तु भावप्रकाशके अध्ययन करनेपर लगता है कि इस ग्रन्थकी रचना गुजरातके किसी गाममें हुई होनी चाहिये

"तब एक समय श्रीआचार्यजी गुजरात पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशी मध्याह्नके समय एक तलावपर सन्ध्या करत हुते तब श्रीआचार्यजी तलावपर पधारिके सन्ध्या-वन्दन करन लागे. सो पुरुषोत्तम जोशीको ओर कृपा करिके दैवी जानि देखे. तब पुरुषोत्तम जोशी श्रीआचार्यजीके पास आई नमस्कार करि पूछ्यो– 'महाराज! यह कर्ममारग बडो के ज्ञानमारग बड़ो?' तब श्रीआचार्यजी कहे–'जाके मनमें दृढ जो मारग आवे, जामें जाको विश्वास होय, वाके भाये तो यह मारग बडो, और बडो तो भक्तिमारग है जामें जीव कृतार्थ होई. और ज्ञानमारग कर्ममारग सो कृतार्थ कठिनतासो होई सो काहूसो निर्वाह होय नाही काहेते? कष्ट साध्य है सो या कालमें शरीरको कष्ट क्यों न जाई कोऊ शरीरको कष्ट सहे तो मन ठिकाने रहे ताते भक्तिमारगमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाही

"तब पुरुषोत्तम जोशीने कही जो 'महाराज! भक्तिको स्वरूप कहो, कृपा करिके कहिये!' तब श्रीआचार्यजी कहें– 'भक्तिको स्वरूप वर्णन करिये तो पार आवे नाही परन्तु कछुक तोको कहत हों' तब 'भक्तिवर्धिनी' ग्रन्थ करि ग्यारह श्लोक पुरुषोत्तम जोशीको सुनाये सो यह उत्तम अधिकारी है, ताते सगरो बोध हो गयो."

इस तरह भक्तिवर्धिनी पुरुषोत्तम जोशीके हृदयमें भक्तिके वर्धनार्थ लिखी गई थी, गुजरातमें ही कहीं पुरुषोत्तम जोशीके गांवमें. इसके उपदेशके बाद पुरुषोत्तम जोशी सपत्नीक श्रीमहाप्रभुके अनुयायी हुए, और अव्यावृत्त होकर अपने घरमें कृष्ण-सेवामें तत्पर होगये– "सो दोऊ जन प्रीतिसों सेवा करन लागे. पाछे श्रीआचार्यजी द्वारिका पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशीने बहोत दिन सेवा करी. भगवद्भावमें मगन रहते. अव्यावृत्त होई रहे. काहूके आगे अपने हृदयको भाव प्रकट न करते."

---

(१) श्रीनाथदास शास्त्रीलिखित लेख, वैष्णववाणी वर्ष ४ अंक १९७९

भगवद्-गीताके तीसरे अध्यायमें अर्जुन भी भगवान्से ये ही प्रश्न कर बैठा था कि ज्ञानयोग यदि श्रेष्ठ है तो कर्मकी क्या आवश्यकता है, और कर्म यदि आवश्यक है तो फिर ज्ञानयोग किस अर्थमें श्रेष्ठ है. भगवान्ने यहां अर्जुनको समझाया है कि कर्मोके अनारम्भ या त्यागके कारण ज्ञानयोग श्रेष्ठ नहीं बन जाता क्योंकि फलासक्ति-रहित कर्म अर्थात् निष्काम-कर्म भी इस दृष्टिसे ज्ञानयोगसे मिलते लाभोको देनेमें सक्षम है कर्मके फलोंमें आसक्ति बनी रही तो ज्ञानमार्गीय साधकके नैष्कर्म्यका भी अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं है. कर्मके फलोके आकर्षणके रहते हुए कर्मका त्याग निरा पाखण्ड है.

भगवान् कहते हैं कि उन्हें, आत्माराम-आप्तकाम होनेपर भी, कर्मत्यागके बजाय लोकसंग्रहार्थ ही सही पर कर्म अधिक सुहाता है. कोई भी ज्ञानी स्वयम् परमात्मासे अधिक निष्काम या आप्तकाम हो नहीं सकता फिर ज्ञानयोगके नामपर कर्मत्यागकी क्या आवश्यकता है!

ज्ञानयोगी हो अथवा कर्मयोगी दोनोको ही स्वधर्म-स्वकर्मका अनुष्ठान फलासक्तिके बिना करना चाहिये क्योंकि परधर्मका भलीभांति अनुष्ठान भी स्वधर्मके बिन-भली-भांति किये गये अनुष्ठानसे श्रेष्ठ नहीं है अर्जुनने इस सन्दर्भमे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न, भगवान्के समक्ष उपस्थापित किया है वह पूछता है कि स्वधर्म-पालनकी जब इतनी अधिक महत्ता है तब व्यर्थ लोग कभी स्वधर्मके त्यागद्वारा तो कभी परधर्मोके अनुष्ठानद्वारा पापाचरण क्यो करते है ?

भगवान्ने इस प्रश्नका विलक्षण उत्तर दिया है कि स्वधर्मत्याग अथवा परधर्माचरण के द्वारा मनुष्य पापोको बटोरता रहता है, अपने काम और क्रोध के वशीभूत होकर ज्ञानियोकी ज्ञानाग्नि भी बहुधा कामके धुएमें घिर जाती है काम ही ज्ञानियोका चिरशत्रु होता है

भगवान्की बात बड़ी अटपटी लगती है कि क्यो केवल ज्ञानमार्गीय साधक ही कामनाओका शिकार बनता है, कर्ममार्गीय या भक्तिमार्गीय साधक क्यो नहीं ? कामनाओका आकर्षण तो सभी मार्गोके साधकोमे प्रारम्भमे तो रहता ही है या कमसे कम रह सकता है! परन्तु थोडा ध्यानसे देखनेपर पता चलेगा कि हमारी ममता और अहन्ता का ही अदम्य विस्फोट क्रमश काम और क्रोधके रूपमे होता है. अतएव भगवान् कहते है— "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्" हमारी अहन्ता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर क्रोधके रोगका रूप धारण कर लेती है इसी तरह हमारी ममता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर कामके रोगका रूप धारण कर लेती है.

इन काम तथा क्रोधके रूपोमे हमारी ममता तथा अहन्ता के राजस विस्फोटसे ध्वस्त होती साधकोकी साधनाकी सुरक्षाके उपायरूप अनेक मार्ग प्रवृत्त हुए है.

(१) बुद्धने आत्मचेतनाको काम-क्रोधके आवेगोंसे बचानेके लिए इनकी बीजभूत अहंता और ममता कोही तोड़ देनेका उपाय सुझाया था एतदर्थ अनात्मवादपर आधारित 'नाहम्' की भावना तथा विज्ञानवादपर आधारित 'न मम'की भावना को जगानेपर भार दिया गया मानो हमारी चेतनामें अहन्ता और ममता की ग्रन्थियोमें यदि क्रोध और कामके व्रण हो गये हो तो उन्हें रुझानेके बजाय इन ग्रन्थियोकी ही शल्यचिकित्सा कर दी गई. वैदिक शास्त्रोको यह शल्यकर्म सभी स्थितियोमे मान्य नही था अत बुद्धसे पूर्व ही कर्मयोग ज्ञानयोग एवम् भक्तियोग की प्रणालियोमें अन्य अघोर एवम् अक्लिष्ट चिकित्सा इनकी सोची गई

(२) कर्मयोगकी प्रणालीमे अहन्ताको तोड़नेकी परवाह किये बिना ममताको विभिन्न देवताओमे जोड़नेकी चिकित्सा-प्रणाली अपनायी गई हैं — "अग्नये स्वाहा अग्नये इद न मम— सूर्याय स्वाहा सूर्याय इदं न मम" इत्यादि "वित्त च मे पुत्रं च मे पशुश्च मे" की ममतामयी सकाम-कर्म-वृत्ति वाले साधकोको ममताको — 'देवताये इद न मम" की प्रणालीद्वारा निष्काम-कर्मकी ओर कर्मयोग आगे बढाना चाहता है स्वयम्के उपभोगसे पूर्व देवताओंके यजनकी आवश्यकता है. अतएव कर्मयोगके निरूपणमें गीता हमें समझाती है

"कर्म किये बिना कोई रह नही पायेगा, अपनी प्रकृतिके अनुरूप विवश होकर कुछ न कुछ कर्म तो सभीको करने ही पड़ते ऐसी स्थितिम कर्मेन्द्रियोको सयत करनेके पाखण्डमे विमूढ साधक अपने असयत मनको इन्द्रियार्थोके चिन्तनमें डुबा देते है. जबकि सच्ची विशिष्टता तो मनसे इन्द्रियोको सयत करके कर्मेन्द्रियोसे आसक्ति-रहित कर्मयोगको करते रहनेमें है। अतएव नियत कर्मोको करते रहना उत्तम है, उन्हें त्याग देनेके बजाय. सर्वथा कर्मत्याग करनेपर तो शरीरयात्रा भी नही निभ पायगी और फिर इस लोकम वे ही कर्म बन्धनरूप माने गये है, जिनका अनुष्ठान यज्ञकर्मके रूपमें नही होता अत यज्ञार्थ किया गया कर्म तो असगभावसे करते ही रहना चाहिये. प्रजापतिने भी प्रजाकी सृष्टि यज्ञके साथ ही की है अत यज्ञ ही हमारी सारी कामनाओको भलीभांति पूर्ण करता है हम यज्ञके द्वारा देवताओको देनेकी वस्तु उन्हें देनी चाहिये और यज्ञभावित देवगण जो हमें मिलना चाहिये वह हमें देगें इसी आदान-प्रदानमें हमारा परमश्रेय रहा हुआ है जो देवताओने हमे दिया है उसम से जो उन्हें देन लायक है उसे दिए बिना जब हम अपने उपभोगमें लेते है तो हम चार बन जाते है अतएव यज्ञके बाद बची हुई वस्तुओंके उपयोगकी जीवनप्रणालीमे पापस्पर्श नही होता है फिर भी जो केवल अपने लिए पकाते है और खाते हैं, वे अन्नका नहीं प्रत्युत पापका ही भक्षण करते है"

इस विस्तृत उद्धरणके अध्ययनसे स्पष्ट हो जाता है कि कर्मयोग हमारी अहन्ता-

की परवाह अधिक नही करना चाहता किन्तु ममताको मार्गदर्शन देना चाहता है ममतामे रचे-पचे मनुष्य अपने उपभोगसे पूर्व यदि थोडी सी धीरज धरके देवताओको लिए "इद न मम" कहना सीख पायें तो निष्कामताके मार्गपर आगे बढा जा सकेगा यही निष्काम-कर्म अन्तमे आत्मसुख या शाश्वत स्वर्गका सुख प्रदान करेगा. परन्तु अहन्ताकी उपेक्षाके कारण इस कर्ममार्गमे प्रारम्भिक साधनावस्थामे अहन्ता और राजसगुण के साहचर्यसे पनपे क्रोधकी सम्भावना पदे-पदे रहती है कर्मयोग ममताको ही स्वस्थ बनता है

(३) ज्ञानमार्ग अत अहन्ताकी चिकित्सा— उसे स्वस्थ बनानेका प्रयास है कर्मयोगमे जैसे ममताको देवताओंसे जोडा गया था इसी तरह ज्ञानयोगमे हमारी अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोडनेका प्रयास करना पडता है—"योहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमेवाह मा जुहोमि स्वाहा" अर्थ मै जो कुछ हू—मै ब्रह्म ही हू हा, मै हू— मै ब्रह्म हू मै ही मै मेरा होम (ब्रह्ममें) करता हू.

कर्मयोग जैसे प्रारम्भमे—"पुत्र च मे वित्त च मे" की कामनाओंमे घिरे सकाम कर्मकर्ताको निष्काम-कर्मकी ऊचाईपर उठानेके लिए "इद न मम" म प्रशिक्षित करता है वहा यज्ञाग्निमें अपनी ममताकी आहुति देनी पडती है वैसे ही ज्ञानयोग ब्रह्माग्निमे अपनी अहन्ताकी आहुति देना सिखलाता है. ज्ञानयोग हमारे अहकारकी चिकित्सा है ध्यान रहे कि 'अहम्' की आहुति ब्रह्माग्निमे देनी है— अपने अहकारकी धधकती ज्वालाओंमे ब्रह्मकी आहुति ज्ञानयोग नही है !

वाक्य उद्देश्य-विधेयभाव-घटित होता है जैसे "गाय प्राणी है" वाक्यमे 'गाय' उद्देश्य है और 'प्राणी' विधेय है. इसी तरह "अह ब्रह्मास्मि" मे 'अहम्' उद्देश्य है और 'ब्रह्म' विधेय है अतएव अहमास्पद जीवात्माको ब्रह्म मानना वास्तविक ब्रह्मबोध है, तथा व्यापक अशी परमात्माके साथ अशरूप जीवात्माकी अहन्ताको सच्चे परिप्रेक्ष्यमे देखना है. ब्रह्मको उद्देश्य मानकर अहकारको विधेय बनाना सभी प्राणिओको गाय माननेके जैसी त्रुटी है ब्रह्म तो त्वकारास्पद भी है — "तत्त्वमसि"म और इदकारास्पद भी है— "सर्वं खलु इद ब्रह्म" म प्राणी तो गाय हाथी और घोडा आदि अनेक प्रकारके होते है अत सभी प्राणिओको गाय माननेकी जैसी त्रुटी ब्रह्मको अहमास्पद माननेवाले कर बैठते है अशीको अहम् नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह त्वम् भी है और इदम् भी अहम्की किन्तु अश होनेके कारण अशी ब्रह्म कहा जा सकता है बापके जैसा बेटेका चेहरा होता है बटेके जैसा बापका नही !

अतएव श्रीशकराचार्य कहते है कि लहरोको 'समुद्रकी लहरे' कहना चाहिये— समुद्रको 'लहरोवाला समुद्र' नही (सामुद्रो हि तरग क्वचन समुद्रस्तारग इति). किनारेपर पहुच कर लहर अपनी आहुति समुद्रमे दे देती है पर भला कभी समुद्रकी आहुति किसी लहरमे दी जा सकती है क्या ?

ज्ञानमार्गी अहन्ताकी चिकित्सापर भार देता है– ब्रह्मके साथ अपनी अहन्ताको जोड़कर उसे स्वस्थ बनाना चाहता है परन्तु इस प्रणालीमे ममताकी उपेक्षा हो जाती है और उसी ममताके विकृत होनेपर ज्ञानीके ज्ञानमे कामके व्रण प्रकट हो जाते हैं। ममताको छोड़कर केवल अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास ज्ञानमार्ग है सफल होनेपर ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि होती है और विफल होनेपर "अहं ब्रह्मास्मि' का उद्देश्य विधेयमे बदल जाता है प्राय ज्ञानमार्गीय विविदिषुके "अहं ब्रह्मास्मि" के जपमें ब्रह्मके बजाय अहम्पर भार आजाता है और इस महावाक्यका अर्थ बदल जाता है।

कभी विफल ज्ञानमार्गीय साधककी उपेक्षित ममता ज्ञानमार्गपर दौड़ते हुए साधकको रजोगुणकी गोधूलीकी वेलामे शिष्येषणा जैसी कामनाओका रूपधारण कर मोहपाशमे बाध लेती है अतएव भगवान् कहते हैं– "सदृश चेष्टते स्वस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानपि प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह किं करिष्यति ?"

ये दोनो ही मार्ग, कर्मयोग और ज्ञानयोग के, यात्राकी सफलतापर मुक्तितक पहुचानेवाले मार्ग हैं, पर अहन्ता और ममता मे से एक ही किसीको स्वस्थ करनेके ये अपूर्ण प्रयास होनेसे हमारे काम और क्रोध के रोगोकी पूर्ण चिकित्सा नही करते भक्तियोग ही हमारी अहन्ता-ममताको पूर्णतया स्वस्थ रखनेकी एकमात्र चिकित्साप्रणाली है– अकठोर मृदु पूर्ण एवम् भयरहित।

(४) 'भक्ति' शब्द भज + क्तिन् को जोडने पर बनता है 'भज धातुकी प्रकृतिका अर्थ है सेवा 'क्तिन्' प्रत्ययका अर्थ होता है प्रेम अत 'भक्ति' शब्दका कुल अर्थ होता है प्रेमके साथ की जानेवाली सेवा

यह भक्ति हमारी अहन्ता-ममताकी पूर्ण चिकित्सा है शरणागत पुष्टिजीवको भगवत्सेवामे लगाकर यह उसकी अहन्ताको भगवान्के साथ जोड देती है– 'सोहम्' की प्रक्रियासे नही किन्तु 'दासोहम्' की प्रक्रियामे सेवा सचाईमे हम उसीको कर सकत है जिसके सामने हमारा अहकार झुक जाये पुष्टिप्रभु व्रजाधिप श्रीकृष्णके सम्मुख अपने अहकारको 'श्रीकृष्ण शरण मम" कह कर अथवा 'दासोहं कृष्णतव" कह कर झुका देना पुष्टिभक्त या पुष्टिभक्तिकी प्रकृतिमे निहित धर्म है अहकारके झुकने हो तनको भी झुकना पड़ेगा अतएव सिद्धान्तमुक्तावलीमें तनुवित्तजा सेवा तथा सिद्धान्तरहस्यमें सर्वसमर्पण की बात समझा कर चतुःश्लोकीमे व्रजाधिपके भजनको ही स्वधर्म माना गया है

हमारी ममताके श्रीकृष्णके साथ जुडनेकी बात चित्तकी कृष्णप्रवणताके रूपमें सिद्धान्तमुक्तावलीमें समझायी गई है. चतुःश्लोकीमें श्रीकृष्णके प्रति अपनी ममताको मोडनेकी क्रियाको ही पुष्टिमार्गीय काम कहा गया है. वही काम– वही कृष्णदर्शन-कामना 'भक्ति' शब्दमें 'क्तिन्' प्रत्ययका अर्थ है.

चतुःश्लोकीमें भजन और स्मरणके निरन्तर नक्रकी तरह चल पडनेकी क्रियाको मोक्ष माना गया है (स्मरण भजन चापि न त्याज्यमिति मति). अपरोक्षमें भजन या कायिकी सेवा हमारी अहन्ताके कृष्णसे जुडनेकी निशानी है परोक्षमें स्मरण या हमारे चित्तकी कृष्ण-तन्मयता हमारी ममताके कृष्णसे जुडनेकी निशानी है. पुष्टिभक्त न तो अपनी अहन्ता या ममता को देह या विषयो म मुक्त छोडना है, और न उन्हे तोडता ही है क्योंकि तोडना आवश्यक नहीं है पुष्टिभक्त अपनी अहन्ता एवम् ममता को व्रजाधिप श्रीकृष्णके साथ जोडता है जिस दिन—जिस क्षण ये दोनो भलीभांति श्रीकृष्णके साथ जुड जाती है,उसी दिन पुष्टिजीव मुक्त हो जाता है इससे अधिक और कोई मतलब मुक्तिका पुष्टिजीवके लिए नहीं होता.

हमारी अस्वस्थ अहन्ता-ममताकी क्लेशरहित, सम्पूर्ण एवम् सुख चिकित्सा भक्ति है अतएव श्रीमहाप्रभुने पुरुषोत्तम जोशीको समझाया था कि "ज्ञानमारग अरु कर्ममारग सो कृतार्थ कठिनतासो होई. तातें भक्तिमारगमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाही. "

जब भक्ति ही हमारे संसार-रोगकी पूर्ण चिकित्सा है तो भक्तिरसायनके अनुपानको ही क्यो न बताया जाये ! वस्तुत तो भक्तिको औषधी मानना भी भक्तिकी पूर्ण महत्ताका विवरण नहीं है क्योकि भक्ति पुष्टिजीवके लिए औषधीसे कही अधिक स्वयम् स्वास्थ्य ही है परमात्माके प्रति जीवात्माकी भक्ति न होना जीवात्माके अस्वास्थ्यका लक्षण है पुष्टिप्रभु व्रजाधिप श्रीकृष्णके प्रति पुष्टिजीवका पुष्टिभक्तिके भावन रहित होना भी उसकी अस्वस्थताका लक्षण है गीताके छठे अध्यायकी समाप्तिपर अतएव भगवान् भी कहते हैं– "मुझे कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तपस्वी साधकोमे जो योगी हैं वे अधिक मान्य लगते हैं. योगियो मे भी श्रद्धापूर्वक जो अपनी अन्तरात्माको मेरे साथ जोड करके मेरा भजन करते है वे मुझे सभीमे युक्ततम लगते है"

इस जगतमे आहार-विहारकी जिन अनियमितताओके कारण हम अपनी अहन्ता-ममताको अस्वस्थ बना लेते है, उनसे बचनेके लिए श्रीमहाप्रभुका स्वास्थ्यवर्धक उपदेश 'भक्तिवर्धिनी'को सुनना समझना और हृदयमें धारण करना अत्यावश्यक है

भगवान्के अनुग्रहके कल्पतरुसे लिपट कर ऊपर उठनेवाली भक्ति-कल्पलताकी वृद्धिके उपायोको जानना अत आवश्यक है

भक्ति उस जीवात्मामे प्रकट होती है जिसका भगवान् भक्तिके लिए वरण करते है अपनी भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा किया गया जीवात्माका वरण जीवात्मामे

बीजभावके रूपमें सर्वदा विद्यमान रहता है सत्संग गुरुकृपा या शास्त्रतात्पर्य-निर्णय के अनुकूल वातावरणमें कभी वह अंकुरित हो पाता है और कभी नहीं श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि स्वयम् परमात्मा इस एकान्तभक्ति या व्रजभक्ति के बीजको बोता है— सत्संग एवम् गुरुकृपा के जलमें उसे सींचता है— अपने अनुग्रह कल्पतरुका सहारा देकर उसे ऊपर उठाता है— उसपर उगनेवाले पुष्प-फलोंकी रक्षा भी एक सावधान मालीकी तरह वह स्वयम् ही करता है— तब इस भक्ति-कल्पलताका नष्ट होना या मुरझा जाना, उसे कैसे पसन्द आयेगा ? अत पुष्टिभक्तिका बीजभाव अनश्वर बीजभाव है जन्म-जन्मान्तो तक यह नष्ट नहीं होता एक एक जन्म ऋतुचक्रकी तरह आते और जाते रहते हैं— किसी ऋतुमें किसी लतापर फूल खिलते हैं और किसी ऋतुमें नहीं इसी तरह भक्तिका बीजभाव भी किसी जन्ममें प्रभुके रूपमें अंकुरित हो पाता है और किसी जन्ममें नहीं.

भक्तिकी यह कल्पलता बढकर इतनी सघन हो जाये– पुष्टिके कल्पतरुके इर्द-गिर्द इतनी फैल जाये कि दोनोंके पल्लवोंको पृथक् करना कठिन हो जाये– पुष्टिकल्पतरु और भक्तिकल्पलता के पल्लव परस्पर मिलकर पुष्टिभक्तिके रूपमें दिखलाई देने लग जायें— ऐसा उपाय श्रीमहाप्रभु हमें दिखलाना चाहते हैं लता जब वृक्षपर भलीभांति दृढतासे लिपट जाती है— फैल जाती है— तब उसके नष्ट होने या मुरझा जाने का भय कम हो जाता है इसे ही 'बीजभाव की दृढता' कहा गया है

दृढ बीजभाव तथा अदृढ बीजभाव वाले जीवोंके लिए भक्तिकी फलात्मिका वृद्धिके उपाय :

अपनी प्रेमसेवात्मिका भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा समारोपित वरणका बीजभाव जिन जीवात्माओंमें दृढ हो जाता है वे तो नि सत श्रवण-कीर्तनकी प्रणालीसे भी भगवान्की मानसी सेवामें सर्वदा मग्न रह सकते हैं. अत एसे भक्त गृहत्याग भी कर सकते है परन्तु जिन भक्तोंका बीजभाव ही दृढ न हो उन्हें गृहत्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत अपने घरमें रहते हुए ही भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा में अपने-आपको तत्पर बनाना चाहिये तभी बीजभाव दृढ होगा

भक्तिके तीन भेद होते हैं

१) भगवत्स्वरूपका बाह्य भजन
२) भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन
३) भगवन्नामात्मक भागवतका श्रवण-चिन्तन-कीर्तन

बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वय मतम्।
नाम्नि चैव तत्तत्रपा भक्तिमार्गो निरूपित ॥

जिसका बीजभाव दृढ हो गया हो अर्थात् पुष्टिभक्ति भगवत्प्रेमके रूपमें अंकुरित, भगवदासक्तिके रूपमें पल्लवित तथा भगवद्व्यसनके रूपमें फलित होने लग गई हो तो

ऐसे भक्तको भगवद्-व्यसनवे स्वभाववश ही भगवान्के विरहकी तीव्र अनुभूतिमें सिद्धान्तमुक्तावलीमें वर्णित मानसी सेवा अर्थात् भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन सिद्ध हो जाता है और एक कदम आगे बढनेपर सर्वात्मभावके सिद्ध होनेपर आसक्तिभ्रम-न्यायसे सभी इन्द्रियोका भगवान्मे विनियोग भी सिद्ध हो जाता है ऐसे भक्तोके लिए सर्वत्र भगवद्-भाव प्रकट हो जाता है घर और बाहर का भेद लुप्त हो जाता है- वे घरमे बैठे हुए हो या बाहर, उनके मन और उनकी सभी इन्द्रियो से निरन्तर भगवान्की अनुभूति चलती रहती है फलस्वरूप आसकरणदासजी (दृष्टव्य २५२ वार्ता) की तरह उनका घरमे रहना अनिवार्य नही रह जाता है वे गृहत्याग कर सकते है- भगवल्लीलाओका श्रवण, भगवान्के स्वरूप, गुण एवम् लीलाओकी भावना तथा उनके कीर्तन की मस्तीमे, या कभी भगवद् विरहके तीव्रतापमे ऐसे भक्त कब घरको छोडकर बाहर निकल जाते है यह उन्हें स्वयम् भी मालूम नही पडता। (विरहानुभवार्थं तु परित्याग प्रशस्यते सन्यास-निर्णय)

सर्वनिर्णय- निबन्धमे श्रीमहाप्रभु कहते है कि केवल श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी मानकर-आन्तर और बाह्य रूपमें सभी बातोका त्याग कर- श्रीकृष्णके विभूतिरूप सभी देवताओका सम्मान करते हुए- देहपातपर्यन्त केवल श्रीकृष्णमे ही अपने मनको जो एकाग्र कर पाते है- उनकी वाणीका और कायाका श्रीकृष्णमें विनियोग हो पाये या नही- उनके मनकी एकाग्रता स्नेहमयी बन पाये या नही- उन्हे श्रीकृष्णमे सायुज्यका लाभ अवश्य ही मिल जाता है पर भगवत्प्रेमके प्रबल प्रवाहके कारण दारा-आगार-पुत्र आप्त-प्राण वित्त-आदिमे जिनकी ममताकी दीवार ढह जाती है और जो स्वयम् भी उस प्रबल प्रवाहके वेगसे घरके बाहर फिक जाते है- ऐसे भक्त व्यसनदशाके परम-भावोकी भंवरोमे घिर जानेसे पुन पुन डूबते और उभरते रहते है। करोडो भक्तोंमे कभी-कभाक एकाद ही कोई ऐसा कृष्णव्यसनी बन पाता है।।

बीजभावकी ऐसी दृढताके अभावमे गृहत्याग श्रेयस्कर नही होता अत पहले बीजभावके दृढ होने तक धीरज रखनी चाहिये

त्याग और वैराग्य भगवदनुरागकी तीव्रताके कारण प्रकट होते हो तो उन्हे स्वस्थ एवम् सरस मानना चाहिये अन्यथा ससारमे केवल दोषदृष्टिके कारण जो वैराग्य पनपता है वह नीरस एवम् शुष्क, अतएव अस्वस्थ भी होता है ऐसे अस्वस्थ वैराग्य-वश व्यर्थ ही किसी भी वस्तुका त्याग कर देनेके बजाय उसे भगवान्को समर्पित कर देना चाहिये हमारी अहन्ता और ममता के विषयोको त्यागनेके बजाय उन्हे श्रीकृष्णको समर्पित कर श्रीकृष्णकी सेवामे उपयोग लानेवालेका बीजभाव दृढ हो सकता है अतएव श्रीमहाप्रभु कहते है कि अव्यावृत्त होकर स्वगृहमें स्वधर्म-भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा-मय जीवनयापन करनेवालेका बीजभाव दृढ होता है "बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मत अव्यावृत्तो भजेत् कृष्ण पूजया श्रवणादिभि"

स्वगृहमे स्वधर्म-भगवत्सेवाके विषयमे शास्त्रार्थ प्रकरणमे एक विलक्षण बात श्रीमहाप्रभुने समझायी है कि ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिए मोक्षकी चाहनासे भक्ति करनेवालोको यह समझना चाहिये कि साध्य मोक्षके बजाय साधन भक्ति अधिक श्रेष्ठ है जो जीव मुक्त होते हैं वे देहेन्द्रियादिके सघातको छोडकर ही मुक्त हो पाते है -- उनकी केवल आत्मा ही परमात्मामे लीन हो पाती है, जबकि भक्तोके तो देह इन्द्रिय प्राण अन्त करण गृह परिवार आदि सभी कुछ उनके घरमे विराजते प्रभुकी सेवामे काम आते है भक्तका तो ससार भी ब्रह्मात्मक हो जाता है फलत जीवन्मुक्तिके बजाय भक्तके लिए तो भगवत्कृपाके साथ गार्हस्थ्य ही श्रेष्ठतर होता है अत बीजभाव दृढ करनेके लिए यह आवश्यक है कि घरमे स्वधर्माचरणको निभाते हुए अव्यावृत्त होकर भगवद्-भजन करना चाहिये

घरमे रहना है तो स्वधर्माचरणका त्याग सम्भव नही, पर स्वधर्मकी व्याख्या भी सरल नही है. 'स्वधर्म' का प्रथम अर्थ होता है स्वयमके वर्ण तथा आश्रम के अनुरूप यथाशक्ति शास्त्रविहित आचरण करना शक्ति रहनेपर स्वधर्माचरणमे सकोच नही करना चाहिये क्योकि जब तक यह देह है और इस देहके साथ हमारी अहन्ता-ममता जुडी हुई है, तब तक वर्णाश्रम धर्म ही स्वधर्म है— भगवद्धर्म भी विधर्म या परधर्म की तरह हो जाता है जब देहाभिमान शिथिल होने लग जावे तभी भगवद्दास्य या भगवत्सेवा आत्मदृष्टिसे स्वधर्म बन जाती है. तब वर्णाश्रमधर्म भी परधर्म बन जाता है (सुबो ३-२८-२), अत इस देहाभिमान और आत्माभिमान के अति कोमल और जटिल विवेकके साथ वर्णाश्रम-धर्मका निर्वाह करते हुए कृष्णभजनमे तत्पर रहना चाहिये कृष्णभक्तिमे जैसा कि हम देख चुके है अहन्ताको स्वस्थ करनेका उपाय कायिकी सेवा 'भज' धातुका अर्थ है, और ममताको स्वस्थ करनेका उपाय चित्तको कृष्णप्रेम-प्रवण बनना है तदनुरूप अपरोक्षमे पूजा कायाको भजनमें लगानेकी प्रक्रिया है और परोक्षमें श्रवण चिन्तन-कीर्तन मनको भजनमें लगानेकी प्रक्रिया है

स्नेहकी दृढताके बिना कायामे प्रेमसेवा न भी सिद्ध पाये पर माहात्म्यज्ञानको निभाते हुए पूजा तो निभाई जा सकती है पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थमे इसी पूजाको— "प्रवाहेण क्रियारता " कह कर व्यक्त किया गया है सर्वनिर्णयमे २२७ वी कारिकासे लेकर २४६ वी कारिका तक भजनके इसी क्रियापक्षका निरूपण किया गया है यहाँ "एतत्सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्" कहकर गार्हस्थ्यके इसकी आवश्यकता दिखलायी है यहाँ २४० वी कारिकामे श्रीमहाप्रभु कहते है कि श्रवण—कीर्तन आदि द्वारा जब हरि हृदयमे निविष्ट हो जाते है तभी पूजाका निर्वाह निर्व्यग्रतया सम्भव हो पाता है अतएव पूजाको यदि केवल क्रियारूप ही न रहने देना हो तो, श्रीमद्भागवतमे वर्णित भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओंके श्रवण-भावन कीर्तनकी प्रणालीसे, उसे प्रेममय बनाना होगा (प्रेम्णोन्यत्साधन लोके नास्ति मुख्यं पर महत् श्रीभागवतमेवात्र पर

तस्य हि साधनम् सर्वनिर्णय) अन्यथा प्रेमरहित क्रियासे बहुधा व्यग्रता उत्पन्न होती ही है. श्रीमहाप्रभु अतएव कहते है–"सप्रेम इत्यनुद्वेगार्थम्" (सर्वनिर्णय २३०). भगवान्की पूजा करते समय अनन्य भाव नही जग पाया तो हम अव्यावृत्त होकर भजन नही कर पायेंगे–भक्तिके बजाय व्यर्थ ही मानसिक व्यग्रता बढा लेंगे.

भक्तिमार्गीय जीव अव्यावृत्त भी हो सकते है और व्यावृत्त भी अत. दोनो तरहके जीवोमे भक्तिके बीजभाव की दृढताके उपाय भी श्रीमहाप्रभुने दिखलाये है

अव्यावृत्त और व्यावृत्त अधिकारियोंको भक्तिके बीजभावोंको दृढ करनेके उपाय:

सभी इन्द्रियो और मन की अहमहमिकता ('पहले मैं–पहले मैं' की उतावल) से भगवान्के कार्योंमे जुट जानेकी अर्थात् सेवामें तत्पर होनेकी वृत्ति हमारी अहन्ताका भगवान्मे विनियोग है एतदर्थ अनन्यभाव आवश्यक होता है 'भाव' का अर्थ होता है: हमारे अन्तःकरणमे निहित रुचि या अभिप्राय. वह यदि केवल भगवान्के ही बारेमे हो तो उसे 'अनन्यभाव' कहते हैं अन्यथा (१) किन्ही अन्य देवताओंके बारेमे (२) अन्य लौकिक वस्तु या व्यक्तिके बारेमें, अथवा (३) पुष्टिमार्गीय फलसे भिन्न किसी फलके बारेमे, हमारे हृदयकी रुचि या भावना के प्रबल होनेपर हमारी कृष्णभक्ति अनन्य-भावात्मिका नही बन पायेगी

'अनन्य भाव'वाले भक्त ही अव्यावृत्त हो पाते हैं जिनकी भक्ति अनन्यभावात्मिका नही हो पाती वे अव्यावृत्त नही हो पायेंगे अन्यान्य भाव हमारे देह और अन्तःकरण को व्यावृत्त बनाये रखेंगे — वे अपनी पूर्तिकी कामनाके भावोका हमारे भीतर पैदा करके हमे व्यावृत्त बना देंगे — हमसे अव्यावृत्तिमय भजन सम्भव न हो पायेगा ऐसी स्थितिमें पुष्टिभक्तिमार्गपर चलनेके बुद्धिगत निर्णयके बावजूद भी हृदय इन पूर्वोक्त अन्यभावोकी पूर्तिके प्रयासमें यहा-वहा भटकता रहेगा — व्यावृत्त रहेगा ऐसी स्थितिमें श्रीकृष्णकी पूजा या कायिकी सेवा करते रहनेपर भी वह सेवाफलमें दिखलायी गयी — भोग, उद्वेग और प्रतिबन्धो से रहित सेवा नहीं हो पायेगी. फलस्वरूप चित्तमें वह व्यग्रता बढानेका ही कारण बनेगी

श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते है कि पूर्वोक्त देवतान्तर, पदार्थान्तर, मार्गान्तर या फलान्तर के कारण जिनके देह और अन्तकरण बाह्य और आन्तर रूपमे व्यावृत्त न हो ऐसे जीवोको भगवत्पूजा और भगवत्कथा दोनोंमें ही तत्पर रहना चाहिये पर जिनके देह या अन्तःकरण किसी न किसी तरह व्यावृत्त हो उन्हे कृष्णसेवाका अनुष्ठान सहसा प्रारम्भ नही करना चाहिये प्रारम्भमे केवल भगवत्कथाके श्रवण चिन्तन एवम् कीर्तन की प्रणालीसे चित्तको अनन्यभाव-युक्त अव्यावृत्त बनाना चाहिये (. भावान्तरम्-हिनो वा स हि देवतान्तरविषय पदार्थान्तरविषय. मार्गान्तरविषयो वा तत्सहभावोऽत्र निषिध्यते फलभावश्च. सुबो. ३-२५-२२) इस सुबोधिनीकी भागवतकारिकामें

भक्तिका स्वरूप यो दिखलाया गया है :

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥
मदाश्रयाः कथामृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
.
त एते साधवः साध्वि ! सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
संगस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥

(भाग. ३।२५।२२-२४)

व्याख्या : जो भगवान्में अनन्यभाव रखते हुए भगवान्की दृढ भक्ति करते हैं, जिन्होंने आलस्यवश नहीं किन्तु भगवदर्थ वेदादिशास्त्रोक्त अलौकिक कर्मोंका तथा लौकिक स्वजन-बान्धवोंका त्याग कर दिया हो, ऐसे भक्तोंकी सगति करनी चाहिये. निरन्तर भगवत्सेवा अथवा भगवत्स्मरण में सभी कर्म तथा सम्बन्ध बाधक बनते हैं— अनन्यभावमें कुछ न कुछ बाधा पहुचाते ही हैं. अत: इनमें अव्यावृत्त हुए बिना पूजा-श्रवणादिमें तत्पर होना चाहिये. सभी अधिकारियोंमें किन्तु ऐसी स्वरूपासक्ति सम्भव नहीं है. फलतः कथासक्ति— भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओं के श्रवण और कथन में आसक्ति— जिनकी दृढ हो ऐसोंका सत्सग करना चाहिये. ऐसे भगवदीयोंके सत्सगमें— उनके मुखसे कथाश्रवण करनेसे तथा स्वयम् भी चिन्तन-कीर्तन करनेसे लौकिक विषयोंसे ममता हटकर भगवान्में जुड पायेगी.

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते है कि जो अव्यावृत्त है उन्हें स्वरूपभजनके बजाय नाम-भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. इसी श्रवण-चिन्तन-कीर्तनकी प्रणालीद्वारा उनका बीज-भाव प्रेम-आसक्ति व्यसनकी अवस्थाओंमें विकसित हो पायेगा.

बीजभावको दृढ हुआ तभी समझना चाहिये जब हमारे देह और अन्तःकरण की व्यावृत्ति देशान्तर पदार्थान्तर मार्गान्तर एवम् कालान्तर के बारेमें न्यूनसे न्यूनतर होती हुई सर्वथा समाप्त हो जाये. घरमें भगवत्सेवा बिनमें नहीं निभ पाती परन्तु भगवत्कथाके श्रवण-भावन-कीर्तनकी प्रणालीसे जो अपनी भक्तिके बीजभावको दृढ करनेके लिए आगे बढते हैं, उन्हें इस यात्रामें ये कोशस्तम्भ (milestone) अपने भक्तिके मार्गपर मिलेंगे :

(क) जब बीजभाव भगवत्स्नेहके रूपमें अंकुरित हो जाता है तब गृहस्थका अपने घर-परिवारमें रहा अनुराग खतम हो जाता है. यह अवस्था बडी विलक्षण है. भगवान्में अनुराग बढने लगा तो भगवद्-भक्तिमें अनुपयोगी प्रत्येक वस्तुमें घर-परिवार आदिमें अनुराग घटने लगेगा.

जो अव्यावृत्त होकर अपने घरमें भगवत्सेवार्थ निवास करते हैं उनका अनुराग नष्ट होना आवश्यक नहीं है क्योंकि उनका घर उनकी अहन्ता-ममताको सन्तुष्ट करनेके

लिए नही होता प्रत्युत भगवत्सेवाका स्थल—भगवन्मन्दिर ही होता हैं. उनका परिवार भी सासारिक ममताके बन्धनमे बंधा हुआ नही होता प्रत्युत भगवत्सेवा करनेवाले विभिन्न सेवकोका भक्तिके बन्धनमें बंधा हुआ परिवार होता हैं अत: बीजभाव प्रेमात्मना अकुरित होता है पर दूसरी ओर रागविनाश नही होता.

(ख) भगवत्कथामार्गसे बीजभावको दृढ करनेकी दिशामें आगे बढनेवाले यात्रीको द्वितीय क्रोशस्तम्भ भगवदासक्तिका मिलेगा जैसे ही भगवदासक्ति सिद्ध हुई कि अपने घर-परिवारमें जो अनुराग खण्डित हुआ था वह अब घर-परिवारमे अरुचिका रूप धारण करने लगेगा भगवदासक्त भक्तको यह प्रतीत होने लगेगा कि मेरे घर और परिवार न केवल मेरी कृष्णभक्तिमें अनुपयोगी हैं बल्कि ये मेरी कृष्णासक्तिमें किसी न किसी तरह बाधा पहुचानेवाले हैं. बस यही मनोभाव उसमें अपने घर-परिवारके प्रति अरुचि जगा देता है अभी तक अपने घर और घरमे रहने वाले जिन माता-पिता पति-पत्नी पुत्र-पुत्री या बन्धु-बान्धवो को वह अपना मान बैठा था अब उसे लगेगा कि ये मेरे सगे नही है. क्योकि श्रीकृष्णके प्रति मेरे हृदयकी आसक्तिमे ये अपना हिस्सा बाटना चाहते है. प्रत्येक सदस्य अपने परिवारके दूसरे सदस्यकी अपनेमे स्वाभाविकतया आसक्ति चाहता ही है. यही माग भगवदासक्त भक्तको अरुचिकर लगने लगती है

परन्तु अपने घरमे कृष्णसेवा करनेवाले भक्तमे भगवदासक्ति तो प्रकट होती पर घर-परिवारमे अरुचि प्रकट होनेका कोई कारण नही होता.

(ग) तीसरा क्रोशस्तम्भ भगवत्कथा-प्रणालीसे भक्तिमार्गपर आगे बढनेवाले यात्रीको व्यसनदशाका मिलता है. यहा तक पहुंचनेवाले भक्तकी दशा बड़ी विकल हो जाती है. अब वह भगवान्के बिना एक क्षण भी रह नही सकता. भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करता हुआ, भगवान्के गुणोका स्मरण करता हुआ तथा भगवान्की विविध लीलाओके मनोरथपर सवार भक्तका मन अब अपने भक्तिके पथपर लेशमात्र रुकावट या व्यवधान सहन नही कर पाता. वह असहिष्णु बन जाता है. उसे श्रीकृष्णका व्यसन हो गया समझ लेना चाहिये !

यही वह अवस्था है जहा पहुंचते ही भक्तको यह समझमें आ जाता है कि "गृहस्थितेरस्वरूपत्वं न भगवदीयत्वमात्रेण किन्तु भगवता सह स्थित्या भगवत्कार्यार्थं वा अन्यथा न स्थातव्यम्" अर्थ स्वयमुका भगवदीय होना घरमें रहनेका स्वस्थ हेतु नही है, किन्तु भगवान्के साथ रहना अथवा भगवत्सेवार्थ रहना ही उत्कृष्ट हेतु है, अन्यथा गृहत्याग ही उचित होता है (सुबो. ३।१।१२). एकदिन अचानक भक्तके अन्त करणमें ऐसी आवाज आनी शुरू होती है— फिर भी स्वयम् उसे भी पता नही चलता कि वह कब घरके बाहर हो गया ! इस अन्दरसे उठती आवाजको अनसुनी करनेमे वह समर्थ हो पाये तो समझ लो कि वह अटक गया या भक्तिपथसे कही भटक गया है ! अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं— "तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकं त्यागं कृत्वा यतेद् परन्तु

तदर्थैकमानस लभते मुदृढा भक्ति सर्वतोभ्यधिका पराम्"

कथाप्रणालीसे व्यसनभाव सिद्ध होते ही घरसे बाहर निकल जाना श्रेयस्कर होता है अन्यथा व्यसनदशामे फलित होनेवाला बीजभाव भी सर्वात्मभाव या अलौकिक सामर्थ्य में परिणत नही हो पायेगा. ऐसे घरमे रहनेसे क्या लाभ जो कृष्णभक्तिका अग न हो ?

यह गृहपरित्याग कृष्णव्यसनके आवेशमें कृष्णके विरहके कारण होनेवाला परित्याग है. जगतमे पैदा हुई दोषदृष्टिके कारण किया गया अस्वस्थ नीरस-शुष्क त्याग नही, किन्तु श्रीकृष्णमे वृद्धिगत हुई प्रेमदृष्टिसे विवश होकर किया गया सरस प्रेमपूर्ण स्वस्थ त्याग है. सर्वनिर्णयमें इस गृहत्यागके बाद एकाकी निस्पृह शान्तभावसे— कही रुके विना— देहपातपर्यन्त निरन्तर तीर्थाटनका क्रम श्रीमहाप्रभुने समझाया है. यात्रा तीर्थोकी करनी है न तो पुण्यकी खोजमे और न मोक्षकी खोजमे ही किन्तु श्रीकृष्णकी खोजमे— "कृष्ण एव तात्पर्यं न तु तीर्थादौ देहपातनपर्यन्त च पर्यटनम्"

प्रेमसे इस कठिन त्यागमार्गपर जो चलनेका साहस नही जुटा पाते परन्तु घरसे निकल पडनेकी जिनकी तैयारी हो ऐसे भक्तोको सहसा दुसाहस नही करनेकी सलाह श्रीमहाप्रभु देते है.

इस त्यागमार्गपर चलते हुए जरा चूके कि भक्तिहीन गृहस्थसे भी अधिक नीचे गिर पडनेकी भीति रहती है गृहस्थमे तो पुत्रैषणा वित्तैषणा या लोकैषणा के दोष रह सकते हैं परन्तु त्यागीमे कही ससारी जीवोके ससर्गसे शिष्यैषणा जग गई तो सारा त्याग चौपट हो जायेगा ! पुत्र वित्त और लोक तीनोकी वासना शिष्यसग्रहकी वासनामें सूक्ष्मतया त्रिगुणित हो जाती है ! !

घरसे बाहर निकलनेके बाद भी त्यागी भक्तका ससर्ग तो ससारी और भगवद्विमुख लोक के साथ टूट नही पायेगा भगवान्को अनिवेदित अन्न अथवा पञ्चमहायज्ञ न करनेवाले गृहस्थका अन्न खाकर अन्नदोषवश ही अधःपातकी सम्भावना अधिक रहती है अत सर्वथा असग और अपरिग्रह होनेके साथ जब तक व्यसनदशा प्राप्त न हो तबतक त्याग श्रेयस्कर नही होता. केवल भगवत्प्राप्तिकी कामना हृदयमे रहे और सारी कामनाये निःशेष हो जायें तभी त्यागमार्गपर आरोहण करना चाहिये.

स्वगृहत्याग और हरिगृहवास

कथाप्रणालीद्वारा प्रेमासक्तिव्यसनकी क्रमिक अवस्थाओमे जब बीजभाव दृढ हो रहा हो और घरमें भगवत्सेवाका निर्वाह शक्य न हो तब ऐसे घरमे रह पाना भगवदीयके लिए असभव हो जाता है पर भक्तिमार्गीय सन्यासग्रहण करनेके लिए भी यदि भक्त अपने-आपको समर्थ न पाता हो तो क्या करना चाहिये ?

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि ऐसे व्यक्तिको ऐसे हरि-स्थानोपर जाकर बस जाना चाहिये जहां भगवत्सेवापरायण भक्तगण निवास करते हो (उदाहरणतया व्रज, चोरासी बैठक, नाथद्वारा, जगदीश, श्रीरंग, पंढरपुर, द्वारका, तिरुपति इत्यादि). इन भगवत्सेवा-परायण भक्तोंकी सेवामें परिचर्या अर्थात् सहायक बननेका अवसर मिले तो सबसे अच्छी बात है अन्यथा इनके सत्संगका लाभ तो लेना ही चाहिये [1]

इन भगवदीयोंके साथ रहनेका तात्पर्य यही है कि जब वे भगवत्सेवामें रत हों तो हम भी उनकी भगवत्सेवामें सहायक बन कर कुछ भगवत्परिचर्या कर पायें सेवाके बहिरंग साधनोंको सम्पादित करनेमें उन्हें सहयोग दे पायें और इस तरह तनका सेवामें विनियोग हो. यह सिद्धान्तमुक्तावलीमें वर्जित तनुजा-सेवा नहीं है, यह तो एक पुष्टि-मार्गीय सम्बन्धमें बंधनेवाले एक व्यापक परिवारकी भावना है एक परिवारमें पिता भगवत्सेवा—अंतरंग-सेवामें परायण हो तो पुत्र भगवत्परिचर्यामें बहिरंगसेवामें परायण होता है पत्नी सेवा करती हो तो पतिको परिचर्या करनी चाहिये इसी तरह जन्मना एक परिवारके न भी हों पर पुष्टिमार्गमें जिन दो भक्तोंको एक परिवारकी तरह साथ रहना हो तो एक अपने घरमें विराजमान प्रभुकी अन्तरंगसेवामें तत्पर रहे और दूसरा बहि-रंगसेवामें यह अनुज्ञा श्रीमहाप्रभु देना चाहते हैं साथमें भगवत्सेवा करेंगे तो साथमें भगवत्प्रसाद भी लिया जा सकता है यह अति उदात्त भावनापर अवलम्बित होता है सवेतनिक तनुजासेवा अथवा उदरपूर्तिके हेतुसे नहीं वह तो सिद्धान्तमुक्तावलीमें ही वर्जित किया जा चुका है

इसमें एक सावधानी किन्तु अपेक्षित है कि न तो इतने अधिक समीप जाना चाहिये किसीके कि एककी दूसरेके दोष दिखलायी देने लगें और न इतने दूर ही रहना चाहिये कि एक भगवदीय द्वारा की जाती भगवत्सेवा या भगवत्कथा के लाभसे दूसरा भगवदीय सर्वथा वञ्चित ही रह जाये (अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति)

अपने घरको छोडकर निकल जानेवाला भक्त भी इस तरह भगवत्सेवापरायण भगवदीयोंके साथ उनके हरिगृहमें वास करते हुए यदि भगवत्सेवा और भगवत्कथा को निभा पाता है तो कभी उसका नाश नहीं होगा यदि एक भगवदीयकी दूसरे भगवदीयके साथ इतनी घनिष्ठता न भी पनपे कि दोनो साथ मिलजुलकर भगवत्सेवा कर पाये तो भी दोनो साथ मिलकर भगवत्कथा तो कर सकते ही है इस तरह यदि अपने घरको छोड दिया हो पर दुःसंगसे बचना हो तो पुष्टिमार्गीय अन्य भगवदीयका सत्संग प्राप्त

---

१ मूलतः गोस्वामी धर्माचार्योंकी गृहसेवामें जो मुखिया भीतरिया, जलघरिया आदि भगवत्सेवाके सहयोगी देखे जाते हैं वे इसी तरहके अपने घरको छोडकर परिचर्यार्थ आनेवाले महाभाग्यवान भगवदीय होते थे— सवैतनिक कर्मचारी नहीं अतएव इन्हें भगवत्प्रसादी वस्त्र देनेकी प्राचीन परिपाटी थी—वेतन नहीं कालक्रममें वह विकृत होकर तनुजासेवाश्रयमें परिणत हो गई

EDITORS' NOTE.

भक्तिवर्धिनी is the twelfth of the Sixteen Sacred Books of श्रीमद्वल्लभाचार्य. It is the foundation of भक्तिमार्ग, and it clearly shows the means by which भक्ति towards God may be increased and strengthened. Nothing is said here about the पुष्ट अधिकारी, for his अधिकारत्व is strong enough to lead him to final realisation; the मध्यम अधिकारी has to resort to त्याग and श्रवणकीर्तन after his बीजभाव i.e. love towards God, which is produced only by His grace has been strengthened into आसक्ति and व्यसन. Such a व्यसनी, who cannot live without God, should leave worldly surroundings, and realise His separation unobstructed. Such a भक्त is referred to in निरोध लक्षण and his state is described in महतां कृपया... यावद्भगवान् दययिष्यति. It is for such a भक्त, that in सन्यासनिर्णय it is said विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते. His साधन is nothing else but त्यागो भावनया सिद्धः. For the हीन अधिकारी—and almost all the people of the modern times should be included in this category—the method of strengthening the बीजभाव i.e., the divine love which is the gift of His Grace, is as follows:—He must stay in गृहस्थाश्रम, observe स्वधर्मपालन, give up worldly pursuits and worship कृष्ण by पूजा, श्रवण &c. Even if he cannot give up worldly pursuits on account of poverty &c., he must concentrate his mind in हरि, the remover of all pains, and always try for श्रवण &c., till the बीज germinates, and प्रेम, आसक्ति and व्यसन are produced. The test of divine love is रागविनाश, the test of divine आसक्ति is गृहारुचि, all the people in the house look like hindrances-nay, strangers. The test of व्यसन is the inability to live without Divine Presence, तद्विनानुपपत्ति. Even such a व्यसनी or विरहार्त should not constantly stay at home, because it is a prison, full of many fetters.

The त्याग stated above is not easy, it is full of obstacles due to दुःसंसर्ग and दुरन्न. Hence it is better to stay in a हरिस्थान, in the company of भक्तs, who are wholly engrossed in serving the Lord. There also the aspirant should stay near or distant, in such a way that his चित्त is not spoiled. श्रीवल्लभाचार्य says that he who is wholly engrossed in सेवा or कथा till his life will never perish.

If one is really anxious to go to God, he will learn much from this ग्रन्थ The fourteen commentaries that we have been able to collect and publish show the various aspects from which we can look at it Of each of the first eight commentaries we had three to five copies, and from the ninth we had only one copy of each Of श्रीकल्याणरायजी s commentary we had got a mss written by his illustrious son श्रीहरिरायजी of श्रीपुरुषोत्तमजी s we had a mss corrected by himself in his own hand writing, and of 10 11, 12 and 13, we had the original mss written by the authors themselves

A large collection of these commentaries we got from Pandit Gattulala's Library and we are grateful to the departed Pandit for his vast and varied collection of mss Some mss we were able to get from the Bhandarkar Research Institute for which we are thankful to Dr S K Belvalkar Shri Vallabhalalji son of Shri Devkinandanji also gave us some mss and we acknowledge our gratefulness to him Lastly some important original mss Mr Telivala was able to collect while on tour at श्रीनाथद्वार कोटा कांकरोली &c

We note with pleasure the help that we have received in the preparation of press copies of some of these mss from Messrs Gopaldas Jhalani B A of Ujjain Dhirajlal Kashinath Pandya of Anand Chandulal C Shah Bechardas Maganlal and Purushottamdas Tribhuvandas of Nadiad This work is printed from the funds supplied by नित्यलीलास्थ गोस्वामी श्रीजीवनलालजी of पोरबंदर and his son श्रीरणछोडलालजी and our sincere thanks are due to them

With feelings of joy we offer this fruit of our labour of love at the Lotus Feet of Lord Shri Krishna

MULACHANDRA T TELIVALA
DHIRAJLAL V SANKALIA

BOMBAY
March 1921



प्रस्तावना.

सेवाफलादि ષોડશગ્રન્થની માલા જે અમારાદ્વારા પ્રકટ થાય છે તેના આશ્રયદાતા શ્રીસુદામપુરીસ્થ શ્રીમદ્ગોસ્વામિ શ્રીજીવનલાલજી ગત શ્રાવણ કૃષ્ણ નવમી-નન્દમહોત્સવને દિવસે નિત્યલીલામાં પધાર્યા છે, અને તેથી સાંપ્રદાયિક વિદ્યાકાર્યને મહાન્ અલાભ થયો છે. શ્રીજીવનલાલજીનું પ્રાકટ્ય શ્રીમદ્ગોકુલમાં સંવત્ ૧૮૯૬ માર્ગશીર્ષ શુક્લ ત્રયોદશીને દિવસે થયું હતું. આપશ્રીનો ઉપનયનસંસ્કાર શ્રીજગન્નાથજીમાં થયો હતો. સંવત્ ૧૯૦૫થી આપશ્રી પોરબંદર પધાર્યા અને નિવાસ ત્યાંજ કર્યો. ત્યારથી આપશ્રી પોરબંદરવાળા શ્રીજીવનલાલજી એ નામથી સંપ્રદાયમાં પ્રસિદ્ધ થયા. પંડિત ગટ્ટુલાલના સંપર્કથી વિદ્યામાં અભિરુચિ રાખનાર ત્રણ ગોસ્વામી મહારાજો થયા. ૧ ટિકેત શ્રીગોવર્ધનલાલજી, ૨ શ્રીદેવકીનન્દનલાલજી, ૩ શ્રીજીવનલાલજી. આ ત્રણમાં શ્રીદેવકીનન્દનજી નિત્યલીલામાં પ્રથમ પધાર્યા. શ્રીદેવકીનન્દનજીનો વિદ્યાનુરાગ અપેક્ષિત રીતે સાંપ્રદાયિક ન થયો અને તેથી જનમનોરંજન કરીને યદ્યપિ મહતી ધનસંપત્તિ તથા કીર્તિ સંપાદન કરી તોપણ આપશ્રીના જીવનમાં સાંપ્રદાયિક નોંધ લેવા જેવું વિદ્યાકાર્ય એક પણ ન થયું. એઓશ્રીના લાલજી શ્રીવલ્લભલાલજી એ ન્યૂનતા દૂર કરે એ સ્પૃહણીય છે. ટિકેતશ્રીનો વિદ્યાનુરાગ ઉજ્જ્વલ છે, પરન્તુ રાજકાર્યની ખટપટમાં આચાર્યશ્રી તરીકેનું પ્રધાન કર્તવ્ય-સાંપ્રદાયિક વિદ્યાનું રક્ષણ-તેમાં અપેક્ષિત ધ્યાન અદ્યાપિપર્યન્ત એઓશ્રી આપી શક્યા નથી. ત્યાંના આશ્રિત જૂની શૈલિના ટુંકી દૃષ્ટિવાળા અને દેશકાલ નહિ સમજનારા અને સાંપ્રદાયિક સાહિત્યના રક્ષણનું ગૌરવ અપરિચયથી નહિ અનુભવનારા પંડિતો ઘણે અંશે આ પરિણામમાં જોખમદાર છે. શ્રીજીવનલાલજીનો વિદ્યાનુરાગ જ્યારથી બીજરૂપે રોપાયો ત્યારથી નિત્યલીલામાં પધાર્યા ત્યાંસુધી વૃક્ષાદિરૂપે વૃદ્ધિગત થતોજ ગયો. આપશ્રીમાં વિદ્યાની પરીક્ષા કરવાની અને કાર્ય લેવાની શક્તિ હતી. આજ કારણથી આપશ્રીએ છગનશાસ્ત્રી તથા બાલશાસ્ત્રીને આશ્રય આપ્યો હતો. છગનલાલ શાસ્ત્રી સાથે આપશ્રી શ્રીસુબોધિન્યાદિનું વાચન કરતા એટલું જ નહિ, પરન્તુ સમયોચિત કેટલાક ગ્રન્થો ગુર્જર ભાષામાં લખાવી પ્રસિદ્ધ કરાવ્યા. બાલશાસ્ત્રી સાથે પણ આપશ્રી શ્રીસુબોધિનીજીનું વાચન નિયમસર કરતા, અને અન્ત સમયે શાસ્ત્રી હરિકૃષ્ણને પોતાના આશ્રયમાં રાખીને આપશ્રીએ શ્રીસુબોધિનીજીનું વાચન પ્રવચન નિત્યલીલામાં પધાર્યા ત્યાંસુધી સતત ચાલું રાખ્યું.

મહારાજશ્રીની વ્યાવહારિક કાર્ય કરવાની કુશલતા પણ ઘણી હતી. આજ કારણથી આ પછી નિજ તનુજ શ્રીરણછોડલાલજીને મહતી સમૃદ્ધિ વારસામાં સોંપી ગયા છે, અને તે સંબંધી ચિન્તામાંથી મુક્ત કરી ગયા છે. શ્રીરણછોડલાલજીએ પણ નિજપિતૃચરણનું નામ તદભીષ્ટ સકલ સાહિત્ય સમેત શ્રીસુબોધિનીજીની પ્રસિદ્ધિજ કરવાનો સંકલ્પ કર્યો. તે અત્યન્ત યોગ્ય છે. એના જેવું સ્મારક અન્ય શું હોઈ શકે?

મહારાજશ્રીનુ કાર્યકૌશલ્ય અસાધારણ હતુ એટલુજ નહિ પરન્તુ સમયોચિત રીતે કાર્ય કરતા હતા દયાનન્દાદિના મોહથી લોકોને ઉપનયનાદિનો મોહ થતો આ મોહથી તે લોકો માર્ગમાથી ભ્રષ્ટ ન થાય તેથી આપશ્રીએ ઘણા વૈષ્ણવોને ઉપનયનસસ્કાર કરાવ્યા આપશ્રીની ઉદારતા પણ ઘણી હતી પ્રત્યેક જે એઓશ્રીના સબધમા આવતુ તેનો આપશ્રી તદુચિત રીતે સત્કારાદિ કરતા આ પ્રકારે અનેક રીતે આપશ્રીનુ જગન્મગલકર્તૃત્વ તેમને સ્ફુરતુ

મહારાજશ્રીની કાર્ય કરવાની દૃઢતા પણ પ્રશસનીય હતી જ્યારે આપશ્રીએ મને ષોડશ ગ્રન્થોની સકલ સાહિત્ય સમેત પ્રકટ કરવાની સેવા સોંપી, તે સમયે સપ્રદાયના અન્ય પડિતોએ તેમ નહિ કરવાને આપશ્રીને સૂચવેલુ 'બીજાઓ તરફથી એ કાર્ય થાય છે, તેમા વચમા પડવુ નહિ, આ લોકો તો વિરુદ્ધ છે, તેમને એ કાર્ય સોંપાય નહિ' વગેરે વગેરે ઘણી રીતે મહારાજશ્રીને સમજાવવામા આવેલ પણ એઓશ્રીની દૃઢતા તથા પ્રભુકૃપાથી અન્તે એ સેવા અમારાદ્વારા થઇ, અને અમને જાણીને સતોષ થાય છે કે ઉક્ત પડિતો પણ અમારા કાર્યથી પ્રસન્ન થયા છે આર્ટિસ્ટ પાસે તૈયાર કરાવીને આપશ્રીનુ ચિત્ર આમ ધર્યુ છે–

ग्रन्थादिसंग्रह.

૧ પ્રથમ ટીકા શ્રીમદાચાર્યપૌત્ર શ્રીમદ્બાલકૃષ્ણજી–શ્રીમદ્વિટ્ઠલેશ્વરના તૃતીય કુમારની છે. આ ટીકાના ત્રણ પ્રતિ પ્રાપ્ત થઇ હતી એક પડિત ગટ્ટૂલાલના સગ્રહમાથી અને બીજી બે બાગમાથી અમને મળી હતી

૨ દ્વિતીય ટીકા શ્રીશ્રીવલ્લભ–શ્રીગોકુલેશ–શ્રીગુસાઇજીના ચતુર્થ લાલજીની છે આ ટીકાની ચાર પ્રતિ મળી હતી–બે પ. ગટ્ટૂલાલના સગ્રહમાથી, એક શ્રીવલ્લભલાલજીના સગ્રહમાથી, અને એક ભાડારકર રિસર્ચ ઇન્સ્ટીટ્યુટમાથી

૩ તૃતીય ટીકા શ્રીરઘુનાથજી–શ્રીગુસાઇજીના–પચમ પુત્રની છે આની ત્રણ પ્રતિઓ પ. ગ લાલના સગ્રહમાથી મળી હતી, અને બે ખાનામાથી

૪ ચતુર્થ ટીકા શ્રીગુસાઇજીના પૌત્ર શ્રીકલ્યાણરાયજીની છે આ ટીકાની ચાર પ્રતિ મળી છે આમાથી એક તો શ્રીહરિરાયજીના નિજ શ્રીહસ્તાક્ષરમા લખેલી

૫ પચમ ટીકા શ્રીહરિરાયજીની છે આ કારિકાત્મક ટીકાની પાચ પ્રતિ મળી છે ત્રણ પં ગટ્ટૂલાલની સગ્રહમાની છે, એક શ્રીવલ્લભલાલજીની છે, અને એક ખાનામાથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે

૬ ષષ્ઠ ટીકા શ્રીહરિરાયજીના ભાઈ શિક્ષાપત્રવાળા શ્રીગોપેશ્વરજીની છે આની બે પ્રતિ ખાન માથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે

૭ સપ્તમ ટીકા શ્રીપુરુષોત્તમજીની છે આ ટીકાની પાચ પ્રતિ મળી છે ત્રણ પ ગ લા લાના સગ્રહમાથી, એક શ્રીવલ્લભલાલજીથી, અને એક નડીઆદમાથી પ્રાપ્ત થઈ છે આમા એક શ્રીપુરુષોત્તમજીના નિજશ્રી હસ્તાક્ષરમા લખેલી છે એઓશ્રીનો પરિચય પૂર્વ પ્રકટિત ગ્રન્થોમા કરાવ્યો આ ટીકામા છાપેલ ટિપ્પણ ચીઘોડી શ્રીગોપેશ્વરજીના શ્રીહસ્તાક્ષરમા લખેલ છે

૮ અષ્ટમ ટીકા કાકા શ્રીવલ્લભજીની છે એઓશ્રીનો પરિચય પૂર્વ પ્રકટિત ગ્રન્થોમા કરાવ્યો છે આની પચ પ્રતિ મળી છે બે ખાનમાથી અને ત્રણ પ ગ લાલજી થી.

૯ નવમ ટીકા મહાપતિ જયગોપાલભટ્ટની છે પરિચય એમનો સેવાફલમા કરાવ્યો છે. આની એકજ પ્રતિ ખાનામાથી પ્રાપ્ત થઈ છે

૧૦ દશમ ટીકા દીક્ષિત લાલુભટ્ટની છે આની એક પ્રતિ યાત્રામાથી પ્રાપ્ત થઇ છે આ મૂલ પ્રતિ હોય એમ લાગે છે, લાલુભટ્ટનો પરિચય સેવાફલમા કરાવ્યો છે

૧૧ નવમી વિવૃતિ ભાંડારકર રિસર્ચ ઇન્સ્ટીટ્યુટમાથી મળી મૂલ જ પ્રતિ હોય એમ લાગે છે ટીકાકાર કોઈ ગોસ્વામી મહારાજ હોય એમ લાગે છે

૧૨ દ્વાદશ ટીકા શ્રીવલ્લભાત્મજ શ્રીબાલકૃષ્ણજીની છે આ પણ મૂલજ પ્રતિ છે આ પ્રતિ યાત્રમાથી અમને પ્રાપ્ત થઈ છે

૧૩ ત્રયોદશ ટીકા કોની છે તે અજ્ઞાત છે એ પુસ્તક ઉપર શ્રીગિરિધરનુ નામ છે તેથી શ્રીગિરિધરકૃત એમ કલ્પ્યુ છે આ ગોસ્વામી શ્રીકાકરોલીમાં થયલા હોવાથી તેજ ગૃહના કોઇ ગુસાંઇજીની આ ટીકા હોવાનો સભવ છે આ પુસ્તક પણ મૂલ જ છે કદાચિત્ આણુદની બેઠકવાળા શ્રીવિઠ્ઠલનાથજી આના કર્તા હોય

૧૪ ચતુર્દશ ટીકા કોની છે તે પણ અજ્ઞાત છે શ્રીદ્વારકેશજીનુ નામ કલ્પનાથી મૂકેલું છે આ પ્રત અશુદ્ધ તથા ત્રુટિત છે પ ગ લાલાના સગ્રહમાથી મળી છે યથામતિ શોધીછે

ગોપાળદાસ ઝાલાની બી એ ચતુર્થાશ ધીરજલાલ પટ્ટણ્યા બેચરદાસ પુરુષોત્તમદાસા દિનો લિખનમાં ઉપકાર થયો છે ભક્તિવર્ધિનીનો સાર અન્તે અગ્રેજીમા આપેલો છે

ઉપર જણાવેલા સર્વનો અમે ઉપકાર માનીએ છીએ શ્રીજીવનલાલજીનુ તથા એઓશ્રીના લાલજી શ્રીરણછોડલાલજીનુ સાહાય્ય મુક્ત કંઠે સ્વીકારીએ છીએ અને શ્રીમત્પ્રભુચરણકમલમા આ ગ્રથને સમર્પીએ છીએ

મુબઈ ૧૯૭૭
હોલીત્સવ

મૂલચન્દ્ર તેલીવાલા
ધૈર્યલાલ સાકલીયા.



श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रणीता ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥
बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥
व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥
बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥
इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटिता भक्तिवर्धिनी समाप्ता ।

---

१ यसेत्, यसेद् । २ गृहस्थानम् । ३ विनाशनम् । ४ यतेत । ५ अदूरम्, अदूर । ६ मया गुप्तम्, गूढं तत्त्वम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्बालकृष्णकृतविवृतिसमेता ।

रत्यन्ते स्वेदबिन्दुश्रितमुखकमलस्तामवष्टभ्य जातो
निःस्पन्दः श्रान्तियुक्तो मलयजपवनासेवितः पुष्पतल्पे ॥
श्रीराधावक्त्रपद्माद्भुतमधुचिरतःपानघूर्णायमानो-
द्रिक्तः स्नेहार्द्रदृष्टिः प्रतिफलतु दृशोः शीघ्रमेव व्रजेशः ॥ १ ॥

इह खलु स्वेनैव साक्षाद्भगवते निवेदितान् भक्त्यङ्कुरितचित्तान् सर्वान् भक्तिप्रवृद्ध्युपायानभिज्ञान् परमकृपया तानुपायानाचार्या उपदिशन्ति यथा भक्तिरिति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्, प्रकर्षेणैधमानोत्तरोत्तरं भगवति स्याद्, यस्या न कदाचिदपि ह्रासः। एतादृशास्तत्प्रवृद्ध्यनुकूल उपायो निरूप्यते नितरामुच्यते । यत्प्रकारकनिरूपणानन्तरं न कोऽप्युपायस्तिष्ठत्यवशिष्टः । एवं प्रतिज्ञां कृत्वा दृढं बीजभावं तत्र प्रथमं भक्तिप्रवृद्धौ हेतुमाहुः बीजेति । भक्तिकल्पतरुप्रवृद्धिकारणभावो बीजभावः । अनुग्रहोत्तरकालीनभाव इति यावत् । यद्वा । बीजपदं सत्पुरुषपरम् । तस्मिन्यो भावो भगवत्त्वेन भावः । 'आचार्यं मां विजानीयात्' 'अविद्यो वा सविद्यो वे'त्यादिवाक्यैः । स यदा वक्ष्यमाणसाधनैर्दृढो भवति, तदा सा तथा भवति । अथवा, बीजपदेन भगवानेवोच्यते । तस्मिंस्तस्य तथात्वे सा तथा भवति । ननु बीजभावोत्पत्तावनुग्रह एव हेतुरित्यत्र को हेतुः । उच्यते । नहि तदुत्पत्तौ कर्म । तदन्यत्वेनाश्रूयमाणत्वात् । नापि स्वतः । चेत्स्यादृष्टः स्यात् । नापि स्वभाववैचित्र्यं वक्तुं शक्यम् । अनुक्तत्वात् । तेन 'यमेवैष वृणुत' इति 'यदा यमनुगृह्णाती'त्यादिवाक्यैः स एव हेतुत्वेन वाच्यः । निश्चयार्थकस्तुशब्दः । हेत्वन्तरमाहुः त्यागादिति । त्यागाद्भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । त्यागस्तु भगवच्चरणारविन्दप्राप्त्यर्थं सवासनगृहादिविस्मृतिः । केवलत्यागेनैव सा तथा न भवतीत्यत उक्तं श्रवणकीर्तनादिति । प्राणिवर्जितजातिवाचित्वेनैकवद्भावः । श्रवणकीर्तनाभ्यामपि सा तथा भवति ।

एवं भक्तिप्रवृद्धौ हेतुत्रयमुक्त्वा बीजभावदार्ढ्यप्रकारमाहुः बीजेति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

बीजस्य दार्ढ्ये यः प्रकारः स उच्यते । तुशब्दः पूर्वभेदकः । यत्स्वगृहे स्थित्वा स्वधर्मतः स्वधर्मेभ्यो वर्णाश्रमधर्मेभ्यः अव्यावृत्तस्तत्सहितः सन् कृष्णं पूर्णपुरुषोत्तमं भक्त्यैकाम्यं भजेत् । कैर्भजेदित्याकांक्षायामाहुः पूजयेति । कृष्णं पूजया भजेत् । पूजा त्यागमोक्षप्रकारेणार्हणीयोपचारः । ननु पूजया भगवद्भजनं कथम् । भक्तेरेव पूजाविषयत्वात्, ननु भगवतो, यतः 'भक्तियोगं स लभत एवं यः पूजयेत मा'मिति भगवद्वाक्यविरोधात् । सत्यम् । अस्ति पूजाविषयत्वं भक्तेः, परन्तु मूले हि परम्पराकारणत्वाभिप्रायेण पूजाव्यपदेशो, न तु साक्षात् । तेन कृष्णपदं तु भक्तस्य पुरुषोत्तमगामिनी पूजापि भवतीत्यत उक्तम् । यद्वा । एवंविधनिःकामपूजाफलविषयनिर्धारार्थं कृष्णपदम् । एवं पूजया भजनं निरूप्य श्रवणादिभिरपि निरूपयन्ति श्रवणादिभिरिति । श्रवणादिभिरपि कृष्णं भजेत् । आदिपदग्राह्ये कीर्तनस्मरणे । तेनैतन्मार्गीयस्य श्रवणादिव्यतिरेकेण क्षणमपि न स्थेयमित्यायातम् ।

ननु सततं कृष्णभजनं कथम्, कार्यान्तरव्यासक्तेस्तत्राहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

कार्ये व्यावृत्तो व्यासक्तोपि चेत्तदा गुरूपदिष्टं यादृग्भगवत्स्वरूपं तत्रैव स्वस्य चित्तं स्थाप्य भवेत्, अव्यावृत्तिमान् यदि भवेत्, तदा श्रवणादौ चित्तं यसेत् । यद्वा, प्रकारान्तरेणाप्यस्यावतारिका सम्भवति । तथा हि । ननु यदि स्वधर्माव्यावृत्तिरेव भजने प्रयोजिका, तदा त्वादृतोपदेशस्य दैववशात्प्रच्युतधर्मस्य कस्यचित्प्रयोजकाभावाद्भजनासम्भवः । तथा च तत्कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात्, तस्मा'त्प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्ये'तिन्यायेन ग्रहणाभाव एव वरमिति चेत्तत्राहुः व्यावृत्तोपीति । अत्रेयं शङ्का न कार्या । यत्स्वधर्माव्यावृत्तिरेव भजने प्रयोजिका । 'अपि चेत्सुदुराचार' इति भगवद्वाक्याद्भगवदीयस्य प्रच्युतधर्मस्यापि भगवद्भजनस्य विहितत्वात् । परन्तु यावदारभ्य भगवद्भजनाभिनिविष्टस्ततःप्रभृति तस्य दुराचाराकरणमित्यपेक्षितम् । अन्यथानन्यभाक्त्वभङ्गप्रसङ्गः । दुराचारस्यापि भजनात् । तेन स्वधर्मेभ्यो व्यावृत्तोपि हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तं यसेत्प्रयत्नेन स्थापयेदित्यर्थः । एतादृशस्यापि स्वबलेनैवान्तरायान् दूरीकृत्य स्वरूपानन्ददानं करोतीति ज्ञापनाय हरिपदम् । पूर्वं हरिपदोक्त्या मध्ये चित्तपदोक्त्यान्ते श्रवणादिपदोक्त्या देहलीदीपवदुभयत्रापि साम्येन चित्तवृत्तिः स्थाप्येति ज्ञेयम् । एवं सततं भजने क्रियमाणे उभयविधानामपि यदेकजातीयं फलं तदाहुः तत इति । तदनन्तरमेवं भजनानन्तरमुभयविधानां प्रेमोत्पत्तिर्भवति भगवति सर्वात्मना । तथैवासक्तिः, तद्व्यतिरेकेण स्थित्यसम्भव इति यावत् । 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभव' दिति यथा । व्यसनं तु सततमन्य-

विस्मृतिपूर्वकं भगवत्परता । चः समुच्चायकः । एतत्रितयं यदा भवेत् तदा तद्बीजं भक्तिशास्त्रे दृढमुच्यते । यत्कथमपि न नश्यति ॥ ३ ॥

तन्नाशाभावप्रकारपूर्वकं स्नेहादीनां त्रयाणां प्रत्येकं फलमाहुः स्नेहादिति सार्धेन ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

भगवति स्नेहाद्गृहविषयको यो राग उत्कटेच्छारूपस्तस्य विशेषेण नाशः स्यात् । नाशपदेन पुनस्तस्यानुत्पत्तिरिति ज्ञेयम् । अत एव न निवृत्त्यादिपदप्रदानम् । आसक्त्येति । यदा भगवत्यासक्तिर्जाता, तदा तद्व्यतिरेकेण खिलसम्भवेन तदर्थं यत्ने जाते गृहस्थाः स्वार्थं तं प्रेरयन्तीति तस्मिन्नरुचिः, तथा कृत्वा भगवद्भजने बाधकत्वं विघ्नकर्तृत्वं भासते, एत आत्मीया न भवन्तीत्यपि । यदि स्युस्तदा किं प्रतिबन्धकाः स्युरिति । व्यसनं हीति । यस्मिन्काले अचिन्त्यानन्तफलदातरि कृष्णे व्यसनं स्यात्तदैव स कृतार्थः स्यात् । संशयव्युदासाय हीति पदम् ॥ ४, ५ ॥

एवं त्रयाणां फलमुक्त्वा तादृशस्य कर्तव्यतामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशनम् ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

स्नेहासक्तिव्यसनवतोपि पुरुषस्य तदनन्तरं यत्सततं सर्वदा गृहरूपं यत्स्थानं तद्विनाशनम् । स्नेहासक्तिव्यसनानां विनाशनमित्यर्थः । तथा सति कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात् । तेन तत्त्यागं कृत्वा यो यतेत्प्रयत्नं कुर्यात् । एतेन मध्ये तीर्थादिकमपि गच्छेदिति सततपदेन ज्ञेयम् । ननु सोपि प्रयत्नो मायावादिवन्निराकार एव भवेदित्याशङ्काव्युदासायाहुः तदर्थेति । भगवत्प्राप्त्यो योर्थस्तदर्थमेकं मानसं यस्य स तथा । इदं तेषां न । शून्ये एव पर्यवसितमतित्वात् । 'येन्येरविन्दाक्ष'त्यादिवाक्येन निन्दितत्वाच्च । तेषां गार्हस्थ्यधर्मत्यागे भगवदर्थं गृहत्यागे उभयतः प्रत्युता अधःपतन्ति । तेन त्यागस्तु भगवदर्थमेव मुख्यः । सोपि पूर्वमान्तरः, तस्मिन् सिद्धे ततो बाह्यतः । एकपदं सततमेतन्मार्गीयैकलभ्यफलालम्भके मनःस्थितिज्ञापनाय । तेनैतदतिरिक्तावतारे 'मूलसेकः शाखायामपि पर्यवस्यती'ति न्यायेन तदकरणं न विरुध्येत । तस्यां सत्यां देहव्याप्तिस्तत्रैव ॥ ६ ॥

एतादृशस्य यत्फलं तदाहुः लभत इति ।

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

य एवं त्यागं कुर्यात्स भक्तिं प्राप्नोति । एवंविधत्यागस्य भक्तिफलकत्वात् । तेन

मुक्त्यादीनामेतत्फलत्वाभावः सूचितः । तत्रापि सुदृढा अविनश्वरा । सततमेधमाना । सापि भक्तिः सर्वतो मोक्षादेरप्यधिका मुक्तानामपि दुष्प्राप्या । 'भगवान् भजता'मिति वाक्येन । ततः पुष्टिरूपामपि लभते । परामिति । परामुत्कृष्टामुक्तभक्तेः । पुष्टिरूपामिति शेषः । एवं त्यागफलमुक्त्वा पुनः सिंहावलोकनन्यायेन त्यागव्यवस्थां वदन्ति त्यागे इति । कुत एव त्यागे न कोपि पुरुषार्थः । तस्मिन् बाधकानां भूयस्त्वं बहुलम् । भूयांसि बाधकान्युपस्थितानि भवन्ति । ततस्तं नाशयन्ति । ननु तस्मिन् सति तदुपस्थितिः कथम्? तत्र हेतुमाहुः दुःसंसर्गादिति । तदुपस्थितिस्तु भक्तानां भगवद्भक्तविरोधिनां संसर्गात् संगते । तत्संसर्गानन्तरं सोपि तथा भवति । तत्संसर्गेण भगवद्धर्माणामन्तर्हितत्वात् । तथैव दुष्टान्नग्रहणे दुर्बुद्धिर्भवति । तस्य पापान्नत्वात्, भ्रान्त्युत्पादकत्वाच्च । यथा जीवानां भगवत्सम्बन्धाभावे सदोषत्वम्, तथान्नस्यापीति, तत्प्रवृद्धिकामोऽसमर्पितं न भुञ्जीयादित्याशयः । उपलक्षणं चैतत् । वस्तुतस्तु वस्तुमात्रे तत्सम्बन्धव्यतिरेकेण तदभावः । तेन सम्बद्धैरसम्बद्धं न ग्राह्यमिति भावः । तेन यथाकथंचित्सम्पादितं तत्सम्बद्धं तदपि शुद्धमेव भवतीति तादृशैस्तथैव कार्यमिति भावः सूचितः । असद्व्ययोपार्जितमन्नं कृपणान्नं च दुष्टान्नम् । तेन दुःसङ्गतिर्दुरन्नं च यत्र न भवति, तत्र सततं स्थेयम् । एतेनाटनाभावः सूचितः ॥ ७ ॥

तत्स्थानमेवाहुः अत इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरविप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यत उभाभ्यां तद्द्वयस्त्वमन एकान्ते हरिस्थाने यत्र हरिः सर्वतः तिष्ठति तत्रैव स्थेयम् । तत्राप्येवमेव जडवन्न । किन्तु तदीयैः भगवदीयैः भगवत्सम्बन्धिभिः सह मिलित्वा । ते हि तद्वार्ताभिज्ञा यतो भवन्ति । तेन सत्सङ्गे सति कृतार्थ एव भवति । एतेन दुःसङ्गो न भवतीत्यायातम् । दुष्टान्नप्राप्तिरपि न । तदुच्छिष्टस्यैवोपादेयत्वात् । अयमेव दासधर्मो यतः । असूयाद्यारोपोपि तेषु न कार्यः । यतस्ते तत्पराः केवलं भगवत्पराः । भगवन्तं विनान्यत्किमपि न जानन्ति । तस्मात्तेषु द्वेषादिषु सत्सु सोपि तं न सहते । भक्तद्वेषादेरसह्यत्वात् । इदं तूच्यते । यस्य तत्सङ्गस्तस्य तेषु तदारोपो भवति एव न । वस्तुस्वभावात् । तस्मिन्सति तु तथैवेति सम्भाव्यते । तदीयैः सह सेवाशा अदूरस्य दूराभावस्य विप्रकर्षः अतिशयेनाधिक्यं यस्मिन्देशे तत्र स्थेयम् । यथाहोरात्रमध्ये वारद्वयमेकवारं वा तत्सङ्गो भवति । चेन्यनादरः । यतो मुख्यः पक्षः स एव यस्मिन्सेवा श्रवणादिकं मतम् । अस्मिंस्तु केवलं श्रवणादि एव । तेनायं गौणः । मुख्यासम्भवेपीदं तु कार्यमेव । अन्यथा चित्ते दोषाः स्युः नाशः एव ॥ ८ ॥

नन्वेवं भगवदर्थं क्रियमाणायां सेवायां मध्य एव दैववशादुर्बुद्धौ जातायां नाशोपस्थितौ तु तत्कृतिर्व्यर्था स्यादत आहुः सेवायां चेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य सेवायामासक्तिर्भवेत्सोपि कियत्कालपर्यन्तमेव, पुनर्नैवं न, किन्तु दृढा, सेवायां तु कश्चिदेवाधिकारी भवतीत्यत उक्तं वेति । अनेन दुर्लभत्वं निरूपितम् । तथैव कथायाम् । तदनन्तरं तामेव तदीयैः सह कुर्यात् । अन्यत्र मनो न निवेशयेत् । तेन मुख्यत इदं द्वयमेव कार्यम् । कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं वेत्युक्तम् । तादृशस नाशो न, किन्तूत्तरोत्तरमुन्नतिरेव । तर्हि यत्किञ्चिद्दिनपर्यन्तं मा भवतु, ततस्तु कदाचिद्भवेदेवेत्याशङ्क्याहुः यावज्जीवमिति । स यावज्जीवति तावत्तस्य नाशो न । क्वापीति । कस्मिन्नपि देशे केनापि प्रकारेण न भवतीत्यर्थः । अनिशं तत्सेवाकथायोगे तदितरत्रानुपयोगः क्रियाशक्तेर्वार्तायाश्चित्तस्यापि । अत्र प्रामाण्यार्थं स्वमतिरेव दर्शिता । मतिर्ममेति । अहं त्वेवमेव जानामि, यत्सेवाश्रवणादिकमेव सततं कार्यम्, यतो नाशाभावप्रकारस्त्वयमेवास्मिन् शास्त्रे मुख्यतया निरूप्यते ॥ ९ ॥

नन्वेवं तत्र स्थित्वा क्रियमाणायां सेवायां चेत्केनापि कृता बाधसम्भवे सति किं कार्यं तत्राहुः बाधसम्भावनायामिति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

बाधस्य सम्भावना यदा भवति सेवायां तदा त्वेकान्ते भगवत्स्थाने वासो नेष्यते । न च कलहद्वेषादिनापि स्थेयम्, सेवाया एवेष्टसाधनत्वादिति वाच्यम् । एवं च प्रतिबन्धकस्य बलवत्त्वेन तदसम्भवे द्वेषादेर्मनसि स्थित्वा श्रवणाद्यसम्भवे चित्ते दोषाक्रान्त्या कृतवैयर्थ्यापत्तिः । तस्माद्भगवदिच्छयैवं जातमिति मनसि निश्चित्य ततो निःसृत्य निश्चिन्तस्तत्स्मरणं कुर्वन् तीर्थे तिष्ठति, गृहे वा । नन्वेवमेव चेद्भगवदिच्छा, तदा तु पर्यवसानतो नाश एवेत्याशङ्क्याहुः हरिस्त्विति । सर्वतः सर्वेभ्यः सर्वप्रकारेण हरिस्तु रक्षां करिष्यतीत्येवं मनसि निर्धार्य स्थेयम् । सर्वथाश्रितानां रक्षामेव करोति । अप्रामाण्यशङ्कानिवृत्त्यर्थमाहुः न संशय इति । अत्र संशयो न कार्यः । यमनुगृहीतवांस्तं पुनर्न त्यक्ष्यति, सत्यसङ्कल्पत्वात् । इदानीमिच्छाया एव तथात्वात्सेवाऽभावः । यदि कदाचित् भविष्यति, तदा सापीत्यस्मिन्नर्थे न कापि चिन्ता विधेया ॥ १० ॥

एवमुपायान्निरूप्य तत्फलं निरूपयन्ति इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इति भगवच्छास्त्रं मया निरूपितम् । यद्भगवत्कृपैकवेद्यम् । तत्र हेतुः । यतो भगवच्छास्त्रं भगवदीयं शास्त्रम्, एतच्छास्त्रवेदको भगवानेव, यतो नान्यः, एतदज्ञत्वात् । अन्यस्यैतदज्ञत्वे हेतुमाहुः । गूढतत्त्वं गूढं गुप्तं सर्वैरज्ञातं यद्भगवत्स्वरूपं तदेव तत्त्वं सारभूतं यस्य तत्तथा । तदपि मया एवं निरूपितम् । अथ प्राकट्यपूर्वकं निरूपितमित्यर्थः । भक्तिमार्गजिज्ञासूनां निमित्तम् । तेन य एतदुक्तप्रकारमाचरेत्तस्य भगवति रतिः स्यात्तस्यापि दृढा । एतदुक्ताचरणाभावे यत एतत्फलहं सम्यगर्थावबोधपूर्वकं अधीयीत पठेत्तस्यापि तथा रतिः स्यादिति ॥ ११ ॥

विठ्ठलेशपादाब्जैकदास्यसङ्गाङ्क्षिणा सदा । प्रकाशिता यथाशक्ति मयेयं भक्तिवर्धिनी ॥१॥

इति श्रीबालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीश्रीवल्लभविरचितविवृतिसमेता ।

नत्वा स्वाचार्यपादाब्जं कृपामधुसुपूरितम् ।
तत्परागारक्तबुद्ध्या व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥
तद्बुद्धिर्दृढतासिद्ध्यै पितृपादरजांसहम् ।
हृद्याधाय प्रवृत्तोऽस्मि नान्यथेति हि निश्चितम् ॥ २ ॥

अथाचार्यचरणाः स्वमार्गाङ्गीकृतानां स्वमार्गीयभक्तिवृद्धिप्रकारमजानतां कृपया तज्ज्ञापनाय तद्वृद्धिप्रकारं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन साधनेन **भक्तिः** स्वप्रवर्तितमार्गरूपा प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्नोति **तथा** तत्प्रकारक **उपायः** साधनं निरूप्यत उच्यत इत्यर्थः । ननु भक्त्युत्पत्तिप्रकाराः शास्त्रेषु पुराणादिषूक्ता एव । उत्पत्त्यनन्तरं वृद्धिस्त्वनुक्तसिद्धैव । तथा । श्रीभागवते 'दानव्रततपो-

होमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इति । एकादशेपि 'श्रद्धामृतकथाया'मित्युपक्रम्य 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इति । प्रथमस्कन्धेपि 'यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे । भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहे'ति । गीतास्वपि 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते परामि'ति भक्त्युत्पत्तिप्रकारा उक्ता एव । यद्यप्युत्पत्तिप्रकारा उक्तास्तथापि वृद्धिप्रकारो नोक्त इति तद्वृद्धिप्रकारार्थमाचार्यकथनं सम्भवतीति चेत् । न । वृद्धिप्रकारोपि तत्रोक्तः । तृतीयस्कन्धे पञ्चमाध्याये 'पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये । वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यमि'ति । अत्र प्रकारोप्युक्तः । यद्यप्यत्रोत्पत्तिवृद्धिप्रकाराः पुराणादिष्वप्युक्ता एव, तत एवोभयसम्भवे सत्यपि 'यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्या'दिति पुनर्भक्तिवृद्धिप्रकारकथने को हेतुरिति चेत् । सत्यम् । पूर्वोक्तसाधनानां दानव्रतादीनां मर्यादामार्गीयत्वात् तदुत्पन्नभक्तेरपि तन्मार्गीयत्वमेवेत्यवधेयम् । 'कार्यकारणयोरेकजातीयत्व'मिति नियमात् । वृद्धिप्रकारस्यापि तन्मार्गीयसाधनसाध्यत्वेन मुक्तिफलकत्वेन च मर्यादामार्गीयत्वमेव । आचार्यास्तु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिनिरूपणं कर्तुं तस्याश्च मर्यादाभक्तिवैलक्षण्यं ज्ञापयितुं तत्साधनानि तत्फलं च वक्तुं तत्साधनानां तत्फलस्य च वैलक्षण्यं वक्तुं भिन्नतया स्वमार्गीयां भक्तिं तद्वृद्धिप्रकारसाधनं च निरूपयन्ति यथेति । यथा स्वमार्गीयस्वप्रवर्तितसाधनैर्भक्तिः शुद्धपुष्टिमार्गीया प्रकर्षेण वृद्धा वर्धिता स्यात् । वृद्धौ प्रकर्षः फलोन्मुखत्वम् । तथा तत्प्रकारकोपायस्तत्प्रकारकसाधनसमुदायो निरूप्यत उच्यत इत्यर्थः । पूर्वोक्तसाधनसमुदायानेवाहुः बीजभावे दृढे तु स्यादिति । अत्र बीजभावस्वरूपं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यानुग्रहपूर्वकं स्वमार्गप्रकारकभगवन्निवेदनानन्तरं भगवदङ्गीकार एव बीजभावः । तस्य दार्ढ्यं निरन्तरं तदेकपरतया तन्मार्गेस्थितिः । तुशब्देन मार्गान्तरीयसाधनव्युदासः । तदा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । वृद्धौ स्वमार्गीयसाधनान्तराण्याहुः त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । त्यागादेतन्मार्गीयातिरिक्तसाधनत्यागात् । तद्वदेवैतन्मार्गीयभगवद्धर्मश्रवणात् । तथैव तद्वदेव कीर्तनात् । अत्र श्रवणकीर्तनयोरेकवद्भावोक्त्योभयोरप्येकजातीयत्वं ज्ञापितम् ॥ १ ॥

यद्यपि पूर्वं बीजदार्ढ्यप्रकार उक्त एव । तथापि कदाचिदितरव्यासङ्गेनान्तरायः सम्पतति तस्मादपरेतरव्यासङ्गाभावेन बीजदार्ढ्यं सिध्यति तदर्थं भगवद्भजनरूपं प्रकारान्तरमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

---

१ स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयसाधनैः ।

तुशब्देनैतदतिरिक्तप्रकारान्तरव्युदास उक्तः । स्वमार्गीयभगवद्भजनं तु गृहस्थितिमावे न सम्भवतीति पूर्वं गृहस्थितिमेवाहुः गृहे स्थित्वेति । भगवद्भजनानुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः कृष्णं भजेत् । अत्र स्वधर्मपदेन वर्णाश्रमधर्मा न विवक्षिताः, किन्तु स्वमार्गीयभगवद्धर्मा विवक्षिताः । कुतः, वर्णाश्रमधर्माणां स्वधर्मत्वाभावात् । तथा धर्मो द्विविधः । एकः शरीरपर्यवसायी । द्वितीय आत्मपर्यवसायी । तत्र सन्ध्यावन्दनमारभ्य यागान्तानां वर्णाश्रमधर्माणां शरीरपर्यवसायित्वमेव । इन्द्रलोकादिभोगपर्यवसानात् । समाप्तौ पुनः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती'ति वचनात् शरीरसुखपर्यवसायित्वमेव, न त्वात्मनः परलोकसाधकत्वम् । स्वपदस्यात्मपरत्वात् स्वधर्मपदेनात्मपर्यवसायी धर्म उच्यते । स च भगवद्धर्म एव । तथा च प्रमाणं सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवचनम् । 'यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्री'रिति । किञ्च, फलप्रकरणेपि रासमण्डलमण्डनरूपाभिर्गीतम् । 'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः कि'मिति । किञ्च, स्वधर्मत इति कथनात् धर्मपदस्य तसिल्प्रत्ययान्तत्वेनाव्ययत्वादविकृतो धर्म उक्तः । तेनाविकृतो धर्मो भगवद्धर्म एवेति स्वधर्मपदेन भगवद्धर्म एवेति सर्वमनवद्यम् । स च स्वधर्मः क इत्याकांक्षायामाहुः अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णमिति । अव्यावृत्तो भगवद्भजनाननुकूलव्यापृतिरहितः कृष्णं भजेत् । अत्र भजने कृष्णपदस्य फलवाचकत्वेनेदं भजनं मम फलरूपमिति ज्ञात्वा भजनं कर्तव्यम्, न तु साधनबुद्ध्या । 'यद्यप्यग्रे 'लभते सुदृढां भक्ति'मित्यनेनालौकिकदेहसम्पत्तिपूर्वकं साक्षात्पुरुषोत्तमभजनस्यैव फलत्वोक्त्याधुनिकभजनस्य साधनत्वमायाति, तथापि पुष्टिमार्गे पुरुषोत्तमस्यैव भजनीयत्वात्, यद्यपि आधुनिकभजने अलौकिकदेहसम्पत्तिर्नास्ति, तथापि आधुनिकभजनस्य पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वमेवेति अस्यापि फलरूपत्वमिति ज्ञापनायोक्तमिदं भजनं मम फलरूपमिति ज्ञात्वा भजनं कर्तव्यमिति' । ननु एकस्यैव साधनरूपत्वं फलरूपत्वं च कथं सम्भवतीति चेत् । सत्यम् । साक्षात्पुष्टिमार्गीयफलस्येतरसाधनासाध्यत्वात् पुरुषोत्तमभजनमेव साक्षात्पुष्टिमार्गीयफलसाधक(त्व)म् । यथा महाराजस्य धार्यमपि सुवर्णरत्नादिकमेव । व्यवहार्यमात्राण्यपि तन्मयान्येव । अथ च कोशे संग्राह्यमपि सुवर्णरत्नादिकमेव । यतस्तस्य महाराजस्य सर्वतोधिकत्वात् । सुवर्णस्यापि सर्वधात्वपेक्षयोत्कृष्टत्वात् । तथा तद्वदस्य फलस्य सर्वोत्कृष्टत्वभावात्सर्वोत्कृष्टमेव साधनमपेक्षितम् । सर्वोत्कृष्टस्य साधनस्य विचारे क्रियमाणे भजनातिरिक्तस्य सर्वोत्कृष्टत्वाभावात्सर्वोत्कृष्टमेव साधनं सर्वोत्कृष्टफलमेवेति भजनमेव साधनम्, भजनमेव फलमिति नानुपपत्तिः काचित् । अग्रे भजनप्रकारमाहुः पूजया श्रवणादिभिरिति । अत्र पूजापदेन आगमोक्तप्रकारकपूजा न विवक्षिता । पूर्वं कृष्णपदेन सदानन्दफलरूपपुरुषोत्तमभजनस्य प्रकारत्वेनोक्तत्वात् । आ-

१ कुतः ? तेषां वर्णाश्रमधर्मत्वेन नित्यप्राप्तत्वात् । अत्र केवलभक्तिमार्गीयधर्मविचारे पुन कथने प्रयोजनाभावात् न विवक्षिता इत्युक्तम् । २ चिह्नान्तर्गत टिप्पण प्रतिभाति, अन्यपुस्तकेषु क्वचिददर्शनात् ।

गमोक्तपूजायाः पुरुषोत्तमविभूतिपर्यवसायित्वात् न पुरुषोत्तमभजनपर्यवसायित्वम्। तथापि पुरुषोत्तमभजनप्रकारेषु पूजाया अपि गणनात्सा पूजा शुद्धपुष्टिमार्गीयैवेति ज्ञेयम्। अत एव शुद्धपुष्टिमार्गविद्भिः प्रमेयप्रकरणीयसप्तमाध्याये गुणगाने हरिणीनां भावं निरूप्य पश्चात्तद्भावदृष्टेरेव पूजात्वमुक्तम्। 'पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकै'रिति कथनात्। एतद्भावसजातीयभावपूर्वकं श्रीकृष्णदर्शनसेवाकरणमेव पूजया भजनम्। एतद्भावज्ञापनाय अत्रैतन्मार्गीयभजनसाधनपूजेयमिति ज्ञापनायोक्तं पूजयेति। अस्मिन्मार्गे भजनं सेवैव। अत्र [1]केचित्स्नेहरहितसेवा पूजैवेति पूजापदं व्याख्यातवन्तः, तन्न विचारक्षमम्। कुतः? मार्गभेदस्य नियामकत्वात्। आचार्यैस्तु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गाङ्गीकृतस्वकीयजीवेषु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिवृद्ध्यर्थं भक्तिवर्धिनीरूपं शास्त्रं कृतम्। तदीयशास्त्रे तदङ्गीकृता एवाधिकारिणः, नत्वन्ये। तेषामाचार्यानुग्रहेण शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वात् तत्प्रदर्शितसेवाकरणं सस्नेहं स्नेहरहितं वा भवतु, परन्तु पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वाद्भक्तिमार्गीयमेव भवति। नतु पूजामार्गीयम्। किञ्च, शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवाप्रकारसदृशाः प्रकारा वस्त्रालङ्कारादिसमर्पणरूपाः पूजायामपि दृश्यन्ते। तथापि तेषां विभूतिपर्यवसानात्पूजामार्गीयत्वमेव, न तु सादृश्यमात्रेण तेषां भक्तिमार्गीयत्वम्। मार्गभेदस्य नियामकत्वात्। किञ्च। यो यन्मार्गीयस्तत्कृतं सर्वं भगवद्धर्मादिकं तन्मार्गीयमेव भवति। यथा 'प्रमादात्कुर्वतां कर्मे'त्यत्र कर्मसाद्गुण्यार्थं कृतस्य विष्णुस्मरणस्य कर्ममार्गीयत्वमेव। अन्यत्र 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्ये'त्यत्र स्मृत्यादित्रयाणामपि कर्ममार्गीयत्वमेव, न तु नवधाभक्त्युक्तसादृश्यमात्रेण भक्तिमार्गीयत्वम्। एवं सेवोपयोगिनीं पूजामुक्त्वा तदुपयोगिश्रवणादिकमप्याहुः श्रवणादिभिरिति। सेवाकरणानन्तरमवशिष्टकाले इतरव्यासङ्गाभावार्थं श्रवणम्। आदिपदेन कीर्तनस्मरणचिन्तनान्यपि ॥ २ ॥

एवमव्यावृत्तिपूर्वकं भजनमुक्त्वा कदाचिद्भगवदर्थव्यावृत्तिसमयेऽपि हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तव्यासङ्गपूर्वकमेव व्यावृत्तिः कर्तव्येत्यत आहुः व्यावृत्तोपि हरौ चित्तमिति।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

व्यावृत्तिकरणानन्तरमवशिष्टसमये पूर्ववत् श्रवणादौ यतेत् श्रवणाद्यर्थं यत्नं कुर्यात्। एवं भक्तिमार्गीयभक्तिवृद्धिसाधनान्युक्त्वास्य भक्तिवृद्धिप्रकारमाहुः ततः प्रेमेति। पूर्वं प्रेम भवति। ततः स्नेहाङ्कुरो भवति। तदनन्तरं प्रौढभावे सति आसक्तिर्भवति। चित्तं भगवत्स्वरूपे व्यासक्तं सत् तदेकपरं भवति। ततः प्रौढभावे सति व्यसनं भवति।

---

1 'तस्मादत्र केचिदित्यारभ्य, तन्न विचारक्षममिति यदुक्तं, तत्सर्वं सोपपत्तिकमुपपादितमित्यलमितोऽधिकविचारेण।'

2 भक्ति

व्यसनं नाम तद्व्यतिरेकेण स्थातुमेव न शक्नोति। तद्यथा । दशमस्कन्धे 'गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने । क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवदि'ति । एवं यदा व्यसनं भवति, तदा बीजभावो दृढो भवति ॥ ३ ॥

एवं व्यसनपर्यन्तं बीजदार्ढ्यप्रकारमुक्त्वाग्रे बीजस्य दृढत्वं निरूपयन्ति बीजं तदिति ।

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

तत्पूर्वोक्तं बीजं व्यसनभावानन्तरं दृढं भवतीति शास्त्रे भक्तिशास्त्रे उच्यते निरूप्यत इत्यर्थः । दृढत्वस्य लक्षणमाहुः यन्नापि नश्यतीति । यत्केनापि लौकिकालौकिकनाशकेनापि न नश्यतीति। लौकिका दुःसङ्गादयः, अलौकिकाः कालादयः, तैरपि न नश्यतीत्यर्थः । अतः परं येन प्रकारेण त्रयाणां स्नेहादीनां मध्ये येन यथा स्वापनोदनं भवति, तथा तत्स्वापनोदनप्रकारं वदन्ति । अत्र स्नेहाद्युत्पत्तौ मुख्यापनोदकात्रयः, भगवदतिरिक्ते रागो गृहासक्तिर्भगवद्व्यतिरेकेणापि कालनिर्वाहः । तत्र रागादित्रयाणां क्रमेणैकैकापनोदकत्वमाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादिति । तत्र पूर्वं यथाकथञ्चिदल्पस्नेहाङ्कुरोत्पत्त्यापि भगवदतिरिक्ते रागो न भवति । तदनन्तरं यदासक्तिर्भवति, ततः प्रौढभावो भवति, तदा गृहासक्त्यपनोदो भवति । भगवदासक्त्या गृहासक्तिर्गच्छति ॥ ४ ॥

आसक्त्यनन्तरं गृहारुचौ हेतुद्वयमाहुः गृहस्थानामिति ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

गृहे स्थितानां भार्यापुत्रादीनां, गृहे तिष्ठन्तीति गृहस्था भार्यापुत्रादयस्तेषां स्वसजातीयभावाभावात् तैः सह संबन्धस्य भावविघातकत्वस्फूर्त्या तेष्वरुचिर्भवत्येवेत्यत उक्तं **बाधकत्वं भासत** इति । ननु यद्यपि भार्यापुत्रादीनां भावबाधकत्वमुक्तम्, तथापि 'न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, किन्त्वात्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति' इत्यादिश्रुत्या तेषु आत्मसंबन्धित्वेन प्रियत्वस्यापि स्फूर्त्या सर्वात्मना बाधकत्वस्फूर्तिर्न भविष्यतीत्याशङ्कानिरासाय तेषु तादृशस्य भगवदासक्तस्य आत्मसंबन्धित्वस्फूर्त्यभावेन यथा सर्वात्मना प्रियत्वाभावस्तं प्रकारमाहुः **अनात्मत्वं च भासत** इति । स्वस्य भगवदासक्त्या निरुपाधिस्नेहास्पदत्वेन भगवत्येवात्मत्वं स्फुरति, न तु स्वात्मनि । अतो भगवदीयेष्वेवात्मसंबन्धित्वं भासते । न तु स्वात्मसंबन्धिष्वात्मसंबन्धित्वं भासत इति । तेष्वात्मसंबन्धित्वभानाभावात् बाधकत्वमेव भासते, न तु स्वात्मीयकत्वमिति ज्ञापनायोक्तं

१ भावसंबन्धबाधकत्वमिति पाठः । भावसंबन्धसकलमिति पाठश्च ।

बाधकत्वमनात्मत्वमिति गृहारुचौ हेतुद्वयमुक्तम् । एवं तादृशस्य गृहारुचौ हेतुद्वयमुक्त्वा तस्यैव स्नेहवृद्धिपराकाष्ठामाहुः **यदा स्यादि**ति । यदा यस्मिन्काले कृष्णे फलात्मके व्यसनं स्यात् । तद्दर्शनादिव्यतिरेकेण तत्संबन्धिव्यतिरेकेण स्थातुमशक्तिर्व्यसनं तद्यदा स्यात् । तादृशो भावो यदा स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात् । कृतः अर्थो येन तादृशः स्यात् । अर्थोऽत्र भक्तिमार्गीयसाक्षाद्भगवत्संबन्धफलरूपः । सः स्वस्मिन्कृतो भवति, सम्पादितो भवति, तदा कृतः अर्थः पूर्वोक्तफलरूपो, भगवता तस्मै दत्तो भवतीत्यर्थः । नहि एतादृग्भावयुक्तस्य एतत्फलदानातिरिक्तं फलं दातुं युक्तमिति ज्ञापनायोक्तं हीति ।

एवं तस्य व्यसनवत्तो योग्यताभावं फलं च निरूप्य तस्याग्रिमव्यवस्थामाहुः **तादृशस्यापी**ति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशनम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

तादृशस्यापि तादृग्भावयुक्तस्यापि, **सततं** निरन्तरं, **गेहस्थानं** गृहस्थितिः, तादृग्भावसत्सङ्गाभावाद्विनाशकं तद्भावविघातकमित्यर्थः । यो यस्य विघातकः स तत्सन्निधौ स्थातुं न शक्नोति । अत एव फलप्रकरणे 'यर्ह्यम्बुजाक्षे'तिपद्ये भजनस्वरूपाभिर्निरूपितम् । यर्हि यत्प्रभृति त्वत्पादतलमस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति अन्यसमक्षं स्थातुं न पारयाम इति । तदेव निवृतमाचार्यचरणैः । 'यथा देहाभिमानी व्याघ्रस्य देहविघातकत्वात्तत्संनिधौ स्थातुं न शक्नोती'ति । अत उक्तं **तादृशस्ये**ति । अतः परं पूर्वोक्तभावयुक्तस्य गेहस्थितेर्भावविघातकत्वेन तत्र स्थातुमशक्त्या स गेहत्यागमेव करोतीत्याहुः **त्यागं कृत्वे**ति । तस्य गेहत्यागानन्तरं स्थितिप्रकारमाहुः **यतेद्यस्त्वि**ति । त्यागानन्तरं स यत्नमेव कुर्यात्, नतु प्रकारान्तरेण तिष्ठेत् । तस्य यत्नविषयमाहुः **तदर्थार्थैकमानस** इति । तादृशस्य यद्विषयको भावः स विषयो भगवानेव भवतीति । स एवार्थः । स चासावर्थश्च तदर्थः भगवान् तदर्थं भगवदर्थमेकं केवलं मानसं मनो यस्य तादृशो भूत्वा सुदृढां भक्तिं लभते । पूर्वं तस्य व्यसनपर्यन्तां सर्वोनपनोद्यां भक्तिमुक्त्वापि पुनर्यत्तदर्थार्थैकमानस इत्युक्त्वापि लभते सुदृढां भक्तिमिति यदुक्तं तस्यायमाशयः । ततोऽपि सुदृढां सर्वात्मभावरूपां भक्तिमिति साक्षात् स्वरूपानुभवफलिकां लभत इति । तल्लाभकथनेन तादृशस्य पूर्वोक्तातिनिगाढभावेन विद्यमानदेहापगमानन्तरं लीलौपयिकमलौकिकं देहं प्राप्य साक्षात्स्वरूपसंबन्धि फलं लभत इत्यर्थः । फलरूपभक्तेः स्वरूपमाहुः **सर्वतोऽप्यधिकामि**ति । सर्वतश्चतुर्विधमुक्त्यपेक्ष-

१ स्वरूपानुभवं लभत इति पाठः ।

यापि अधिकाम् । परामगणितानन्दपुरुषोत्तमपर्यवसायिनीम् । एवं पूर्वोक्तभक्तिवृद्धिपर्यवसानं फलं चोक्त्वा पुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वकथनस्यायमाशयः । कदाचित्कश्चिद्भक्तिमार्गानुवर्ती पूर्वोक्तत्यागस्वरूपमज्ञात्वाहमपि गृहादित्यागं कृत्वा भक्तिवृद्धिं साधयिष्यामीति यदि गृहादिकं त्यक्तुमिच्छति तस्य तत्र निषेधमाहुः त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति । तादृशस्य त्यागे गृहादित्यागेन भक्तिवृद्धिसाधने बाधकभूयस्त्वात्फलं न सिध्यति । ('पूर्वोक्तप्रकारत्यागिनस्तु दृढं यन्नापि नश्यतीति बाधकाभाव उपपादित एवेति पूर्वोक्तत्यागोऽत्र न विवक्षितः । तस्मात्पुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वं यदुच्यते 'स कदाचित्कश्चिदि'त्यनेन वक्ष्यमाणत्याग एव बाधकभूयस्त्वम् ।') बाधकान्येवाहुः दुःसंसर्गादिति । दुःसंसर्गः स्वस्य पूर्वोक्तत्यागहेतुभूतभावाभावात्सर्वात्मना चित्तस्य भगवदेकपरत्वाभावेन चित्तचाञ्चल्याद्दुःसङ्गभगवद्भावाभाववतां लौकिकानां सङ्गः सम्भवतीति तस्य बाधकत्वं स्पष्टमेव । अथ च तस्य पूर्वसिद्धगृहादीनां बुद्धिपूर्वकत्यागाभावाच्छरीरनिर्वाहार्थं यत्र कुत्रचिदन्नभक्षणेन तस्यान्नस्य भगवदसमर्पणजनितदोषवत्त्वेन तदन्नभक्षणेन स्वस्यापि बाहिर्मुख्यदोषः सम्भवति । यद्यप्येतादृशस्यापि बाधका दोषा इन्द्रियनिग्रहाभावरूपाः सम्भवन्ति, तथापि दुःसङ्गान्नदोषयोरतिप्रबलत्वादुभावेव गणितौ ॥ ७ ॥

एवं सति तादृशेन दोषाभावपूर्वकं कथं कालनिर्वाहः कार्य इत्याकांक्षायामाहुः अतः स्थेयं हरिस्थान इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यतः पूर्वोक्तप्रकारस्थितौ दोषसम्भावना अतो दोषाभावपूर्वकं कालनिर्वाहार्थं हरिस्थाने स्वस्य भक्तिमार्गीयत्वात् भक्तिमार्गीयसेवाप्रकारयुक्तभगवत्स्थाने श्रीगोवर्धनादौ स्थेयम् । तत्रापि स्थितिप्रकारमाहुः तदीयैः सह तत्परैरिति । तदीयैर्भगवदीयैः सह स्थेयम् । तत्रापि तत्परैर्भगवत्स्वरूपतत्सेवातच्छ्रवणादिपरैः । एतत्प्रकारकस्थित्यभावे तत्रापि दुःसङ्गेन पूर्वसिद्धबुद्धिनाशसंभवात् जीवनवैयर्थ्यमेव स्यादिति पूर्वोक्तप्रकारेण स्थेयमिति ज्ञापितम् । निरन्तरं तत्प्रकारकस्थित्यसंभवे चित्तदोषाभावार्थं प्रकारान्तरेणापि स्थितिप्रकारमाहुः अदूरे विप्रकर्षे वेति । अदूरे पूर्वोक्तस्थानात्स्वल्पान्तराये । अथवा विप्रकर्षे ततोपि किञ्चिद्दूरे स्थेयम् । 'तदीयैः सह तत्परैरि'ति स्थितिप्रकारमुक्त्वापि पुन'रदूरे विप्रकर्षे वे'ति यदुक्तं तस्यायमाशयः । अतिनिकटस्थितौ 'अतिपरिचयादवज्ञे'ति न्यायेन कदाचिद्भगवद्भक्तावज्ञापि संभवति, तदभावायोक्तं 'अदूरे विप्रकर्षे वे'ति । तत्राप्येवमपि स्थित्वा तैः सह सङ्गः कार्य एव, न त्याज्य इत्युक्तं भवति । एवं प्रकारत्रयेण स्थितिप्रकारमुक्त्वापि स्थितिप्रकारनिर्भेदितार्थमाहुः यथा चित्तं न दु-

१ त्यागादिति पाठः । २ त्यागेनेति पाठः ।

ष्यतीति । अस्यायमर्थः । पूर्वोक्तप्रकारैरथवा स्वमनोभिलषितप्रकारैर्वा यथा च भगवद्बाहिर्मुख्यदोषेण चित्तं न दुष्यति तथा सेयम्, न तु प्रकारान्तरेणेत्यर्थः । एवं पूर्वं भक्तिवृद्धिप्रकारमुक्त्वा वृद्धेः परमकाष्ठामुक्त्वा तत्साध्यं फलं चोक्तम् ॥ ८ ॥

तदनन्तरं भक्तिवृद्धिप्रकारमुक्त्वा वृद्धेः परमकाष्ठामुक्त्वा शुद्धपुष्टिसाधनप्रकारमज्ञात्वा गृहं त्यक्त्वा वृद्धिं साधयिष्यामीति प्रवृत्तस्य बाधसंभावनानिराकरणपूर्वकं फलसिद्ध्यर्थं स्थितिप्रकारमुक्त्वा शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गीयधर्मद्वयासक्तानामपि एतन्मार्गीयफलसिद्धिर्भवतीति ज्ञापनायाहुः **सेवायां वा कथायां वेति** ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

सेवायां शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैः प्रकटितप्रकारकसेवायां, तदवशिष्टसमये तन्मार्गीयलीलाकथायां, यस्यासक्तिश्चित्तस्यासङ्गपूर्वको दृढाग्रहो यावज्जीवं भवेत्, तस्य न क्वापि देशकालभेदेनापि तस्य भावस्य नाशो न भवति । स भावस्तस्य फलसाधको भवति । अथवा । विकल्पेनोभयोः कथनाद्भगवदिच्छया कस्यचित्सेवायामेव दृढासक्तिर्भवति । कस्यचित्तस्य लीलायामेव दृढासक्तिर्भवति । परन्तु सासक्तिर्यावज्जीवमपेक्षिता, न तु[1] यत्किंचित्कालम् । तस्येति पदाद्भगवदिच्छया सेवासक्तस्य कथासक्तस्य च क्वापि नाशो न भवति । तन्मार्गीयफलप्राप्तौ अन्तरायो न भवतीति मम मतिर्मदीया मतिः । तेन स्वमते फलविलम्बाभावे हेतुत्वकथनेन फलप्राप्तौ निःसंदिग्धत्वमुक्तम् ॥ ९ ॥

एवं पूर्वश्लोके सेवासक्तकथासक्तयोः फलमुक्त्वा कदाचित्कश्चित् सेवासक्तं कथासक्तं भक्तं दृष्ट्वा स्वयमप्यासक्त्यतिरेकेण उत्साहमात्रेण सेवां कर्तुमिच्छति तस्य बाधः संभवति, तत्र बाधस्वरूपं तन्निवारणप्रकारं चाहुः **बाधसंभावनायां त्विति** ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

बाधसंभवे प्रकारान्तरेण बाधाभावव्युदास उक्तस्तुशब्देन । सेवाकरणे दृढासक्त्यभावात् उद्वेगेन भोगासक्त्या वा बाधसंभवे सति स्वस्य सेवाकरणासक्तिजनितग्लान्या मत्तः सेवा न भवतीति मत्वा गृहं त्यक्त्वा एकान्ते भगवन्नामस्मरणादिकं कर्तव्यमिति बुद्ध्या यद्येकान्ते स्थितिं कर्तुमिच्छति, तादृशस्यापि सेवात्यागपूर्वकैकान्तस्थितिरनुचितेति निषेधमाहुः **नैकान्ते वास इष्यत इति** । सेवां विहाय तस्यैकान्तवासो नेष्टः, सेवाकृतिरेवेष्टा । उद्वेगादिना प्रतिबन्धे कथं सेवाकरणं भवतीति चेत्तत्र समाधानमाहुः **हरि-**

[1] भक्तिरिति पाठः ।

स्त्विति । उद्वेगादिकमपि सोढ्वा यदि सेवामेव कुर्यात्तदा भगवान् तस्य सेवाग्रह दृष्ट्वा स्वस्य सर्वदु खहरणसामर्थ्यं प्रकटीकृत्य सेवाविघातोद्वेगादिक दूरीकृत्य सेवासपत्तिमेव कार येदिति ज्ञापनार्थमुक्त **हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशय** इति । 'न सशय' इति कथनार्थयस्मिन्नर्थे सशय कुर्यात्, तदा भगवानपि रक्षा न कुर्यादितीत्यर्थ । अत एव गीतास्वपि भगवतोक्त 'सशयात्मा विनश्यती'ति । तस्मादस्मिन्नर्थे नि सन्दिग्धो भूत्वा 'भगवान् रक्षा करिष्यत्ये'वेति बुद्ध्या यदि सेवा कुर्यात्तदा भगवानपि रक्षा करोत्येवेति ज्ञापनायोक्त 'न सशय' इति । प्रकारान्तरेण रक्षाऽभावज्ञापनाय तुशब्द । कथाप स्यापि साधनभावनाया पूर्वोक्तव्यवस्थेति ज्ञातव्यम् ॥ १० ॥

एव स्वमार्गीयभक्तिप्रवृद्धिप्रकारमुक्त्वा तस्योपसहारमाहु **इतीति** ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति समाप्तौ । एवमुक्तप्रकारेण भगवत पुरुषोत्तमस्य भक्तिवृद्धिशिक्षाप्रकारक शास्त्र निरूपित प्रतिपादितमित्यर्थ । शास्त्रस्वरूपमाहु **गूढतत्त्वमिति** । गूढमत्यन्त गुप्त तत्त्व वागविषयमनुभवैकवेद्य स्वरूप यस्य तादृश निरूपितं प्रतिपादितमित्यर्थ । एव शास्त्रस्वरूप निरूप्यैतदध्ययनकर्तुरपि यथैतन्मार्गीय फल सिध्यति तत्प्रकारकमध्ययन स्वरूपमाहु **य एतदिति** । य इति सामान्योक्त्या नात्र वर्णाश्रमादिनियम उक्त । एतद् भक्तिवर्धिनीरूप शास्त्र समधीयीतेति । अध्ययने सम्यक्त्वोक्त्या न केवल पाठमात्रकरणम्, किन्तु प्रतिपदमर्थाभिप्रायविचारपूर्वकमध्ययनमुक्तम् । एव विचारपूर्वकाध्ययनकरणे तत्प्रतिपाद्यार्थनिरन्तरानुसन्धानादन्त करणदोषनिवृत्त्या तन्मार्गस्वरूपस्य हृदि स्फुरणात्तन्मार्गस्य पुरुषोत्तमैकपरत्वात् तद्द्वारा स्वस्यापि तत्स्फूर्तौ भक्तिमार्गीयाचार्याङ्गीकारस्य सिद्धत्वात् तादृशस्यापि सुदृढा अत्यन्त निश्चला रति रसभावयुक्तस्नेहो भवतीत्यर्थ[1] ॥ ११ ॥

पितृपादनखालोकप्रकाशितधिया मया । स्वाचार्यचरणाख्येन विवृता भक्तिवर्धिनी ॥ १ ॥

कृपया पितृपादाब्जैर्दत्ता मे यादृशी मति । तन्मया विवृत भक्तिवृद्धिशास्त्र सुदुर्लभम् ॥२॥

यद्यपीश्वरवाक्यानि दुर्बोधानि सदा स्वत । तत्कृपातो यथाबोध विवृतानि न चान्यथा ॥३॥

बुद्धिदोषेण यत्र व्याकृतौ चेद्विपर्यय । क्षमन्त्वाचार्यचरणा स्वकीयेषु दयालव ॥ ४ ॥

श्रीवल्लभेन रचिता या विवृतिर्भक्तिवर्धिन्या । चित्र समस्ते लोके सजाता भक्तिवर्धिनी सापि ५

इति श्रीपितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

---

१ अय श्लोक पाठयात्

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्रघुनाथकृतविवृतिसमेता ।

वन्दे वृन्दावने वृन्दैर्गोपीनां वेष्टितं मुदा । हरिणीभिः कृष्णसारमिवाभातं तदीक्षणम् ॥१॥
अपारदुःखदावाग्निदग्धजीवनमीक्षितम् । यस्य तं यामि शरणं विठ्ठलेशमहं सदा ॥ २ ॥

अथ केनचित्परमपुण्येन प्राप्तमहापुरुषानुग्रहाङ्कुरितभक्त्यङ्कुरितचित्तस्य कदाचिदन्तरासंभावितत‌द्ध्रासाभावाय भक्त्युद्रेकोपायनिरूपणं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येनोपायाचरणप्रकारेण भक्तिः पूर्वोक्तेन हेतुना अङ्कुरतां प्राप्य स्थिता सती प्रवृद्धा प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता च स्वकार्यकरणक्षमा स्यात् भवेत्, तथा तेनैव प्रकारेण उपायः साधनं निरूप्यते, सोपपत्तिकं कथ्यत इत्यर्थः । अत्रायं भावः । यथा अन्तःस्थितबीजे क्षेत्रादौ सेचनादिप्राप्तोपायकरणं सफलं भवति, नानुप्तबीजे, एवमत्रापि भक्तिस्पृष्टान्तःकरणस्यैवैतदुच्यमानसाधनप्रवृत्त्यधिकारो, नान्यस्येति । इममेवार्थमुद्दिश्याग्रेप्याहुः **बीजभावे दृढे तु स्यादिति** । उक्तभक्तिप्रवृद्धिः कदेत्यपेक्षायां बीजभावे दृढे सम्पन्ने स्यात् । कुत इत्यपेक्षायां त्यागात् भगवदतिरिक्तविषयत्यागात् । श्रवणं च कीर्तनं च एकवद्भावात् श्रवणकीर्तनादित्येकवचनम् । ननु को नाम बीजभावः । उच्यते । भक्त्यसाधारणकारणं बीजमित्युच्यते । तच्च महदनुग्रहरूपम् । तस्य भावः सद्भावः तस्य दार्ढ्यं निश्चयः । यद्वा । बीजपदेन भगवानुच्यते । तस्मिन् भावस्तद्विषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धिः, भगवानेवाश्रयणीयो, नान्य इत्येवंरूपा । दार्ढ्यं तदनन्तर्हितत्वम् । तुशब्दः प्रसिद्धौ । तथैव वक्ष्यन्तीति च । 'बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यती'ति ॥

मर्यादामार्गीयाणां गृहस्थानां बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥
व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

वीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

गृहे स्थित्वा कृष्णं भजेदित्यन्वयः । कथं केनेत्याकाङ्क्षाद्वयमपाकर्त्तुमाह स्वधर्मत इति । स्वस्य यो धर्मः श्रुत्याद्युक्तो वर्णाश्रमधर्मः तत्सहितः सन् अव्यावृत्तो भगवद्भजनविरुद्धो लोकवेदधर्मव्यासङ्गो व्यावृत्तिस्तद्रहितः सन्नित्यर्थः । केनेत्याकाङ्क्षायां पूजया श्रवणादिभिरिति योज्यम् । अत्र प्रत्येकसमुदायाभ्यां पूजादिकं ग्राह्यम् । तत्र पूजा वेदपुराणोक्ता ग्राह्या । ऋग्विधानाद्युक्तपुरुषसूक्तादिभिर्या सा वैदिकी । आगमपुराणाद्युक्तान्या । श्रवणं तु श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासरामायणादिवाक्येभ्य एव । आदिपदेन चिन्तनलीलानुकरणादिकं ज्ञेयम् । सर्वापेक्षया श्रवणस्य प्राधान्यं ज्ञेयम् । अत एव महाभारते श्रूयते 'सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् । न तथा फलदं सौते नारायणकथा यथे'ति । व्यावृत्तिराहित्येन भजनासम्भवे उपायान्तरमाह अव्यावृत्तोपीति । व्यासक्तोपि सन् हरौ त्रिविधदुःखहरणशीले चित्तं विधाय पूर्वोक्तश्रवणादिषु यतेत् यत्नं कुर्यादित्यर्थः । यतेदिति परस्मैपदं नामधातुना ज्ञेयम् । भगवच्चरणारविन्दयोश्चित्तं संस्थाप्य यावच्छ्रवणादौ कृतस्य यत्नस्य निष्फलत्वेपि न स्वार्थहानिरिति भावः । अत एवैतद्वचनमपि 'क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते' इति । हरौ चित्तमित्यनन्तरं क्रियापदमध्याहृत्याग्रे योजनीयम् । यदेत्येतदुभयत्र सम्बध्यते । एवङ्कृते यद्भवति तदाह तत इति । प्रेम स्नेहः । आसक्तिस्तद्विना स्थातुमशक्तिः । व्यसनं स्वभावत एव तद्वार्तादिरूपैर्नान्यप्रेरणतः । इदं सर्वं यदा भवेत्सम्पद्यते तदेतत्त्रितयसम्पत्तिरूपं शास्त्रे भगवच्छास्त्रे दृढं बीजमिति व्यवह्रियते । दार्ढ्यमेव स्पष्टीक्रियते यन्नापि नश्यतीति । प्रेमादीनामसाधारणं तत्तत्कार्यमाह स्नेहादिति । रागो भगवदतिरिक्तविषयकः । गृहारुचिरिति । गृहे अरुचिरनासक्तिः । गृहस्थानामिति । गृहविषयकरागाद्यभावे स्त्रीपुत्रादिपोषणासम्भवरूपदोषोद्भावनेनाविवेकिनां गृहस्थानां परमपुरुषार्थसाधकयोरप्यनयोर्धर्मयोर्बाधकत्वमेव भासते । अनधिकारित्वात् अनात्मत्वं चेति । आत्मनो भावः आत्मत्वम् । भावपदेन स्वाभाविकधर्म उच्यते । तेन नायमात्मनः स्वधर्मः इत्येव भासते । वस्तुतस्तु ज्ञानं तेषां नास्तीति ज्ञापनार्थं भासत इत्युक्तम् । व्यसनकार्यमाह यदा स्यादिति । यस्मिन्काले स्वभावतो यत्किञ्चित्क्रियमाणमपि भगवद्विषयकमेव स्फुरति, तदा किं वक्तव्यं कृतार्थतायामित्यर्थः । हिशब्दः प्रह्लादादौ प्रसिद्धिद्योतनार्थः । प्रह्लादस्यैवंविधत्वं विष्णुपुराणे श्रूयते । 'या

प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पत्वि'ति । ताद-शस्यापीति । उक्तस्नेहादिमतोपि गृहस्थस्य गृहरूपं स्थानं सततं सर्वदैव विनाशकं विनाशहेतुः । स्नेहादिसम्पत्तेः पूर्वमेव विनाशकत्वेपि तत्सम्पत्त्यनन्तरं तथा न भविष्यतीति मनसि गृहस्थैर्न धार्यमिति भावः । अत्र विनाशकत्वं प्रतिबन्धकत्वमेव । यद्वा । ताद-शस्यापि सतते गृह एव स्थानं स्थितिरिति । ईदृशगृहस्थेन मध्ये मध्ये भगवद्भक्तपुण्यक्षेत्र-नद्यायतनेष्वटनं कार्यम् । न तु गृहमात्रैकस्थितिशीलतया भाव्यमिति भावः ॥ ६ ॥

पूर्वं गृहस्थितस्यैव श्रवणाद्युक्तमिदानीं तस्य बहुप्रतिबन्धकत्वानुसन्धानेन समी-हितासिद्धिमाशङ्क्य निःप्रत्यूहोपायमाहुः त्यागं कृत्वेति । लभेतेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभेत सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

यः पुरुषः सकलदुःखाकरगृहत्यागं कृत्वा पूर्वोक्तश्रवणादिषु यतेत्, सः सुदृढामत्यन्तदृढामन्यैः प्रतिबन्धसहस्रैरप्यतिरस्कृताम् । सर्वतोपि ज्ञानादिभ्योप्यधि-कामधिकफलदायिनीं परां भगवत्प्राप्तेश्चरमकारणभूतां भक्तिं लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः । तं विशदयन्ति तदर्थार्थैकमानस इति । स भगवानेवार्थावर्थ्यस्य तदर्थः, अर्थः प्रयोजनं उद्देश्यमिति यावत् । स चासावेकश्चार्थः । तदर्थः स एवार्थैकः, तदर्थार्थैकः, तस्मिन्मानसं मनो यस्येति । एवंविधः सन् यतेदिति पूर्वेणान्वयः । यतेदिति यत्नार्थं कं कृत्वा पश्चात् नामधातुत्वात्परस्मैपदं ज्ञेयम् । ननु त्यागरूपोपाये विद्यमाने किम-न्योपायकथनमित्यत आहुः त्याग इति । त्यागसिद्धौ सर्वं सुकरम् । सैव तु नोपपद्यते । तत्र हेतुः । बाधकानां प्रतिबन्धकानां भूयस्त्वं बाहुल्यादित्यर्थः । तत्र हेतुः दुःसं-सर्गात् । दुष्टानां भगवद्बहिर्मुखाणां यः संसर्गः सम्बन्धः शारीरादिस्तस्मादित्यर्थः । तथैवान्नतः दुष्टदत्तादित्यर्थः । अन्नदातास्तु पञ्चमहायज्ञाकरणाद्भगवदनिवेदनाच्चोद्भवन्तीति ज्ञेयम् । श्रुतिरपि 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः । सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य । नार्यमाणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी'ति । अर्थस्तु अप्रचेताः मूढः मोघं व्यर्थमन्नं विन्दते प्राप्नोति । यतः सो अन्नलाभस्तस्य वध एव । इदं तु सत्यमेवाहं ब्रवीमि । न मृषेत्यर्थः । किञ्च । अर्यमाणं सूर्यं न पुष्यति, देवयज्ञाकरणात् । उपलक्षणमेतत्, देवतामात्रमपि । सखायं अतिथिं नो न पुष्यति, मनुष्ययज्ञाकरणात्, किन्तु स्वयमेव अश्नाति, अतः केवलादी पुमान् केवलाघ एव भवति । तदन्नं नास्ति, किन्तु पापमित्य-र्थः । इममर्थं भगवानप्याह 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणा'दिति । अनिवेदितभक्षणेपि दोषः श्रूयते । 'अम्बरीष नवं वस्त्रं फलं अन्नाद्यमौषधम् । अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्तजन्मानि नारकी'ति पुराणान्तरे ॥ ७ ॥

१ भक्ति.

त्यागसाधनस्यैवं उक्त्वा तुष्णस्योपायमाह अत इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

उक्तहेतोर्हरिस्थाने भगवदधिष्ठितप्रदेशे तत्परैर्भगवदेकपरैः तदीयैर्भगवदीयैर्भक्तैः सह अदूरे नैकट्यं यथा स्यात्तथा स्थेयमित्यर्थः । अतिनैकट्यासम्भवे विप्रकर्षे वा, किञ्चिद् दूरेपि स्थेयम्, नत्वतिदूर इति भावः । नन्वेवं स्थितौ किमत आहुः यथेति । येन प्रकारेण स्थितिकृता तथाकरणे चित्तमन्तःकरणं न दुष्यति, न दोषग्रस्तं भवतीत्यर्थः । एवं भगवदीयैः सह स्थितौ यस्य परमभाग्यवतः सेवायां स्वशरीरसाध्ये भगवद्भजने कथायां तद्गुणश्रवणे वा आसक्तिः तद्विहाय स्थातुमशक्तिः दृढा निश्चला भवेत् तस्य पुंसो यावज्जीवं आदेहपातं क्वापि कस्मिंश्चिद्देशे काले वा नाशः अन्यथाभावो न भवतीति । अस्मिन्नर्थे मम मतिः सम्मतिरेवेत्यर्थः । वाशब्दावन्योन्यसमुच्चितुतः ॥ ८ ॥ ९ ॥

नन्वेवं सति पूर्वोक्तत्यागस्य वैयर्थ्यमेवेत सार्थकत्वमपीत्याकाङ्क्षायामाहुः बाधेति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागे सर्वथा बाधः सम्भावितश्चेद्भवेत् तत्कृतस्तदा एकान्ते वासः सर्वत्यागपूर्विका स्थितिररण्यादौ नेष्यते न सम्मतेत्यर्थः । तदभावे त्विष्टैवेति भावः । नन्वेकान्तस्थितौ व्याघ्रादिभिरपमृत्युरपि सम्भाव्यते, वरं तदपेक्षया गृहस्थितिरित्यत आहुः हरिस्त्विति । हरिशब्दार्थस्तु पूर्वोक्तोनुसन्धेयः । तुशब्दः प्रसिद्धौ । सर्वतः सर्वदुःखहेतोः रक्षणं करिष्यत्येव, न संशय इत्यर्थः ॥ १० ॥

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

उपसंहरन्ति । एवमुक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवत्सम्बन्धिशास्त्रशिक्षणम् । गूढं गुप्तं तत्त्वं यस्य तादृशं निरूपितम् । यः पुमानेवमुक्ताचरणेऽशक्तः सन्नेतच्छास्त्रमुपादिश्य सम्यगधीयीत, अर्थानुसन्धानपूर्वकं पठेत्, तस्याप्येतच्छास्त्रोक्ता रतिर्दृढा भवेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

भक्त्यङ्कुरितचित्तस्य तदुद्रेकाय साम्प्रतम् । आचार्यसाम्प्रतोद्धृता विवृता भक्तिवर्धिनी ॥ १ ॥

इति श्रीवल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ भक्तिवर्धिनीविवरणं संपूर्णम् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीकल्याणरायविरचितविवृतिसमेता ।

वामे करे गिरिं स्त्रीषु मुदमिन्द्रे च साध्वसम् । धारयन्तमहं वन्दे चित्रं गोपेषु गोप्रियम् ॥१॥
यदङ्गीकृतितो भक्त्या स्वानन्दं नन्दनन्दनः । ददाति तान्प्रभून् वन्दे सर्वकामार्थसिद्धये ॥ २

श्रीकृष्णभक्तिरसपृष्टान्तःकरणानां स्वकीयानां तत्फलविलम्बासहिष्णवः श्रीवल्लभाचार्या एकादशेन्द्रियशोधिका भक्तिरित्येकादशभिः श्लोकैर्भक्तिप्रवृद्ध्युपायनिरूपणं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्नुयात्तेन प्रकारेण साधनं विनिरूप्यत इत्यर्थः । वृद्धौ प्रकर्षोत्र फलोन्मुखत्वम् । भक्तिप्रवृद्धेरुत्तरावधिः क इत्याकाङ्क्षायामाहुः बीजभावे दृढे तु स्यादिति । बीजरूपो भावोऽत्र स्नेहः, तस्मिन् दृढे व्यसनात्मके सति प्रवृद्धिः पूर्णा स्यादित्यर्थः । भावे बीजत्वोक्तिः फलेऽस्य निदानत्वबोधनाय । प्रथमतस्तत्र किं साधनमित्याकांक्षायामाहुः त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । भक्तिमार्गविरोधिनोऽन्यभजनादेस्त्यागात् । श्रवणं कीर्तनं च ताभ्याम् । इदमुपलक्षणम् । स्मरणमाचार्यभक्तिर्निश्चासश्चेत्यपि ज्ञातव्यम् । श्रवणकीर्तनयोरेकवद्भावः कर्मणोरनयोर्नात्र विरोध इति ज्ञापयति । न हि यथैकस्मिन्कर्मणि क्रियमाणे नान्यत् क्रियते, तथा श्रवणकीर्तनयोरपि ॥ १ ॥

भक्तिप्रवृद्धौ साधनान्युक्त्वा प्रकारमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

बीजरूपस्य भावस्य दृढतासिद्ध्यर्थमयं वक्ष्यमाणः प्रकारः । तमेवाहुः । गृहस्थितिं भजनानुकूलत्वात् । 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण'त्यादिवाक्यैः स्ववर्णाश्रमाचारधर्मेण गृहे स्थित्वा व्यावृत्तिः कार्यान्तरव्यासङ्गस्तद्रहितोऽव्यावृत्तः । श्रवणादिभिः सहितया परिचर्यया कृष्णं सदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् । कृष्णदासत्वेन भजनं,

---

१ पाठान्तरे निरूपण इति पाठः ।

न साधनत्वेनेति ज्ञाप्यते । तत्राद्युक्तपूजायां शीतळशंखोदकस्नानादिमत्वेन भक्तिमार्गीयाणामनधिकारात् । स्नेहाभावे सेवापि पूजातुल्येन भातीति ज्ञापनार्थो पूजापदोक्तिरत्र ज्ञेया ।

'तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनोवचः । नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वर' इत्यादिवाक्यैर्भगवद्भजनाभावे जन्मादिवैयर्थ्यात् व्यावृत्तिराहित्येन सेवाया असंभवेपि यथासंभवं शक्त्यनुसारेण श्रवणादिकमेव कार्यम्, नत्वन्यथा स्थातव्यमित्याशयेनाहुः व्यावृत्तोपि हरौ चित्तमिति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

कार्यान्तरव्यासक्तोपि हरौ दुःखहरणशीले चित्तं निधाय श्रवणादौ यत्नं कुर्यादित्यर्थः । यसु प्रयत्ने । यतेदिति पठे अनुदात्तेत्त्वामात्मनेपदानित्यत्वात् साधुत्वम् । एवं वर्तमानस्य प्रेमादिकं भवतीत्याहुः ततः प्रेमेति । भगवत्सेवया श्रवणादितोपि चित्तसद्भावस्थापत् प्रेम भवति । स्वविषये स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेमशब्देनोच्यते । प्रेमानन्तरं तथा पूर्वोक्तादेव सङ्कल्पावस्थावदासक्तिर्भवति । स्वविषये विविधमनोरथजनको भाव आसक्तिः । व्यसनं च यदा प्रभुकृपया भवेत्, तदा तद्बीजं बीजरूपो भावः शास्त्रे भगवच्छास्त्रे दृढमन्यापरिभूतमुच्यते, यत्फलं जनयति, दुष्टसंसर्गादिना नश्यत्यपि न । व्यसनं स्वविषयं विना स्थातुमशक्तिजनको भावः ।

प्रेमासक्त्योर्ज्ञापके आहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

यथा यथा भगवति स्नेहस्तथा तथान्यत्र हीयत इत्यर्थः । भगवत्यासक्त्या भगवदनुपयोगिगृहादिषु अरुचिरप्रीतिर्भवति । भगवति प्रेमासक्त्योः सर्वपुरुषार्थसाधिकयोरपि गृहस्थानां गृहासक्तानामविवेकिनां गृहादिषु रागाभावजनकत्वेन स्त्रीपुत्रादिपोषणासंभवरूपदोषोद्भावनेन बाधकत्वं, स्वस्य प्रवृत्तिमार्गस्थत्वेनानात्मधर्मत्वं च भासते । अथवा । सर्वेषामात्मरूपे हितकारिणि भगवत्यनात्मत्वं भासते । वस्तुतस्तु 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' 'न मे भक्तः प्रणश्यति' 'किमलभ्यं भगवती'त्यादिवाक्यैस्तेषां भगवानेवैहिकपारलौकिकसाधक इति तेषामेवेदमज्ञानमिति भासत इत्युक्तम् ।

यदा कृष्णे पूर्णानन्दे व्यसनं स्यात्, तदैव जीवः कृतार्थः पूर्णार्थः स्यात् । एवकारेण प्रेमासक्त्योर्व्युदासः । हि युक्तोयमर्थः । यतः साध्यस्यापि प्रेमासक्तिमतोपि सततं निरन्तरं गेहस्थानं गेह एवावस्थानं विनाशकं भवत्येवेति शेषः । तेन सत्सङ्गादिकं कर्तव्यमिति भावः ।

भक्तिप्रवृद्धिसाधने प्रकारान्तरमाहुः त्यागं कृत्वेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

यस्तु पुरुषो गृहे भगवद्भजनप्रतिबन्धं ज्ञात्वा गृहत्यागं कृत्वा श्रवणादौ यतेत् यत्नं कुर्यात् । 'यतेदि'ति पाठे पूर्ववज्ज्ञेयम् । तदर्थार्थैकमानसः तदर्थं भगवन्निमित्तं योर्थः श्रवणादिः तस्मिन् । यद्वा । भगवतोर्थः प्रयोजनं लीला तदर्थार्थं तन्निमित्तं एकमनन्यं मानसं यस्य एतादृशः सन् सुदृढां विषयापरिभूतां सर्वतोपि ज्ञानयोगादिभ्योप्यधिकामधिकफलदायिनीं परां प्रेमलक्षणां फलरूपां भक्तिं लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः । तर्हि निर्विशेऽस्मिन् प्रकारे विद्यमाने किमर्थं प्रकारान्तरमाश्रयणीयमित्यत आहुः त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति । दुःसङ्गसर्गात् । दुष्टानां भगवद्बहिर्मुखादीनां सहभोजनादिना सङ्गात् । तथान्नतः दुष्टान्नात् । वैश्वदेवभगवच्चरणामृतप्रक्षेपादिनाप्यन्नदोषनिवृत्तेः संभवात्सङ्गदोषोऽधिक इति तस्य प्रथमनिर्देशः । गृहत्यागे बाधकभूयस्त्वं बाधकानामन्तरायहेतूनां बाहुल्यमस्ति, तेन यावद्गृहे भजनं संभवति, तावद्गृहत्यागो न कर्तव्यः, सर्वथा भजनाऽसंभवे कर्तव्यः । तदुक्तं श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति ।

तेन गृहस्य त्यागेऽत्यागेपि यावद्व्यसनं संपद्यते, तावत्सत्सङ्गादिकं कर्तव्यमित्याहुः अतः स्थेयं हरिस्थान इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरविप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यतः पूर्वोक्तं बाधकमतः कारणात् हरिस्थाने व्रजमथुरादौ तदीयैर्भगवन्मार्गीयैरनन्यैः तत्परैः सेवाकीर्तनादिना भगवत्परैः सह अदूरं निकटं यथा भवति तथा स्थेयम् । निकटस्थित्यसंभवे दूरेपि स्थित्वा तदनुसरणं कर्तव्यमित्याहुः विप्रकर्षे वेति । भक्तिमार्गस्थत्वाभावे स्वयैव्यवसायात् स्वस्य कार्यं न सिध्येत्, तत्परत्वाभावे भगवत्सेवाकथाद्यभावात् स्वस्य लाभो न स्यादिति हृदयमुक्तम् । निकटे दूरे वा स्थित्वा तादृशभगवदीयानुसरणे तत्कृपया चित्तं दुष्टं न भवतीत्याहुः यथा चित्तं न दुष्यतीति ॥ ८ ॥

एवं सत्सङ्गे सति केवलमनिष्टनिवृत्तिरेव न, किन्त्विष्टप्राप्तिरपि भवतीत्याहुः सेवायामिति।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम॥ ९॥

यस्य महत्कृपया सेवायां स्वशरीरसाध्यश्रीकृष्णभजने, कथायां तद्गुणलीलादिश्रवणे दृढा विषयाद्यनभिभूता आसक्तिर्भवेत्, यावज्जीवमादेहपातं, तस्य क्वापि कुत्रापि देशे कालेपि नाशः भगवद्भजनाननुरूपफलप्राप्तिर्न भवति। अथवा। भावस्य नाशो भावान्तरोत्पत्तिर्वा न भवति इति मम मतिः। प्रभुः कृपया को वेद किं दास्यति। वाशब्दावनुक्तस्मरणादिसमुच्चयार्थौ॥ ९॥

ननु भगवदीयानामपि सङ्गः किमर्थं कर्तव्यः, एकाकिना अरण्यादौ भगवल्लीलादिचिन्तनं कुर्वता कथं न श्रेयमित्यत आहुः बाधसम्भावनायामिति।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः॥ १०॥

तुशब्दः तं पक्षं व्यावर्तयति। बाधोत्र चित्तोद्वेगविक्षेपादिः, स चेन्न सम्भवति तदा तथैव श्रेयम्। बाधसम्भावनायां सत्यामेकान्तेऽरण्यादौ वासो नेष्यते, न इष्टः। नवीनतबाधाभावेपि बहिश्चौरव्याघ्रादिभयसम्भवे सति कथं श्रेयमित्यत आहुः हरिस्त्विति। सर्वदुःखहर्ता प्रभुः सर्वतः सर्वस्मात् सुदर्शनादिना रक्षां करिष्यति। 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च वादिने। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।' 'न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्यैरस्मिन्नर्थे न संशय इत्यर्थः॥ १०॥

श्रीवल्लभाचार्याः सगुणनिर्गुणभेदेन दशधा भक्तिरिति दशभिः श्लोकैर्भक्तिवर्धिनीप्रक्रियां निरूप्य, एतदुक्ताचरणैतत्पाठयोः फलमाहुः इत्येवमिति।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम्।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः॥ ११॥

इतीदं गूढं गुप्तं तत्त्वमनारोपितं रूपं यस्यैतादृशं भगवच्छास्त्रं भक्तिप्रतिपादकम्। अथवा। गूढतत्त्वं यथा स्यात्तथा, एवममुना प्रकारेण निरूपितम्। य एतदुक्तमाचरेत्तस्य भगवति दृढा रतिः प्रीतिः स्यात्। यो वैतदुक्ताचरणाशक्तः स त्वेतद्भक्तिवर्धिनीरूपं समधीयीत श्रद्धाभक्तिपूर्वकं पठेत्। तस्याप्यग्रे दृढा रतिः स्यादित्यर्थः।
श्रीमत्कल्याणरायेण श्रीगोविन्दात्मजेन वै। गुरून् नत्वा यथाबुद्धि विवृता भक्तिवर्धिनी॥

इति श्रीविठ्ठलेश्वरचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीहरिरायविरचितभक्तिवर्धिनीविवृतिः ।

श्रीवल्लभाचार्यपदानुकम्पाबलेन किञ्चित् परिचिन्त्य चित्ते ।
निरूप्यते भक्तिविवृद्ध्युपायनिरूपणग्रन्थनिरूपितोऽर्थः ॥ १ ॥

प्रकृतिप्रत्ययार्थाभ्यां भक्तिः सप्रेमसेवनम् । चेतस्तत्प्रवणं तच्च तनुवित्तप्रसाधितम् ॥ २ ॥
तत्र मूलं हरेरङ्गीकारोऽथ शरणागतिः । ततः समर्पणं जीवदेहसंबन्धिवस्तुनः ॥ ३ ॥
ततो योग्यत्वसम्पत्त्या सेवनं तु प्रवर्तते । पूर्वोक्तरूपतद्वृद्धिस्तनुवित्तजसेवनात् ॥ ४ ॥
तदुपायापरिज्ञाने सा कथं वृद्धिमेष्यति । अतस्तद्वृद्ध्युपायोऽत्र ग्रन्थे प्रभुभिरुच्यते ॥ ५ ॥
यथा येन प्रकारेण चेतस्तत्प्रवणात्मिका । भक्तिर्व्यसनपर्यन्तं वृद्धा भवति सर्वथा ॥ ६ ॥
तथा तेन प्रकारेण य उपायः स कथ्यते । उपायस्तु स एवात्र तनुवित्तजसेवनम् ॥ ७ ॥
त्यागात्यागविभेदेन गृहे भक्तगृहे तथा । बीजभावः प्राथमिको यतः सेवा प्रवर्तते ॥ ८ ॥
सोऽपि सेवकमाहात्म्यात् तद्दार्ढ्याद्वृद्धिसंभवः । अथवा त्यागपक्षेण कृतश्रवणकीर्तनात् ॥ ९ ॥
अनायासेन सुदृढभक्तिप्राप्तिर्न संशयः । अत्यागपक्षे क्रमशो भक्तिवृद्धिरिहोच्यते ॥ १० ॥
अतो हि बीजदार्ढ्यस्य प्रकारोऽत्र निरूपितः । गृहे स्थितिः स्वधर्मेण वर्णाश्रमगतेन हि ॥ ११ ॥
विधेया नापि सेवार्थमधर्मेण कथञ्चन । अधर्मे स्थितितो बुद्धिनाशाद्दुःसङ्गतस्तथा ॥ १२ ॥
ततो दुष्कर्मकरणे चेतस्तत्प्रवणं कुतः । अतस्तथाविधं कृष्णं सदानन्दं परं बृहत् ॥ १३ ॥
लोकवेदफलाधर्म्यव्यावृत्तिरहितो जनः । भजेत्सेवेत तन्नाद्यैस्तत्र व्यावृत्तियोजनम् ॥ १४ ॥
प्रेम्णैव भजनं तत्र माहात्म्यज्ञानसिद्धये । पूजा प्रोक्ता निबन्धे या मन्त्रादिरहिता हरौ ॥ १५ ॥
बाहिर्मुख्योद्भवाभावसिद्धये श्रवणादयः । अयं तु मुख्यकल्पो हि सर्वथा साधको मतः १६
यथा रोगग्रस्तार्तस्य कुपथ्यरहितौषधम् । एवंविधस्य निर्वाहं स्वयमेव करोति हि ॥ १७ ॥
योगक्षेमोद्वहे स्वीयप्रतिज्ञापरिपालकः । सेवकस्यापि विश्वासः कर्तव्योऽवश्यमेव हि ॥ १८ ॥
नहि सेवकनिर्वाहं विदधाति न हि प्रभुः । तथापि जीवप्रकृतिवशतो न त्यजत्यसौ ॥ १९ ॥
त्यागेऽपि दृढविश्वासाभावतो लोकवेदयोः । तस्य भक्तिप्रवृद्ध्यर्थमनुकल्पोऽपि रूप्यते ॥ २० ॥

---

१ कारणमित्यर्थः । २ यथा वृक्षबीजे सूक्ष्मरूपेण फलपर्यन्तावस्थास्थितौ वृक्षस्य फलपर्यन्ता वृद्धिः स्थूलरूपस्य भवति, यथा भक्तिबीजे सानिसेवकभावे व्यसनपर्यन्तावस्थानां सूक्ष्मरूपेण स्थितौ भक्तिरूपस्य स्थूलरूपस्य व्यसनपर्यन्तस्य वृद्धिर्भवतीति भावः । ३ स्थूलत्वेति शेषः । ४ यदनन्तरमित्यर्थः ।

व्यावृत्तिसहितो वापि चित्तमात्र हरौ परे । सर्वकार्येषु सतत यत्नेन स्थापयेत्सुन ॥ २१ ॥
तथापि भगवत्कार्यातिरिक्त उपयोगिनि । तथाभावाभाववत्ता चित्तवैमुख्यसम्भव ॥ २२ ॥
तदर्थं स्थापयेत्तत्तु श्रवणादावपि स्वत । एवंविधा तु सतत प्रेमासक्तिक्रमेण हि ॥ २३ ॥
भवेद्व्यसनससिद्धि प्रवृद्धासौ तदा रति । यदेति वचनात्तन व्यसन दुर्लभ मतम् ॥ २४ ॥
प्रभुणापि यतो दत्त रासस्थास्वेव तत्सुन । यद्धि व्यसनपर्यन्तावस्थ बीज तदुच्यते ॥ २५ ॥
बीज भावात्मक शास्त्रे दृढ सन्नात्र नश्यति । कुत उत्पादयेद्भावान्तरमित्यपि नोदितम् २६
आसक्तावपि दु सङ्गो बाधकत्वेन चोदित । श्रीस्वामिनीभिरप्युक्त पञ्चाध्याय्या प्रभु प्रति २७
त्वयाभिरमिता स्यात्तु पारयामोन्यतो न हि । विवृत तत्तयाचार्यैर्व्याधदेहिनिदर्शनात् ॥ २८ ॥
किं प्रेम का तथासक्ति किं वा व्यसनमुच्यते । व्यतिरेकमुखेनैव तल्लक्षणमुदीर्यते ॥ २९ ॥
नहि भावे हरिर्वाच्यो 'यतो वाच' इति श्रुते । निषेधमुखतो वाच्यो नेतिनेतीति वाक्यत ॥३०॥
यतो रागविनाश स्यादौदासीन्येन च स्थिति । हरिभिन्ने विना हेतु स भाव प्रेमशब्दित ३१
आसक्तिर्येन भावेन गृहादिष्वनुयोगिषु । अप्रीतिश्च तथा तेषा गृहस्थाना निरोधनात् ॥ ३२ ॥
प्रियान्तिकगतौ तेषु बाधकत्वेन बोधनम् । स्वासम्बन्धितया भान स भाव सा निगद्यते ॥ ३३ ॥
स्वबाधकतया वापि यदा स्फूर्तिर्निवर्तते । गृहस्थाना तदा कृष्णे व्यसन तदुदीर्यते ॥ ३४ ॥
तदैव पूर्णसर्वार्थो ह्यधानिर्भावतो हरे । अपेक्षिता शरीरस्यालौकिकस्यातिरुत्तमा ॥ ३५ ॥
तदभावे तादृशस्य निरन्तरगृहस्थिति । महि सवेदनाद्भावनाशिका समुदाहृता ॥ ३६ ॥
असाध्येव तदान्येषा का वार्तेत्यपि नोदितम् । अतस्त्यक्त्वा गृह क्वापि भगवत्सन्निधौ स्थिति ३७
कार्या कदाचिन्न ततो भवेद्भावविनाशनम् । एवमेकप्रकारो हि भक्तिवृद्धेरुदीरित ॥ ३८ ॥
दृढभक्तिप्राप्तिफलो द्वितीयोपि निरूप्यते । भार्यादिप्रातिकूल्येन गृहे सेवाद्यसम्भवे ॥ ३९ ॥
त्याग कृत्वा तु य सेवायत्न कुर्यात्स दुर्लभ । हर्यर्थमात्रचित्तस्तु नाशक्तोऽन्यगमानस ॥ ४० ॥
अनेनास्मिन्नपि प्रोक्ता कल्पेऽव्यावृत्तिरुत्तमा । लभते च स्वत सिद्धदार्ढ्यां भक्तिं परा हरौ ४१
मोक्षादितो भक्तितश्चाधिका व्यसनरूपिणीम् । ननु त्याग विधायैव कुर्याच्छ्रवणकीर्तने ४२
किमर्थं सेवना कार्या तनुवित्तयुता हरे । चेतस्तत्प्रवण सेवा सा तु तैरपि सिध्यति ॥ ४३ ॥
इति चेन्न यतस्त्यागे बाधकानन्त्यमीक्ष्यते । दु ससर्गान्नदोषाभ्या दोषहेतुतया तयो ॥४४॥
अतो यया न दु सङ्गदुष्टत्वे प्रतिबन्धके । साता तथा हरिस्थाने देशदोषनिवारके ॥ ४५ ॥
स्थेय यतो हरिर्भक्तदु खाभावाय हि स्थित । तत्रापि चित्तदोषस्य सर्वथा विनिवृत्तये ॥४६॥
तदीयै कृष्णसम्बद्धै समर्पितनिजात्मभि । तत्रापि कृष्णकथया सेवया चापि तत्परै ॥४७॥
यत सत्सङ्गमो भक्तधर्मबोधेन साधित । तथा सद्धपदोक्त्यात्र सहभावेन च स्थिति ॥४८॥

---

१ तथा च निरोधो व्यसनमिति भाव । २ भक्तधर्मो सत्सङ्गेन बुध्यन्ते एवप्रकारेण सर्वत्र सत्सङ्गम साधित इत्यर्थ । ३ एकग्रामस्थित्यापि सहभाव सम्भवतीति सहस्थितिबोधनार्थं मूले सहपदमिति भाव ।

अन्यथा कृष्णसेवायाः कथायाश्चाप्यसम्भवः । यदि ते भगवद्भक्ताः कृपयेयुः स्वभाग्यतः ४९
तदा दूरे तद्गृहे ततोवनाद्यैः सहस्थितिः । तदान्नदोषदुःसङ्गौ बाधेयातां न सर्वथा ॥ ५० ॥
तत्रैव देहनिर्वाहस्तत्सङ्गेनैव च स्थितिः । तथाविधमहाभाग्याभावेन यदि तादृशाः ॥ ५१ ॥
न स्थापयेयुर्निकटे विप्रकर्षे तदा स्थितिः । वाशब्दोक्त्या न कोप्यत्र विशेषः पक्षयोर्द्वयोः ५२
यथाकथञ्चित्संतोष्याः सन्तः सन्मार्गवर्तिभिः । यथा तेषां सतां चित्तं न स्वस्योपरि दुष्यति ।
तथा विनयसौजन्यसेवाभक्त्यादिभिः स्थितिः । अथवा स्वस्य वा चित्तं यथा तदुपरि स्वतः ५४
न दुष्यति तथा स्थेयं तद्दोषापरिभावनैः । यद्वान्यदीयसंसर्गं चित्तदोषकरं परं ॥ ५५ ॥
विहाय भगवद्भक्तैः सह स्थेयं विशेषतः । यथा प्रथमपक्षे तु प्रेमासक्त्यादिसम्भवे ॥ ५६ ॥
बीजदार्ढ्यं तथात्रापि सेवया कीर्तनेपि च । दृढासक्तौ न भावस्य देहादेर्वापि नाशनम् ५७
यत्नेति दुर्लभा त्यागपक्षे प्रोक्ताधिकारिता । यतस्तस्मिन्दि कल्पे तु क्रमेणासक्तिसम्भवः ५८
अत्र तु स्यात्स्वतो दार्ढ्यंयुता भाग्ये तथाविधे । क्वापीति पदतो लोकवेदौ भक्तिश्च रूपिता ।
सम्यक्प्रकारकस्थित्या कीर्त्या लोके न नाशनम् । त्यागपक्षस्थितौ कर्मत्यागात्र श्रुतिनाशनम् ।
भगवद्भक्तसङ्गेन भक्तिमार्गे न नाशनम् । दुःसंसर्गान्नदोषौ च नैव प्रभवतो यतः ॥ ६१ ॥
तादृशस्यापीति वाक्ये यथापूर्वं गृहस्थितिः । बाधिकोक्ता तथात्रापि विच्छेदो बाधको मतः ।
यावज्जीवमिति प्रोक्तमत एव पदं पुनः । एतेन त्यागपक्षाणामन्यासक्तिर्निवारिता ॥ ६३ ॥
तथैव चात्र विच्छेदस्तदभावे न नाशनम् । मतिर्ममेति यत्प्रोक्तं तदभिप्राय ईदृशः ॥६४॥
कदाचिद्दुरदृष्टेन भगवत्प्रियरोपतः । दुर्बुद्धौ तदतिद्रोहाद्भगवत्प्रतिबन्धतः ॥ ६५ ॥
नाशोपीति यतो वाक्ये संदेहो विनिरूपितः । ननु त्यागं विधायान्यसङ्गः किमिति बोधितः ।
ज्ञानिनामिव संसर्गमात्रत्यागो न चोदितः । त्यागे त्वेकान्तवसतिर्विशेषेण च साधिका ॥६७॥
तथोत्तरं तु भावस्य बाधनं हृदयस्थितैः । कामादिभिर्जीवधर्मैर्यत्संभाव्यते पुनः ॥६८॥
तावदेकान्तवासस्तु नेष्टो बाधानिराकृतेः । कामादयो भावनाभिर्नाशयन्ति क्षणात्मनः ६९
न तत्र दोषनाशाय सहायोस्ति रहःस्थितौ । भक्तिमार्गप्रकारेण हरिश्चापि निरोहितः ॥७०॥
भक्तिमार्गीयकार्याय न व्यापकतया स्थितिः । अतो न रक्षकः कोपि तस्यैकान्तस्थितौ भवेत् ।
तुशब्देन ततोन्योपि त्यागपक्षोत्र सूचितः । अयं प्रबलशक्तोपि दुर्बलत्वेन रूपितः ॥७२॥
हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपरे । अतो न रक्षकापेक्षा सिद्धत्यागे निर्धार्यते ॥ ७३ ॥
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादिति वाक्यात्प्रमुद्रितात् । यदा तु साधनदशा तदापेक्ष्यं हि रक्षणम् ।
भक्तानां रक्षकः कृष्णो नान्य इत्येष निश्चयः । स तु सन्निहितो नित्यं लीलास्थाने तथा पुनः ।
यत्र वा भगवद्भक्ताः सेवया कथया युताः । स्वभावतो दुःखहर्ता निजाश्रितजनाश्रितान् ७६
नोपेक्षते यतस्तत्र स्थेयं यत्र स्थितो हरिः । तत्रापि सर्वतो रक्षा नान्यसाध्या न संशयः ७७

---

१ हरिस्थानवासस्यादिदं पक्षान्तरं, न तु त्यागपक्षः । २ बलावत्वं । ३ हरिस्थानवास, सेवापरता, कथापरता चेति त्यागे त्रय पक्षा उक्ताः । ४ कुत्रचिन्नर्वचा त्यागपक्षे ।

यतः कालवशाः कालकर्मादिभ्यो न रक्षकाः । तुशब्देन स्वभावोपि हरेरेव निरूपितः ७८
संशयाभावकथनं तत्र भक्तवशो हरिः । भक्तभक्तानपि सतो रक्षति स्वगतानिति ॥ ७९ ॥
रक्षणं कालकर्मादेस्तथा भावान्तरादपि । पक्षद्वयेन भक्तेस्तु वृद्धिरेवं निरूपिता ॥ ८० ॥
इतिशब्दः समाप्त्यर्थोन्यप्रकारनिषेधकः । एतावता हि भगवच्छास्त्रमेव निरूपितम् ॥८१॥
यतस्तद्भूततत्त्वं हि ततोन्येषां सुदुर्गमम् । तत्त्वमेतावदेवास्य तस्मिन्नत्र निरूपिते ॥ ८२ ॥
तदेव सकलं शास्त्रं निरूपितमितीरितम् । एतदध्ययनात्सम्यग्वृद्धिं याति रतिर्हरौ ॥ ८३ ॥
सम्यक्त्वं श्रद्धया भक्त्या तथा विश्वासतो गुरौ । य इत्यनेन वर्णादिनियमोधिकृतौ न हि ८४
अपिशब्देन कैमुत्यन्यायोप्यत्र निरूपितः । ग्रन्थपाठादपि रतेर्वृद्धिर्यत्र तदा किमु ॥ ८५ ॥
वाच्यमाचरणे साधु सभायामुपदेशने । तत्रापि भक्तिर्वृद्धापि दृढोक्ता पाठमात्रतः ॥ ८६ ॥
इति श्रीवल्लभाचार्यकरुणालब्धशक्तितः । स्वसन्तोषाय भावस्य पोषायातिप्रयत्नतः ॥ ८७ ॥
श्लोकरूपेण सर्वापि विवृता भक्तिवर्धिनी । यथामति निजाचार्यचरणाश्रयणादपि ॥ ८८ ॥
एतेनास्मत्कुलपतिः प्रभुः श्रीविट्ठलेश्वरः । प्रसीदतु सदा दासे हरिदासे स्ववंशगे ॥ ८९ ॥

इति श्रीहरिदासविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगोपेश्वरविरचितविवृतिसमेता ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणवारिरुहेभ्यो नमः । श्रीविट्ठलपदपङ्केरुहेभ्यो नमः ।

यत्पदाम्भोजभजनाद्भवन्ति समसिद्धयः । कलयामि कृपावार्धिं तं प्रभुं भक्तिवृद्धये ॥
निधाय श्रीमदाचार्यचरणाब्जयुगं हृदि । तत्कृपातो यथाशक्ति व्याकुर्वे भक्तिवर्धिनीम् ॥
भगवद्रसपीयूषपायिनो यत्कृपायुजः । भवन्ति..........भक्त्या तं श्रीविट्ठलमाश्रये ॥
श्रीमत्कल्याणरायाख्याननुकम्पापयोनिधीन् । नमामि तातचरणानहं स्वाभीष्टसिद्धये ॥

अथ मायावादादिदुरध्वेतिवाजालमहेन्द्रजालजनितजनताव्यामोहमूलनिर्मूलेन समर्थीमितागमनिगमान्तस्मृतिपुराणतत्त्वसूत्रादिप्रमाणशतप्रतिपन्नप्रपन्नजनप्रतिक्षणक्षेमंकरप्रभ्वाज्ञाप्रादुर्भावितभक्तिमार्गेणातिकरालकलिकालविलुप्तकर्माद्यधिकारान् भगवदीयकृपादृक्पा-

---

१ 'तत्रापि भक्तिर्दृढापि प्राप्यते सुदृढा हरौ। पाठमात्रेण येनैषा ससेव्या भक्तिवर्धिनी ।' इत्यधिकं क्वचित् । २ अत्राशुद्धमिव भाति ।

तत्संजातभक्तिमार्गश्रद्धाधाधिक्यसमधिगतैतदधिकारानपि भक्तितत्प्रवृद्धिकरोपायविशेषपरिचयाभावप्रभवप्रचुरक्लेशप्रकरवितान्त करणान्प्राणिन समुद्दिधीर्षव परमकृपालव श्रीवल्लभाचार्यचरणा भक्तितत्प्रवर्धकोपायनिरूपण प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्ते प्रकृष्य वृद्धिर्भवति, तथा तेन प्रकारेण उपायो निरूप्यते, विविच्य कथ्यत इत्यर्थ । ननु श्रीभागवतगीतादिषु भक्तितद्वृद्धिनिदानभूतदानव्रतादीनामुपवर्णितत्वेन अत एव तदवगतेरनर्थकमेतन्निरूपणमिति चेत् । अत्र वदन्ति । भक्तिर्हि द्विविधा, साधनरूपा फलरूपा च । तत्राद्याया दानव्रताद्युपायपूर्वकत्वमिति तदुत्पत्तिवृद्धिप्रकारा सुप्रसिद्धा, न द्वितीयस्या । अतस्तस्या स्वय प्रकटिताया वृद्धिप्रकारनिरूपणमुचिततर भवतीति । वस्तुतस्तूभयविधभक्तिवृद्ध्युपाय एव निरूपणीयत्वेनाचार्याभिमत इत्याभाति, श्रवणकीर्तनाद्युभयसाधारणसाधनानामग्रेऽभिधानात् । न चैषामुभयरूपत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रफलत्वफलान्तरसाधकत्वप्रतिसन्धानपूर्वकविधानेनोभयरूपताया सम्भवात् । नन्वेव सत्येतेषामन्यत्र निरूपितत्वेनात्रापि निरूपणे क्रियमाणे पौनरुक्त्यदोषो दुष्परिहर इति चेत् । न । अन्यत्र धर्मान्तरव्यतिकरेणानिर्लुठिताकाराणामेषा व्युत्क्रमवश्य वक्तव्यतयोक्तदोषस्य वक्तुमनुचितत्वात् । न पुनरुक्तता महान्दोष, शतकृत्वोपि पथ्य वक्तव्यमिति न्यायात् । भक्तिप्रवृद्धि कदा भवेदित्याकाङ्क्षायामाहु बीजभावे दृढे तु स्यादिति । बीजभावे स्नेहस्नेहे दृढे व्यसनरूपे सति भक्ते सर्वांशेन वृद्धिर्भवेदित्यर्थ । यद्वा । बीजभावे स्वाचार्यानुग्रहससिद्धभगवन्निवेदनानन्तरभाविभगवदङ्गीकारे दृढे अतिस्थिरे केनाप्यबाध्ये सति सा स्यादित्यर्थ । न च भक्तेर्मुक्तिहेतुत्वाद् ज्ञानेनैव तदवाप्तेर्भक्तिवृद्धिरनभिलषितेति वाच्यम् । भक्ते स्वतन्त्रफलत्वेन तद्वृद्धे सर्वाकाङ्क्षणीयत्वात् । कथमन्यथा मुक्तमूर्धाभिषिक्त श्रीशुको भृश भक्तावनुरक्तोऽभूत् । कथ वानारतनिवृत्तिनिरता सनकादयोपि भक्तावत्यासक्ता आसन् । अत एव 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये' 'आत्मारामाश्च' 'नैकात्मता मे स्पृहयन्ती'त्यादिवाक्यानि । नापि भक्ति विना कृत ज्ञान कैवल्यकरणीमवितुमर्हति, भक्तिसहितस्यैव तस्य मुक्तिसाधकत्वात् । 'श्रेय सृतिं भक्तिमुदस्ये'ति वाक्यात् । ननु यथाकथञ्चिन्मुक्तिहेतुत्वोक्तावपि भक्ते स्वतन्त्रफलत्व न सुप्रतिपदमिति चेत् ? भ्रान्तोसि । स्वत पुरुषार्थत्वेन कृतायास्तस्यास्तथात्वस्य दुर्वारत्वात् । अत एव प्रभुचरणैरपि भक्तिहसे 'स्नेहोत्पत्त्यनन्तर स्वव्यसनत स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाण श्रवणादिरुत्तम पुष्टिरूप' इति । एव सति 'भक्त्येवया प्रतीत च' 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत' 'मद्गुणश्रुतिमात्रेण' 'मयि सर्वगुहाशये' 'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी' 'भगवान्भजता मुकुन्दो मुक्ति ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्' 'एव

धर्मैर्मनुष्याणाम्' 'भक्तिं लब्धवतः' 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या,' 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'-त्यादिवचनानि सङ्गच्छन्ते । तद्भावातिरिक्तानि साधनान्याहुः **त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति** । भक्तिमार्गविरोधिदेवान्तराश्रयादेस्त्यागाद्भगवन्नामचरित्रादेः श्रवणात्कीर्तनाच्च । कर्मणोरिव श्रवणकीर्तनयोर्विरोधो नास्तीति बोधनार्थमेकवद्भावः । श्रवणकीर्तनयोरुपलक्षणत्वेन स्मरणस्याचार्यभक्तिविश्वासादीनामपि संग्रहः । न चाप्रमाणसिद्धान्यन्याश्रयत्यागश्रवणादीनीति वाच्यम् । 'यो वै स्वां देवतामतियजते, प्रस्वायै देवतायै च्यवते, न परां प्राप्नोति, पापीयान्भवति' 'यावदन्याश्रयस्तावत्', 'अनन्यचेताः सततं,' 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्,' 'प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्, तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्षयंतमस्य रजसः पराके' 'तस्मात्सर्वात्मना राजन्' 'तस्माद्भारत' 'तस्मादेकेन' 'तमु स्तोतारः' 'शृण्वन्गृणन्संस्मरयन्' 'शृण्वन्ति गायन्ती'त्यादिश्रुतिपुराणवाक्यसिद्धत्वात् ॥ १ ॥

भक्तिवृद्धौ साधनान्यभिधाय तत्प्राप्तिसुगमं प्रकारमाहुः **बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति** ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

तुशब्दः प्रकारान्तरव्यवच्छेदकः । बीजस्य भगवद्भावस्य दार्ढ्यजनकः प्रकारो भगवद्भजनलक्षण इत्यर्थः । यद्वा । बीजस्य पूर्वोक्तरूपस्य स इत्यर्थः । तमेवाहुः **गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिरिति** । स्वधर्मतोऽग्निहोत्रादेर्गृहे अव्यावृत्तः कर्तव्यान्तरव्यासक्तिशून्यः स्थित्वाऽचञ्चलो भूत्वा कृष्णं सदानन्दं, 'कृषिर्भूवाचक' इति वाक्यात्, श्रवणादिभिः पूजया भजेदित्यर्थः । इह स्नेहाधिक्यवैधुर्येण विधीयमानायाः सेवायाः पूजासाम्यात्पूजापदमुक्तम् । तत्राद्युक्तपूजायां शीतलशङ्खसलिलस्नानाद्यभिधानेन भक्तिमार्गविरोधात् । अथवा । ननु कृष्णभजनप्रकरणे सद्विभूतिविषयकागमाद्युक्तयज्ञोक्तेरयुक्तत्वेन प्रकृते कथं पूजापदोपादानमुपपद्यत इति चेत् । इत्थम् । सन्ति हि बहवो भावभजनप्रकाराः, तदन्तर्निविष्टा भवति भावपूर्विका पूजापि । अत एव शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैः प्रमेयप्रकरणीयसप्तमाध्याये 'पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकै'रित्यत्र गुणगाने हरिणीभावनिरूपणानन्तरं तद्भाववशः पूजारूपता निरूपिता । नहि तत्र तान्त्रिकी पूजा युज्यते जातुचित्, तस्याः पृथग्रूपत्वात् । तेनैवंभूतभावानुसारिणी सात्राभिधित्सितेति तदुपादानमविरोधि । न चैवमप्यन्ततो भक्तौ पर्यवसानेन तस्या एव वाच्यत्वात्संशयितपूजोक्तियुक्तेति वाच्यम् । श्रवणाद्यभक्तिनवकान्तर्गतस्वतन्त्रभावपूजायाः प्रकृते पुरस्करणीयत्वेन क्षतेरभावादिति । यद्वा । धर्मान्तराणां परधर्मत्वेन परिहार्यत्वात्स्वधर्मतो भगवद्धर्मतः सेवानुकूले गृहेऽव्यावृत्तस्त्यक्तान्यव्यासक्तिरिति यावत्, तथाभूतः सन्, कृष्णं सदानन्दं पूर्वोक्तया पूजया श्रवणादिभिर्भजेदित्यर्थः । अत्र कृष्ण-

पदेनोक्ता भजने फलरूपता। सूचितोकरणे प्रत्यवायो लिङ्गव्यत्ययेन च। न चास्मिन्पक्षे विहितवर्णाश्रमधर्मत्यागे प्रत्यवायपापण्डित्वादिदोषप्रसङ्ग इति वाच्यम्। सेवासमयाभावे यथाधिकारं सर्वधर्मसम्पादनेनैव दोषापाकरणसम्भवात्। सेवासमये च सर्वधर्माणामनवकाशनिराकृतत्वेन तदभावेपि हानेरभावात्। 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसा'मिति वाक्यात्। कदाचिद्दोषापातेपि भगवतैव तदपगमोपपत्तेश्च। 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः। विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्ट' इति वाक्यात्। मर्यादामार्गीयव्यवस्थैषा। शुद्धपुष्टिमार्गमभिनिविष्टमनस्य तु प्रभुचरणतामरसैकतानचेतसः कृत्स्नकर्मकलापं परित्यजतोपि प्रभोरशिथिलपरिग्रहेण न कश्चिद्दोषः, यतस्तथाभूत एव स पन्थाः। 'यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः। स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता' मिति वाक्यात्॥ २॥

एवं तद्वृद्धिप्रकारं व्यासक्तिविरहितभगवद्भजनलक्षणमुक्त्वा, 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृ'दितिन्यायेन क्वाचित्कव्यावृत्तावपि चित्तं भगवति निधाय भजनप्रयत्नमलजन्नासीतेत्यभिप्रायेणाहुः—

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत्॥ ३॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदेति। व्यावृत्तो लौकिककर्मव्यापृतोपि हरौ स्वकीयदुःखहरणस्वभावे चित्तं निधायेति शेषः, सदा निरन्तरं श्रवणादौ तन्निमित्तं यसेत्प्रयतेतेत्यर्थः। यत्तु प्रयत्ने तेन, यथा केनचिदुक्तं, 'परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि। तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायन'मितिवद्धृदये हरिं धृत्वावश्यकसांसारिककार्यव्यापृतेनाप्यनन्तरमनवरतं श्रवणादिप्रयत्नप्रवणान्तःकरणेन भवितव्यमित्यर्थः। यद्वा। भगवत्कार्यव्यापृतोपि तत्परिसमाप्त्योर्वरितसमये श्रवणाद्यर्थमुद्यमं विदध्यादित्यर्थः। 'यतेदि'ति क्वचित्पाठः। तत्र परस्मैपदमनुदात्तेतामात्मनेपदानित्यत्वाज्ज्ञातव्यम्। एवं प्रयतमानस्यानुपूर्व्येण प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्तीत्याहुः ततः प्रेमेति। ततः श्रवणादिभ्यः प्रथमं प्रेम चित्तासक्तरूपमुत्पत्ति, पश्चात्तथैव सङ्गत्ववदासक्तिर्भवति, व्यसनं च पुनर्यदा भवेदतिप्रचुरप्रभुप्रसादप्राप्त्यत्वात्स्य। कीदृशानि पुनः प्रेमासक्तिव्यसनानि। स्वगोचरे स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेम। तथानेकविधमनोरथजनको भाव आसक्तिः। विषयेण विना स्वानुभवशक्तिर्येन स भावो व्यसनमित्येवमाकलय। अत्र संग्रहश्लोकौ। 'स प्रेम यः संविदधाति भावः स्वतःप्रवृत्तिं विषये स्वकीये। यश्चाभिलाषान् जनयेदनेकान्भावः स आसक्तिरिति प्रसिद्धः। स्वानुभवं न शक्नोति विषयव्यतिरेकतः। येन भावेन तं भावमाहुर्व्यसनसंज्ञकम्॥ ३॥

एतन्मस्तौ बीजं दृढं भवतीत्याहुः बीजमिति।

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति।
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः॥ ४॥

भगवत्कृपादिना यदि व्यसनसमुद्भवस्तदा यद्भगवच्छास्त्रे बीजं स्नेहाङ्कुरस्वरूपमुच्यते तद्दृढमशिथिलं भवति, अत एव विषयादिसंसर्गेण नश्यत्यपि न। व्यसनभावस्य बीजभावदार्ढ्यपरमावधिरूपत्वादिति भावः। यद्वा। बीजं यत्प्रभुपरिग्रहात्मकं तद्यदि व्यसनं समुत्पद्यते, तदा भक्तिशास्त्रे दृढं केनापि शिथिलीकर्तुमशक्यमुच्यते। अत एव कालः सत्सङ्गेत्यादिनापि न विनश्यतीत्यर्थः। नहि भगवान्निजाङ्गीकृतान्कदाचिदपि विहातुमुत्सहते। तदङ्गीकारस्य नित्यत्वात्। एवमुक्तोत्तरबलवत्तराणामेतेषामाद्ययोः कार्यमाहुः स्नेहेति। स्नेहाख्यभगवद्विषयकप्रेम्णः प्रभुसेवाप्रतिकूले गृहे रागस्य विनाशो भवति। भगवद्रागस्य प्रागेव गेहानुरागनाशोपायत्वात्। 'तावद्रागादयः स्तेना' इति वाक्यात्। आसक्त्या चोक्तरूपया गृहेऽरुचिरासक्त्यभाव उपजायते। भगवदासक्तेस्तदतिरिक्तासक्तिनिराकरणशीलत्वात्। 'कृष्णाङ्घ्रिपद्ममधुलिट् न पुनर्विसृष्टमायागुणेषु रमते वृजिनावहेष्वि'तिवाक्यात्। न च प्रेमासक्तिमतामपि गेहस्नेहादिसद्भावदर्शनादसङ्गतमिदमिति वाच्यम्। तादृशां भगवद्विषयकस्नेहसङ्गोपनार्थमेव सांसारिकतत्प्रकाशनादनेवंभावे च भगवत्यपि तदभावादेवेत्युभयथापि दोषाभावात्। लोकसंग्रहार्थमपि भक्तानामसंख्यव्यापारदर्शनात्। भजनौपयिकभवनाद्यनुरागस्य स्वधर्मपर्यवसायित्वेनौचित्याच्चवर्जितत्वाच्च।

एवं सति गृहाद्यनुरागिणामेवात्र बाधकत्वात्तस्त्यक्तव्यं स्फुरत इत्याहुः गृहेति।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि॥ ५॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्।

भगवत्सम्बन्धिप्रेमासक्त्योर्गृहस्थानां विवेकवैकल्येन गृहेऽनुरागाविक्यात्तत्रैव तिष्ठतां बाधकत्वं, तत्र स्नेहाभावोत्पादकतया कलत्रपुत्रादिपोषणसामर्थ्याभावलक्षणदोषोद्भावनारूपवृत्तिमार्गातिगात्मनिष्ठावत्तयानात्मधर्मत्वं च, भगवति चानात्मत्वं भासत इत्यर्थः। वस्तुतस्तु, 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' 'न मे भक्तः प्रणश्यति' 'न कर्हिचित् मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति' 'तस्मिन्प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ', 'तस्मिन्सन्तुष्टे किमप्राप्यं किमलभ्यं भगवती'त्यादिवाक्येभ्यो भगवानेव निजभक्तनिखिलकार्यनिर्वाहाय जागरूक इति वास्तवसर्वभावेन भजनीय इति वस्तुगतिमविदुषामभीषामेवेयं कुमनीषेति। अत एव श्रीमदाचार्यैर्भासत इत्यभाषि। अथवा। भगवदासक्तियुक्तानामतादृशशास्त्रादिषु बाधकत्वप्रतिसन्धानं भवतीत्याहुः गृहस्थानामित्यादि। अत्र गृहस्थपदेन भार्यापुत्राद्यस्तास्तथ्याद्गृह्यन्ते। तथा च सति तेषां विजातीयभावतया तद्भावस्य स्वभावप्रतिद्वंद्वित्वेन स्वात्म-

भावस्याभावेन च निजभावभङ्गभीरूणां तेषु बाधकत्वं भासतेऽनात्मत्वं च । तथाभूतानां भगवत्येव स्फुरत्त्वात्मभावतया तदीयेष्वात्मीयताविर्भावात् । अत एव श्रीमदस्मदाचार्यैरुक्तं 'पुत्रे कृष्णप्रिये रति'रिति । एतेन 'न वारे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, किन्त्वात्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ती'त्यादि श्रुतेरात्मसम्बन्धितया पुत्रादीनां प्रियत्वेन बाधकत्वमसम्भवीत्याशङ्का व्युदस्ता । एवं प्रेमासक्त्योः कार्यमुक्त्वा व्यसनस्य तदाहुः यदेति । यदा परमदुरापमनुपमसुखभावात्मकं व्यसनं कृष्णे सदानन्दे स्वलीलासहिते स्यात्, तदैव कृतार्थः पर्याप्तार्थः स्यात्, कर्तव्यान्तरपरिशेषाभावात् । अत एव व्रजस्थितानां तथाभावः श्रूयते श्रीभागवते, 'तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः,' 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्' 'क्षणं युगशतमिवे'त्यादिना । एवकारः प्रेमासक्तिमतोर्व्यवच्छिनत्ति । हिशब्देनात्र युक्तार्थतोक्ता, तद्भावविघातकसद्भावात् । तदेतदाहुः । तादृशस्यापि प्रेमाद्विमतोपि सततमविच्छेदेन सत्सङ्गाद्यभावेन गेहस्थानं भावस्य विनाशकं भवति । सत्सङ्गाद्यसंधिवस्य तस्य तादृशत्वात् । न च व्यसनवतोपीदृशबाधकास्तित्वं शक्यशङ्कम् । तद्भावस्यैव स्वतन्त्रकार्यक्षमत्वेन सत्सङ्गादिभावाभावायत्तैर्वृद्धिह्रासैस्तद्व्यतिरिक्तभावानामेव साधकबाधकादिसम्बन्धितया प्रकृते बाधशङ्कानवतारात् ।

गृहादेर्भावान्तरायरूपत्वं विदित्वा तदपहाय फलाय प्रयतेत यस्तस्य तदाहुः ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभेत सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

तुशब्दः प्रकारान्तरव्यावर्तकः । यः पुमान्गृहादिषु भगवद्भजनप्रतिबन्धं विबुध्य तत्त्यागं कृत्वा भगवल्लीलाश्रवणचिन्तनादिनिमित्तं यतेत् यत्नं कुर्यात्, कीदृशः ? तदर्थार्थैकमानसः । तस्य भगवतो योऽर्थः श्रवणादिरूपस्तदर्थ एकं मानसं यस्य तादृश इत्यर्थः । यद्वा । भगवतोर्थो लीला, तदर्थं तन्निमित्तं तदर्थेषु तत्सम्बन्धिपदार्थेषु वा तयेत्यर्थः । अथवा । स चासावर्थश्चेति कर्मधारये तदर्थो भगवान् तदर्थं तयेत्यर्थः । स एवार्थः शास्त्रस्कन्धादिषु यत्र । तादृशं श्रीभागवतं 'शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे । एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यत' इति श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपवचनात् । तदर्थं वा तयेति वार्थः । स एवार्थो धनं येषां ते । तदर्था भगवद्भक्तास्तेषामर्थेषु कार्येषु वा तयेत्यर्थः । एतादृशः सन् भक्तिं सुदृढां विषयाद्यनभिभाव्याम्, 'प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयत' इति वाक्यात्, सर्वतो ज्ञानादिभ्योप्यधिकामुत्कृष्टाम् । न चाधिक्ये मानाभावः । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य' 'ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः,' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति' 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये' 'आत्मारामाश्चे'त्यादिवाक्यशतसिद्धत्वात् । विस्तरस्तु श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैरन्यत्र कृत इति नेह तन्यते । परामभिव्यक्तापरिच्छिन्नानन्दरसस्वरूपां लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ६३ ॥

तर्हि निरन्तरायेऽस्मिन्नुपाये सति किमित्युपायान्तरमुपादेयमित्यत आहुः त्याग इति।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

न हि त्यागो निष्प्रत्यूहं फलाय कल्पते, त्यागे यतो बाधकानि दुःसंसर्गदुष्टान्नभक्षणादीनि सद्बुद्धिप्रतिक्षेपकारीणि भूयांसि सन्ति । न हि भगवत्पराङ्मुखानामनेकदोपदन्तुरितस्वान्तानां सङ्गस्तूर्णं भावभङ्गं न विधत्ते । न वा तथाभूतानामन्नादिकं भक्षयतो भगवत्यभीक्ष्णमविक्षिप्तं मनो भवति । अत एवावैष्णवादीनामन्नं न परिग्राह्यम् । तदुक्तं पद्मपुराणे 'अवैष्णवानामन्नं च पतितानां तथैव च । अनर्पितं तथा विष्णोः श्वमांससदृशं भवे'दिति । ननु बाधकानां बहुत्वे द्वावेव कथं कथितौ । दुष्टसंसर्गान्नदोषयोः प्रबलत्वादिति बुध्यस्व । तेन यदि भगवद्भजनं गृहादिषु निर्बाधं सम्पद्यते, तदा न परित्यागः श्रेयान् । तच्चेत्तत्र भार्याद्यभिद्वेषादिना सम्यङ्न निर्वहति, तदा पूर्वोक्तप्रणालिकया त्याग एव कर्तव्य इति विवेकः । अत एव श्रीमदाचार्यैस्तत्त्वदीपनिबन्धेऽभ्यधायि 'भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति । द्वितीयस्कन्धविवरणे च 'दाम्पत्यं भगवद्भजनार्थमपेक्षित'मिति । एवं त्यागे दुःसङ्गादेर्विघातकत्वं निरूप्य तद्दोषनिराकरिष्णुः सतां सङ्गः क्वचिद्भगवत्स्थाने सम्पादनीय इत्याहुः अत इति । यतस्त्यागे बाधकानां बहुत्वमतःकारणात्क्वचिद्धरेः सर्वदुःखहर्तुः स्थाने श्रीगोकुलश्रीगोवर्धनादौ तदीयैस्तत्सम्बन्धिभिस्तत्परैः, स एव परः सर्वापेक्षयोत्कृष्टो येषां तादृशैः, परमकाष्ठापन्नवस्तुनिष्ठैः सह स्थेयमित्यर्थः । न च तत्राप्यसत्सङ्गादिसम्भवादुक्तदोषानिवृत्तिरिति वाच्यम् । सर्वसमयसत्सङ्गवत्सु दुःसङ्गादिदोषाणामनवकाशनिवारितत्वात् । न हि प्रतिदिनं सत्सङ्गरसास्वादिनः क्वचिदन्यत्र चित्तप्रसादमासादयन्ति । अत एव सत्सङ्गोत्कर्षः श्रीभागवते गीयते । 'तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिष' इति । ननु यत्र क्वचित्सत्सङ्गेन कार्यसिद्धेः सद्भिः सहावस्थानं हरिस्थान एव कार्यमिति निर्बन्धो बकबन्धवन्निरर्थक इति चेत् । नैवम् । तत्र बाहुल्येन तेषां सङ्गतेः सम्यक्सम्भवेन तदनुवृत्तेरावश्यकत्वात् । अन्यत्र तेषां प्रायशोऽनुरागविरहेणानवस्थानात् । बहिर्मुखजनकृतोपद्रवशङ्कया स्थातुमशक्यत्वाच्च । अत एवोक्तं पञ्चमस्कन्धे 'न यत्र वैकुण्ठकथा सुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः । न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वा स सेव्यता'मिति । एवं सति तेषां सन्निधौ स्थितिः कथं कर्तव्येत्याकांक्षायामाहुः अदूरमिति । यथा भगवदीयानां चित्तं न दुष्यत्युद्वेगादिना, न विकृतिमाप्नोति, तथाऽदूरं निकटं यथा स्यात्तथा, विप्रकर्षे दूरे वा स्थातव्यमित्यर्थः । अत्रायमाशयः । सन्तो हि नितान्तमेकान्ते भगवत्कथां मिथः कुर्वन्तस्त-

प्रसरमसविवशा भवन्ति,ताननुसरन्यदि कश्चित्खलत्वं निश्चित्य तेषामासक्तिमालम्बते, ते चेदतिगूढरसं तदग्रतः प्रकाशयितुमशक्यमाकलयन्तः, स्वयं ततो विरमन्ति चित्तोद्वेगवन्तः, तदा तस्य दूरस्थितिरेवानुसरणे श्रेयसी, अन्यथा मनीषितानिष्पत्तेः । अथ दयार्द्रहृदयतयातिनिकटागमने नियोगं विदधते, तर्हि तत्सामीप्यमेव समीचीनम्, अनुसरणानुकूलतया समीहितसिद्धिहेतुत्वादिति । यद्वा । स्वस्य चित्तं यथा दुष्टं न भवति तथा सन्निकर्षेण विप्रकर्षेण वा स्थेयमित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

एवं सत्सङ्गाद्यपगतासेपदोषप्रसानभिव्यवस्थामाहुः सेवायामिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य सत्सङ्गादिकमनुतिष्ठतः श्रीकृष्णसेवायां स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वपरिस्फूर्त्या दृढा निश्चलासक्तिर्भवेत्, *कथायां वा, तस्या अपि सेवासमत्वात्, तस्य यावज्जीवं प्राणस्थिति-पर्यन्तं* नाशः फलाभावः क्वापि न स्यादिति मम मतिः । अतो नेह सन्देहः कर्तव्य इति भावः । यद्वा । मम मतिरेवं भगवान्परमकृपालुः कथं वा तस्य दयेतेति न वेदितुं शक्यमिति भावः । ननु सेवायाः कथायाश्च कथं साम्यम् । इत्थम् । तथाहि । सेवा नाम चित्तस्य तदेकप्रवणत्वम् । 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति लक्षणाभिधानात् । तत्सम्पादिकायाः कृतेरपि तथात्वम्, अन्यथा तस्याः परत्वानुपपत्तेः । अत एव 'मानसी सा परा मते'त्यभाणि । तेन यथैवास्या भगवद्भावतद्भक्तसङ्गादिसाधकत्वं नान्तरीयकानन्तकार्यसाधकत्वं च, तथा कथाया अपीति साम्यं दुरपवादम् । अत एवैतादृशाभिप्रायेण 'कथारतिषु सक्तस्य कथका अपि मिलन्ति, प्रेमापि भवति, आनुषङ्गिकं चान्यद्भवेव भवती'त्युक्तमाचार्यैः ॥ ९ ॥

ननु कश्चित्काननादावेकान्ते वासं विधाय भगवन्नामलीलादिकमेव चिन्तनीयमेकाकिना, किं भगवद्भक्तसङ्गेनापीति चेत्तत्राहुः ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

तुशब्दः शङ्काव्युदासकः । यदुक्तमेकान्तेन नामचिन्तनमेव कार्यं, न सत्सङ्ग इति तत्सत्यम्, परन्तु यदि बाधस्य भोगिचित्तोद्वेगलक्षणस्य सम्भावना न भवेत्, सा चेत्स्यात्, तदैकान्ते वासो नेष्यते, चित्तचाञ्चल्यादिना नामचिन्तनाद्यनिर्वाहात् । अतः सत्सङ्ग एव कर्तव्य इति भावः । ननु चित्तविक्षेपादिरान्तरो बाधः सत्सङ्गादिना निवर्तताम्, बाह्यं चौरव्याघ्रादिविषयं तु दुष्परिहरमिति चेत्तत्राहुः हरिरिति । तुशब्दः प्रकारभेदावेदकः । हरिर्भक्तदुःखहर्ता सर्वतो बाह्यादान्तराच्च बाधकाद्रक्षां करिष्यति । अस्मिन्नर्थे संशयो नास्तीत्यर्थः । न हि भगवान्भक्तदुःखं क्षणमात्रमपीक्षितुं क्षमते ? निरुपम-

परमानुकम्पापूर्णत्वात् । अत एव हरिपदमुपात्तम् । भक्तदुःखहर्तृत्वस्य तदसाधारणधर्मत्वात् । तदाहुराचार्याः 'यथा गन्धः पृथिव्याः, एवं भगवतो भक्तदुःखनिवर्तकत्व'मिति । यद्वा । सर्वतः सुदर्शनादिना रक्षां हरिः करिष्यति, नात्र संशय इत्यर्थः । 'अव्याहतानि कृष्णस्य चक्रादीन्यायुधानि तं, रक्षन्ति सकलापद्भ्यो येन विष्णुरुपासितः । सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम । कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्येभ्यः ॥ १० ॥

एवं प्रस्तुतमशेषं शास्त्रमुपवर्ण्यैतदर्थपरिज्ञानपूर्वकपाठफलोपन्यासपुरःसरमुपसंहरन्ति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इत्येति समाप्तौ । एवमुक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवद्भक्तिप्रकारप्रतिपादनात् निरूपितमपि *गूढतत्त्वं गुप्तस्वरूपम्, भगवदनुगृहीतैरेवैतदभिप्रायस्यावगन्तुं शक्यत्वात्* । एतद्यः पुमानुदितभाग्यो भगवदीयानुग्रहेण विचारेण वा सम्यगर्थावगमपूर्वकमधीयीत पठेत् तस्य भगवति दृढा स्थिरा रतिः स्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥

श्रीमत्कल्याणरायात्तजन्मा गोपेश्वराभिधः । विवृतिं भक्तिवर्धिन्याः कृतिनिर्वृतये व्यधात् ॥
यद्यप्यतिद्रढ्यास्याः पितृचरणैर्निर्मिता विवृतिः । तदुपरिकरणेऽन्यस्या आग्रहो भूयतेनत्वम् ॥
तेषामतिकरुणानां तथापि बालेन संरचिता । निजपाठितमुखनेव प्रीत्यै नित्यं भवित्रीयम् ॥
इमां श्रीवल्लभाचार्यपदपङ्कजकिङ्कराः । पश्यन्तः सन्ततं सन्तः सन्तुष्यन्तु मुहुर्मुहुः ॥

इति श्रीमद्गोकुलाधीशपदपङ्केरुहनिरतिशयरतिपरम्पराविर्भावकोद्वेलद्रवल्लीलामहासान्धिसमुच्छलद्भावकल्लोलसंवलितसकलस्वरूपश्रीवल्लभाचार्यवदनचन्द्रचमत्कारामृतमवचनमरीचिनिचयप्रोद्भवनिःसीमानन्दनिकुरम्बकरम्बितीकृतनिजभृत्यनिकरचेतश्चकोरकाननवधिकानुकम्पानिधानश्रीविठ्ठलाभिधानप्रभुचरणपयोरुहरेणुकणमात्रसर्वस्वश्रीकल्याणरायतनुजगोपेश्वरविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्तिमुपागमत् ।

श्रीविठ्ठलपदपङ्कजकिङ्करगोपेश्वरविरचिता या । तां श्रितानां तोषाय रोषाय द्वेषिणामस्तु ॥
अनया कृपया तेषां कृतयामितया मया । सदार्या वल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥१॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेता ।

प्रणम्य गोकुलाधीशभक्तिमार्गाब्जभास्वतः ।
आचार्यांस्तद्दयादृष्ट्या व्याकुर्वे भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवता एकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये 'न साधयति मां योग' इत्यत्रोपलक्षणविधया सर्वेषां योगादीनामुपायानां स्वासाधकत्वमुक्त्वोर्जितायाः भक्तेः स्वसाधकत्वमुक्तम्, तत्र किं नामोर्जितत्वमित्याकांक्षायां प्रवृद्धत्वमेवोर्जितत्वमित्यभिसंधाय भक्तिवृद्ध्युपायं स्वीयानामर्थे वक्तुं प्रतिजानते यथा भक्तिरित्यादि ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

तत्र भक्तिशब्दो माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढस्नेहे रूढः । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे'ति पञ्चरात्रस्मृतेः, 'सा परानुरक्तिरीश्वर'इति शांडिल्यसूत्रोक्ताद्भक्तिलक्षणात्, 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयत' इति भावलक्षणस्मृतेश्च । स्नेहश्च ज्ञानादिभ्योतिरिक्तो मनोधर्मविशेषः । श्रीमत्यनुरज्यामि स्त्रियामीत्यनुव्यवसायेन मानसप्रत्यक्षगम्य इति शांडिल्यसूत्रभाष्ये स्वप्नेश्वराचार्यैर्व्यवस्थापनात् । नचैवं सति स्नेहमात्रमेव भक्तिरिति शंक्यम् । 'गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः । सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो' इति सप्तमस्कन्धीयनारदवाक्ये भक्तिस्नेहयोर्निर्देशभेदस्य विरोधापत्तेः । उक्तपञ्चरात्रस्मृत्यादिपूक्तानां तद्विशेषणानां वैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्मात्तावद्विशेषणविशिष्टस्नेह एव रूढो, न केवल इति निश्चयः । योगविचारे तु 'भज सेवाया'मिति धातोर्भावे क्तिन्प्रत्यये कृते भक्तिरिति भवति । *आरम्भ क्रियासंयोगात्त्वम् । प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः, तयोस्तु प्रत्ययः* प्राधान्येनेति वैयाकरणनियमात् धात्वर्थन्यग्भूता या प्रधानभूता क्रिया तत्र पर्यवस्यति । प्रधानभूता च क्रिया भावस्यैव । 'अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्, अन्यत्रमना अभूवं नाद्राक्ष'मिति श्रुतौ मनसः प्राधान्यधारणेन तत्क्रियाया एव प्राधान्यमौचित्यात् । तथाच सेवाभिव्यंग्या प्रेमरूपा मानसी सेवा भक्तिरिति तत्र योगरूढः सिध्यति ।

---

१ तृतीयस्कन्धे च 'सा भक्तियोगस्य [illegible] [illegible] वर्तो' [illegible] । ११ पञ्चरात्री- [illegible] 'इति । २ अवरुद्धिरी पद ।

तथाच श्रवणादिनवकेपि पारिभाषिकः । 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणे'ति सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवाक्यात् । अन्ये तूपासनायामपि भक्तिशब्दं प्रयुञ्जते । नैयायिकास्तु आराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिरित्याहुः । तन्मते बुद्धिविशेष एव भक्तिः । वस्तुतस्तु तत्र सारूप्यप्रयुक्ता गौणी । पूर्ववद्वृत्त्यादिज्ञापकप्रमाणाभावात् । तृतीयस्कन्धे पञ्चविंशाध्याये श्रीकपिलदेवैस्तु 'काचित्त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरे'ति देवहूतिप्रश्ने 'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या, अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी, जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथे'ति स्वरूपकार्यलक्षणाभ्यां बोधिता । तत्र एकमनसः पुंस इन्द्रियाणां स्वाभाविकी अनिमित्ता सत्त्वोपाधौ भगवति वृत्तिर्निष्ठेति स्वरूपलक्षणम् । कोशजरणं च कार्यलक्षणमिति सिध्यति । सत्त्वशब्दो धिन्त्या सत्त्वपदं साङ्ख्यानुसारात् 'वस्तुतस्तु मूलरूपं' इति व्याख्यातत्वात्स्पष्टम् । अष्टाविंशाध्याये तु 'भक्तियोगो बहुविधः' इति पुरुषस्वभावभेदकृतमार्गभेदेन भक्तियोगस्य बहुविधत्वं प्रतिज्ञाय, त्रिविधं सात्त्विकराजसतामसभेदेन तदेव नवधा त्रिभिः श्लोकैरभिधाय, ततो 'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथागङ्गाम्भसोम्बुधौ । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्याप्युदाहृत'मित्यनेन भगवद्गुणश्रवणमात्रात् भगवत्यविच्छिन्नां मनोगतिं यो जनयति स भावो निर्गुणभक्तियोगाख्य इत्येव लक्षितः । तत्र 'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे । सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः' इति सार्धाभ्यां कालकर्माव्यवहिता पुरुषोत्तमविषयिणी स्वतः पुरुषार्थरूपा या सेवा सा आत्यन्तिकभक्तिरित्येवलक्षिता । अत्र च भक्तिशब्दः प्रेमसेवायां योगरूढो गृहीत इति 'सालोक्ये'तिवाक्याद्वसीयते । अयमेव चैकादशस्कन्धे द्वादशाध्याये 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसे'त्यादिभिः श्लोकैर्भगवता परामृष्टो ज्ञेयः । एवं भक्तिशब्दस्यानेकार्थत्वे सति प्रकृते का वा विवक्षितेति चेत् ? उच्यते । आचार्याणां भगवदाज्ञया एकादशस्कन्धे भगवदभिहितो यः सुगोप्यः सत्सङ्गलभ्यो भाव उक्तः, स एवाभिसंहितः । सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति कथनात्, तद्विवरणे प्रभुचरणैरपि 'वा नाविद'न्निति द्वादशाध्यायवाक्यस्य लिखनात्, प्रकृतग्रन्थेपि तत्रत्यचतुर्दशाध्यायवाक्योक्तसत्सङ्गश्रवणकीर्तनात्मकसाधनानामभिधानाच्च । न च चतुर्दशाध्यायोक्तसाधनानां द्वादशाध्यायोक्तभावं प्रति साधनत्वं कथमिति शक्यम् । चतुर्दशाध्याये तस्यैव भक्तिशब्देन परामर्शात् । द्वादशाध्याये 'न रो

१ प्रामाण्याभावादिति पाठः । २ एकोनविंशाध्याय इति पाठः, अष्टाधिको विंशो यत्रैकोनविंशे सोष्टाविंश तादृशे ध्याये । ३ तेन मनसो गतिर्येन भावेनेति विग्रहः । एवं भक्तिरस भजनमित्यर्थां मन कल्पनशब्देऽपि । ४ पुष्टित्व साधनेष्वपि अतो न केवलाष्टमहदाध्यत्वविरोधः ।

धयति मां योग' इत्याद्युक्तस्य योगादीनामसाधकत्वात्रापि 'न साधयति मां योग' इत्यनेन प्रत्यभिज्ञानेन तथा निश्चयात् । अतस्तस्य या पूर्वावस्था 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्त्वि'ति पञ्चरात्रवाक्ये उक्ता, सात्र विवक्षिता, तस्याः पूर्वोक्तरूपोर्जितत्वार्थमेव प्रयतनात् । तथाच सा यथा येन प्रकारेण प्रवृद्धा ऊर्जिता स्यात् तथा तेन प्रकारेण उपायो बुद्धिस्थो निरूप्यत इत्यर्थः ।

एवं प्रतिज्ञाय अधिकारिभेदेन प्रकारद्वयं वदिष्यन्तो मुख्याधिकारिणो भक्तिप्रवृद्धेरधिकारफलादेव सिद्धत्वात्तदनुक्त्वा प्रथमं मध्यमाधिकारिण उपायमाहुः बीजभाव इत्यर्धेन ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

बीजरूपो भावः भगवदनुग्रहजन्यः प्रेमा । तस्मिन्वक्ष्यमाणरीतिकव्यसनरूपतया दृढे सति । तुः साधनान्तराशङ्कानिरासे । तदा त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात्स्यात् । विरहानुभवार्थं संन्यासनिर्णयोक्तप्रकारकः सवासनगृहपरित्यागस्तं कृत्वा तदुत्तरं यच्छ्रवणसहितं कीर्तनं तस्मात्स्यादित्यर्थः । अत्र श्रवणानन्तरं कीर्तनस्य कथनाच्छ्रुतानां स्वरूपगुणलीलानां भावनं कीर्तनात्पूर्वमर्थबलात्प्राप्यते । एतदभिप्रायेणैव संन्यासनिर्णये 'भावो भावनया सिद्धः साधन'मित्युक्तम् । निरोधलक्षणे चाशंसाः प्रथमतो निरूपिताः । तथाचैतैश्चतुर्भिर्भक्तिरूर्जितलक्षणवती प्रवृद्धा भवतीत्यर्थः । एतदेव निरोधलक्षणग्रन्थे 'महतां कृपया याव'दित्यारभ्य 'तदभ्यासोपि सिध्यती'त्यन्तेन फलानुभवपर्यन्तं प्रपञ्चितं ज्ञेयम् । तन्मया तत्रैव विवृतमिति नेहोच्यते ।

प्राञ्चस्तु । पुष्टिमार्गाचार्यानुग्रहपूर्वकभगवन्निवेदनानन्तरभाविनमंगीकारं बीजभावत्वेन केचिदाहुः । अन्ये तु भक्त्यसाधारणकारणमहदनुग्रहसत्ताम् । इतरे चाल्पं स्नेहम् । तथा त्यागपदेन भगवदतिरिक्तत्यागं केचिदाहुः । अन्ये तु एतन्मार्गीयातिरिक्तसाधनत्यागम् । इतरे तु भक्तिमार्गविरोधिनोन्यभजनादेस्त्यागम् । तेन तन्मते गृहस्थित्यविरोधी त्याग आयाति । मन्मते तु गृहस्थितिविरोधीतिभेदो बोध्यः ॥ १ ॥

अतःपरं जघन्याधिकार्यर्थं प्रकारं वदिष्यन्तः पूर्वं बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः बीजेत्यादि ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

बीजं पूर्वोक्तम् । तद्दार्ढ्यप्रकारस्तु निरूप्यत इति शेषः । गृहे गृहस्थाश्रमे स्थित्वा स्वधर्मतः वर्णाश्रमधर्मतः पूर्वसिद्धादव्यावृत्तः अपरावृत्तः । 'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य गुरोः

---

१ साधारणसत्तारूपप्रेमव्यावर्तकं विशेषणम् । 'नासतो विद्यते भाव' इति गीतायां तदुक्तम् । प्रेमापि सत्तारूपं विषयस्नेहव्यावृत्तं । विशेषणादित्युक्तम् । २ एकादशस्कन्धेकादशेऽध्यायेविध्यति । ३ व्यसनरूपप्रेमपरिणामान्तिमेन पूज्यादिमस्य सपर्के कारिकोक्ता भक्तिवृद्धि स्यादिति नोपक्रमविरोध ।

कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन् सर्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य, स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते, न च पुनरावर्तते' इति छान्दोग्यस्थे गृहिणोपसंहारसूत्रविषय वाक्ये तथा सिद्धत्वात् । एकादशस्कन्धे उद्धवप्रश्ने भगवताप्याचारलक्षणस्य वर्णाश्रम धर्मस्य भजनाङ्गत्वेनोक्तत्वाच्च । तं कुर्वन् कृष्णं पुरुषोत्तमं भजेत् । तत्र साधनं पूजाश्रव णादिकं च । तदाहुः पूजया श्रवणादिभिरिति । अत्र पूजा यथालब्धोपचारैः स्ना- नालंकरणादिरूपं स्वरूपसेवनम्, अर्चनापरपर्यायम् । तत्रैव पूजनप्रयोगदर्शनात् । श्रवणादि तु नवविधं प्रसिद्धमेव । तैर्भजेत् सेवेत । प्राथमिकभगवदनुग्रहेण जातामनुद्भूतां भक्तिमनया साधनमर्यादयाभिव्यञ्जयन् वर्धयेदित्यर्थः । यद्यपि नवस्वर्चनमपि प्रविशति, तथापि तस्यावश्यकत्वाय विशेषफलसाधकत्वाय च प्रथमं पृथङ्निर्देशः । नचोक्तश्रुति भगवद्वाक्यबोधितप्रकारकस्य वर्णाश्रमधर्मस्येदानीमभावाद्भजनस्य व्यङ्गत्वं शङ्क्यम् । सप्तमस्कन्धे 'स्वधर्माचरणं शक्त्ये'ति नारदवाक्येन, निबन्ध आचार्यैरपि 'स्वधर्माचरणं शक्त्ये'त्यङ्गीकारेण च यथाशक्ति तत्करणेपि भक्तेर्व्यङ्गतापरिहारस्य निःप्रत्यूहत्वात् । एवमेकः प्रकार उक्तः ॥ २ ॥

अतः परं वैधुर्यादिना तदशक्तौ प्रकारान्तरमाहुः व्यावृत्तोपीत्यादि ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।

वैधुर्यादिना व्यावृत्तः स्वाशक्त्या वर्णाश्रमधर्मान्निवृत्तोपि हरौ भगवत्यघहर्तरि चित्तं स्थापयित्वा श्रवणादौ श्रवणाद्यर्थम्, तादर्थ्ये सप्तमी, यतेत् यत्नं कुर्यात् । अनुदात्तेल्लक्षण स्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात् परस्मैपदम् । न तु परार्थत्वात् । स्वतः पुरुषार्थत्वेनैव तत्क रणस्य सिद्धान्तत्वात् । सदेति । निरन्तरमभीक्ष्णं वा । एवम् अधन्याधिकारिणोर्मध्ये यस्य सेवकसाधनसंपत्तिः तस्य पूजा श्रवणादिकं च बीजव्यक्तिसाधनम् । यस्य तु न पूजासाधनसंपत्तिः, तस्य तु भगवच्चित्ततापूर्वकं श्रवणादिकमेव साधनम् । एतदेवाभि सन्धाय निरोधलक्षणग्रन्थे 'संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै' इत्यारभ्य ग्रान्ते प्रपञ्चितं ज्ञेयम् । तन्मया तद्विवरणे व्युत्पादितमिति नेह पुनरुच्यते ।

प्राञ्चस्तु अव्यावृत्तशब्दस्य व्यासङ्गरहित इत्यर्थमाहुः, व्यावृत्तशब्दस्य च व्यासक्त इति । सोत्र 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्ये'ति श्रुत्यैव सिध्यतीत्युपेक्षितः । व्यासक्त इति तु 'हरौ चित्त'मित्यादिनैव निवार्यत इत्युपेक्षितः । लक्षणाप्रसङ्गाच्चेति बोध्यम् ॥ २½ ॥

---

१ मात्योत्कर्षार्थं वि भाव । २ यन्त्रेव विद्यया करोति श्रद्धये ति श्रुत्युक्त विशेषफलम् । कस्माद्विशेष इति चेत् ३ तमेव वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती ति श्रुत्युक्तात् फलात् । ३ विपरीतलक्षणाप्रसंगात् ।

एवं बीजदार्ढ्यसाधनमुपदिश्य बीजाभिव्यक्तिप्रकारमाहुः **ततः प्रेमे**त्यादि ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

तत उत्तमविध(मध्यम)जघन्याभ्यां क्रमादुक्तविधसाधनात्प्रेम हरौ भवेत् । पूर्वोक्तो हरिशब्दोऽत्राप्यनुषज्जते । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । प्रेम च भावकन्दलरूपं बोध्यम् । **तथासक्तिः** तदुत्तरं तादृशेन तत्करणेन तदुत्कर्षावस्था रागादिरूपा भवेत् ।

कल्याणरायास्तु स्वविषये स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेमशब्देनोच्यते, स्वविषये विधिधर्मनीरपजनको भाव आसक्तिरिति तयोर्लक्षणमप्याहुः । तदपि युक्तम् । तथानुभवस्य सर्वजनीनत्वादिति ।

च पुनः यदा व्यसनं तद्विना स्थातुमशक्तिरित्याकारकं यदा भवेत्, तच्छास्त्रे भक्तिपरमकारणबोधके 'श्रद्धामृतकथायां मे' इत्यादिरूपे भगवता साधनपर्यवसितकथनात् दृढं बीजमित्यस्माभिरुच्यते । दृढत्वे गमकमाहुः **यन्नापि** नश्यतीति । नश्य अदर्शने । यद् दुःसंगादिना परिभूतं सद्दर्शनागोचरतां न प्राप्नोति, किन्तु सर्वदैव दृश्यते, स्वयं चानुभूयते । तथा चैतदेव दार्ढ्यलक्षणम् । अदृढस्यैव कादाचित्कत्वादिति । अत्र पूजाश्रवणादिकं दशमस्कन्धोक्तरीतिकमेव ग्राह्यमित्यभिप्रेतम् । नामावलीसमाप्तौ 'बाललीलानामपाठात् श्रीकृष्णे प्रेम जायते । आसक्तिः प्रौढलीलाया नामपाठाद्भविष्यति । व्यसनं कृष्णचरणे राजलीलाभिधानतः । तस्मान्नामत्रयं जाप्यं भक्तिप्राप्तीप्सुभिः सदे'ति कथनात् । एवं कीर्तनस्य निरोधलीलाविषयत्वे निश्चिते श्रवणस्यापि तद्विषयत्वमेव निश्चितं भवति । तथा श्रवणमपि यत्र यन्नामसिद्धं, यथा च नामावल्यां यत्रोक्तं, तदनुसंधानपूर्वकमेव संपादनीयमिति च । तथा पूजाया अपि । तेन नवानामप्येकरूपत्वं निश्चितं भवतीति मम प्रतिभाति । न च 'यस्याः सङ्कीर्तनाद्विष्णुरात्मानं संप्रयच्छती'त्युपक्रमोक्तफलविरोधः शंकनीयः । तस्यावर्तनसिद्धात्कीर्तनात्सिद्धेः । उपसंहारे निरन्तरे जाप्योक्त्या तथाध्यवसायादिति ।

एवं दृढबीजलक्षणमुक्त्वा तत्सिद्ध्यर्थं तदुत्पादकानां प्रेमाद्यवस्थानां सिद्धिज्ञापकं लक्षणं क्रमेणाहुः **स्नेहादि**त्यादि ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

१ 'बीजं तदुच्यत' इत्युत्तरमन्वयः । 'सेवायां वा कथायां वे'त्यत्र सेवाश्रवणादिरीत्या भक्तिः । २ 'आलयाद्यो विचेरु'रित्यारभ्य 'जीवी बालिश्ये'त्यन्तम् । ३ तत्र प्रेमेत्यत्रोक्तसाधनेषु नामसाधनप्रवेशात् तत्र इत्यस्य नामात्मकसाधनमाहुः ।

अत्रैतद्बोध्यम् । भक्ति स्नेहविशेष इति पूर्वं व्युत्पादितम् । तत्कारण तु भगवद्धर्मविशेष एवानुग्रहाख्य इति भक्तिहेतुनिर्णये स्थितम् । सा चानुग्रहजन्या भक्ति कचित्सहसैवाभिव्यज्यते, कचिच्च सत्सङ्गश्रवणादिसाधनद्वारा । तत्र ये शुद्धपुष्टाङ्गीकृतास्तेषु तु सहसैवाभिव्यज्यते, यथा गोकुलस्थेषु । ये पुनर्मिश्रपुष्ट्यङ्गीकृतास्तेषु तु साधनद्वाराभिव्यज्यते, किञ्चित्कार्यार्थं तेषु प्रतिबन्धतन्निवृत्त्योर्दर्शनात् । तथापि 'लौकिकत्व वैदिकत्व कापट्यात्तेषु नान्यथा । वैष्णवत्व हि सहज'मिति लक्षण तु न व्यभिचरति । एव सति येषु साधनद्वारा भक्त्यभिव्यक्ति, तेषु साऽनुद्भूता भावरूपेण मनसि तिष्ठति, तत पूजादिषु साधनेष्वनुष्ठीयमानेषु प्रेमादिरूपेण क्रमादुद्भूता भवति । अभियुक्तास्तु भावस्यावस्थासप्तकमाचक्षते । 'भाव प्रेम प्रणय स्नेहो रागानुरागव्यसनानी'ति । अत्र च पूर्वं बीजाभिव्यक्तिप्रकारकथने 'तत प्रेमे'ति प्रेमशब्देन पूर्वावस्था निर्दिश्यात्र तदभिज्ञापककथने यत्स्नेहशब्द प्रयुक्त, तेन प्रेमप्रणयस्नेहाख्यास्तिस्रोऽवस्था यदा भवन्ति, तदा भगवच्छ्रवणाद्यतिरिक्तेषु रागविनाशो भवतीति सूच्यते । तथा च इतररागविनाशस्तत्प्रादुर्भावाभिज्ञापक लक्षणम् ।

रागानुरागात्मकावस्थाद्वयरूपासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापक लक्षणद्वयमाहु आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरित्यादि । रुचिराकाङ्क्षा गृहारुचिर्गृहाकाङ्क्षाऽभाव उपेक्ष्यत्वमिति यावत् । सा आसक्त्या स्यादिति । तदासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापक लक्षणम् । लक्षणान्तरमाहु गृहस्थाना मित्यादि । गृहस्थाना चेतनाचेतनाना भगवति समर्पणानन्तर भगवदीयत्वानुसन्धानेपि तेष्वशत स्वीयत्वाभिमानस्यापि विद्यमानत्वात्तमादाय तेषा पूजाश्रवणादिसाधनबाधकत्व स्वस्य भासते, सर्वेषा चित्रकर्मत्वात्स्वभावभेदेनान्यविनियोगसम्भवात्तच्चिन्ताया अकरणेपि तेषु स्वाभिमानस्य सहसाऽनिवृत्तेरनायत्यापि तच्चिन्तादिसम्भवेन 'गृहेष्वतिथिवत् वसे'त्विति न्यायस्य तदानीमसम्भवादपि तेषा श्रवणादिबाधकत्व स्वस्य भासते । किञ्च, अन्यविनियोगादीना स्थूललिङ्गशरीरधर्मत्वात्तेषा तत्प्राधान्ये जीवस्यानुस्मृति' सतीत्युक्तस्वधर्मस्य गौणत्वा मूर्खे पाषाणकल्पत्ववदनात्मत्व च तेषु भासते । तथा चैतदुभयभान गृहस्थितिं शिथिलीकुर्वदासक्तिदार्ढ्यं सपादयतीति पूर्वोक्तमुभयविध भानमासक्तिप्राचुर्यलक्षणमित्यर्थ । अत्र लक्षणत्रयकथनेन त्रितयभवने आसक्तिपर्याप्तिर्बोध्या ।

प्राञ्चस्तु केचिदिम भाव आसक्तिलक्षणत्वेनाहु । अन्ये पुनर्व्यसनलक्षणत्वेन । अर्थं च स्वस्वरीत्या त तमाहु । मम तु भगवानेव प्रेरितवानिति मयैव व्याख्यातम् । गृहत्याग एवाचार्याणामाशयस्य स्फुटत्वादिति ।

व्यसनस्य तदाहु यदेत्यादि । यदि एव प्रेमासक्तिप्रकर्षोत्तर व्यसन 'तद्विना

१ संचारिभावरूपेण वर्धमाना अन्तरा भूलमामव स्वास्व' इति सूत्रात् । भक्तानामधानि'रित्यत्र भक्तिरसोक्त । २ निरोधस्य चे तयोक्त । ३ द्वितीयस्तानुभवस्य मुख्यत्वादित्यर्थ ।

स्यातुमशक्तिः'। सा भगवद्गुणलीलादिप्राधान्यं विहाय, कृष्णे स्यात्, कृष्णे इति तादर्थ्ये सप्तमी, भगवत्स्वरूपार्थं स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात्, कृतः अर्थः पुष्कलसाधनरूपो येन तादृशः स्यात्, तादृशत्वं विना साधनपौष्कल्यं नेति । 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यते' इत्यत्रेवात्रापि साधनपौष्कल्येर्थे-शब्दप्रयोगः । तथाच गुणलीलादिप्राधान्यं विहायैवं सर्वात्मभावपूर्वकक्षारूपं स्वरूपपरत्वं व्यसनोत्कर्षाभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः । अयं च गुणलीलादिप्राधान्यत्यागो गुणोपसंहारे 'प्रदानवदृक्ते' प्रभुचरणैर्युक्तादितः 'प्रकृतेपि सर्वात्मभाव' इत्यादिना । तेनैवं दैन्यं-पूर्वकशरणभावनेन स्वरूपैपरत्वं व्यसनोत्कर्षलक्षणं पर्यवस्यति । एतावता दृढबीजस्वरूप-मुक्तम् ॥ ५ ॥

एवं बीजभावे दृढे सति भक्तिवृद्धिः स्वत एवाग्रे भविष्यतीति न मन्तव्यम्, किन्तु गृहं त्यक्तव्यमेवेत्याहुः तादृशस्यापीत्यादि ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

तादृशस्य सर्वं विहाय स्वरूपपरस्यापि सततं निरन्तरं गृहस्थानं विनाशकं बाध-स्वरूपपरतानाशकम् । एकादशस्कन्धे भगवता 'बाध्यमानोपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः । प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते' इत्यादिना भक्तिमाहात्म्यमुक्त्वा, अग्रे 'स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् । क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः।' 'न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः' इति द्वाभ्यां स्त्र्यादिसङ्गपरित्यागपूर्वकं निरुपद्रवे विविक्तस्थाने स्थित्वा स्वचिन्तनस्य कथनात् स्त्र्यादिसङ्गस्य क्लेशबन्धहेतुत्वकथनाच्च । तस्मान्निरन्तरं गृहस्थितिस्त्याज्यैव । किन्तु मध्ये मध्ये गृहान्निर्गत्य, यत्र भगवत्सान्निध्यं, तत्र गत्वा, भगवद्दर्शनसेवादिविधानेन गृह-स्थितिं शिथिलीकुर्यादित्यर्थः । एतेन बीजदार्ढ्यनिर्वाहप्रकार उक्तः ।

अतः परं यत्पूर्वं 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादि'त्यनेन भक्तिवृद्धिप्रकार उक्तस्तं व्युत्पादयन्ति त्यागं कृत्वेत्यादि ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते' इत्यादिना आरंभदशाया

१ आर्तिविशेषो दैन्यम् । २ 'मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजे'दिति गोपालतापिनीये माहात्म्यं शरणस्य । ३ सोहमित्यैक्यपरत्वं सेवादिभावरूपम् । उभयं भक्तिकारणं बीजभावे निरूपितम् । ४ भक्तिरसालम्ब-नोद्दीपनानुभावसंचारिभावरूपम् । ५ गृहे स्थित्वा स्वधर्मतो गृहस्थाश्रमे भजनं संयोगरूपं, विप्रयोगरूपं त्याग इति द्विदलात्मकभक्तेर्द्वितीयदलप्रकारम् । ६ मक्ति.

अनेनैतद्बोध्यम् । भक्ति स्नेहविशेष इति पूर्व व्युत्पादितम् । तत्कारण तु भगवद्धर्म विशेष एवानुग्रहाख्य इति भक्तिहेतुनिर्णये स्थितम् । सा चानुग्रहजन्या भक्ति क्वचित्सहसै चाभिव्यज्यते, क्वचिच्च सत्सङ्गश्रवणादिसाधनद्वारा । तत्र ये शुद्धपुष्टावङ्गीकृतास्तेषु तु सहसैवाभिव्यज्यते, यथा गोकुलस्थेषु । ये पुनर्मिश्रपुष्टावङ्गीकृतास्तेषु तु साधनद्वाराभिव्यज्यते, किञ्चित्कार्यार्थं तेषु प्रतिबन्धतन्निवृत्त्योर्दर्शनात् । तथापि 'लौकिकत्व वैदिकत्व कापट्यात्तेषु नान्यथा । वैष्णवत्व हि सहज'मिति लक्षण तु न व्यभिचरति । एव सति येषु साधनद्वारा भक्त्यभिव्यक्ति, तेषु साऽनुद्भूता भावरूपेण मनसि तिष्ठति, तत पूजादिषु साधनेष्वनुष्ठीयमानेषु प्रेमादिरूपेण क्रमादुद्भूता भवति । अभियुक्तास्तु भाव स्यावस्थासप्तकमाचक्षते । 'भाव प्रेम प्रणय स्नेहो रागानुरागव्यसनानी'ति । अत्र च पूर्व बीजाभिव्यक्तिप्रकारकथने 'तत प्रेमे'ति प्रेमशब्देन पूर्वावस्था निर्दिश्यात्र तदभिज्ञापककथने यत्स्नेहशब्द प्रयुक्त, तेन प्रेमप्रणयस्नेहाख्यास्तिस्रोवस्था यदा भवन्ति, तदा भगवच्छ्रवणाद्यतिरिक्तेषु रागविनाशो भवतीति सूच्यते । तथा च इतररागविनाशस्तत्प्राचुर्याभिज्ञापक लक्षणम् ।

रागानुरागात्मकावस्थाद्वयरूपासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापक लक्षणद्वयमाहु आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरित्यादि । रुचिराकाङ्क्षा गृहारुचिर्गृहाकाङ्क्षाऽभाव उपेक्ष्यत्वमिति यावत् । सा आसक्त्या स्यादिति । तदासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापक लक्षणम् । लक्षणान्तरमाहु गृहस्थाना मित्यादि । गृहस्थाना चेतनाचेतनाना भगवति समर्पणानन्तर भगवदीयत्वानुसन्धानेपि तेष्वशत स्वीयत्वाभिमानस्यापि विद्यमानत्वात्तमादाय तेषा पूजाश्रवणादिसाधनबाधकत्व स्वस्य भासते, सर्वेषा चित्रकर्मत्वात्स्वभावभेदेनान्यविनियोगसम्भवाच्चचिन्ताया अकरणेपि तेषु स्वाभिमानस्य सहसाऽनिवृत्तेरनायत्त्यापि तच्चिन्तादिसम्भवेन 'गृहेष्वतिथिवत् वस' न्निति न्यायस्य तदानीमसम्भवादपि तेषा श्रवणादिबाधकत्व स्वस्य भासते । किञ्च, अन्य विनियोगादीना स्थूललिङ्गशरीरधर्मत्वात्तेषा तत्प्राधान्ये जीवस्यानुस्मृति सतीत्युक्तस्य स्वधर्मस्य गौणत्वान्मूर्खे पाषाणकल्पत्ववद्बनात्मत्व च तेषु भासते । तथा चैतदुभयभान गृहस्थितिं शिथिलीकुर्वदासक्तिदार्ढ्य सपादयतीति पूर्वोक्तमुभयविध भानमासक्तिप्राचुर्य लक्षणमित्यर्थ । अत्र लक्षणत्रयकथनेन त्रितयभवने चासक्तिपर्यासिर्बोध्या ।

प्राञ्चस्तु केचिदिम भान आसक्तिलक्षणत्वेनाहु । अन्ये पुनर्व्यसनलक्षणत्वेन । अर्थ च स्वस्वरीत्या त तमाहु । मम तु भगवानेव प्ररितवानिति मयैव व्याख्यातम् । गृहत्याग एवाचार्याणामाशयस्य स्फुटत्वादिति ।

व्यसनस्य तदाहु यदेत्यादि । यदि एव प्रेमासक्तिप्रकर्षोत्तर व्यसन 'तद्विना

१ सञ्चारिभावरूपेण वर्तमाना अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मन इति सूत्रात् । महानामानि रिक्तत्र भक्तिरसोक्त । २ विरोधत्कथे तथोक्ते । ३ द्वितीयन्स्वनुभवस्य मुख्य चादित्यर्थ ।

सातुमशक्तिः'। सा भगवद्गुणलीलादिप्राधान्यं विहाय, कृष्णे स्यात्, कृष्णे इति तादर्थ्ये सप्तमी, भगवत्स्वरूपार्थं स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात्, कृतः अर्थः पुष्कलसाधनरूपो येन तादृशः स्यात्, तादृशत्वं विना साधनपौष्कल्यं नेति । 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यते' इत्यत्रेवात्रापि साधनपौष्कल्यार्थे शब्दप्रयोगः । तथाच गुणलीलादिप्राधान्यं विहायैवं सर्वोत्तमभावपूर्वकक्षारूपं स्वरूपपरत्वं व्यसनोत्कर्षाभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः । अयं च गुणलीलादिप्राधान्यत्यागो गुणोपसंहारे 'प्रदानवत्सूत्रे' प्रभुचरणैर्व्युत्पादितः 'प्रकृतेपि सर्वोत्तमभाव' इत्यादिना । तेनैवं दैन्यंपूर्वकशरणभावनेन स्वरूपपरत्वं व्यसनोत्कर्षलक्षणं पर्यवस्यति । एतावता दृढबीजस्वरूपमुक्तम् ॥ ५ ॥

एवं बीजभावे दृढे सति भक्तिवृद्धिः स्वत एवाग्रे भविष्यतीति न मन्तव्यम्, किन्तु गृहं त्यक्तव्यमेवेत्याहुः तादृशस्यापीत्यादि ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

तादृशस्य सर्वं विहाय स्वरूपपरस्यापि सततं निरन्तरं गृहस्थानं विनाशकं तादृशस्वरूपपरतानाशकम् । एकादशस्कन्धे भगवता 'बाध्यमानोपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः । प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते' इत्यादिना भक्तेर्माहात्म्यमुक्त्वा, अग्रे 'स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् । क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः' 'न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः' इति द्वाभ्यां स्त्र्यादिसङ्गपरित्यागपूर्वकं निरुपद्रवे विविक्तस्थाने स्थित्वा स्वचिन्तनस्य कथनात् स्त्र्यादिसङ्गस्य क्लेशबन्धहेतुत्वकथनाच्च । तस्मान्निरन्तरे गृहस्थितिस्त्याज्यैव । किन्तु मध्ये मध्ये गृहान्निर्गत्य, यत्र भगवत्सान्निध्यं, तत्र गत्वा, भगवद्दर्शनसेवादिविधानेन गृहस्थितिं शिथिलीकुर्यादित्यर्थः । एतेन बीजदार्ढ्यनिर्वाहप्रकार उक्तः ।

अतः परं यत्पूर्वं 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादि'त्यनेन भक्तिवृद्धिप्रकार उक्तस्तं व्युत्पादयन्ति त्यागं कृत्वेत्यादि ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते' इत्यादिना आरंभदशाया

---

१ आर्तिविशेषो दैन्यम् । २ 'मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजे'दिति गोपालतापिनीये माहात्म्यं शरणत्वम् । ३ सोऽहमित्यैक्यपरत्वं संचारिभावरूपम् । तमयं भक्तिकारणं बीजभावे निरूपितम् । ४ भक्तिरससाधनभोऽपि नानुभावसंचारिभावरूपम् । ५ गृहे स्थित्वा स्वधर्मतो गृहस्थाधने भजनं संयोगरूपं, विप्रयोगरूपं त्याग इति द्विदलात्मकभक्तेर्द्वितीयदलप्रकारम् । ६ भक्ति.

पद्यकारकस्त्याग उत्कर्षं कृत्वा, यथाधिकारं श्रवणकीर्तनाभ्यां यत्नेन, भक्तिप्रवृद्ध्यर्थं यत्नं कुर्यात्। तत्रापि न भक्तिवृद्धावेव पर्यवसन्नः, किन्तु तदर्थार्थैकमानसः। पूर्वं कृष्णशब्द-सोक्तत्वादत्र तच्छब्देन स एव परामृश्यते, अर्थश्च प्रयोजनम्, स अर्थो यस्याः सा तदर्था, स्वरूपमात्रफला गुणातीतभक्तिरिति यावत्। तस्याः य अर्थो भगवान्, तस्मि-न्नेकं केवलं मानसं यस्य सः तथा। तथा च तादृशीं भक्तिं यो भगवत्साधकत्वेन न करोति, किन्तु स्वरूपदिदृक्षयैव करोति, स तथेत्यर्थः। तस्य सिद्धिमाहुः लभत इत्यादि। सः सुदृढां इतराशनिरपेक्षां सर्वाभ्योऽपि भक्तिभ्योऽधिकां निरोधलक्षणग्रन्थ उत्कृष्टत्वेन सूचितां परामूर्जितां भगवत्साधिकां भक्तिं लभते। तथाच दिदृक्षातिरिक्तयावदपेक्षारहितस्य परम-भक्तिप्राप्तिरिति। तेनेदमेव भक्तिप्रवृद्धेः स्वरूपमित्यर्थः॥ ६[1]॥

एवं भक्तिप्रवृद्धिस्वरूपपर्यन्तं तद्वृद्ध्युपायमुक्त्वा, तत्र प्रतिबन्धेऽनधिकारे च तद-नुकल्परूपमुपायान्तरमाहुः त्यागेत्यादि।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः॥ ७॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति॥ ८॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम॥ ९॥
बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः॥ १०॥

त्यागे करिष्यमाणे कालादृष्टादिकृतदुःसंसर्गात्, तथाऽन्नतः प्राणपोषका-दन्नाद्यतो बाधकभूयस्त्वं भक्तिवृद्धिबाधकबाहुल्यम्, अतस्तद्बाहुल्यादेतोः हरिस्थाने स्थेयम्, 'मन्निकेतं तु निर्गुण'मिति भगवद्वाक्येन तत्र देशदोषाभावात्। अत्र कथं स्थेयमित्याकांक्षायां प्रकारमाहुः तदीयैरित्यादि। तत्रापि तत्परैस्तदीयैः सहेति कथनेनानन्यतया सेवाकृतिः स्वस्यापि सूचिता। तेन 'सावधानैः परस्परं सस्नेहैरप-हिंदिभिर्भगवत्सेवैकपरैः स्थेयम्।' तथा च तादृशस्थित्यां दुःसंसर्गस्याभावात्प्रसा-दादिना वा संनिपतुल्यवैष्णवादिभ्यो भिक्षया वा देहनिर्वाहेऽन्नदोषस्याप्यभावाद्भक्तिवृद्धि-रित्यर्थः। एतेन नलकूबरप्रसंगे वैराग्याद्यस्त्यागो निर्णीतस्तस्यायं प्रकार इत्यपि बोधितम्। तस्याप्यसंभवे तदनुकल्पान्तरमाहुः, तत्र स्थितौ वा प्रकारमाहुः अदूरे विप्रकर्षे वेति। भगवन्मन्दिराद् भगवदीयेभ्यश्चादूरे, दूरे वा। यादृश्या सेवया स्वस्य सेवाभिमानो न भवति, भगवदीयेषु च निकर्षबुद्धिविरुद्धबुद्धिदोषदृष्टिक्षोभादिभिर्यथा चित्तं न दुष्यति, तथा स्थेयमित्यर्थः। यदि च कालादृष्टादिदोषेण तादृशां सङ्गो न भवति, तदा तत्र स्थितौ प्रका-

१ स्वात्मपर्यन्तम्।

रान्तरं तदनुकल्प वा आहुः सेवायामित्यादि । तादृशभगवदीयसङ्गाभावेपि यद्यदूरायां
विप्रकृष्टायां वा सेवायां आसक्तिर्दृढा भवेत् । अन्यकृतोपहासन्यक्कारादिभिरनपनोद्या
भवेत् । एवं कथायां श्रूयमाणायां कीर्त्यमानायां वा तस्यामासक्तिर्दृढा भवेत्, सापि
यावज्जीवम्, यावत्सामर्थ्यम्, जीवपदेन सामर्थ्यादिकमप्यर्थादाक्षिप्यते । अतस्तावत्प-
र्यन्तम्, न तु कञ्चित्कालम् । क्रियाविशेषणमेतत् । तस्य यावज्जीवं तत्कर्तुः पुंसः क्वापि
नाशो न । इह लोके यथाधिकारं स्वरूपपरतायाः साधनपरतायाश्च नाशो न । परलोके
च यथाधिकारं फलप्रतिबन्धश्च नेत्यर्थः । दृढकथासक्तिप्रकारश्च श्रुक्षिप्ताध्यायेषु तृतीये
'ज्ञाने प्रयासमुदपास्येति' श्लोके आचार्यैर्विवृतः । 'अयमेको मार्गः सर्वेषां पुरुषार्थ-
सिद्ध्यर्थं प्रसिद्धः सुगमः । आदौ स्थानस्थितानां लौकिकोपद्रवाभावादिः स्वतःसिद्धः ।
सन्तश्च सर्वत्र भगवदाज्ञया परिभ्रमन्ति, तेषां चैतदेव कृत्यम् । भगवद्गुणगाने ते मुखरा
एव भवन्ति । तत्रापि कथायां ज्ञात्वा वक्तव्यमिति न नियमः । केवलं भगवदीया भग-
वत्सम्बन्धिनी वार्ता भवतु, न तूपपन्नाऽनुपपन्ना वेति । तत्राप्यनायासेन स्वकर्णे समा-
गता भवति । परं कायवाङ्मनोभिर्नमस्या सा, तदनुगुणतया कायवाङ्मनांसि स्थापनी-
यानि, न तु तत्र विरोध आचरणीयः । एतावदेव कृत्यम् । अत्र साधनं जीवनमेव, न
तु कर्मकरणादिकमपि । प्रायश इति ते चेन्द्रावान्तरं न कुर्युः । कालादयश्च प्रतिबन्ध-
कत्वाद्वा । अतोनेनैव प्रकारेणाप्रेतनानां निस्तारः ।' किञ्च, सेवादृढासक्तिप्रकारोपि तत्रैव
'पुरेह भूम'न्निति श्लोके विवृतः । 'हे भूमन् व्यापक पूर्वमपि विद्यमान इहास्मिन्मार्गे यह-
वोपि सहस्रो योगिनो योगेनावधृतभक्तिसामर्थ्याः, अत एव त्वय्यर्पिता ईहा चेष्टा यैः ।
तेनैव समर्पणलक्षणेन कर्मणा त्वत्सेवालक्षणकर्मणा वा लब्धया प्राप्तया भक्त्यैव विबुध्य
स्वरूपं ज्ञात्वा, हे अच्युत केनापि प्रकारेण च्युतिरहित, ते गतिं मार्गं, येन प्रकारेण त्वं
गच्छसि, तां प्रपेदिरे । पश्चात्त्वदनुगानां न कापि चिन्ता । अञ्जः अनायासेनैव परां
लोकातीतां प्रपेदिरे प्राप्तवन्तः । अत आत्मज्ञानापेक्षायामप्ययमेव मार्ग उचितः ।'
अत्र नान्येषां सम्मतिः, किन्त्वहमेव वदामीत्याहुः मतिर्ममेति । 'श्रद्धा'मुपक्रम्य 'मत्से-
वायां तु निर्गुणे'ति । संवादसमाप्तौ च 'नह्यङ्गोपक्रमे ध्वंस' इति 'यो यो मयि परे धर्म'
इति च भगवद्वाक्यात् सदादृतभक्तिप्रश्ने, तामुपक्रम्य 'मत्कथाश्रवणे श्रद्धा' 'श्रद्धामृतकथायां
म' इति च भगवद्वाक्यात् मम बुद्धिस्त्वाद्दशस्य नाशाभाव भासयति, तेन तथेत्यर्थः । यदि च
जाते बीजभावदार्ढ्ये अजाते वा पूर्वोक्तानां तदर्थानां साधनानां कालादृष्टादिना प्रतिबन्धा-
त्करणाशक्तिः, तदोपायान्तरमाहुः बाधेत्यादि । मुख्यः कल्पस्तु भगवत्कृपयैव सिध्यतीति
न तत्र बाधसम्भावना । 'तदा भवेद्याप्तुत्व'मिति निरोधलक्षणे निष्कर्षात् । दयायां च सत्यां
प्रतिबन्धासम्भवात् । यत्र पुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वमित्यादिनोक्तेनुकल्पे करिष्यमाणे क्रिय-
माणे वा बाधस्य विघटनस्य सम्भावना उत्कटकोटिकः संशयः, तदा एकान्ते भगवत्स्या-

नादौ वासो नेष्यते । तदा गृहे वा अन्यत्र वा यत्र क्वचित्स्थित्वा हरिरेव शरणं भावनीयः। 'हराम्यघं चरस्मर्तॄणामिति' भारते भगवद्वाक्यात् । 'सर्वधर्मान्परित्यज्ये'ति गीतायां भगवद्वाक्याच्च । हरिरेव सर्वतो रक्षां करिष्यति । तुः संशयाविश्वासादिनिरासे । न संशयः, रक्षाकरणे संशयो नास्ति । तथा च पूर्वोक्तरीत्या भक्तिमार्गे प्रवृत्तिः संपाद्या । तत्र बाधे सत्यनुकल्पः करणीयः । तत्रापि बाधे तदनुकल्पः। तत्रापि बाधे शरणगमनं सर्वानुकल्परूपं करणीयम्, न तु पूर्वमेव सेवादिकं त्यक्त्वानुकल्पे प्रवर्तनीयम्, भगवदिच्छाया ज्ञातुमशक्यत्वादिति ॥ ७–१० ॥

एवं सर्वं भक्तिवृद्ध्युपायं निरूप्य तदुपसंहरन्त एतद्विचारफलमाहुः इतीत्यादि ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं मया गुप्तं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतिः समाप्तौ । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं गीतायामेकादशस्कन्धेऽन्यत्र च भगवदुपदिष्टं शास्त्रं मया गुप्तं निरूपितं प्रकटीकृतम् । यः सदा एतद्गुप्तं शास्त्रं समधीयीत सम्यक्प्रकारेण चिन्तयेत्, इक् स्मरणे, इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । तस्यैतद्विचारयितुरपि रतिः प्रेमात्मिका दृढा स्यात् । तथा च तया दृढया संसाररागविनाशे जाते क्रमादन्यदपि भगवान् सम्पादयिष्यति । 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंस' इति भगवद्वाक्यात् । तथा चात इदमभीक्ष्णं विचारणीयमित्यर्थः ।

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जप्रसादतः ।
परमेरणयाभातं व्यवृणोत्पुरुषोत्तमः ॥ १ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः सम्पूर्णा ॥

---

१ श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यतीति त्रिके आध्यात्मिकरत्युपादानं भक्तिदुर्लभत्वाय । 'कश्चिदेव हि भक्तो ही'ति वाक्याद ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीवल्लभकृतटीकासमेता ।

अथर्यप्रियासितापाङ्गध्यानावस्थितचेतसा ।
शाश्वतस्त्रिजरूपाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ १ ॥

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

भक्तिवर्धिन्याम् । यथेति । यथा येन प्रकारेण । भक्तिः शास्त्रीया । प्रवृद्धा मानससेवारूपा सती फलोन्मुखा भवेत्तथोपायस्तत्प्रकारभूत उपायस्तनुवित्तजसेवया बीजभावदार्ढ्यसम्पादनरूपस्त्यागेन श्रवणकीर्तनरूपश्च निरूप्यत इत्यर्थः । तस्य साधनासाध्यत्वसिद्धान्तादुपायपदम् । अत्र बीजं रत्याख्य आद्यः कोमलो भावः भगवानेव शरणमित्याकारकः । येन भगवद्धर्मेषु रुचिर्भवति । भक्तिर्द्रुमः । फलं स्वाधिकारानुसारेणालौकिकसामर्थ्यायन्यतरप्राप्त्या भगवद्भजनम् । स उपायो द्विविध इत्याहुः बीजेति । बीजरूपे रत्याख्ये भावे तनुवित्तजसेवया दृढे नाशसंभावनारहिते जाते तस्य भक्तिद्रुमस्य प्रवृद्धिः फलोन्मुखत्वं स्यादित्यर्थः । अतस्तद्दार्ढ्यं सम्पादनीयमित्येक उपायः । द्वितीयनिर्धारमाहुः त्यागादिति । त्यागरूपाद्धेतोः सिद्धाच्छक्तितात्पर्यरूपाच्छ्रवणसहितकीर्तनादित्यर्थः । हरिस्थानवासे तदीयैः सह स्थितौ शक्तितात्पर्यनिर्धारो भवतीति भावः । द्वितीयपक्षेऽपि दार्ढ्यमपेक्षितमेवेति तुशब्दः । परन्त्वाद्यपक्षे गृहस्थितस्य भावनाशशङ्कया तनुवित्तजसेवया तद्दार्ढ्यं सम्पादनीयं भवति । द्वितीयपक्षे तु तदभावात्स्वत एव दार्ढ्यं सिध्यतीति विभेदः ॥ १ ॥

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

आद्यमुपायमाहुः बीजदार्ढ्येति । द्वितीयपक्षादयं पक्षः श्रेयानिति तुशब्दः । पाषण्डित्वाभावाय स्वधर्मतो वर्णाश्रमधर्मेण गृहे स्थित्वाऽव्यावृत्तो भोगार्थव्यावृत्तिरहितः । आश्रमधर्मत्वेन प्राप्तमृतुगमनादिकमेव कुर्वन्निति यावत् । श्रवणादिभिः सहितया पूजया द्रव्येषु भावात्मकत्वभावनरूपया कृष्णं फलात्मकं भजेत्सेवेत । तनुवित्तजसेवां कुर्यादित्यर्थः । ज्ञानमयद्रव्यसम्पादितायाः पूजात्वं 'धन्यास्त्वि'ति श्लोके निरूपितम् ॥२॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

व्यावृत्तोपीति । कामादिभावत्वे तत्कृतप्रतिबन्धाभावाय भोगार्थव्यावृत्तिसिद्धितोपि सेवाऽनवसरेऽनिषिद्धप्रकारेण नित्यमपि भोगं कुर्वन्नित्यर्थः । हरौ चित्तं स्थापयित्वेति शेषः । श्रवणादौ यतेत्, प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रार्थमेव भोगं कुर्वन् सदा सेवानवसरेपि यत्नं श्रवणादिविषयकमेव सम्पादयेदित्यर्थः । एवं कृते बीजभावस्य दार्ढ्यं भवति । तत्राभिज्ञापकमाहुः **ततः प्रेमेति** । एवं कृते सा भक्तिः प्रेमशब्दवाच्या भवति । पूर्वं लोकेपि स्नेहः स्थितो, भगवति परमधिकः । 'सर्वतोधिकः स्नेहो भक्ति'रितिलक्षणात् । एवं कृते तु सर्वतो निवृत्तो भगवन्मात्रविषयको भवतीत्यर्थः । तदनन्तरं सासक्तिशब्दवाच्या भवति । अनायासेनापि भगवानेव स्मृतो भवति येन तादृशस्नेहो भवतीत्यर्थः । 'चित्तस्वभाव आसक्तिर्यस्त्यक्तुं नैव शक्यते । स्नेहो रतिरिति प्रोक्त' इति तृतीयस्कन्धसुबोधिन्यामुक्तम् । आसक्तित्वसाधकोपि पूर्वोक्त एव प्रकार इति तथैवमुक्तम् । **व्यसनं चेति** । अत्रापि स एव प्रकार इति चकारः । विशेषेणासनं क्षेपणं येन । येन भावेनान्यास्फुरणं भवति । प्रपञ्चविस्मृतिरिति यावत् । आसक्तिः प्रपञ्चविस्मृतियुता सती व्यसनम् । तथाच निरोधो व्यसनशब्दवाच्यस्तत्त्वं भक्तेर्यदा भवेत् । तदा बीजं दृढं भगवच्छास्त्रे उच्यते । भक्तेर्व्यसनत्वं बीजदार्ढ्यस्याभिज्ञापकमित्यर्थः । दार्ढ्यस्वरूपमाहुः **नापीति** । नाशाप्रतियोगीत्यर्थः । सततगृहस्थितौ नाशसम्भावनामपि वक्ष्यन्तीत्यपिशब्दः ॥ ३१ ॥

प्रेमादित्रयस्याभिज्ञापनाय तत्कार्याण्याहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

सर्वतो निवृत्ताद्भगवन्मात्रविषयकस्नेहादित्यर्थः । रागविनाशगृहारुचिकृतार्थतानां क्रमात्प्रेमाद्यभिज्ञापकत्वमिति भावः । रागविनाशो विषयवैराग्यम् । स्नेहस्य विषयेभ्यो निवृत्तौ तेषु वैराग्यमुदासीनता भवतीत्यर्थः । आसक्त्या गृहारुचिर्भवति ॥ ४ ॥

अत्र नञर्थो विरुद्धत्वमित्याशयेनारुचिपदार्थं विवृण्वन्ति ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।

यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकृत् ।

गृहस्थानामिति । अभगवदीयानामिति शेषः । एतेषां बाधकत्वेनानात्मत्वेन च भानमरुचिपदार्थ इतिभावः । भार्यापुत्रयोरात्मत्वे शास्त्रसिद्धे अपि भक्तानां भगवानेवात्मरूपो, न तु ताविनिभावः । अत एव सेवाप्रातिकूल्ये भार्यादीनामपि त्यागोऽ-

श्लोकः। यदा भक्तिर्व्यसनरूपा स्यात्। बाधकत्वेनाप्यन्यास्फुरणं स्यात्। तदैव कृष्णे कृतः समर्पित ऐहिकपारलौकिकः सर्वोऽप्यर्थो येन तादृशः सिद्धात्मनिवेदो भवतीत्यर्थः। पूर्वं सामान्यतो निवेदने कृतेऽपि तत्सिद्धिर्व्यसने एव जाते भवति। तथाचात्मनिवेदनरूपा भक्तिर्व्यसनकार्यमितिभावः। यथा गोपाः सर्वस्य भगवदर्थत्वज्ञानेन प्रपञ्चविस्मृतेर्जातत्वात्सर्वार्थे भगवानेव वक्तव्य इति ज्ञानयुक्ताः क्षुन्निवृत्त्यर्थमपि भगवन्तमेव प्रार्थितवन्तः। अत एव 'व्यसनानान्यगामिन' इति तत्र निबन्धे निरूपितम्। पूर्वयोः किञ्चित्कालं व्यवधानमपि। इदं तु व्यसनसिद्धौ शीघ्रमेव भवतीति यदा तदैवेत्युक्तम्। तत्र किञ्चिदन्यदप्याहुः। तादृशस्यापीति सिद्धात्मनिवेदनस्यापीत्यर्थः। गृहस्य भगवति समर्पितत्वेन सर्वथा बाधकत्वाभावान्न सर्वात्मना त्यागः, किन्तु सततस्थितौ भोगदृष्टिसम्भवात् भोगस्य च सेवाफलत्वेऽन्ये बाधकत्वनिरूपणान्मध्ये मध्ये लीलास्थलेषु गोवर्धनादिषु गच्छेदिति सततमित्युक्तम्। विनाशकत्वात्। भोगसम्भावनया बीजभावनाशकत्वादित्यर्थः। एवं तनुवित्तजसेवया बीजदार्ढ्यसम्पादने भक्तिर्व्यसनान्तावस्थां प्राप्ता चेतस्तत्प्रवणलक्षणमानससेवारूपा दृढा सती अलौकिकसामर्थ्यान्यतरफलोन्मुखा भवतीत्येक उपाय उक्तः। अत्र भार्यादिभिरानुकूल्ये यः प्रतिकूलस्तस्य त्यागो, न तु गृहस्य। अत एव 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दित्यत्र गृहं भार्यादिकमिति व्याख्यातम्॥ ५१॥

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः॥ ६॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम्।

द्वितीयमाहुः त्यागं कृत्वेति। गृहत्यागं कृत्वा। स चासावर्थश्च तदर्थः। आद्यश्लोके उद्देश्यत्वेन उक्तः श्रवणकीर्तनरूपो योऽर्थस्तदर्थं तद्विषयकमेवैकं मानसं यस्य तादृशः सन्। श्रवणकीर्तनार्थमेव हरिस्थाने भगवद्भक्तसंनिधौ तिष्ठतीति यावत्। एतादृशः सन् यो यतेत्। श्रवणादाविति शेषः। स भक्तिं सुदृढां व्यसनत्वं प्राप्तां लभते। ततः सर्वतोऽधिकां परां फलोन्मुखामपि लभत इत्यर्थः। भक्तेः पूर्वमपि सिद्धत्वात्सविशेषणे हीतिन्यायेन विशेषणलाभो विधीयत इति ज्ञेयम्। 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मिति वाक्यादेतस्य पक्षस्य मुख्यत्वम्। अत एव प्रथमपक्षे नाशसम्भावनाप्युक्तास्तीत्युक्तम्, अत्र तद्व्यावर्तनाय तुशब्दः। मुख्यत्वं विशदयन्ति सुदृढामिति। आद्यपक्षे सततगृहस्थितौ नाशसम्भावनाप्यस्तीति तदभावाय बीजदार्ढ्यसम्पादनेन भक्तेर्दार्ढ्यं व्यसनत्वं सम्पादनीयं भवति। अत्र पक्षे तु गृहाभावेन नाशसम्भावनाऽभावात्पूर्वोक्तदार्ढ्यसम्पादनं विनैव सुदृढा व्यसनत्वं प्राप्ता भवतीत्येतावदंशमादाय 'पाधिक्योरि दोषः परिहरणीय' इति न्यायेन मुख्यत्वम्। फलसाधने तु साम्यमेवेति वक्ष्यते॥ ६२॥

ननु त्यागमात्रमेव वक्तव्यं भवति, हरिस्थानवासो भाग्यवशात् पुनः किमर्थं दोऽप्यत इत्यत आहुः त्याग इति।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

धर्मद्वयरहितकेवलत्यागे बाधकभूयस्त्वमस्त्यतो हेतोः । तथान्नतो दुःसंसर्गाद्धेतोः हरिस्थाने तदीयैः सह स्थेयमित्यन्वयः । हरिस्थानवासराहित्ये बाधकभूयस्त्वं 'सहायसङ्गसाध्यत्वा'दित्यारभ्य 'नैव त्यागः सुखावह' इत्यन्तं संन्यासनिर्णयोक्तमस्तीति शेषः । अतो हरिस्थाने स्थेयम् । तत्र ते दोषा न भविष्यन्तीति भावः । तथा भक्तसङ्गराहित्ये अन्नतो हेतोः अन्नार्थं दुःसंसर्गात् दुष्टानां संसर्गसम्बन्धाद्धेतोस्तदीयैर्भगवदीयैस्तत्रापि तत्परैर्भगवत्परैर्नतु हिरण्यकशिपुप्रभृतिवदतत्परैः सह स्थेयम् । तदान्नार्थमपि तेषामेव संसर्गो भविष्यति, न तु दुष्टानामिति भावः ॥ ७३ ॥

हरिस्थानस्य द्वैविध्याशयेनाहुः अदूरे इति ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

पूजाप्रवाहवति गोवर्धननाथजगन्नाथादिस्थाने भगवतः अदूरे पूजाप्रवाहरहितयमुनातटादिषु लोकदृष्ट्या भगवतो विप्रकर्षे वा स्वस्य चित्तं यथा न दुष्यति, दोषयुक्तं न भवति, तथा स्वयमेव विचार्य स्थेयमिति पूर्वेणान्वयः ॥ ८ ॥

ग्रन्थोक्तपक्षद्वयमुपसंहरन्ति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

सेवायामिति । आद्ये बीजदार्ढ्यसम्पादनपक्षे सेवायां क्रियमाणायां, द्वितीये त्यागपक्षे कथायां वा क्रियमाणायां सत्यां यस्य आसक्तिरासक्तित्वं प्राप्ता भक्तिर्दृढा व्यसनत्वं प्राप्ता भवेत्, तस्य पुरुषस्य भक्तिबीजस्य नाशो न । तथा च व्यसनरूपा नाशसम्भावनारहितबीजा भक्तिश्चेतत्प्रवणलक्षणमानससेवारूपा सती अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यवरफलं यथाधिकारं सम्पादयतीति भावः । नात्र वर्णादिनियम इत्याहुः यावज्जीवमिति । सर्वानेव जीवान् मर्यादीकृत्येत्यर्थः । व्यसनसिद्ध्यनन्तरं हरिस्थानवासनियमोऽपि तथा नास्तीति क्वापीत्युक्तम् । किन्तु सततगृहस्थितिर्निषिद्धेति पूर्वमुक्तम् । वर्णादिसाधारण्यं प्रमाणेन विरुध्यत इत्याशंक्यात्र प्रमाणमन्त्यमावायाहुः मतिर्ममेति । अस्मन्मतिसिद्धोयं पक्षः, अतः प्रमेयबलसिद्धः । वाचा कथनेऽपि मतिसिद्धत्वमेव मुख्यमिति भावः ॥ ९ ॥

पक्षद्वयस्य व्यवस्थामाहुः बाधेति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

कामादिभिर्यावत्सम्भावनायाम् । इन्द्रियजयसामर्थ्याभाव इति यावत् । तदा एकान्ते वासस्त्यागपक्षो नेष्यते । तथाचेन्द्रियजयसामर्थ्याभावे पूर्वोक्तपक्षेण सेयम् । तत्सामर्थ्ये त्यागपक्षेण हरिस्थाने तदीयैः सह सेयमिति व्यवस्थेति भावः । एवं व्यवस्थायां 'गृहं सर्वात्मने'ति श्लोकसंमतिसूचनाय तुशब्दः । नन्वत्यागपक्षे गृहे स्थितौ तत्रासक्तिरनिवार्या । त्यागपक्षे च गृहत्यागस्याश्रमान्तराग्रहणे प्रमाणविरुद्धत्वात्पापसम्भावनेत्याशंक्याहुः हरिस्त्विति । सर्वतो गृहासक्तेः सर्वपापेभ्यश्चेत्यर्थः । 'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इत्यस्यार्थोऽनुसंधेयः । एतद्वाक्यानुसंधानेन न संशय इत्युक्तम् । हरित्वाद्रक्षणं युक्तमेवेति तुशब्दः ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

य एतदिति । एतदध्ययनेनापि रतिर्बीजभावरूपा दृढा स्यादिति । बीजदार्ढ्यसम्पादनस्यापक्षस्यायमप्येकः प्रकार इति तस्यापीत्यपिशब्दः ॥ ११ ॥

स्वीयेषु कृपयोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः ।
वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामयात् ॥ १ ॥

इति श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृता भक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतटीकासमेता ।

बर्हिबर्हलसन्मौलिं वेणुवादविशारदम् ।
दुःखं दलयतादुच्चैस्त्रिभङ्गललितं महः ॥ १ ॥
श्रीवल्लभतत्सुतचरणौ स्मृत्वा प्रणम्य मुहुः प्रणमन् ।
टीकामतीव रम्यां कुर्वे श्रीभक्तिवर्धिन्याः ॥ २ ॥
सगुणा भक्तिर्नवधोक्तैकविधा निर्गुणा तनो दशभिः ।
पद्यैरत्तो वृद्धिप्रकार एकेन चोपसंहारः ॥ ३ ॥

अथ दशविधैर्भक्तिभावैर्दशविधा भक्तिरिति दशश्लोकैर्भक्तिवर्धिनीग्रन्थे भक्तिवृद्धि-

प्रकारं एकेन श्लोकेन तदुपसंहारं तत्पाठफलं चाहुः श्रीवल्लभाचार्याः **यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादित्यादिना ।**

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिर्भावरूपा प्रवृद्धा अवस्थाविशेषविशेषाविर्भावेन रसरूपतापर्यन्तं प्राप्ता भवति, तथा मया उपायः साधनं निरूप्यते कथ्यत इत्यर्थः । ननु भक्त्युत्पत्तिसाधनं पूर्वमनुक्त्वा भक्तिवृद्धिसाधनोपदेशः कथं क्रियत इति चेत् । अत्रोच्यते । पुष्टिमार्गे प्रभो 'रसो वै स' इति श्रुत्या एकवचनाविरुद्धसामान्यरसशब्दप्रयोगेणानेकविधरसरूपानवशिष्टैकरसरूपत्वं सिध्यति । अत्र प्रभुरनेकरसविशिष्टोऽपि प्राधान्यतः कीदृशरसरूप इति जिज्ञासायां शृङ्गाररसरूप एवेत्यायाति । यतः श्रुतिभिः परमकाष्ठापन्नानन्दस्वरूपफलरूपदर्शने प्रार्थिते भगवतोद्दीपनविभावरूपश्रीगोवर्धनश्रीयमुनादिविशिष्टे प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मान्तर्गतब्रह्मानन्दमध्यव्यापिवैकुण्ठान्तर्गतश्रीमद्वृन्दावने 'नानारासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्बक'मित्यादौ दृष्टोऽनुभावरूपो यो रासस्तद्रसोन्मत्तः शृङ्गाररसालम्बनीभूतनायिकारूपगोपीकदम्बकयुक्तमेव परमकाष्ठापन्नफलरूपं स्वस्वरूपं ताभ्यः प्रदर्शितमिति बृहद्वामनपुराणे श्रूयते । अन्यरसस्वरूपत्वेनैव प्राधान्ये तद्विभावादिविशिष्टमेव स्वरूपं प्रदर्शितं स्यात् । न च तस्य स्वरूपस्य परमकाष्ठापन्नत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । 'कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ । पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले । वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्वो रासमण्डल' इति बृहद्वामनपुराणे सारस्वतकल्पे स्वावतार उक्तो भगवता श्रुतीनामनुग्रहार्थम् । तत्कल्पानुसार्येव श्रीभागवतं तत्स्वरूपदर्शनेनैव च निखिलवेदपुराणधर्मजिज्ञासाब्रह्मजिज्ञासादिभिरप्यजातचित्तप्रसादानां श्रीमतां व्यासचरणानां चित्तप्रसादो जातो, न त्वन्यस्वरूपदर्शनेनेत्यर्थापत्तिरूपप्रमाणेन तस्य स्वरूपस्यैव परमकाष्ठापन्नत्वे सिद्धे तत्स्वरूपस्य परमकाष्ठापन्नत्वे प्रमाणाभावाभावात् । एवं च सिद्धे शृङ्गाररसरूपत्वस्यैव प्राधान्येन धर्मत्वेऽन्यरसस्वरूपाणां च तदङ्गत्वेन धर्मत्वे, शृङ्गाररसस्य तु रतिरूपस्थायिभावात्मकत्वात् रतिरूपस्थायिभावस्य च भगवद्रूपत्वेन ब्रह्मत्वात् ब्रह्मणश्च व्यापकत्वात् भगवद्विषयकरतेरपि व्यापकत्वे सिद्धे सर्वजीवेषु तत्स्थितत्वं सिद्धम् । तत्र रतेर्ब्रह्मत्वेनानन्तरूपत्वाद्भगवद्विषयिणी श्रीमद्व्रजभक्तादिनिष्ठा रतिः शृङ्गाररसरूपा भवति । अस्मदादिनिष्ठा भगवद्विषयिणी रतिर्भक्तिरसरूपा भवति । सैवास्मदादिनिष्ठा सपरिकरभगवदतिकृपायां स्वस्य पूर्वरूपं तिरोधाप्य शृङ्गाररसरूपतामपि प्रकटीकरोति । एवं च 'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते' । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते ।' 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे'ति वाक्येभ्यः प्रेमप्रथमावस्थारूपत्वात् प्रभुविषयकत्वाच्च भावशब्दवाच्या स्नेहरूपत्वेन भक्तिशब्दवाच्यापि

भवति। तत्र सा भक्तिर्द्विविधा । मर्यादापुष्टिमार्गीया शुद्धपुष्टिमार्गीया च । तत्र 'यमेवे'ति श्रुतिसिद्धं मर्यादापुष्टिमार्गीयं वरणं शुद्धपुष्टिमार्गीयं च वरणमिति वरणेऽपि द्वैविध्यमिति सिद्धान्तात् मर्यादापुष्टिमार्गे मर्यादानुग्रहाभ्यां मिलिताभ्यामेव कार्यसिद्धिः । शुद्धपुष्टिमार्गे तु विशुद्धानुग्रहमात्रेणैव कार्यसिद्धिः । एवञ्च मर्यादापुष्टिमार्गे मर्यादापुष्टिमार्गीयभगवद्-रणप्रेरिततादृशजीवकृततादृशाचार्यसंश्रयसञ्जाततादृङ्नामनिवेदनमात्रेणैवातिमात्राच्छादकमा-यारूपावरणभङ्गे पूर्वोक्तरसापरपर्यायभावस्याविर्भावः । 'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इत्यादिवाक्यात् । शुद्धपुष्टिमार्गे तु शुद्धपु-ष्टिमार्गीयश्रीमद्व्रजभक्तकृपाविष्टभगवत्कृपाप्रेरिततादृशजीवकृते शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयस-ञ्जाततन्मार्गीयनामनिवेदनमात्रेणैव । न चैतन्मार्गीयनामनिवेदनेऽपि न सूक्ष्मबीजरूपभावो दृश्यत इति वाच्यम् । तादृङ्नामनिवेदनादिभिः प्रतिबन्धकाविद्यापगमेऽपि सूक्ष्मतरत्वा-देव तद्दर्शनाभावात् । समयविशेषसमुद्भूतकिञ्चिदश्रुपुलकादिभिस्तदनुमापनाच्च रतिमात्रा-च्छादकमायारूपावरणभङ्गे पूर्वोक्तभावस्याविर्भावः । 'न रोधयती'त्यारभ्य 'यथाऽवरुन्धे सत्सङ्ग' इत्यादिवाक्यात् । एवं च भावस्याविर्भावमात्रमेव, न तूत्पत्तिरिति नोत्पत्तिप्रकार उक्तः । किन्तु वृद्धितत्प्रकार एवोक्त इति । न चाविर्भाव एव उत्पत्तिरिति वाच्यम् । 'अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः । नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यमिति सा त्रिधे'ति त्रिविधोत्पत्तौ घटादिवदनित्यत्वाभावाच्च जननरूपोत्पत्तिः । जीवात्मवन्नित्यपरिच्छिन्नत्वाच्च समागमरूपोत्पत्तिः । नित्यापरिच्छिन्नत्वेऽपि धर्मरूपस्य भावस्य तनुत्वाभावाच्च प्राकट्यरूपोत्पत्तिः । किन्तु वेदस्य यथा प्रलये सूक्ष्मरूपेणाव-स्थानमेवमेव भावस्यापि पूर्वसूक्ष्मरूपेणावस्थानं पश्चात्सृष्टौ वेदस्य विस्तार इव स्वका-र्यैः प्रवृद्धिमानभिव्यक्त्याविर्भावस्य उत्पत्तिरूपत्वाभावात् । तस्मादुक्तैः सूक्ष्मबीजरूप-भावरूपेण सर्वजीवेष्वपि नित्यस्थितत्वात्तस्य च आचार्यकृपामात्रेणैव आविर्भावस्यैव जातत्वात् साधनान्तरानपेक्षत्वाच्च तद्वृद्धिप्रकार एवोच्यते, न तु तदुत्पादनप्रकारः, त्रिवि-धोत्पत्तेरप्यसम्भवात् । न च 'पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये' इत्यादिना कथासुधापानस्य भक्तिवृद्धिहेतुत्वमप्युच्यत इति व्यर्थो भवत्प्रयास इति वाच्यम् । अत्रैव श्लोके 'वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोध' मित्यत्र उक्तत्वादस्य वृद्धिप्रकारस्य मर्यादामार्गीयभक्तिविषयत्वात् । शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तेस्तु 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह'ति वाक्याद्वैराग्यज्ञानानपेक्षत्वादिति जानीहि । वृद्धौ प्रकर्षस्तु फलानुभव-पर्यन्तसम्पादकत्वरूपः ।

ननु सा भक्तिवृद्धिः कदा भवतीत्याकाङ्क्षायामाह— बीजभावे दृढे तु स्या-त्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । तत्र त्यागात् भगवद्भजनप्रतिबन्धकगृहादित्यागात् । श्रवण च श्रवणकीर्तनाच्च प्रेमासक्तिव्यसनरूपात्मकाविर्भावप्रकारोऽत्र पूर्वोक्त-

प्रकारकरस्यपरपर्यायबीजरूपो यो भावस्तस्मिन् दृढे केनापि तिरोधापयितुमशक्ये सति शुद्धपुष्टिमार्गीया भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्। रासरूपतारूपवृद्धिप्राप्ता स्यादित्यर्थः। न चात्र त्यागपदेन सर्वत्याग एव कुतो नोच्यत इति वाच्यम्। अग्रे 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः' इत्यनेन वैदिकलौकिकधर्मसाहित्येन गृहस्थितस्यैव भजनस्य बोधितत्वेन तथाव्याख्यानस्य कर्तुमशक्यत्वात्। अत्रेदं तत्त्वम्। त्यागस्तावत्त्रिविधः। भगवद्भजनानुकूलानामेव गृहादीनां त्यागः, न तु तदनुकूलानामपि। द्वितीयस्तु भगवद्भजनाननुकूलगृहमात्रस्यैव त्यागः, न तु भगवद्भजनानुकूलानां स्वगृहस्थितान्यभगवदीयानामपि। तृतीयस्तु भगवद्भजनानुकूलगृहस्थितभगवदीयानामिव तद्भजनानुकूलतदन्यभगवदीयानामपि त्यागः। तत्र प्रथमस्त्यागो बीजदार्ढ्यप्रकारे तनुजवित्तजसेवारूपप्रारम्भदशासामयिकः। द्वितीयस्त्वासक्तिदशाविर्भावरूपमध्यदशासामयिकः। तृतीयस्तु व्यसनदशाविर्भावरूपपूर्णदशासामयिकः। तत्रैव तच्छ्लोकोक्तस्त्यागो बीजदार्ढ्यप्रकारप्रारम्भदशात्यागः। अग्रे 'ताद्दशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्। त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानस' इत्यनेन वक्ष्यमाणः स मध्यमदशात्यागः। 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते' इति संन्यासनिर्णयोक्तत्यागस्तु फलदशात्याग इति बोध्यम्। अत्रायं श्लोकः सूत्ररूपः, अग्रिमग्रन्थो व्याख्यानरूप इति ज्ञेयम्।

केचित्तु बीजं नाम 'यमेवे'ति श्रुतेर्निरुपाधिकवरणतया पुष्टिमार्गीयं भगवद्वरणम्, अन्यथा तत्र प्रवृत्तिरेव न स्यादित्यादिप्रकारेण व्याचक्षते। तच्चिन्त्यम्। वटादिवृक्षस्य वटादिबीजमेव बीजम्, न तु पिप्पलादिबीजं बीजम्। एवं च जीवस्य वृक्षसजातीयत्वमुक्तमतः सर्ववादिसिद्धम्, अन्यथा पिप्पलादिबीजेभ्योऽपि वटाद्युत्पत्तिः स्यात्। तथात्रापि स्नेहरूपभक्तेरपि स्नेहरूपभक्तिरूपमेव बीजं भवितुं योग्यम्, सजातीयत्वात्। अत एवोपसंहारे 'तस्यापि स्याद्दृढा रति'रित्यनेनोपक्रमोक्तभावपर्यायरतिशब्देन भावस्यैव दार्ढ्यमुक्तम्, न तु पुरुषोत्तमवरणादीनाम्। एवं च यथा वर्षासमये नववारिसेकेन क्षेत्रान्तःस्थितं बीजं क्षेत्रनिष्ठं प्रतिबन्धकरूपं काठिन्यं दूरीकृत्य स्वकार्योन्मुखं करोति, तथा च निरुपाधिपुरुषोत्तमवरणादिकं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यानुग्रहद्वारा जीवान्तःस्थितं तत्परपर्यायं सूक्ष्मरूपत्वात् बीजरूपभावं मायातिरस्कारिणीरूपं प्रतिबन्धकं दूरीकृत्य स्वकार्योन्मुखं करोतीत्यसाधारणनिमित्तकारणरूपमेव, न तु भाववत्। तत्समवायि तु इदमेवेति ज्ञापयितुं बीजपदमुक्तम्। अत्र अन्यथा मूलकारणदार्ढ्ये स्यादित्याद्येव श्लोकनिबन्धः कृतः स्याच्छ्रीमदाचार्यचरणैः। न च वटादिबीजानामपि वटादिवृक्षं प्रति निमित्तत्वमेव दृष्टम्, न तु समवायिकत्वम्, कार्यस्य वटादेस्तत्समवेतत्वाभावात्, तथैव भावरूपबीजस्यापि निमित्तत्वमेवेति सिद्धे समवायित्वोक्तिर्विरुद्धेति वाच्यम्। यथा वटादिबीजानां निमित्तत्वेऽपि कन्दरूपबीजानां समवायित्वदर्शनेन समवायित्वम्, एवमेव भावरूपबीजस्यापि भक्तत्वेन

'स हैतावानास' इति श्रुतेः, अयं च समवायित्वेनानुभवाच समवायित्वोक्तेर्विरुद्धत्वाभावात् । तस्मादुपक्रमोपसंहारपर्यालोचनया युक्तिपर्यालोचनयापि बीजरूपो यो भाव इत्येव व्याख्यातमस्माभिरित्यास्तां तावत् ॥ १ ॥

ननु बीजदार्ढ्योपाय उच्यतामित्याकाङ्क्षायामाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अत्र पूर्वोक्तो भावो बीजम्, तस्य दार्ढ्यप्रकारस्त्वयं यत् 'भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद्भगवत्क्रियाम्। उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति श्रीभागवततत्त्वदीपनिबन्धे सिद्धान्तितत्वात् । भगवद्भजनानुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः वर्णाश्रमधर्मतो भगवद्भजनानुकूललौकिकवैदिकधर्मतश्च अव्यावृत्तः अनिवृत्तः सन् कृष्णं श्रीमद्गोपीजनविशिष्टं कृष्णपदार्थं फलरूपं भजेत्, कृष्णविषयिकीं सेवां कुर्यादित्यर्थः । अत्र यद्यपि स्वधर्मत इत्यत्र स्वपदस्यात्मात्मीयवाचकत्वात् स्वधर्मपदेनात्मधर्मरूपो दासधर्मोऽप्यायाति, तथापि न व्याख्याने संगृह्यते, किन्त्वात्मीयधर्मरूपवैदिकलौकिकधर्मा एव संगृह्यन्ते । यतो भजेत्पदार्थस्य सेवाकारणस्य सेवकधर्मत्वात् भजेत्पदेनैवात्मधर्मरूपदासधर्मसंग्रहस्य जायमानत्वादिति बोध्यम्। कृष्णशब्दस्य श्रीमद्गोपीजनविशिष्टकृष्णपरत्वं तु मत्कृतप्रथमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्यां 'कर्ता ज्ञः सकलस्ये'ति पद्यव्याख्याने मया सप्रपञ्चमुक्तमिति तत्रैवावलोकनीयम्। अत्र वर्णाश्रमधर्मत्यागेन भजने यद्यपि पापं न भवति, 'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदना'मित्यादिवाक्येन विहितत्वात्, तथापि स्वधर्मत्यागेन भजने गृहस्थितानां पुत्रकलत्रादीनां तादृग्विश्वासाभावात् स्वस्मिन्नसद्बुद्ध्या सेवौदासीन्येन बहिर्मुखजनितमार्गनिन्दया स्वचित्तक्षोभेन च सेवाया अनिर्वाहः स्यात् । न च तर्हि पुत्रकलत्रादीनां निन्दया स्वचित्तक्षोभजनकानां बहिर्मुखानां सङ्गत्यागस्य कर्तुं शक्यत्वे 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दित्युक्तत्वात् सेवाप्रतिकूलतायामेव पुत्रकलत्रादीनां त्यागस्य सिद्धान्तत्वेनौदासीन्ये गृहे स्थित्वा स्वयं कर्तव्यस्य बोधितत्वात् । न च स्वयमेव सर्वं क्रियतामिति वाच्यम् । स्वधर्मत्यागेन तेषामौदासीन्याभावे स्वयमेव सेवासामग्रीसम्पादनस्य कर्तुमशक्यत्वात् । स्वधर्मत्यागेन तेषामौदासीन्याध सेवाबाधः प्रसज्येतेति । अयं च स एवोत्तमः सेवको यः स्वामिन आयासं न सहते । एवंस्थिते गृहस्थे सेवकेन वैदिकलौकिकधर्मत्यागेन भजने क्रियमाणे तं दृष्ट्वान्यैरपि तदनुयायिभिस्तथैव भजने कृते स्मरणार्थकवैदिकलौकिकधर्मनाशे जायमाने 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यह'मिति वाक्यात् धर्मरक्षार्थं भगवतः प्रयत्नकरणे महायास उत्पद्येत । स चायासः स्वदर्शनेनेति गृहस्थसेवकस्यानुत्तमसेवकत्वं च प्रसज्येतेत्यनेनापि हेतोः स्वधर्मत अव्यावृत्तो भजेदित्युक्तमित्यपि ।

ननु केवलमेव सेवनं कर्तव्यम्, अथवा किञ्चिदन्यदन्यदपि कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहु पूजया श्रवणादिभिः। अत्र विनापि सहयोगं तृतीयेत्युक्तत्वात्सहशब्दाप्रयोगेऽपि तृतीया। तथा पूजया श्रवणादिभिः सहेत्यर्थः सम्पन्नः। अथाप्रधानतृतीयानिर्देशात्सेवाया एव प्राधान्यम्। पूजाया श्रवणादेश्च गौणत्वमेव। अत्र पूजापि गृहस्थितानामौदासीन्यसम्पादनार्थं बहिर्मुखजनितमार्गनिन्दया स्वचित्तक्षोभाभावार्थमेवोक्ता। अन्यथा शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवाभावकरणे विध्युक्तत्वाभावज्ञाने तेषामौदासीन्यं स्यात्। तस्मात् पूजासाधनैः शङ्खघण्टाद्युपचारैरपि सह सेवा कर्तव्येत्युक्तम्, परन्तु शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवाविरोधिपूजासाधनैर्न कर्तव्येति। न च पुष्टिमार्गविरोधिपूजासाधनत्यागेऽपि तेषामौदासीन्ये का गतिरिति वाच्यम्। पञ्चोपचारषोडशोपचाराष्टादशोपचारचतुःषष्ट्युपचारैः पूजा विहितेति उपचाराणामनियतत्वेन कमपि पक्षं करोतीति तेषामौदासीन्याभावात्। अत एव अप्रधानतृतीयया श्रवणादित्रयमपि सेवाविधेर्न कर्तव्यम्। मुख्यतया सेवां कृत्वा सेवासमयातिरिक्तसमये श्रवणादिकं कर्तव्यमिति तस्यापि गौणत्वमिति।

यत्तु स्वधर्मतो दासधर्मतो भवेत्, अव्यावृत्तः लौकिकव्यावृत्तिरहितः सन् इति व्याख्यानं, तत्र गृहे स्थित्वा भजने लौकिकव्यावृत्तिराहित्यं सर्वथा न भवतीति विचार्यम्। यद्वा। कृष्णं फलात्मकं पूजया पूजासाधनैर्भजेत्। सेवां कुर्यात्, न तु पूजयेत्। तथा च सेव्यसेवकभावेनैव कृतिं कुर्यात्। न तु 'देवो भूत्वा देवं यजेदि'ति वाक्यात् स्वस्मिन् देवत्वं भावयेत्। किन्तु दासत्वमेव। न च भजेदित्येतावतैवायमर्थं आयात्येव, तथा च पूजयेदिति वचनं व्यर्थमिति वाच्यम्। भजेदित्येतावत्युक्ते कया सामग्र्या भजेदित्याकाङ्क्षायां पूजया पूजासाधनैरेव भजेदिति बोधनेन तस्य सार्थक्यात्। एवमेव श्रवणादिभिरपि भजेत्। श्रवणादिकमपि सेव्यसेवकभावेनैव कुर्यात्, न तु सेवकत्वमात्रबुद्ध्या। तत्र प्रथमव्याख्याने तु सेवानुकूलसाङ्गपूजासाधनैः सह भजनम्, न तु गृहस्थितानामौदासीन्याभावाय बहिर्मुखजनितचित्तक्षोभाभावाय मार्गनिन्दाभावाय चेति ज्ञेयम्। द्वितीयव्याख्याने तु प्रायशो यैरेव स्तुतिभिः पूजा भवति, तैरेव स्तुतिभिः सेवा भवति। परन्तु पूजाविहितत्वेन समर्पणम्, न तु दास्योपयोग्युचितानुचितविचारेण। सेवायां तु दास्योपयोगिशुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसहसदृशभावनया समर्पणं स्यात् स्नेहाधिक्येनेति विशेषः। न च स्नेहाभावे कथं फलं भविष्यतीति वाच्यम्। स्नेहवच्छुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यमार्गावलम्बपातात्। इदं यथा तथा 'सत्र सगुर्ताये गुदुम्न मिति दशमस्कन्धायममस्तुतिरुपत्र्यास्थाने भक्तिहसे अश्रयितमस्तप्रभुभिरिति तत्रैवावलोकनीयम्। अत्र भजेदित्यत्र न तु पूजयेदिति। अत्र यथा पूजाभावनाना शुद्धपुष्टिमार्गीयेण समर्पणम्, स इतरस्तु भक्तानशुद्धपुष्टिसेवासरणौ द्रष्टव्य, गहनत्वादत्र नोक्त इति ज्ञेयम्।

ननु सेवा हि सेव्यसन्तोषजनकक्रियया सिध्यति। सा च क्रिया पादसंवाहनादि

रूपा। श्रवणादौ तु क्रियात्वाभावात्कथं तेन सेवा सिध्यतीति चेत्। अत्र ब्रूमः। सेव्यसन्तोषजनकधर्ममात्रेणैव सेवा सिध्यति लोके, न तु क्रियामात्रेण, तथैवानुभवात्। तथा च श्रवणादेरपि तादृशधर्मत्वात्तेनापि सेवासिद्धिर्भवत्येवेति जानीहि। यद्वा। श्रवणादिभिः सेवानुकूलभावभगवत्स्वरूपसेवाप्रकारादीनां ज्ञानस्य कृतिपर्यवसायित्वमेवेति क्रियात्वमेव ज्ञेयम्। न च सिद्धान्तमुक्तावल्यां तु 'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजे'त्यत्र तनुवित्तजसेवैवोक्ता, न तु श्रवणादिजा सेवापीति वाच्यम्। तनुजसेवायामेव श्रवणादिजसेवाया अन्तर्भावात्। तथा हि। तत्र तनुजावित्तजा सेवा द्विविधा मुख्या गौणी च। तत्र प्रभुसुखमात्रोद्देशेनैव कृता प्रसङ्गात् स्वधर्मपर्यवसायिनी मुख्या। स्वधर्मस्वमात्रोद्देशेनैव कृता प्रसङ्गात् प्रभुसुखपर्यवसायिनी गौणी। तत्रेन्द्रियदेहप्राणान्तःकरणसङ्घातरूपतनौ ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियसत्त्वात् ज्ञानेन्द्रियैर्घ्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वङ्मनोभिर्भगवत्सेवोपयोगिषु स्वविषयेषु सदसद्विवेचनजा सेवा, अथ च कर्मेन्द्रियैर्वाक्पाणिपादैर्भगवत्सेवोपयोगिवचनकथनार्थगमनचरणसंवाहनवस्त्वानयनादिकसेवा, अथ च कर्मेन्द्रियाभ्यां पायूपस्थाभ्यां सेवाप्रतिबन्धकमलकामनिवृत्तिद्वारा स्वच्छसद्मातजा सेवा, अथ च शरीरावयवेन मूर्ध्ना स्वयात्तिसमीचीना भगवद्भोग्यसामग्री सम्पादनीया सम्पादितेति स्त्रीपुत्रादीनामपि वन्दनजा सेवा च स्वकृतालङ्कारादिष्वपि स्वस्मिन् दासत्वेन तत्तत्सामग्रीसम्पादकत्वात् स्वान्तःस्थितप्रियप्रियतमाभ्यामेव परस्परकृतत्वबुद्ध्या अतिसौन्दर्यावलोकनजनितानन्देन प्रियस्य प्रियायाश्च वा वन्दनजा सेवा, अथ च क्षुधातृषादीनां प्राणधर्मत्वात् चानुभावेन तत्तत्समयानतिक्रमेण सपरिकरे प्रभौ भोजनजलादिसमर्पणेन प्राणजा सेवा, अथ च दासत्वसखित्वाभ्यामात्मनिष्ठाभ्यां बहिरङ्गान्तरङ्गसमयेष्वपि सर्वदा प्राणप्रियासहितप्रभुसन्निधौ निःशङ्कमनःसम्पादिता तत्तद्वस्तुसम्पादनजा सेवा, अथ च तदात्तविशिष्टोऽहम् मत्सम्बन्धिनः सर्वे प्रभुमात्रभोग्याः, नान्यभोग्या इत्यात्मसमर्पणजा सर्वविधा सेवा च भगवत्सुखोद्देशेनैव कृतत्वादियं तनुजा मुख्यसेवा। स्वधर्मत्वमात्रोद्देशेन कृता चैव्दशी सेवा गौणीतनुजा सेवा ज्ञेया। एवमेव श्रवणकीर्तनस्मरणजा सेवापि द्विविधा, मुख्या गौणी च। तत्र मद्वदिस्सः सपरिकरः प्रभुः स्वप्रियतममक्तनिदिष्टलीलाश्रवणेनानन्दातिशयमनुभवतामिति प्रनिधुध्य श्रवणजा सेवा मुख्या। स्वेतरभक्तहृदिस्थो मत्प्रभुस्तादृशलीलाकीर्तनेनानन्दातिशयमनुभवतामिति प्रनिधुध्य तत्तल्लीलागोचराय तादृशलीलाविशिष्टप्रभुस्मरणजा सेवा मुख्या। भगवत्सुखमात्रोद्देशेनैव कृतत्वात्। स्वधर्ममात्रोद्देशेन कृता तु श्रवणकीर्तनस्मरणजा गौणीत्युच्यते। अत्राद्या सर्वेषामपि सेवा शुद्धपुष्टिमार्गीयाणाम्, द्वितीया तु मर्यादापुष्टिमार्गीयाणामिति ज्ञेयम्। एवं च श्रवणादिजाया अपि सेवायाः श्रोत्रादीन्द्रियान्तःकरणमात्रत्वात्तनुजसेवायामन्तर्भाव इति श्रवणादिजसेवादिकमेवेति। न तद्विरुद्धमत्र इति दिक्।

एवं चित्तजापि द्विविधा । मुख्या गौणी च । तत्र स्वार्जितसर्वविधसर्ववित्तेन परिकरविशिष्टप्रभूपयोगिवस्तुसम्पादनजा मुख्या । वित्तजा सेवा स्वार्जितद्रव्यस्य शास्त्रोक्तविभागं कृत्वा विभागागतभगवद्द्रव्येण तादृशप्रभूपयोगिवस्तुसम्पादनजा गौणी वित्तजा सेवा । अत्राप्याद्या शुद्धपुष्टिमार्गीयाणाम्, द्वितीया मर्यादापुष्टिमार्गीयाणां ज्ञेया ।

स्यादेतत् । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान' इति श्रुत्या भगवत ईशत्वेन जीवानां सहजदासत्वेन दास्येन सेवा कर्तुं शक्या । सख्यात्मसमर्पणयोस्तु भगवदङ्गीकारसाध्यत्वात् सख्यात्मसमर्पणाभ्यां निःशङ्कतया जीवेन स्वयं सेवा कर्तुमशक्येति चेत् । अत्र वदामः । 'स नो बन्धुर्जनिता स विधाते'ति 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युत'मिति तैत्तरीयोपनिषच्छ्रुतिभ्याम् 'भर्ता सन्भ्रियमाणो बिभर्ति' 'एको देवो बहुधा निविष्ट'इति श्रुतिभ्यां 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाये' ति मुण्डकोपनिषच्छ्रुत्या च 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः । गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर' इत्यादिभगवद्गीतावाक्येभ्यः । 'येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टमि'ति तृतीयस्कन्धीयवाक्येन । 'सुहृत्प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् । तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा । सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाये'त्याद्येकादशस्कन्धीयपिङ्गलावाक्यैश्च । 'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम् । सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयो गुणाः' इत्यादि तत्रत्यभगवद्वाक्यैश्च सर्वविधबन्धुत्वसखित्वपतित्वप्रभुत्वभर्तृत्वदेवत्वमातृत्वपितृत्वपितामहत्वधातृत्वविधातृत्वगतित्वसाक्षित्वनिवासत्वशरणत्वसुहृत्त्वोपद्रष्टृत्वानुमन्तृत्वभोक्तृत्वप्रियत्वात्मत्वसुतत्वगुरुत्वेष्टत्वप्रेष्ठतमत्वरमणत्ववित्तरतिदातृत्वादिधर्मा भगवति प्रतिपाद्यन्ते । ते च धर्मा भगवद्धर्मत्वात् नित्याः । नित्यधर्मवत्त्वं च तदैव घटते, यदि तत्प्रतियोगिनो धर्माः सर्वविधबन्धुत्वसखित्वदासत्वसेवकत्वपोष्यत्वाराधकत्वपुत्रत्वपौत्रादिकत्वाधेयत्वविधेयत्वप्रतियोग्यत्वद्वितीयत्वदास्तम्यत्वदीनत्वसुहृत्त्वोपदेश्यत्वमन्तृत्वभोग्यत्वासक्तत्वपितृत्वशिष्यत्वेष्टस्वपरमासक्तत्वरत्याकाङ्क्षित्ववार्थित्वरत्याविष्टादयो जीवेषु नित्या भवन्ति । एवं च पूर्वोक्तनित्यसिद्धधर्माणां भगवति सत्त्वाज्जीवेष्वेते धर्मा नित्या निरुद्धा इति भगवति सखित्वभोक्तृत्वयोः सत्त्वाज्जीवेष्वपि सखित्वभोग्यत्वयोरपि सत्त्वाचयोश्च नामनिवेदनाभ्यामाविर्भावितत्वाद्भगवदङ्गीकारस्यापि सत्त्वान्निःशङ्कतया सख्यात्मसर्पणसेवासिद्धिरिति बुध्यस्व । तथा च यतः सर्वविधोपि सम्बन्धो जीवानां भगवता सह वर्तते, अतएव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहमि'ति भगवता गीतायां येन केनापि प्रकारेण प्रपन्नस्यापि फलदानमुक्तम् । न चैवं भगवतो जीवैः सह सर्वविधे सम्बन्धे सति भगवान् स्त्री अहं पुरुष इति भावेनापि भजनं प्रसज्येतेति वाच्यम् । 'पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपुत्रवन्मित्रवद्धरिम् । ये भजन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योपीह नमोनमः । नारी वा पुरुषो

चापि भर्तृभावेन केशवम्। हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशयः। येषामहं प्रियतम आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्। पिताहमस्य जगतो माता माता पितामहः। गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर' इत्यादि नारायणव्यूहस्तवीयबृहद्वामनपुराणीयश्रीभागवतीयश्रीमगवद्गीतादिस्वयचननिचयेषु तदुक्तीतभावेन भजनस्यानुक्तत्वात्। 'यावद्वचनं हि वाचनिक'मिति न्यायात्। एतादृशभावचक्रकत्तस्याश्रुतत्वाच्च। एवं सति स्वयमेवैताद्दशभावेन भजने 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे'ति वचनेन दोष आपद्यते। एवं च 'ये यथा मामि'ति श्लोकस्यापि येजीवाः शास्त्रोक्तभजनप्रकारेषु 'यथा येन प्रकारेण प्रपद्यन्ते तांस्तेनैव उक्तप्रकारानुकूलप्रकारेणाहं भजामी'त्यर्थो बोध्यः। न तु येनकेनचित्प्रकारेणेति। किञ्च। श्रीमागवतेपि 'कोटिकन्दर्पलावण्यः साक्षान्मन्मथमन्मथः पुरुषोत्तम' इत्येव नामोक्तं प्रभुस्वरूपेण, न तु कोटिरतिलावण्यः स्त्र्युत्तम इत्यादि। तथा च तादृङ्नामतादृक्स्वरूपयोः श्रवणे दर्शने च सर्वेषां स्वस्मिन् स्त्रीभावोदय एव भवति, न तु स्वस्मिन्पुरुषभावोदय इति। अत एवोक्तं श्रीमद्दस्गोस्वामिप्रभुभिः त्रिभङ्गललितस्तवे 'एतस्य दर्शने तु स्यात्प्रमदाभाव एव ही'ति। अत्र दर्शनपदं श्रवणादीनामप्युपलक्षकम्। इयदवधि एतच्छ्रोतृणामपि साक्षात्कर्तृणामिव प्रमदाभावोदयस्यैव दृश्यमानत्वात्। यद्वा। दर्शनपदं चाक्षुषादिज्ञानमात्रपरं बोध्यम्। यदि च भगवता सच्चिदानन्दरूपात्युत्तमस्त्रीरूपेणाविर्भूय कस्यापि पुरुषभाव उत्पादितः स्यात् तदा स्त्र्युत्तम इति कोटिरतिलावण्य इति नामापि युक्तं स्यात्। मोहिनीरूपं तु 'इत्युपामन्त्रितो दैत्यैर्मायायोषिद्वपुर्हरि' रिति। 'यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोस्म्यङ्ग मायये'त्यादिश्रीभागवतीयवाक्यैर्भगवन्मायारूप एव, न तु सच्चिदानन्दरूपम्। आवेशमात्रं तु भगवत इत्यवतारमध्ये गणना। जीवानां नारदादीनामिव। न त्वत्र प्रभवि केनचित्तस्मिन्पुरुषभावेन मोहिन्यां च स्त्रीभावेनोपासितमिति। तस्मान्छिष्टाचाराभावादप्यस्याद्युक्तमेव साधु। यत्तुनः 'स वै न रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत, स ह एतावानास। स पतिः पत्नी चाभवता'मि'ति श्रुतौ यत्पत्नीरूपं भगवतः श्रूयते, तत्तु स्वप्रीत्येनैव प्रकटितमिति तस्य प्रभुपत्नीरूपत्वेन भजनं शिष्टमेव। पूर्वोक्तविरुद्धभावेन भजनं तु भजनगावप्रकारेषु शास्त्रेणुक्तमिति ॥ कर्तव्यमेव। अन्यथा द्वेषभयादिविरुद्धभावेन फलवदनेनाप्युक्तं स्यात्। एवं जीवैः सह भगवतः सर्वसम्बन्धसम्बन्धे नित्यसिद्धे सिद्धे भगवतो यत्सम्बन्धपुरस्कारेण जीवेषु तिरोभाव सम्बन्ध एवाविरुद्धान्यभावसम्बन्धाविर्भावविशिष्ट आविर्भवति, न तु विरुद्धसम्बन्धाविर्भावविशिष्टः, साक्षाद्भोग्यत्वसम्बन्धे भर्तृत्वादिसम्बन्ध इवेति फलं प्रयत्नानुक्रमकरिष्यते। चरेदं ज्ञेयम्। पूर्वोक्ता सर्वसिम्पापि सेवा प्रेम्णा क्रियमाणफलरूपा। केवलं गुरुपुष्टिमार्गीयाचार्यचरणोपदेशमात्रेणैव

६ भक्ति.

विना प्रेम कृता नित्यसिद्धभक्तिवृद्धचाविर्भावसाधनरूपा ज्ञेया । तथापि साधनत्वबुद्ध्या न कर्तव्या । साधनत्वबुद्ध्या करणे तु 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'ति वाक्यात् 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति स्वप्रतिज्ञातश्च प्रेमाद्युत्पाद्य 'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर'मिति पुरुषोत्तमज्ञानमुत्पाद्य स्वप्रवेशरूपमुक्तिरूपफलमेव मर्यादाभक्तिमार्गीयं भगवान् दद्यात्। न तु सर्वदा साक्षात्स्वसम्बन्धरूपं शुद्धपुष्टिमार्गीयं फलम्, साधनबुद्ध्या कृतनवविधभक्तेः प्रेमोत्पादनद्वारा प्रवेशपर्यवसायित्वात् । फलरूपत्वबुद्ध्या करणे तु प्रेमासक्तिव्यसनान्युत्पाद्य स्वसेवामेव स्वप्रवेशरूपफलादप्युत्तमां दद्यात् । तस्मात् फलत्वबुद्ध्यैव शुद्धपुष्टिमार्गे सेवा कर्तव्येति । 'सार्ष्टिसामीप्ये'त्यादि'सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रित्यादिवाक्यैः सेवायाः सर्वोत्तमफलत्वं प्रसिद्धमेव । इदमेव ज्ञापयितुं फलात्मकनामोक्तम् । वस्तुतस्त्वाचार्यमार्गीयस्याचार्यपक्षपातेन प्रवेशरूप फल साधनबुद्ध्या करणेपि न भविष्यति, तथापि भगवत एतस्मिन्विषये सङ्कोचो भविष्यतीति फलात्मकनामोक्त्या फलत्वबुद्ध्यैव सेवा कर्तव्येत्युपदिष्टं श्रीमदाचार्यचरणैरिति बोध्यमिति दिक् । ननु भगवानेकदैव प्रेमादिवक्ष्यमाणावस्थाविर्भावं कुतो न करोति, वा क्रमेण करोतीति चेत् । क्रमेणाविर्भावे रसाधिक्यानुभवस्यानुभवसिद्धत्वाद्रसाधिक्यानुभवार्थमेवेति गृहाणेति सर्वं निष्प्रत्यूहम् । प्रकृतमनुसरामः ।

ननु 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' । 'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते । तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदनाम् । प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च' 'याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभय' इत्यादिश्रीगीताश्रीभागवतीयभगवद्वाक्येभ्यो लौकिकवैदिकत्यागपूर्वककेवलदासभावेन चेद्भजेत्तदा कथं भजेदित्याकाङ्क्षायां सार्धश्लोकेनाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

पूर्वोक्तभगवद्वचनबलेन पुत्रकलत्राद्यौदासीन्यं बहिर्मुखजनितनिन्दां चाविगणय्य लौकिकवैदिकगृहस्थधर्मतो व्यावृत्तोपि निवृत्तोपि 'उदासीने स्वयं कुर्या'दिति सिद्धान्तात्स्वयमेव दासधर्मत्वाद्यथाशक्ति सेवां विधाय सदा हरौ सकलदुःखहर्तरि चित्तं न्यसेत् । तत्स्मरणं कुर्यात्, अथ च श्रवणादौ श्रवणकीर्तनयोरपि चित्तं न्यसेत् स्थापयेत् । न त्वेतेभ्योपि निवृत्तो भवेदिति भावः । अत्र चित्तपदं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । यद्वा हराविति विषये सप्तमी । हरिविषयक चित्त श्रवणादौ श्रवणकीर्तनस्मरणेषु न्यसेत् । यद्वा ।

हराविति निमित्ते सप्तमी। चर्मणि द्वीपिनं हन्तीत्यत्रेव। तथा च हरिनिमित्तं श्रवणादौ श्रवणकीर्तनेषु चित्तं न्यसेत्। अत्रेदं ज्ञेयम्। पूर्वश्लोके श्रवणादिभिरित्यत्राप्रधानतृतीयाव्याख्यानपक्षे तृतीयया श्रवणादीनां सेवासमयातिरिक्तसमये कर्तव्यत्वादप्राधान्यं यथा बोधितं तथा तस्मिन् श्लोके श्रवणादीनां सदापदेन सर्वदा कर्तव्यत्वस्य बोधितत्वेन पूर्वश्लोकानुवर्तमानायाः गृहे स्थित्वा सेवायाः किञ्चित्समय एव कर्तव्यत्वस्य आगतत्वात्, अथ च पुत्रकलत्रादीनां स्वधर्मत्यागजनितौदासीन्येनासहायत्वात्पूर्णसेवानिर्वाहाभावाच्च स* प्राधान्यं बोध्यत इति। अयं तु गौणपक्षः। लौकिकवैदिकगृहस्थव्यावृत्तिं विनानुत्तमसेवकत्वसंपालया(?)दिति बोध्यम्। अस्मिन्पक्षे पूर्णफलप्राप्तिस्तु गुणश्रवणादिसन्तुष्टान्तरङ्गभक्तकृपया ज्ञेया। अत्र यतेत। यतेत् इति पाठस्तु लेखकप्रमादमूलक एव। न चाध्याहारः। चित्तपदोक्तं विधायेति क्रियापदं क····नध्याहारेणार्थकरणे चित्तपदस्य वैयर्थ्यापाताच्चेति सुधीभिरेवाकलनीयम्। एतत्पाठस्य व्याख्यानं यथा श्रीमद्गुरुभिर्व्याख्यातं तथैव व्याख्यानं मन्मतेऽपि बोध्यम्। अस्मिन् पक्षेऽनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यं चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकादिति यतेदित्यत्र परस्मैपदं साधनीयम्। नन्वेवं भक्तिवृद्धिसाधने क्रियमाणेऽपि भक्तिवृद्धिरेवैकपदेन स्यादथवा किञ्चिन्मध्येऽन्यदपि स्यादित्याकाङ्क्षायामाहुः ततः प्रेमेति। तत इति पञ्चमी। ततस्तस्माद्धेतुभूतात् भजनात् प्रेम। यस्य पूर्वावस्थाभावस्तस्य भावस्य तत्तत्फलस्याविर्भावः। तथा तेन सप्रेमभजनरूपप्रकारेण तस्यैव भावस्यासक्तिरूपावस्थाविर्भावात् भवेत्। च पुनर्व्यसनम्। 'दैहिकान् सकलान् भावान् निजां पीडां च दैहिकीम्। परित्यज्य हरिप्राप्तिर्यदैव स्यात्तदैव तत्' इति श्रीभागवततत्त्वदीपीयभागवतरूपप्रकरणस्थदशमस्कन्धे सकलदैहिकं भावं दैहिकत्वत्यागपूर्वकं हरिप्राप्त्यै सर्वगतादिकमासज्यै क्रियते तदेव तद्व्यसनमित्युक्तत्वात्ताद्यं व्यसनम्। अथ च तदनन्तरमपि प्रभुसम्बन्धाभावे प्रतिकारयरूपं च व्यसनं यदा भवेदाविर्भवेत्। अत्र यदेति पदं व्यसनाविर्भावस्य कालनियमाभावं ज्ञापयति। तथा च यदा भगवदिच्छया व्यसनमाविर्भवेत् तदा दृढं बीजमुच्यत इत्यग्रिमश्लोकेन सम्बन्धः। व्यसनपदस्याप्रतिकार्यदुःखपरत्वेन च व्याख्यानं तु 'व्यसनं समवोचते'ति दशमस्कन्धप्रथमाध्यायसुबोधिन्यां श्रीगदाचार्यैः कृतं तत्रैवावलोकनीयम्। ननु तदा किं भवेदित्याकाङ्क्षायामाहुः बीजमिति। तदा तत्प्रमानन्दस्याविशेषरूपं व्यसनं शास्त्रे भक्तिशास्त्रे दृढं बीजमित्युच्यते। यदृढं बीजमपि पुनः न नश्यति तिरोभावं न प्राप्नोतीत्यर्थः। एतेन प्रेमासक्त्योर्भगवदनुकूले गृहे तदनुकूलत्वे तत्त्यागेन तदीयसदीयैः सह स्थित्वा च कदाचिदन्यव्यासङ्गे तत्क्षणे तिरोभावो भवेदपि बीजस्य। व्यसने जाते तु सर्वेषामेव त्यागात् व्यासङ्गान्तरोत्पत्तेः सम्भावनाभावादेवेति तस्य दृढबीजत्वं निरन्तरं निश्चिन्तावस्थाविर्भावेन फलसाधकत्वमिति ज्ञेयम्।

ननु प्रेमासक्तिव्यसनानां परमानन्दस्याविशेषदर्शनानान्तरधर्मत्वाज्ञापनेन्द्रियपदलयत्वात् पर-

---

* बुद्धिरपरिस्थः

निष्ठस मनसा ज्ञातुमशक्यत्वात् केन लिङ्गेनेदं प्रेमेयमासक्तिरिदं व्यसनमिति ज्ञायतामित्याशंक्य तत्तत्कार्यमेव तत्तल्लिङ्गमिति सार्धश्लोकेनाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यादि।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।

यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

स्नेहाद्धेतोः आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरिति गृहारुचेरग्रे वक्ष्यमाणत्वात् सेवोपयोगिस्वगृहस्वपुत्रतादृशान्यव्यतिरिक्तेषु रागस्य, 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु। गान्धारादौ नृपे राग' इति विश्वात् प्रेम्णो भगवद्विषयकविश्लेषेण नाशः तिरोभावः स्यात्। स्वस्त्रीस्वपुत्रतदन्येषु सेवोपयोगिषु तु तिष्ठत्येव। अत्र नाशे विशेषकथनात्प्रेमाविर्भावात्पूर्वं कृतभजने इतरत्र कदाचिद्रागो भवति। प्रेमाविर्भावोत्तरं तु न भवत्येवेति ज्ञेयम्। तथा च भगवत्सम्बन्ध्यतिरिक्ते तु रागाभावः प्रेमलिङ्गमिति ज्ञेयम्। अथ गृहारुचिः। स्वगृहेपि स्वगृहस्थपुत्रादिपदार्थेषु सर्वेष्वप्यरुचिः तत्सम्बन्धानिच्छा स्यात्। तेषां भगवदनुकूलत्वात्सेवोपयोगित्वेपि प्रेमासक्त्यभावात्सेवासमयातिरिक्तसमये गृहव्यासङ्गजनकत्वात्। यदि गृहव्यासङ्गं न जनयेयुस्तदा त्वरुचिर्न भवत्येवेति भावः। तथा च स्वगृहस्थानां गृहव्यासङ्गजनकत्व एव गृहारुचिरासक्तिलिङ्गम्। तेषां गृहव्यासङ्गजनकत्वे तु पूर्ववद्यान्यधिकसेवाश्रवणादिरुचिरेवासक्तिलिङ्गं ज्ञेयम्। अथ व्यसनलिङ्गमाहुः गृहस्थानामिति। अत्र प्रेमासक्तेः सेवानुकूलाः स्वगृहस्थाः पुत्रभार्यादयो यदि लौकिकव्यासङ्गं न जनयेयुस्तदा प्राप्तासक्तिना स्वगृहस्य भगवति निवेदितत्वेन हरिस्थानत्वात्स्वगृहस्थानां सर्वदा भगवत्सेवाकथानिष्ठत्वेन तत्परं भगवदीयत्वात् लौकिकव्यासङ्गाजनकत्वेन स्वप्रतिबन्धकत्वाभावाच्च स्वगृहस्थितौ बाधकत्वाभावात्स्वगृहमध्य एवासक्त्युत्पत्तिसिद्धयर्थं स्थेयम्। यदि तु तादृशस्वगृहस्था लौकिकव्यासङ्गं जनयेयुस्तदा तेषां बाधकत्वात्स्वगृहं त्यक्त्वा तत्परभगवदीयैः सह दृढबीजसिद्धयर्थं सेवाकथाश्रवणादिविषयकयत्नं कुर्वतान्यहरिस्थाने स्थेयमिति पक्षद्वयम्। तत्र यस्मिन् पक्षे त्वासक्त्युत्पत्त्यनन्तरं बाधकाभावात्स्वगृहस्थितस्यैव व्यसनं जातं, तस्मिन्पक्षे स्वगृहस्थानां तत्परभगवदीयत्वाद्वैगुण्यगाने क्रियमाणे तच्छ्रवणेन प्राप्तव्यसनस्य स्वास्थ्ये जाते तापक्लेशाभावाद्भगवत्प्रादुर्भावतापक्लेशजनितपूर्वभगवत्प्राकट्यस्यापि गतत्वाबान्तःप्रकटभगवत्सम्बन्धानन्दविघातकत्वादेते मम भगवत्सम्बन्धानन्दविशेषविघातका इति स्वगृहस्थेषु तादृशान्यगृहस्थेषु च बाधकत्वभानं भवति। द्वितीयपक्षे त्वासक्त्युत्पत्त्यनन्तरं स्वगृहस्थास्तु त्यक्ता एव लौकिकव्यासङ्गजनकत्वात्, स्थितं च हरिस्थाने तत्परभगवदीयैः सह, तेषामपि भगवद्गुणगानपरत्वात्, पूर्वोक्तप्रकारेण प्राप्तव्यसनस्य तेष्वपि बाधकत्वभानं भवति, अतो गृहस्थानामिति

पदं सर्वगृहस्थपरम् । न तु स्वगृहस्थमात्रपरमिति बोध्यम् । तथा च गृहे तिष्ठन्ति ते गृहस्थास्तेषां बाधकत्वं तत्सम्बन्धिविरहानुभवान्तर्गतभगवदनुभवबाधकत्वं पूर्वोक्तप्रकारेण प्रासव्यसनस्य भासते स्फुरतीत्यर्थः । न च स्वगृहरूपहरिस्थानस्यान्यहरिस्थानस्थगृहस्थानां भगवदीयत्वेन भगवद्गुणगाने क्रियमाणे प्रासव्यसनस्य स्वास्थ्ये जाते तापक्लेशाभावाद्भगवदाविर्भावाभावे पूर्वसञ्जातभगवत्साकट्यतिरोभावे भवद्भिर्भगवद्गुणा न गेया इति प्रासव्यसनेनोक्ते यस्माद्भजनप्रतिबन्धक इति प्रासव्यसनसम्बन्धिबाधकत्वं भासते । स्फुरतीति वार्थः । इदमर्थद्वयमप्यत्राभिप्रेतं श्रीमदाचार्याणाम्, परस्य न बाधकज्ञानेन दृढतरपरित्यागाय गृहस्थपदं भगवदीयानां ब्रह्मचारिवानप्रस्थसंन्यासिनामप्युपलक्षकम् । एतत्कृतगुणगानश्रवणजस्वास्थ्यजनितभगवदाविर्भावाभावपूर्वकं प्रकटभगवत्तिरोभावाभ्यां पूर्वव्याख्याने ब्रह्मचर्यादिसम्बन्धिबाधकत्वभानं प्रासव्यसनस्य, द्वितीयव्याख्याने प्राससम्बन्धिबाधकत्वभानं ब्रह्मचर्यादीनामपि जायत इति भगवदीयब्रह्मचर्यादयोपि सन्त्याज्या एवेति । अतएव श्रीमदाचार्यकृतव्यसनोत्तरपरित्यागे स्वपरगृहस्थाद्यारम्य अन्नजलादिपर्यन्तमपि त्यागो दृष्टः । अत एव विरहानुभवार्थस्त्यागः परितस्त्यागरूप इति संन्यासनिर्णये परित्यागशब्देनैवोक्तः । अत एव तादृशबाधकत्वज्ञानोत्तरमेव 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति संन्यासनिर्णयोक्तः परित्यागः स भविष्यति । यदि प्रासव्यसनस्य सर्वप्रकारकपूर्वोक्तभगवदीयगृहस्थादिषु भगवदीयगृहस्थादीनां प्रासव्यसने सर्वथा बाधकत्वभानं न भवेत्, तदा सर्वपरित्यागोपि दुःशकः कथं भवेदेवेति ज्ञेयम् । ननु पूर्वोक्तगृहस्थेषु प्रासव्यसनस्य प्रासव्यसने च तेषां बाधकत्वज्ञानेपि प्रासव्यसनस्य भगवत्यासक्तौ जातायां भगवति यथात्मात्मीयत्वं भातं तथा भगवत्सम्बन्धेन भगवदीयेष्वपि पूर्वोक्तेषु पूर्वोक्तभगवदीयानां च प्रासव्यसने भासत एव । एवं च परस्परं दृढतरात्मत्वात्मीयत्वाध्यासस्य विद्यमानत्वात् महारोगाद्युपद्रवेहादिषु यथा लौकिकालौकिकार्थबाधकत्वज्ञानेपि तैर्दृढतराध्यासात्तत्त्यागः कर्तुं न शक्यते, तथा पूर्वोक्तसर्वभगवदीयत्यागोपि प्रासव्यसनेन प्रासव्यसनस्य च त्यागस्तैः कर्तुं न शक्यत इत्याशंक्याहुः अनात्मत्वं च भासत इति । आत्मशब्दस्य देहात्मनोरीपकारकत्वात् तेषु प्रासव्यसनस्य प्रासव्यसने च तेषामनात्मत्वमात्मात्मीयभिन्नत्वे सहितकारित्वाभाव इति यावत् । तच्च भासते । यथैते मद्धितकारिणो भवेयुस्तदा यथान्तःप्रकटीभूयात्मनात्मीय इति भगवान् सुदर्शनदानादिना हितं करोति, तथैतेपि कुर्युः, न तु भयदर्शनादिनाहम् । अतो नैते ममात्मात्मीया इति प्रासव्यसनस्य पूर्वोक्तेषु यथयमस्मद्धितकारी स्यात्तदास्मद्भजनप्रतिबन्धं न कुर्यात्, अतो नायमस्मदात्मात्मीय इति प्रासव्यसनपूर्वोक्तगृहस्थादीनां च बाधकत्वभानात् सुखेन परित्यागः सेत्स्यतीति भावः । तथा च परस्परनिरूपकं बाधकत्वज्ञानं अनात्मकत्वज्ञानं च परित्यागे कारणं बोद्धव्यम् । ननु तादृशं बाधकत्वमनात्मत्वं च कदा भासत इत्याकांक्षायामाहुः यदा स्याद्व्यसनं कृष्ण इति । यदा क-

दाचिद्भगवदिच्छया कृष्णे कृष्णनिमित्त कृष्णविषये वा भागवततत्त्वदीयदशमस्कन्धोक्तव्य-सनोत्तराप्रतिकार्यं दु ख तदा पूर्वोक्त भासत इति ज्ञेयम् । तदेवाप्रतिकार्यदु खे जाते एव भक्त कृतार्थ· प्राप्तफल स्यात् । हि युक्तोयमर्थ । अप्रतिकार्यदु खे जाते परमस्नेही भगवान् साक्षात्स्वसम्बन्धे कथ विलम्ब कुर्यादिति जानीहि । अनेनैतावज्ज्ञेयम् । येषामलौकिक शरीर तेषा तु रासमण्डलमण्डनानामिव व्यसने जाते तेनैव देहेन फलप्राप्ति । येषा त्वन्त र्गतानामिव लौकिक शरीर तेषा तु व्यसनेन देहपात । तदनन्तर अलौकिकदेहप्राप्त्या फलप्राप्तिरिति दिक् । तथा च गृहस्थविषयक प्राप्तव्यसनस्य गृहस्थाना वा प्राप्तव्यसनविषयकमुभयोरेभयविषयकत्व बाधकत्वज्ञान अनात्मकत्वज्ञान च व्यसनलिङ्ग ज्ञेयम् । एतैर्लिङ्गैः प्रेमासक्तिव्यसनानि ज्ञातव्यानीति भाव ।

अथ जातव्यसनस्य गृहस्थपदार्थविषयकबाधकत्वानात्मज्ञानयोरवश्यभावित्वेन सन्यासनिर्णयोक्त परित्याग स्वयमेव भविष्यतीति नोपदेशो योग्य ,अप्राप्तव्यसनस्य प्राप्तासक्तेर्भक्तस्य तु गृहादरुचेर्जातत्वेपि तेषा भगवत्सेवोपयोगित्वेन भगवत्सम्बन्धित्वात् त्यागो मत्सम्बन्धिन एतस्मै न रोचत इति भगवन्मनस्यागते भगवदपराध स्यादिति भिया तत्त्याग न कुर्यात्, तदा तेषा पोष्यत्वादात्मपोषणार्थ सेवासमयातिरिक्तसमये व्यासङ्गान्तरमुत्पाद्य एतैरिति तत्त्याग उपदिश्यते । न च तेषा भगवदीयत्वात् तत्त्यागे अपराध प्रसज्येतेति वाच्यम् । एते लौकिके मा योजयन्तीति लौकिकधर्मपुरस्कारेण दोषारोपपूर्वकत्यागेपराधप्रसक्तेरभावात् । भगवदीया एते मया त्याज्या इति भगवत्सम्बन्धपुरस्कारेणैव तेषु दोषारोपेण त्यागापराधप्रसक्तेरिति स्वस्पूर्वपक्षाभावादिति मनसिकृत्य प्राप्तासक्तेर्गृहत्यागमुपदिशन्त सुदृढसर्वतोधिकपरमभक्तिलाभ च सार्धश्लोकेनाहु तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ९ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽभ्यधिकां पराम् ।

सतत सर्वदा तादृशस्यापि प्राप्तासक्तित्वात् गृहासक्तियुक्तस्यापि आभासोक्तभगवदपराधभिया गृहमत्यजतो गेहे स्थानमवस्थान विनाशक मध्ये मध्ये लौकिकव्यासङ्गजनकत्वेन भगवद्भजनविषयकयत्ननाशकम्, अतस्तादृशाना मध्ये गृहादिमात्रत्याग कृत्वा य भाग्यवा स्तदर्थार्थैकमानस । ■ चासौ भगवानेवार्थो वस्तुरूपोर्थ प्रयोजन यस्येदृश सन् यतेत्, भगवत्प्राप्त्यर्थं यत्न कुर्यात्, स सुदृढा भक्ति लभते इत्युत्तरेणान्वय । नन्वस्मिन्पक्षेप त्यागो व्यसनोत्तरसामयिकसन्यासनिर्णयोक्तत्यागत्वेनैव कुतो नोच्यत इति चेत्। अत्र वदाम । अप्रतिकार्यदु खरूपव्यसनोत्तरत्यागस्य स्वयमेव आयमानत्वेन उपदेशानर्थक्यम् । किंच, यत्र व्यसनोत्तरत्यागे व्यसने जाते तत्प्रतिकारो भगवदतिरिक्तेन न कर्तुं शक्यत इत्येवोच्यते ।

ईदृशस्यापि सततं गेहस्थानं
तदा 'यदा स्याद्व्यसनं कृष्ण' इत्यव्यवहितपूर्वं व्यसनमुक्तमिति ईदृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकमित्यत्र प्रत्यक्षपदार्थवाचिइदमः प्रयोग एव कृतः स्यात्, न तु परोक्षपदार्थवाचितादृशस्यापीति तच्छब्दप्रयोग इति । अपरञ्च, 'व्यसनं यदा भवेत्' 'बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यती' त्यनेन व्यसने जाते भावात्मकबीजस्य नाशाभाव एवोक्तः । अत्र तु 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशक'मित्यनेन नाश उच्यते । तस्मादपि नायं त्यागशब्दः संन्यासनिर्णयोक्तत्यागपरः, किन्तु प्राप्तासक्तिमात्रस्यैव लौकिककार्यव्यासङ्गजनकत्वेन पुत्रकलत्रादित्यागपर एवेति सुष्ठु प्रतिभाति । अत एवाग्रे त्यागोत्तरं 'अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परै'रिति तत्परतदीयसङ्ग उपदिष्टः । यद्यप्येतेपि तदीयास्तथापि तेषां स्वेन पोष्यतासम्बन्धयुक्तत्वात् स्वपोषार्थं लौकिकव्यासङ्गजनकत्वाभाव इति तत्सद्भावेन स्थितिरुपदिश्यत इति । अत एव संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति विरहानुभवार्थस्यागे भगवदीयाभगवदीयसकलत्यागवाचकः परित्यागशब्दः प्रयुक्तः, अत्र तु लौकिकव्यासङ्गजनकपदार्थत्यागोऽलौकिकव्यासङ्गजनकपदार्थत्यागश्चोक्त इति परित्यागत्वाभावादपि न संन्यासनिर्णयोक्तोयं त्याग उपदिष्ट इति भगवदीयैः सहृदयैः परिभावनीयमिति दिक् ।

नन्वेवं प्राप्तासक्तिर्गृहत्यागं कृत्वा हरिस्थाने स्थितस्तदीयसहतया चेत् भगवद्विषयकं यत्नं कुर्यात् तदा को लाभः स्याद् इत्याकांक्षायामाहुः लभत इति । स भक्तः सुदृढां केनापि नाशयितुमशक्यां भक्तिं स्नेहरूपां व्यसनविशिष्टत्वेन सुदृढां बीजस्वरूपां लभते प्राप्नोतीत्यर्थः । नन्वेतादृशी भक्तिरन्यदेवविषयिण्यपि भवतीत्याशंक्य आहुः सर्वतोऽभ्यधिकाम् विभूतिरूपभक्तिभ्योप्यधिकां पुरुषोत्तमविषयत्वादिति भावः । अथ च सर्वविधभक्तिभ्यः परां चरमावधिभूतां पुरुषोत्तमसाक्षात्सङ्गकारणभूतामिति यावत् । यद्वा । परां परमकाष्ठापन्नाम् । एतेनान्ये संप्रदायत्रयभक्तिमार्गास्तदुक्तभक्तिप्रकारास्तदुपास्यस्वरूपाणि तदाचार्याश्च न परमकाष्ठापन्नाः । 'ते प्राप्नुवन्ति मामेवे'ति वाक्यात् । 'तद्भक्तगतयोन्तत' इति वाक्याच्च शुद्धपुष्टिमार्गः, तदुक्ता भक्तिः, तदुपास्यस्वरूपं, तदाचार्याश्च परमकाष्ठापन्ना इति ज्ञेयम् । तथा चैतन्मार्गीयतदुक्तभक्त्यैतन्मार्गोपास्यस्वरूप एतन्मार्गाचार्यप्राप्तौ सत्यां सर्वं प्राप्तं किमपि नावशिष्यते प्राप्तव्यमित्यनेनैषां सर्वेषां फलरूपत्वम् । यतो वेदविभागाष्टादशपुराणधर्मनिबन्धजिज्ञासामहाभारतादिकरणेनापि श्रीमन्नारायणावताररूपाणां श्रीमतां व्यासचरणानां चित्तप्रसादेऽजाते नारदोपदेशेन प्रेमात्मकसमाधाचतुष्करणम्, अतो ज्ञायते श्रीभागवतोक्तं स्वरूपम्, तद्व्यापिका भक्तिः, तदाचार्याः, श्रीमद्व्रजभक्तादयः, तदनुगता विष्णुस्वाम्यादिश्रीमद्वल्लभाचार्यान्ताश्च, तत्प्रवर्तितो भक्तिमार्गश्चैतत्सर्वं परमकाष्ठापन्नत्वात्फलरूपमिति भावः ।

अथैतादृशत्यागकर्त्रा त्यागं कृत्वैकान्ते मन्तव्यमेवाथवा किञ्चिदन्यदपि कर्तव्यमित्याकांक्षायां गृहमात्रमेव त्यक्त्वा हरिस्थाने तदीयैः सह स्थेय'मिति सार्धश्लोकेनोपदिशन्ति त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

त्यागे बाधकानां भूयस्त्वं बाहुल्यं वर्तते । ननु कस्माद्धेतोर्दुर्बाधकबाहुल्यमित्याकांक्षायामाहुः दुःसंसर्गात्तथान्नत इति । देहाद्यध्यासस्यानिवृत्तत्वाद्यत्र कुत्रापि स्थितौ सत्ते प्राप्ते दुष्टसङ्गो बहिर्मुखसङ्गोपि भवति । तथा देहपोषार्थं दुष्टान्नभक्षणं च प्रसज्यते । तदा दुःसङ्गाद्दुष्टान्नतश्च बाह्याभ्यन्तरदोषोत्पत्तेर्भजनादिष्वालस्ये सम्पन्ने कृतोपि गृहत्यागो व्यर्थः स्यात् । तर्हि तेन किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः अतः स्थेयं हरेः स्थाने तदीयैः सह तत्परैरिति । अतः कारणाद्धरेः सर्वविघ्नदोषहर्तुः स्थाने शुद्धपुष्टिस्थाने वृन्दावनादौ तत्परैः रात्रिंदिनं भगवत्सेवादिपरैः सह तदीयैः शुद्धपुष्टिमार्गीयदासधर्मवद्भिः सह स्थेयम् । तथा च तत्सङ्गेन दुःसङ्गाभावात्तत्समर्पितभगवत्प्रसादान्नभक्षणात्तद्भक्तसमर्पितान्नभक्षणाच्च बाह्याभ्यन्तरदोषाभावाद्भजनसिद्धिर्निष्प्रत्यूहा भवति । प्रत्यासक्तेरिति भावः । एतेनाप्ययं त्यागो न व्यसनोत्तरभावपिकः संन्यासनिर्णयोक्तस्त्यागः । यतो व्यसनोत्तरत्यागे भगवदीयेष्वपि बाधकत्वज्ञानादनात्मत्वज्ञानाच्च सर्वत्यागादन्नादित्यागोपीति क दुःसंसर्गान्नादिजनितदोषप्राप्तिसंभावनापीति सुधीभिराकलनीयम् । अत एव श्रीमदस्मदाचार्यचरणकृतव्यसनोत्तरत्यागेनान्नकाशीगमनादिकमपि दृष्टम् । अन्यथा तैर्हरिस्थाने व्रजादावेव गतं स्यात् । भगवदीयान्नादिकमपि गृहीतं स्यात् । ननु न कृतमिति संन्यासनिर्णयोक्तस्त्यागो न साधनदशात्यागो येन हरिस्थाने गमनं स्यात्, तदन्नभक्षणं च प्रसज्येत, किन्तु फलदशाजनितस्त्यागः फलजनित एव । अत एव संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते' इति विरहानुभवार्थपरित्यागस्य प्रशस्तत्वमेवानूदितम् । ननु 'विरहानुभवार्थं तु त्यागः कर्तव्य एव ही'ति तस्यावश्यकर्तव्यत्वमुक्तम् । जीवकृत्यसाध्यत्वात् । तस्मादस्मदुक्त एवार्थःकिन्द्दशात्यागोयमिति ज्ञेयम् । ननु हरिस्थानस्थतत्परतदीयानामपि स्वासक्तिसमानासमानासक्तेः सत्त्वे ॥ दोषाभावः सिध्यत्येव, स्वसमानासक्तेरभावे तु तेषामपि सेवाव्यतिरिक्तसमये कदाचिल्लौकिकव्यासङ्गजनकत्वे का गतिरित्याशंक्याहुः अदूरे विप्रकर्षे वेति । यदि तेषां स्वसमानासमानासक्तित्वदा तद्दत्तान्नमेकान्ते भक्षयित्वा तेषामदूरे निकटे स्थेयम् । अदूरमिति पाठे अदूरं यथा भवति तथा स्थेयम् । यदि पूर्वोक्तं न तदा तेभ्यः प्राप्तं भगवत्प्रसादान्नं तद्दत्तस्वसमर्पितान्नं च भक्षयित्वा विप्रकर्षे दूरे स्थेयम् । यथा येन प्रकारेण चित्तं न दूष्यति तथेत्यर्थः ॥ ८ ॥

नन्विदमत्यशक्यं, यतोऽस्मिन् कलिकाले हरिस्थानानामपि दुष्टाकान्तत्वात् प्रतिष्ठादिकामुकत्वेन तत्परभगवदीयानामपि दुर्लभत्वाच्च भगवत्सक्तेः का गतिरित्याशंक्याहुः सेवायां वा कथायां चेति।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम॥ ९॥

यस्य भक्तस्य पूर्वोक्तसेवायां कथायां कथाश्रवणकीर्तनयोर्वा आसक्तिर्दृढा बद्धमूला भवेत्, तस्य यावज्जीवं यावद्देहस्थिति व्यसनं यदा कदापि भवतु, परं दुःसङ्गदुष्टान्नभक्षणजनितो नाशो भगवत्सेवाकथाद्यासक्तिप्रच्युतत्वं क्वापि देशे क्वापि काले च क्वापि जन्मन्यपि च न भवतीति मे मम मतिर्बुद्धिरित्यर्थः। तथा च यदि भगवद्धर्मरूपसेवाकथासक्तस्यैव न नाशस्तदा साक्षाद्धर्मरूपभगवदासक्तस्य न नाश इत्यत्र किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायः सूचितः। यद्वा। नाशः दुःसङ्गदुष्टान्नजनितदोषसम्बन्धरूपः न क्वापि संभवतीत्यर्थः। तथा च दुष्टाक्रान्ते हरिस्थाने दुष्टाक्रान्तहरिस्थानातिरिक्ते स्थाने वा तिष्ठन् तत्परभगवदीयेभ्यस्तदितरजनेभ्यश्च भिक्षया जीवनमात्रसंपादकमन्नं संपाद्य स्वयं पाकं कृत्वा प्रभवे समर्प्य भक्षयन् न दोषभाक् भवतीति भावः॥ ९॥

ननु यदि हरिस्थानातिरिक्ते हरिस्थाने वा दुष्टाक्रान्ते दुष्टैर्जनबाधः, अथ च तत्रान्नादेरप्यलाभेन वा भजनबाधः प्रसज्येत, तदा किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः बाधसंभावनायां त्विति।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः॥ १०॥

यदि सेवायाः कथाश्रवणादीनां वा बाधः संभाव्येत ज्ञायेत, तदा एकान्ते गृहं त्यक्त्वा स्त्रीपाद्यज्ञाते स्थले वासो नेष्यते, किन्तु गृहे एव वास इष्यते। ननु तदा गृहस्थानां पुत्रकलत्रादीनां लौकिकव्यासङ्गान्तरजनकत्वं सिद्धमेवेति दोषप्रसक्तिरिति किं कर्तव्यमित्याशंक्याहुः हरिस्तु सर्वत इति। तु पुनः हरिः सर्वदुःखहर्ता सर्वतः सर्वेभ्यो दोषेभ्यः स्वयं रक्षां करिष्यति। गृहस्थपुत्रकलत्रादिजनितलौकिकव्यासङ्गान्तरदोषो न बाधिष्यत्येवेतिभावः। अत एव 'मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः' इति श्रीभागवते भगवतोक्तम्। ननु को भेद, हरिः प्रभुः करोति चेत्, तस्य किं कर्तव्यमित्याशंक्याहुः न संशय इति। न सन्देह इत्यर्थः। यदि स्वोपरक्षां न कुर्यात्तदा हरिस्त्वमेव गच्छेदिति भावः॥ १०॥

एवं भक्तिवृद्धिप्रकारमुपपाद्य ग्रन्थोपसंहारमेतत्पाठफलं चाहुः।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम्।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः॥ ११॥

इति ग्रन्थसमाप्तौ । एवं अनेन प्रकारेण च भगवच्छास्त्रं उत्तरपदलोपिसमासात् भगवद्व्यापकं शास्त्रं भगवद्व्यापकोपदेशग्रन्थः । गूढतत्त्वं गूढं गुप्तम्, इतरमार्गीयैर्यस्तत्त्वसिद्धान्तो यस्य तादृशं निरूपितं कथितम् । मयेति शेषः । यत्रैतदुक्तप्रकारेण सेवायाः कथाश्रवणकीर्तनादीनां च कर्तुः प्रेमाद्याविर्भावो भवेदिति क्रियाध्याहारः, यत्रैतच्छास्त्राध्ययनकर्तुरपि प्रेमाद्याविर्भवेदित्याहुः य एतदिति, योधिकारी कोपि एतत् समधीयीत, सम्यक् श्रद्धापूर्वकमनुसन्धानपूर्वकं वाध्ययनं कुर्यात् तस्यापि दृढा केनापि तिरोधापयितुमशक्या रतिर्बीजरूपभावरूपा स्यादाविर्भवेत्, किं पुनरेतदुक्तप्रकारकभजनकर्तुरिति दिक् ।

श्रीमद्वल्लभविठ्ठलभगवच्चरणाब्जरेणुकणकृपया ।
कृतवान् जयगोपालष्टीकां श्रीभक्तिवर्धिन्याः ॥ १ ॥
मूर्ध्नञ्जलिं ननु विधाय निधाय भूयो भूयः कृपालुषु महत्सु निवेदयामि ।
यत्किञ्चिदत्र मयका लिखितं भवद्भिस्तत्पुष्टिमार्गपथिकैः परिशोधनीयम् ॥ २ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानमानसश्रीमन्महाप्रभुश्रीविठ्ठलेश्वरकृपाकटाक्षोद्बुद्धबुद्धिना श्रीमच्चिन्तामणिदीक्षितात्मजेन जयगोपालेन विरचिता भक्तिवर्धिनी टीका ॥

श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि ।

भक्तिवर्धिनी ।

दीक्षितलालूभट्टकृतविवृतिसमेता ।

नमामि श्रीमदाचार्यान् विठ्ठलेशांश्च मत्प्रभून् ।
मत्कृपातो भवेत्प्राप्तिः (श्री)गोवर्धनगिरीशितुः ॥ १ ॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाः पुष्टिभक्तानां नित्यलीलाप्रवेशारव्यस्वमार्गीयफलप्राप्त्यर्थं तत्कारणभूतां बीजभावात्मिकां तापात्मकसूक्ष्मस्नेहरूपां भक्तिं वर्धयितुं तत्प्रकारनिरूपणं प्रतिजानते यथा भक्तिरित्यादिना ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिर्बीजभावरूपा प्रकर्षेण वृद्धा सर्वात्मभावावस्थापन्ना स्यात्तथोपायः त्यागात्यागविभेदेन श्रवणादिरूपः पूजादिरूपश्च निरूप्यते इत्यर्थः । इद

भक्तेर्वृद्ध्युपायकथनप्रतिज्ञया भक्तिसत्ता सूचिता । अतो बीजरूपा पुष्टिभक्तिः पूर्वं पुष्टि-
जीवेषु सूक्ष्मरूपेण वर्तत एवेति बोध्यम् । अन्यथा यथा भक्तिरुत्पन्ना स्यादिति प्रतिज्ञायेत ।
उत्पन्नाया एव वृद्ध्यादिभावार्हत्वात् । अतः पूर्वं पुष्टिभक्तेः सूक्ष्मरूपेण सत्ता ज्ञापिता ।
सैव पुष्टिभक्तिर्बीजभावशब्देनोच्यते । इयमेतद्ग्रन्थोदितप्रकारेण वृद्धा सती सर्वात्मभावा-
वस्थां प्राप्य नित्यलीलाप्रवेशरूपं फलं साधयिष्यतीति सिद्धान्तनिष्कर्षः । बीजभावे
इति । बीजरूपे भावे सूक्ष्मभक्त्यात्मके दृढे सति स्यात्, भक्तिः प्रवृद्धा स्यादित्यर्थः ।
बीजभावदार्ढ्यं कथं स्यादित्याकांक्षायामाहुः त्यागात् श्रवणकीर्तनादिति । गृहादि-
त्यागपूर्वकं भगवत्कथाश्रवणाद्बीजदार्ढ्यं भवतीत्यर्थः । गृहादेर्विषयासक्तिसम्पादकतया
भजनप्रतिबन्धकत्वेन गृहादित्यागो भजने मुख्यमङ्गम् । 'हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं
गतो यद्धरिमाश्रयेत' इति प्रह्लादवाक्यात् । अत एव निबन्धे भगवदुक्तश्लोकयोरेवं
रच्यते 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मिति ।

एवं मुख्यतया पूर्वं त्यागपक्षमुक्त्वा तादृशजितेन्द्रियत्वादिगुणरहितस्य त्यागे दोषा-
धिक्याद् बीजदार्ढ्ये प्रकारान्तरमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः
इत्यनेन ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

गृहे बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्वित्यन्वयः । गृहे बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः स्थित्वा स्वध-
र्मत इत्यादिना । गृहे इति सप्तम्यन्तं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । स्वधर्मत
इति । वेदोक्तवर्णाश्रमधर्मत इत्यर्थः । तथा च विहितप्रकारेण गृहस्थाश्रमे स्थित्वा भक्ति-
मार्गप्रकारेण कृष्णं भजेत् । यद्यपि 'अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रत' इति द्विती-
यस्कन्धवाक्यात् गृहाश्रमस्य फलप्रतिबन्धकत्वम्, तथापि मयवद्भजने कुर्वाणस्य न गृह-
स्थाश्रमः प्रतिबन्धकः । 'गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् । मद्वार्तायातया-
मानां न बन्धाय गृहा मताः' इति भगवद्वाक्यात् । अस्मिन्वाक्ये 'कुशलकर्मणा'मित्यनेन
निषिद्धानां निवृत्तिः सूचिता । कुशलकर्मणामित्यस्य व्याख्यारूपं स्वधर्मत इति पदमाचा-
र्यैरुक्तम् । अत एव भगवता द्वितीयोऽत्यागात्मापि पक्षः सफलो निरूपितः 'गृहं
सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते । कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः ।'
इति । अव्यावृत्त इति । 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यह'मिति वाक्याद्भगवान्
गृहस्थाश्रमनिर्वाहकं धनादिपदार्थं स्वत एव सम्पादयिष्यतीति विश्वासेन धनार्जनाभि-
निवेशं त्यक्त्वा श्रीकृष्णं निरन्तरं भजेदित्यर्थः । कथं भजेदित्याकांक्षायामाहुः पूजया
श्रवणादिभिरिति । पूजयेति । मन्दिरमार्जनादिरूपया परिचर्ययेत्यर्थः । श्रवणा-
दिभिरिति । श्रीमद्भागवतोक्तदशविधलीलायुक्तस्य भगवतः श्रवणादिभिरित्यर्थः । 'तस्मा-

द्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभय'मिति शुकवाक्यात्। 'दशविधलीलायुक्तस्य श्रवणादि कार्य'मिति सुबोधिन्यां निर्णीतत्वात्। दशविधलीलास्तु भागवते प्रतिपादिता इति भागवतं श्रवणादिविषयीकार्यमिति फलितम्। एवं सति सेवां विधाय तदनवसरे भागवतश्रवणादि कार्यमिति विभागोवगन्तव्यः। एवं वर्तमानस्य गृहेपि संसारावेशाभावात् बीजदार्ढ्यं भवति। ततो भक्तिर्वर्धिष्यते इति भावः। ननु यस्य भक्तेः सूक्ष्मावस्थारूपस्य बीजभावस्य सर्वात्मभावान्तावस्था भवतीत्युक्तम्, कोसौ बीजभावः? कदा कुत उत्पद्यते इति चेत्। शृणु। सृष्ट्यादौ 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ती'ति श्रुतेरक्षरब्रह्मणः सकाशादुत्पन्नानां चिदंशानां भगवदिच्छया तिरोहितानन्दत्वेन प्राप्तजीवभावानां भगवदिच्छयैवाविद्यासम्बन्धः। ततो देहाध्यासादिस्वरूपविस्मरणान्तानि पञ्चपर्वाणि सम्पद्यन्ते। ततस्तेषु जीवेषु सदसद्वासनाभेदेन दैवत्वमासुरत्वं विदधाति भगवान्। तत्र दैवजीवेषु यान् पुष्टिमार्गीयान् कर्तुमिच्छति, तेषु स्वविषयकां सूक्ष्मरूपां रतिं स्थापयति। सा बीजभावशब्दवाच्या। 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयत' इति वाक्यात् कारणत्वेन बीजत्वात्। सा रतिः प्रेमासक्तिव्यसनसर्वात्मभावानां बीजरूपेति बीजभावशब्देन व्यवह्रियते। एवमत्यागपक्षे व्यावृत्तिराहित्येन भगवद्भजनं मुख्यः पक्षः॥ २॥

तदसम्भवे गौणं पक्षमाहुः व्यावृत्तोपीति।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत्॥ ३॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति।

भगवत्सेवानवसरे व्यावृत्तिं कुर्वाणोपीत्यर्थः। श्रवणादाविति। 'श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्चे'त्यत्र उक्ता ये श्रवणादयस्तैर्भजेदित्यर्थः। व्यावृत्त्यवसरे पूजाया असंभवात् श्रवणादिमात्रमत्रोक्तम्। अव्यावृत्तस्य तूभयं संभवतीति पूजया श्रवणादिभिरित्यनेनोभयमुक्तम्। ततः प्रेमेत्यादि। एवं भगवन्तं भजतः प्रेमासक्तिव्यसनानि क्रमेण भवन्ति। सूक्ष्मभक्तिबीजभावरूपा पूजाश्रवणादिभिः प्रवृद्धा प्रेमासक्तिव्यसनावस्थां प्राप्नोतीत्यर्थः। बीजं तदुच्यत इति। व्यसनावस्थायां सिद्धायां बीजभावस्य दार्ढ्यं संपन्नमिति योज्यम्। नापि नश्यतीति। न तिरोभवतीत्यर्थः। सत्प्रतियोगिनोऽभावस्य तिरोभावानतिरेकात्। अभावास्त्वस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्तीति सुबोधिन्यां निर्णीतत्वात्॥

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः॥ ४॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि॥ ५॥

प्रेमावस्थायाः कार्यलक्षणमाहुः **स्नेहाद्रागविनाशः स्यादिति** । आसक्तेः कार्यलक्षणमाहुः **आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरिति** । गृहपदं गृहस्थानामुपलक्षणम् । अरुचिरिति । नात्रारुचिशब्देन रुच्यभावः । तस्य स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यनेन पूर्वं स्नेहकार्यत्वेनोक्तत्वात् । अतोऽत्रारुचिशब्देन रुचिविरुद्धो भावः । विरोधार्थे नञः स्मरणात् । 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिता' इति वाक्यात् । स च बाधकत्वस्फूर्तिरूप इति स्वयमेव व्याचक्षते **गृहस्थानां बाधकत्वमिति** । तथा च भगवदितरविषयकबाधकत्वस्फूर्तिसंपादको भाव आसक्तिरिति कार्यलक्षणमासक्तेः । आसक्तेर्लक्षणान्तरमाहुः **अनात्मत्वं च भासत** इति । देहस्येति शेषः । तथा च देहात्मभावनिवर्तको भगवद्भाव आसक्तिरिति लक्षणान्तरमासक्तेः । **यदा स्याद्व्यसनमित्यादि** । **व्यसनमिति** । विशेषेण अस्यते क्षिप्यते दूरीक्रियते अन्यसम्बन्धो येन तद्व्यसनं भगवत्यात्मभाव इति यावत् । एवं भगवत्यात्मभावो निरुपाधिकस्नेहो व्यसनमिति फलितम् । अत एव 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे'ति व्यसनभाववतीभिर्भगवत्यात्मत्वमभाणि । 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति श्रुतेरात्मसम्बन्धादेवान्यस्य प्रियत्वं लोके, एवं व्रजसुन्दरीणां भगवत्सम्बन्धादेव स्वदेहादौ प्रीतिविषयत्वम् । अत एव 'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वत' इत्युक्तं ताभिः । 'त्वदर्थप्राणधारण'मित्याशयो विवृतः श्रीमदाचार्यवर्यैः । अतस्तादृशो निरुपधिभावो व्यसनपदार्थः । अत एतादृशे व्यसनात्मके भावे सिद्धे सुखैव कृतार्थतेति बोधयितुं **यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हीति** हिशब्द उक्तः । **कृतार्थ** इति । भगवन्तं साक्षात्करोतीत्यर्थः । भगवन्मूर्तिं परिचरतो जातव्यसनात्मभावस्य भगवत्साक्षात्कारो भवेत्, तदानेकप्रकारकं भगवदाज्ञादिजन्यं सुखविशेषमनुभवेद्, अतः कृतार्थता सिध्यतीति बोध्यम् ।

एवं भगवदाविर्भावेन लीलावलोकनादिरूपं भगवत्सम्बन्धिसंयोगसुखमनुभवतोऽपि भगवद्विरहजन्यविलक्षणसुखानुभवादित्यात्र पूर्णफलप्राप्तिः, अतो द्वितीयदलानुभवार्थं साधनमाहुस्तादृशस्यापीत्यारभ्य **त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानस** इत्यन्तेन ।

> तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।
> त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

तादृशस्येति । प्राप्तव्यसनभावस्येत्यर्थः । **गेहस्थानं विनाशकमिति** । गेहे स्थितौ हि भगवत्सेवया भगवदाविर्भावेन संयोगानुभवसिद्धौ न वियोगानुभवो भवेत्, अतः फलपूर्णतायां गृहस्थितेः प्रतिबन्धकत्वाद्विनाशकत्वोक्तिः । अतो 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति संन्यासनिर्णयग्रन्थोक्तं त्यागमुपदिशन्ति **त्यागं कृत्वा**

यतेदिति । यतोयं विलक्षणस्त्यागोत एव तदर्थार्थैकमानस इति विशेषणमुक्तम्। स चासौ अर्थः तदर्थः 'पुरुषार्थरूपो भगवान्' तदर्थं तत्प्रयोजनकमेव मानसं यस्येति विग्रहः । पुष्टिमार्गे हि भगवानेव पुरुषार्थः । 'त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मे'ति दशमस्कन्धे श्रीरुक्मिणीवाक्यात् । 'तावांस्तेहं चतुर्विधं' इत्येकादशस्कन्धे श्रीमदुद्धवं प्रति भगवद्वाक्याच । तथा च भगवदर्थमयं त्यागो विरहे सर्वदा अन्तर्भगवत्स्फुरणार्थः । न तु 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य'मित्यनेनोक्तोयं त्यागः । तत्र तु 'हित्वात्मपातं गृहमन्धकूप'मिति वाक्यात्पातहेतुत्वं गृहस्थितेः, अतो गृहत्याग उक्तः । स त्यागस्तु 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तना'दित्यनेन पूर्वमुक्तः । अयं त्यागस्तु 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः' इत्यश्रोक्तप्रकारेण वर्णाश्रमधर्मतः स्थितस्य पूजाश्रवणादिना व्यसनभावोत्पत्त्यनन्तरं विहितः । अतोस्मिन् त्यागे प्राप्तव्यसनभावोधिकारी । 'तादृशस्यापि सतत'मित्यत्र तादृशशब्देन 'यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे' इत्यनेन पूर्वमुक्तस्य व्यसनभाववतः परामर्शात् । अतोयं त्यागो विरहानुभवार्थ एवेति निर्धारः ।

एतादृक्त्यागकर्तुः फलमाहुः लभते सुदृढां भक्तिमिति ।

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

सर्वतोप्यधिकामिति । सर्वतः प्रेमासक्तिव्यसनतोधिकामित्यर्थः । परां सर्वात्मभावरूपामित्यर्थः । वियोगे हि सर्वात्मभावो भवतीति तृतीयाप्यायभाष्ये निरूपितम् । तदत्रापि व्यसनभावोत्पत्त्यनन्तरं कृतत्यागस्य भगवद्विरहानुभवक्लेशजन्यभगवत्सम्यक्ख्यात्यौ सर्वत्र भगवानेव स्फुरतीति सर्वात्मभावसिद्धौ न किंचित् कर्तव्यमवशिष्यत इति बोध्यम् । एवं गृहस्थितिपक्षे भक्तिवृद्ध्युपायं निरूप्य 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तना'दिति पूर्वमुपदिष्टे त्यागे बाधकाभावं साधयितुं बाधकस्वरूपनिरूपणपूर्वकं त्यागप्रकारमाहुः त्यागे इति । त्यागे बाधकभूयस्त्वमित्यादिना कामादिषट्कजन्यानां बाधकानां भूयस्त्वमित्यर्थः । दुःसंसर्गादिति । 'प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदु'रिति वाक्यात् । जीवे हि कामादिदोषाः सदैव तिष्ठन्ति । 'मयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्यायतः स आस्ते सह षट्सपत्न' इति वाक्यात् । तथा च दुःसङ्गदुरन्नाभ्यां तस्य कामादिषट्कस्योद्बोधे तज्जन्यानां बाधकानां बाहुल्यं स्यादित्यर्थः ॥ १ ॥

अतःपरं बाधकहेतुकामादयो येन निवर्तन्ते तं उपायमाहुः अतः स्थेयमिति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

हरिस्थाने गोवर्धनादौ, तत्रापि तदीयैः तत्परैः सह स्थेयम् । 'स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृत'मिति वाक्यात् । एवं गृहस्थितिगृहत्यागपक्षौ सप्रकारं निरूप्य अन्यतर-

साधनावस्थापन्नस्य पक्षद्वये अनुगतं मुख्यसाधनमाहुः अदूरे विप्रकर्षे वेति । भगवत इति शेषः । गृहस्थितिपक्षे श्रीविग्रहस्य अदूरे निकटे, त्यागपक्षे श्रीमूर्तेर्विप्रकर्षे दूरे स्थितावपि चित्तदोषो यथा न भवेत्तथा स्थेयमित्युपदेशः । 'चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् । गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये' इति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात्, 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो'रिति वाक्यान्तराच्च चित्तस्यैव सर्वत्र मुख्या कारणतेति तस्मिन्दोषोत्पत्तौ सर्वनाश इति चित्तस्य निर्दोषतायै दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं सत्सङ्गादि सम्पाद्य सावधानतया स्थेयमिति भावः ॥ ८ ॥

कथं चित्तं निर्दुष्टं स्यादित्याकांक्षायां पूर्वोक्तमुपायं स्मारयन्ति सेवायां वा कथायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

गृहस्थितिपक्षे सेवायाम्, त्यागपक्षे कथायाम्, यस्यासक्तिर्भक्तिर्दृढा भवेत्, तस्य यावज्जीवं क्वापि दुर्देशे दुष्टकालेपि नाशो बुद्धिभ्रंशरूपो न भवेत्। अन्यथा चित्तदोषे विषयध्यानात् 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' इत्यारभ्य 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यती'त्यन्तेन निरूपितो नाशः स्यादिति भावः ॥ ९ ॥

ननु कृतत्यागस्य भगवदीयसङ्गादप्येकान्ते स्थितिरेव समीचीना, भजनप्रतिबन्धदुःसङ्गसंभावनाया अभावादित्याकांक्षायामाहुः बाधसंभावनायां त्विति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

यद्यप्येकान्ते दुःसङ्गादिदोषो नास्ति, तथापि व्याघ्रादिभयरूपबाधसंभावना यत्रास्ति, तत्र वासो न इष्यते, न इष्टप्रापको, मनसश्चाञ्चल्यापादकत्वेन भगवद्भजनप्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः । ननु सर्वरक्षको भगवान् व्याघ्रादिभ्यो भक्तान् कथं न रक्षतीत्याकांक्षायामाहुः हरिस्त्विति । 'रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्ना'निति वाक्यात् सर्वथैव भगवान् रक्षति, तथापि तादृग्विश्वासाभावेन मनश्चाञ्चल्यं स्यादेव, ततो भजने प्रतिबन्धो भवेत् । अतस्त्यागपक्षे हरिस्थाने श्रीगोवर्धनादौ भगवदीयैः सह स्थितिरेव श्रेयस्कारिणी । 'संसारेऽस्मिन्क्षणार्धोपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणा'मिति भागवतवाक्यादिति भावः । अपि च एकान्ते स्थितौ हि रक्षणार्थं भगवति भारो देयः । स च स्नेहविरुद्धः । हरिस्थाने भगवदीयैः सह भङ्गे तु सोपि दोषो नास्तीति त्यागपक्षे भगवत्स्थाने भगवदीयैः सह स्थित्वा भगवद्भजनं कार्यम् । तेन च प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्ति । ततो भगवदाविर्भावः । ततो

दृढा सती वृद्धिमवाप्य 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युत्तरोत्तरसंकल्पैर्निद्राच्छेदावनुभावयन्ती मानसी फलरूपा स्यात् तथोपायो निरूप्यत इत्यर्थः ।

तत्राधिकारी द्विविधः, अदृढबीजभावो दृढबीजभावश्च । द्वैविध्ये बीजं भक्तिहंसे निरूपितम् । 'करणे चास्ति प्रकारद्वयम्, मर्यादापुष्टिभेदेने'ति । तत्र प्रथमं द्वितीयस्य कर्तव्यमाहुः बीजेति । 'रतिर्देवादिविषयिणी भाव इत्यभिधीयत' इति बीजभूतो यो भगवद्विषयको रत्यात्मको भावः स्थायिभाव इति यावत् । तेनैव पुष्टिमार्गीयत्वं तेषामुच्यत इति । भगवदनुमहादेव तत्सत्त्वादिति यथा तथा पुष्टिप्रवाहमर्यादायां द्रष्टव्यम् । अत एव 'तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्ये'त्यत्र टिप्पण्यामुक्तं 'एतेन श्रुतं सर्वैः स्थायिभावोऽत्रैवास्तीत्यत्रैव तदुद्दीपनमिति शङ्का निरस्ते'ति । स भगवदिच्छया अनुग्रहप्राबल्येन दुःसहाधनविस्मृतोऽत एव दृढो वक्ष्यमाणस्वरूपो यस्यास्ति तस्य तु बाधकगृहादिसर्वत्यागाच्छ्रवणकीर्तनाच भक्तिः पूर्वोक्ता प्रवृद्धा फलरूपा स्यात्, तस्य नान्यत् कर्तव्यमस्तीति भावः । श्रवणस्यान्यसापेक्षत्वात् कीर्तनस्यापि तत्साधकत्वज्ञापनाय समस्तं पदमेकवचनं च । अत एवोपसंहारे एतद्ग्रन्थपाठमात्रस्यापि दृढरतिप्रतिपादकत्वं वक्ष्यते । अथवा । समाहारद्वन्द्वः । तेन समुच्चयस्यैव हेतुत्वमिति समास एकत्वं च । बीजभावे दृढ इति सतिसप्तमी । तुशब्द इतरव्यावर्तकः ॥ १ ॥

प्रथमस्य साधनान्तरमाहुः ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अनुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, 'सार्वविभक्तिकस्तसिल्', दासधर्मेण ममापमेव धर्मः, एतदकरणे सर्वस्वहानिरेवेति स्वतन्त्रपुरुषार्थबुद्ध्या इतरव्यावृत्तिरहितः कृष्णं सदानन्दं सेवेत । पूजया भक्त्या । 'तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् । परिचर्यां सदा कुर्याद्गृहप्रक्षालनादिभिः । अलंकुर्वीत सप्रेम वस्त्रैराभरणैरपि' इत्यादिस्वारस्यात् स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधेरनतिक्रमाय पूजापदम् । विधिप्रधानत्वात् तस्याः । अत एव भक्तिहंसेपि तथैवोक्तं प्रभुचरणैः 'स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव नियामक' इति । स चात्र श्रीमदाचार्यनिर्दिष्ट एव, न तु तान्त्रिक इति ज्ञेयम् । स च 'कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् । श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरा'दिति वाक्यात् तदनुसार्येवेति हृदयम् । साक्षात् श्रीमदङ्गसेवानवसरे श्रवणादिकं विधेयम् । 'सप्रेमे'ति सर्वत्रानुषज्यते । वक्तुरभावे स्वयमेव कीर्तनम् । आदिपदात् स्मरणं च सर्वदा । पादसेवनमित्युपलक्षणम् । वस्तुतस्तु भगवत्स्वरूपसेवनमेव तत् । यद्यपि 'श्रवणं कीर्तनं विष्णो'रित्यत्र श्रवणादित्रयानन्तरं पादसेवनमुक्तम् । तच मर्यादायां भगवद्विमुखस्य विषयासक्तस्य गुरूपदेशमात्रेण भजनमिच्छतः प्रथमप्रवृत्तौ माहात्म्यज्ञानेन श्रवणेन्द्रियमनोदोषनिवृत्त्या शुद्धिसंपादनेन

'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव महाविद्याविशारदाः । भगवत्सेवने योग्या नान्य' इति वाक्यात् साक्षात् भगवत्सेवने अधिकारसिद्धयर्थं प्रथमत एव श्रवणं, कीर्तनं स्मरणमित्युक्त्वा अग्रे पादसेवनमुच्यते । अत्र तु भगवदाज्ञया श्रीमदाचार्यैरादावेव सर्वसमर्पणेन ब्रह्मसंबन्धकरणात् तेनैव सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकसेवाधिकारो जात इति स क्रमो न विवक्षित इति ज्ञेयम्। तदुक्तं 'ब्रह्मसंबन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः । सर्वदोषनिवृत्तिर्हि'इति सिद्धान्तरहस्ये साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहुरिति । नवरत्ने चेयमेवाशङ्का समाहिता । तथा च अरुणोदयात् प्रागुत्थाय स्वयं स्नानादिकं विधाय भगवन्मन्दिरे गत्वा मन्दिरपात्रादिसंशोधनं, सिंहासनसंस्कारः, बालभोगसज्जीकरणं, ततः प्रबोधस्तवैः भगवद्बोधनं, शीतादिसमयोचिततूलकञ्चुकप्रावरणादि परिधाप्य, सिंहासने उपवेश्य, बालभोगं समर्प्य, शीताधिक्ये हसन्तीमुपनिधाय, स्नानसामग्रीं सुगन्धतैलतप्तोदकादि अङ्गवस्त्रशृङ्गारवेशोचितवस्त्रालङ्कारादि सर्वमुपस्थाप्य, समये जाते, बालभोगमपनीय, आचमनं मुखवस्त्रताम्बूले समर्प्य, दर्पणं प्रदर्श्य,तत्सामयिकशोभामवलोकयन् मङ्गलनीराजनां कुर्यात् । एवं स्नानशृङ्गारमारभ्य श्रीमदाचार्यनिर्दिष्टप्रकारेण शृङ्गारभोगगोपीवल्लभगोपालराजभोगोत्थापनसन्ध्याशयनपर्यन्तं यथायथं परिचरणमेव पादसेवनमित्यर्थः ।अर्चनं च पूजनम् । तद्धि पूज्ये उत्कर्षज्ञापकम्, सर्वोत्कृष्ट एव पूज्यो भवतीति । प्रकृते च पूज्यो भगवान् पुरुषोत्तमः, तत्रापि श्रीयशोदोत्सङ्गलालितः, तत्रापि कोटिकन्दर्पलावण्यः श्रीगोपीजनवल्लभः, तत्रापि श्रीवल्लभाचार्यहृदयसर्वस्वरूपः, तत्र च श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहपक्षपातेन स्वरचितशृङ्गारादिपरिष्कारप्रकाशमानं शोभातिशयविशेषमङ्गीकारसूचकमवधार्य परमोत्साहभरेण विवशतया सूर्ये दीपदानमिव धूपदीपनैवेद्यताम्बूलागुरुसारादिसुगन्धपुष्पमाल्यादिभिरभ्यर्च्य एतादृशे स्वसर्वस्वरूपे कस्यापि दृष्टिदोषसंक्रमो माभूदिति परमप्रेम्णा नीराजनं सर्वदोषनिवृत्त्या 'निःशेषेण राजयती'ति व्युत्पत्त्या अपूर्वशोभाप्रकाशिकां नीराजनां कुर्यादित्यर्चनम् । ततश्च परिक्रमणेन स्वात्मानमपि प्रभोरुपरि निर्मञ्छ्य परमाणुना मया किं कर्तुं शक्यमिति परमदैन्येन दण्डवत्साष्टाङ्ग प्रणमेदिति वन्दनम् । ततो दास्य शय्यादिरचना । तत्र चाधिशयाने प्रभौ व्यजनचरणसंवाहनादि च । ततो मुकुलितनयने प्रभावनवसरं विभाव्य श्रीमत्प्रभुप्रसादीकृतपुष्पमाल्यादिभिश्चर्चितः परमाह्लादपूर्णो भगवन्मन्दिराद्बहिरुपेत्य 'उच्छिष्टभोजिनो दासाः' इति वाक्यात् साक्षादधरामृतकल्पितं बाह्याभ्यन्तरशोधकं परमसौभाग्यसंपादकं महाप्रसादं सेवकादिभ्यो विभज्य सेवेत । ततश्च क्षणं विश्रम्योत्थाय वस्त्राभरणादिसेवया तदभावे तादृशैः कृतात्मनिवेदिभिः समानशीलव्यसनैर्भगवदीयैः शक्तितात्पर्यावधारणपूर्वकं श्रीभागवतसुबोधिन्यादिश्रवणम् । तथैव कीर्तनम् । तत्तल्लीलाशोभादीनां स्मरणं च कुर्वाणो यावदुत्थापनं दिनं वेणुगीतोक्तप्रकारेण नयेत् । ततश्चोत्थापने जाते कन्दमूलफलादि तत्तदार्तवं समर्पयेत् । अत्र च पुलिन्दीसौभाग्यं

संभावयेत् । ततो भगवद्गुस्थापनग्रहध्वनिवेणुनादोत्थनिजनिजाह्वानाभिधानश्रवणोत्साह-समुद्भूतलाङ्गूलसहर्षहुङ्कारोल्लसितमुखीभिर्धेनूः पुरस्कृत्य, साक्षिभिर्गोपवृन्दैरनुगीयमानचरितं 'तं गोरजश्छुरिते'त्यादि वर्ण्यमानस्वरूपं भावोद्गारिणीभिर्दृष्टिभिः श्रीमद्व्रजसीमन्तिनीपरितापं परिहरन्तं गोपीदृगुत्सवदृशं व्रजे प्रविशन्तं परिभाव्य, धेनूस्तत्तद्गोष्ठे निवेश्य, निजमन्दिरमलंकुर्वाणं प्रभुं वन्यपुष्पादिभिरलंकृतं पयोमोदकादिभिर्यथालब्धैर्भोगोपचारैरभ्यर्च्य, सान्ध्यनीराजनां विधाय, क्रमेण प्रेम्णा शृङ्गारं बहूकृत्य उन्मज्जनसायन्तनवस्त्राळङ्कारादिभिरलंकृत्य, दुग्धफेनं समर्प्य, यथालाभमिति सर्वत्र ज्ञेयम् । 'यथालब्धोपचारकै'रिति वाक्यात् । 'स्वाद्वन्नमुपलालित'मिति प्रकारकं शयनभोगमुपनीय, ताम्बूलमाल्यादिभिरलंकृत्य, शयननीराजनां कुर्यात् । ततश्च शय्यामधिशयिते प्रभौ नमस्कृत्य, अनवसरं विधाय, बहिर्निःसरेत् । इदमेवोक्तं तत्त्वार्थदीपे 'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजये'दिति । ततो यथोचितं प्रसादादि संसेव्य तादृशैः श्रवणकीर्तनादि कुर्वन् परमानन्दमनुभवन् विश्रमेदिति दास्यं दिङ्मात्रं प्रदर्शितम् । यद्यपि सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव संपद्येते, तथापि 'तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे' इत्यत्र निवेदनाङ्गीकारचिन्ताऽभावनिरूपणेनैव सख्यसिद्धिरपि निरूपिता । तथापि साधनदशायां निरोधलक्षणोक्तभावनावत् तदनुकूलान्तरङ्गसेवा भावनीया । निवेदनं च ब्रह्मसंबन्धसमये समर्पितानां पदार्थानां यथायथं तत्रैव विनियोगः ॥ २ ॥

सर्वथा व्यावृत्तिराहित्याभावेपि प्रकारमाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तं निधायेति व्यावृत्तिसमयेपि 'पानीयहारिणी यद्व'दित्युक्त् हरावेव चित्तं निधाय व्यावृत्तिं कुर्यादित्यर्थः । अनन्तरं च श्रवणादौ सदा यतेत् । इदमेवाभिप्रेत्योक्तं निबन्धे 'सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदेकं यामं हरौ नये'दिति । एवं सर्वदा भजतः फलमाहुः तत इति । एवं भजतः प्रथमं भगवति स्नेहः स्यात्, पूर्वोक्तो बीजभावोऽङ्कुरितः स्यादित्यर्थः । ततः क्रमेणासक्तिर्भवेद्, भगवत्स्वरूपे चक्षूरागो भवेत् । तदाङ्कुरो द्विपत्रितो जात इति ज्ञेयम् । ततश्च क्रमेण व्यसनम् । विशेषेण अस्यन्ते तदितरे सर्वे विषया येन, तं विना स्थातुमशक्तिरिति यावत्, तद्भवेत् । ततश्च सङ्कल्पा उत्तरोत्तरं पल्लवस्थानीया भविष्यन्ति । एवं व्यसने जाते तद्बीजं भक्तिशास्त्रे दृढमुच्यते । यद्यस्माश्रहेतावपि यन्न नश्यति ॥ ३३ ॥

तत्र हेतुभूतं तस्य साधारणं कार्यमाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्।

भगवति स्नेहे जाते गृहादौ तदितरत्र सर्वत्रैव रागो निवर्तते, स्नेहपदार्थस्यैव तथात्वात्। तत्रासक्तौ जाताया गृहादावरुचिर्भवति, तत्प्रीतिजनक न भवतीत्यर्थ। न केवलमरुचिमात्रम्, किन्तु एते मम बाधका अनात्मीया इति बुद्धिर्जायत इत्याहु 'गृहस्थानामिति। सम्बन्धमाने षष्ठी। गृहस्थितेषु स्त्रीपुत्रादिषु ममताविषयेषु स्पष्टम्। तदेवमासक्त्या सेवत यदा कृष्णे फलरूपे व्यसन तदितरसर्वविषयनिवृत्तिपूर्वक त विना स्यातुमशक्तिर्भवेत्, तदा कृत सम्पादित अर्थ यदर्थं ततुवित्तनाया प्रवृत्त बीजदार्ढ्यरूप पुरुषार्थो येन तादृश स्यात्। अत एव बीज तदुच्यते शास्त्रे दृढमिति पूर्वमुक्तम्। एवकारेण अन्यथा तदभाव। तस्सस्त्वेन तत्सिद्धिनिश्चयोपि हिशब्देन सूचित। एव बीजभावे दृढे जाते यथा द्वितीयाधिकारिणस्त्याग श्रवणकीर्तनञ्च साधन मुक्तम्, तदेवास्यापि वक्तु हेतुमाहु तादृशस्यापीति। गृहादावरुचिमतोपि बाधक त्वस्फूर्तिमतोपि भगवदेकव्यसनवतोपि निरन्तर गृहस्थितिर्विशेषेण भावनाशिका।

अत्राय भाव। 'स्नेहाद्रागविनाश स्या'दित्यादिना विरागस्योक्तत्वाद् 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुतेरवसरस्य प्राप्तत्वात् त्याग उपदिश्यत इति नानुसन्धे यम्। तस्य ज्ञानमार्गीयत्वात्। प्रकृते च पुष्टिमार्गीये बीजभावे दृढे व्यसनात्मके जाते तस्य च त विना स्यातुमशक्तिरूपत्वात् विप्रयोग एवानुभावक इति सतत गृहस्थितौ स्वरूपासक्तस्य आसक्त्या, स्वरूपसेवा कुर्वत, सेवारसावेशेन परमानन्दानुभवेऽस्यास्या भावात् पूर्वोक्तो भाव प्रवृद्धो न स्यात्, 'भगवता सह सलाप' इत्यादि सकल्पा निद्रा च्छेदादयश्च दशा न भवेयु, क फलरूपमानसीसेवासम्भावनेति विमृश्य 'त्याग कृत्वे'त्युक्त श्रीमदाचार्यैरिति तादृशस्यापि सततमित्यादि पदसमभिव्याहारादवगम्यते। अन्यथा सततादवैयर्थ्य च। अत एव स्वमार्गीयत्यागस्वरूपमुक्त सन्न्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं हि परित्याग प्रशस्यते। स्वीयबन्धनिवृत्यर्थं वेश सोत्र न चान्यथे'ति। त्यागे स्वीयाना बन्धकत्वाभावे स वेशोपि न कार्य इत्याशयेन। अतो नाय वैधत्याग इति हृदयम्। तस्मि वेशस्यापि अङ्गत्वात्। एतदथा तथा सन्यासनिर्णये विशेषेण भावनीयम्। अत एव जन्माधिकारिण आपत्तिम्निरूपणे 'आपाञ्छ्रवणकीर्तन'मित्यादिकं एव त्याग उक्त ॥ ५½ ॥

प्रथमस्यापि व्यसने जाते बीजस्य दृढत्वात् तथाधिकारो जात इति तदेव साधनमाहु त्यागं कृत्वेति।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम् ।

बाधकत्वाद्गृहादि सर्वं त्यक्त्वा स एव फलरूपमानसीसेवारूपो योऽर्थः पुरुषार्थः स एवार्थः प्रयोजनं तस्मिन्नेवैकं मुख्यमेकाग्रं वा मानसं मनो यस्य एतादृशः सन् श्रवणकीर्तने यो यतेत् स सर्वतोऽधिकां मुक्तेरप्यधिकां परां फलरूपां सुदृढां प्रभुणाप्यनपनोद्यां भक्तिं लभते । स्वमार्गीयैः सजातीयैरेव श्रवणादिकम्, न तु विजातीयैरन्यमार्गीयैर्वेति धात्वर्थेन ज्ञापितम् ॥ ६३ ॥

त्यागे बाधान्तरमाशङ्क्य परिहरन्ति त्याग इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागानन्तरं स्वमार्गीयत्यागस्वरूपाज्ञानात् सजातीयबुद्ध्या अन्यमार्गीयैः त्यागिभिरेव सङ्गो भवेत्, स च दुःसंसर्ग एव, भावबैजात्यात् । तदुक्तसाधनप्रवृत्तौ मार्गाच्युतो भविष्यतीत्यर्थः । तथान्नतोऽपि बाधः । तैः सह सर्वत्र भिक्षया असमर्पितभक्षणेन बाहिर्मुख्यमेव प्रतिदिनमुपचीयेत, दूरतरा भाववृद्धिः । अतस्त्यागं कृत्वा हरिस्थाने श्रीगोवर्धनादौ यत्र पूजाप्रवाहः स्यादित्याशयस्य । तदीयैर्भगवत्संबन्धिभिस्तत्परैः सर्वत्यागपूर्वकसेवाश्रवणकीर्तनपरैर्दृढबीजभावैः सजातीयैः सह स्थेयम् । एतेन दुःसंसर्गदोषो निवारितः । हरिस्थान इति । 'वस्त्रप्रक्षालनादिभि'रिति वाक्याद्यथासंभवं सेवापि सूचिता । तत्रापि 'अतिप्रसादलाभादन्नदोषोऽपि परिहृतः । स्वमार्गीयश्रवणादिसिद्धिरप्युक्ता । तत्रापि 'अतिपरिचयादवज्ञे'ति न्यायेन बाधमाशङ्क्य परिहरन्ति अदूरे विप्रकर्षे वेति । स्पष्टम् । निर्गलितार्थमाहुः, यथा चित्तं न दुष्यति तथा स्थेयमित्यर्थः । वस्तुतस्तु सेवायामिति, सेवायां वा कथायां, वा विकल्पे समुच्चये वा, यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्, तस्य यावज्जीवं क्वापि भगवत्स्थले अन्यत्र वा, सजातीयेषु इतरेषु वा, तिष्ठतोऽपि नाशो न भवेदिति मे मतिः । तेन स्वानुभवस्यैव प्रामाण्यमुक्तम् । तथापि 'पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीय' इत्याहुः 'बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यत' इति । वस्तुतस्तु 'हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः' । भक्तानां सर्वदुःखहर्ता हरिः, अन्यथा तथात्वमेव न स्यात् । अत एवं

भजने प्रवृत्तस्य सर्वतो रक्षामेव करिष्यति । अत्र संशयो न विधेयः । अत्र विशेषः संन्यासनिर्णये द्रष्टव्यः ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

स्पष्टम् । अथाधुनिकेभ्यः कुटुम्बव्यावृत्तिविवशेभ्यः स्वकीयेभ्यो महाकारुणिका वरदानमिव प्रयच्छन्त आहुः य एतदिति । सेवाश्रवणाद्यसंभवे य एतद्भक्तिवर्धिनीस्तोत्रं सम्यगर्थावधारणपूर्वकं समधीयीत तस्यापि बीजभावरूपा स्थायिभावात्मिका रतिर्दृढा स्यादित्याशीर्दानम् ॥ ११ ॥

श्रीमदाचार्यकृपया तद्वाचामर्थसङ्गतिः । प्रादुरासीन्मम स्वान्ते तन्मयेत्थं निरूपितम् ॥१॥
न प्रौढ्या साक्षिणस्तत्र त एव प्रभवो यदि । जीवत्वादन्यथा प्रोक्तं क्षमन्तां करुणार्णवाः २

इति श्रीमद्भक्तिवर्धिनीविवृतिः संपूर्णा ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतटीकासमेता ।

नत्वा स्वाचार्यचरणौ कृपापात्रं यतो हरेः ।
स्मृत्वा गोपीशचरणौ व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥
व्याख्यानरीतिरपरैर्बहुधा विभिन्ना सिद्धान्तरीतिमितरैव च नान्यथा सा ।
तत्रापि बोधविशदाशयतानुपद्धादर्थं विशेषममिधातुमना भवामि ॥ २ ॥
अस्याः कृतेर्मम विनोदहृदा विचारे केचित्परे प्रतिपक्षीनतया विशन्तु ।
ये तु प्रमेयगतिमेव विभावयन्ति ते भावयन्तु सदयाहृदयाः प्रवीणाः ॥ ३ ॥

इह तावत् श्रीवल्लभाचार्याः स्वप्रकटितपुष्टिमार्गे साधारणकारणत्वाद्गृहसम्बन्धस्य तत्करणपूर्वमनुगृहीतानां जीवानां स्वमार्गीयालौकिकसाधनातिशयक्रमेण व्यसनावाप्तिद्वारा साक्षाद्भगवत्प्राप्तिरेवैव सर्वेषामिति ज्ञापयितुं भक्तिवर्धिनीनामानं प्रबन्धं व्याचख्युर्यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादिति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिः पुष्टिमार्गीया स्यात् प्रवृद्धा स्थानत्रयापन्ना च स्यात्तथा उपायः साधनं निरूप्यते । विशिष्टविधानमेतत् । अयमर्थः । साधनानि तु प्रमाणचतुष्टये प्रतिपादितानि, परं न तेषां यावत्स्वसाध्यविजातीयार्थहेतुतावधार्यते, तावत्प्रकृतोपयोगीनि भवन्ति । अतस्तद्धेतुप्रकारक उपाय उच्यत इति । यद्वा । उक्तं च साधनजातं विजातीयार्थेषु तत्प्राकरणिकमिति वाक्येनेष्टार्थे विनियुज्यते । न चात्र प्रमाणाभावो न चार्थविरोधः । इतरथा अप्रामाणिकत्वापत्तेः । न चैवं विषयव्यवस्था स्यादिति वाच्यम् । तत्त्वतो विषयद्वैविध्यादेरप्यनङ्गीकारादिति । श्रीभागवतादौ उक्तान्यपि साधनान्यसंभावनाविपरीतभावनाभ्यां नार्थहेतवो भवन्तीति ते निवार्याधिकारिविशेषविषयतया तदुपयोगः कथ्यत इति भावः । अत एव तृतीये कपिलेन 'भक्तियोगो बहुविध' इत्यादिना स्वभावगुणतारतम्येन भक्तितारतम्यं व्याख्याय 'अनिमित्ता भागवती'त्यादिना निर्गुणभक्तिरेव स्तूयते । यत्तु कश्चित्प्रमाणचतुष्टये पुष्टिभक्तेस्तत्साधनानां चाभावाद्विजातीयसाधनव्याख्याप्रतिज्ञेत्याह । तन्न । तथा सति पुष्टिभक्तेरप्रामाणिकत्वापत्तेः । प्रकृतग्रन्थसाधनविरोधात् । 'कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्त इतीरणात् । सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय' इति प्रभुवाक्यविरोधात् । 'गीतायां स्फुटमतः पुष्टिः प्रतिपाद्यत' इति तद्व्याख्यानं च विरुध्यत इति दिक् । ननु केयं भक्तिर्नाम । न तावदाराध्यत्वेन ज्ञानम् । तथा सति ज्ञानविशेषत्वेनाभेदप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य' 'ज्ञानिनामपि सर्वेषा'मित्यादिषु भेदेनाख्यानात् । न च श्रवणादितममुपायान्यतमत्वम् । तस्य 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये'त्यनेन कारणत्वोक्तेः । नापि वा एतेन सेवापि भक्तिः । न च श्रद्धाविशेषः । तस्याः सङ्कल्पात्मकतया निश्चयात्मकतया वा तद्भिन्नभक्तेर्भेदात् । अत एव गुरवः 'श्रद्धातः साधनप्रवृत्तिस्ततः फलं भक्ति'रित्याहुः । एतमेव श्रद्धाभक्तयोर्भेदमादाय 'श्रद्धावन्तो न भक्तास्ते ये स्वधर्मबहिर्मुखाः । सेवास्वधर्मं कुर्वाणा भक्तगोष्ठीविरोचका' इति वदन्ति । यत्तु केचित् श्रद्धासहितसेवाकृतिर्भक्तिरिति प्राहुः । तन्न । सेवाकृतेर्भक्तिसाधकत्वम्, न तु भक्तित्वमिति सिद्धान्तात् । एतेन शमादिपक्षाः प्रत्युक्ता वेदितव्याः । अत्रोच्यते । भगवति निरुपाधि प्रेम भक्तिरिति । न चाप्रसिद्धिः । आत्मनि प्रसिद्धेः । न च माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वस्य प्रधानवाक्यगतत्वादुपाधित्वं शक्यम् । तस्य तत्कारणे सेवायामुपक्षीणत्वात् । अत एव माहात्म्यज्ञानं सेवायामपराधाभावायोपयुज्यते, न तु भक्तिहेतुत्वेनेति श्रीमद्गोकुलनाथचरणाः । नन्वेवं व्रजस्थानां कामाद्युपाधिसत्प्रेमेति चेन्न । तत्र कामाभावात् । तासां जात्यनुरूपभगवद्गुणवर्णनस्य तत्रैव विशदत्वात् । भक्तोचितस्वरूपनिष्ठतया वा तादृशगुणकथनस्यावश्यकत्वमित्यस्य सुवचत्वाच्च । अत एव भक्ताः स्वरूपनिष्ठा एव भवन्ति । न हि तेषां भगवत्स्वरूपातिरिक्तं किञ्चिद्वर्णनीयमस्ति । तदाहुर्गुरुचरणाः 'तदेव हि प्रसिद्धं भग-

वदङ्गीकारो नाम वस्तु यत्कायवाङ्मनसां भगवत्परत्वमिति । यद्यपि कामानुरूपा क्रिया दृश्यते, परं न कामः । आहुश्चाचार्याः 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते' इति । यदपि 'कामाद्द्वेष्यः,' 'कामं क्रोध'मित्यादिकथनं तदपि लोकप्रतीतिमपेक्ष्य चित्तासङ्गस्तवनम्, न तु साधनताबोधकमिति दिक्। तस्मान्निरुपाधिकं प्रेम भक्तिरिति । सा च द्विधा । आत्ममनोधर्मभेदात् । न चाद्यायां मानाभावः । स्वरूपेण भगवल्लीलाप्रवेशे सङ्घाताभावेन तदसम्भवापत्तेः । अलौकिकसङ्घातस्वीकारे जीवे निराकारताप्रसङ्गात् । अतोऽन्यथानुपपत्तिरेव मानम् । न वा किञ्चिद्बाधकं पश्यामः । यतः अंशत्वादिवदैश्वर्यादिसमानाधिकरणो धर्मविशेषो भक्तिरिति युक्तमुत्पश्यामः । मनोधर्मरूपा तु श्रवणादिसाद्गुण्योपकृतिमपेक्षते । यावत्तद्वृत्तिमती । तया पुनः सामिव्यक्ता नेशते परोपकारं स्वात्मनि विनाभावविशेषावस्थायां दृष्टान्तीकृतानां भावानुरूपं करणम् । क्रिया हि परतन्त्रा प्रयत्नाभिलाषतो भवति यथा, साप्येवं यतः । अस्ति च नायं प्राणप्रदो धर्मो, विभिद्यन्ते यतो नानाविधा गतयः । गतिसामान्यमपि साक्षादेवेति न नियमः, किन्तु पारंपर्यतयापि, तदविरोधात् । अतो द्विधा भक्तिः । तत्राद्या विधेयताहीना वृद्धिप्रकारमपेक्षते, अतस्तदुच्यते । ननु वक्ष्यमाणसाधनैः सर्वेषां भगवति कुतो न भक्तिर्वर्धत इति व्यभिचारिशङ्कायामाहुः 'बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादि'ति । परमादिसृष्टौ भगवतो रमणेच्छातो विस्फुलिङ्गन्यायेन निर्गता जीवाः । तेषां विविधगतितत्साधनानामानुपूर्वीविशिष्टानां सत्त्वासत्त्वे भगवतैव विचारिते । तत्र ये स्वप्राप्तियोग्यतया इच्छाविषयीकृतास्तेषु यत्तादृशेच्छाविषयत्वं स एव बीजभावो नाम । तत्राप्ययं जीवः कतिचिद्दिनानि साक्षान्मत्प्राप्तिसाधनकृद्भूत्वा ततो निवर्त्यान्यगतिसाधनकृत्स्यादिति चेद्भगवता विचारितं, तदा स बीजभावो दृढो न भवति । दृढे तु बीजभावे स्यादुक्तसाधनैः प्रवृद्धा स्यादित्यर्थः । अदृढे तु तस्मिन्न भवेदिति । तदुक्तं गुरुचरणैः 'न हि पदार्थगुणदोषौ वर्णयतोपि पुरुषस्य प्रज्ञादेर्भवन्ति विधेयाः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः केचिदपि न यावदीश्वरेच्छाविषयताशालित्वं धर्मस्येति । अतो दृढे तु बीजभावे तथा स्यात् । तत्र साधनमाहुः त्यागादिति । ऐहिकपारलौकिकयावद्वस्तुनस्त्यागो भगवति स्वमार्गीयप्रकारेण स्वात्मनः समर्पणं । तस्मात् भगवत्प्राप्तीच्छुना प्रथमतो मार्गानुसारेण समर्पणं कर्तव्यम् । मुख्यमिदं साधनं भक्तिवृद्धौ । अत एवैकादशे भगवतोद्धवं प्रत्युक्तम् । 'दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम् । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यत' इति । अन्यत्र च । 'ये दारागारपुत्राप्तप्राणान्वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तान् त्यक्तुमुत्सहे ।' 'मामुद्दिश्य हित्वे'ति तद्व्याख्यानम् । तस्मात्सर्वार्पणं भगवति कर्तव्यम् । तदुत्तरं साधनमाहुः श्रवणकीर्तनादिति । समाहारे नपुंसकत्वम् । आत्मसमर्पणानन्तरं निबन्धोक्तलक्षणप्रकारकं गुरुमाश्रित्य यत्रात्मसमर्पणं कृतं तस्य

भगवतः स्वरूपज्ञानार्थं स्वस्वरूपज्ञानार्थं भगवति स्वसम्बन्धज्ञानार्थं च भगवच्छास्त्रं श्रोतव्यम्। तेन सकलसंशयनिवृत्तौ भगवति भक्तिर्दृढा भवति । तदुक्तं श्रुतस्यार्थस्य संरक्षणार्थं सति श्रोतरि कीर्तनं कर्तव्यम्। अत्र श्रवणकीर्तनयोः समुच्चित्य हेतुत्वम्, न तु पार्थक्येन। न च यत्र श्रवणमेव साक्षात्कारकं तत्र व्यभिचारः। तत्र कीर्तनस्मरणजनितार्थस्य जन्मान्तरीयतया सिद्धेः। भगवदनुग्रहो वा तत्र कारणम्। श्रवणादीनां हि दृष्टद्वारकत्वम्। तच्च दृष्टं फलं क्वचित्संशयनिवृत्त्यादि यथायथमवगन्तव्यम्। संशयनिवृत्तौ, (सति सम्भवे) स्मरणं विधेयम्। सति सम्भवे सेवा कार्या। श्रवणं तु लीलात्वेन कर्तव्यम्, तथा कीर्तनं च। तदुक्तं गुरुचरणैः 'निरन्तरं भगवतः स्मरणमेव मुख्यमस्माकम्, श्रवणादिकं तु तदुपकारि, न तु स्वतन्त्रपुरुषार्थः। भक्त्युत्पत्तौ लीलात्वेन श्रवणं तु तनुजा सेवा यथा स्वतन्त्रपुरुषार्थ'इति। सेवा च चेतस्तत्प्रवणमेव, तनुजादिकं च तद्धेतुरिति तत्त्वम् ॥ १ ॥

ननु अनधिकारिणि कथं भागवतार्थो देयः, तदधिकारित्वं च दृढबीजभाववत्त्वमेव, स च कथं ज्ञातव्य इत्याकाङ्क्षायामाहुः सार्धेन बीजदार्ढ्येति।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

उक्तबीजभावदार्ढ्यस्य प्रकारस्तु क्रिया तु । यस्मिन् बीजभावो दृढस्तत्क्रिया तु इयम्। यत् गृहे स्थित्वा अनुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः आत्मधर्मोयमिति ज्ञात्वा अव्यावृत्तः सन् यथालाभसन्तुष्टः सन् कृष्णं सदानन्दं भजेत् । अनुवितमुख्यभक्तेन साधनदशापन्नेन गृहस्थाश्रमे स्थातव्यम् । तत्र स्थित्वा सन्देहमकृत्वा दृढविश्वासेन कृष्णं यथालब्धोपचारैर्भजेत् सेवेत, भज सेवायामित्यर्थकत्वात् । ननु गृहस्थाश्रमः सन्निपातरूपः कथं भगवद्भक्तिं साधयेदिति चेत्, मैवम्। 'भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्यात्' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति किञ्चित्' 'प्राप्य पुण्यकृतांलोका'नित्यादिवाक्यैर्भगवदर्थिनो गृहाश्रमेऽपि सदर्थसिद्धेः । तस्मादग्रावक्ष्यमाणलक्षणभक्तिना गृहस्थाश्रमे तदुपायः कर्तव्यः। तत्राप्ययं विशेषः। गृहाश्रमावस्थानं सिद्धगृहाश्रमस्यैव, न तु सिद्धप्रणष्टतत्कस्यासिद्धतत्कस्य वा । तदपि भजनं स्वधर्मत्वेन कर्तव्यं न तु धर्मत्वेन । तथा सति अन्यशेषत्वेनाभक्तित्वं स्यात् । अत एव गुरवः 'कर्माङ्गत्वेन क्रियमाणस्मरणादेः कर्माङ्गत्वमेव, अर्थात्कर्मत्वमेव, न भक्तित्व'मिति। अत्र गृहस्थानविधानेन स्वगृहाधिष्ठितस्वरूपभजनपरित्यागेनान्यत्र तत्करणे भक्तिर्न भवतीति सूचितं भवति । तत्रापि भजने फलमुखमङ्गमुपदिशन्ति अव्यावृत्त इति । सर्वव्यावृत्तिं परित्यज्य कृष्णः सेव्यः। आह्रायामिकः कालो भगवद्धत्त्यैव नेयः। सेवासमये सेवा कर्तव्या, अवशिष्टकाले श्रवणादिकं यथासम्भवं कर्तव्यम्। न तु व्यावृत्त्या कालक्षेपः क्षणमपि कर्तव्यः।

'निद्रया ह्रियते नक्त'मित्यर्थ । यद्वा । व्यावृत्ति' सर्ववस्तुविषयक' सोद्यमो मनोरथ', सर्वथा तद्रहितोऽव्यावृत्तो भवेत् । सर्वेच्छा परित्यज्य निश्चितचेतसा स्वधर्मत्वेन कृष्णः सेव्य, न तु पूज्य । पारिभाषिकश्चाय भेदो द्रष्टव्य । यदि अव्यावृत्तो न भवेत्, तदा भगवत्सेवन केवल स्वमाहात्म्येन यथासम्भव पापादि निवर्तयेत्, न तु उक्त फल साधयेदित्यर्थ । नह्यन्यचेतसा कृत कृतमित्यभिमन्तव्यम् । अतो भगवदर्थिना त्रिकाल भगवत्सेवासमये तु अवश्यमव्यावृत्तेन भवितव्यम्। तत्र कामचार' । ननु सेवा कर्तव्या, न तु पूजा । सा च कथ कथ कर्तव्या । किं स्वशारीरधर्मतत्समानधर्मत्वेनोपचर्यया, आहोस्विद्यथेच्छनागमादिरीत्या वेति सन्देहे प्राहु पूजयेति । अत्र तद्गुणविज्ञानहुम्रीह्याश्रयणादनुक्तसिद्धोपादानत्वेपि पूजाया पृथगुपादानमुक्तभेदतत्त्वम् । तेन सेवाप्राधान्येन श्रवणादिनवक निषेधमित्युक्तम् । अयमर्थ । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां तु ताद्विकोपचारा उपयुक्ता, तत्रापि यत्प्रेमविरोधि तन्न कर्तव्यम्, यथा नित्य शीतोदकस्नानादि। प्रमाणबलान्नलपेक्षया प्रमेयबलावलस्याधिकत्वेन स्थापितत्वात् । यथासम्भव चतु षष्टि उपचारा: प्रत्यह कर्तव्या । अपरञ्च । त एवोपचारा भक्तिमार्गे तदीयत्वेन कर्तव्या', न तु स्वीयत्वेन, धर्मवत् । तथा सति न भक्तित्व स्यात्। भगवन्मन्त्राद्युपयोगश्चाश्रयविशेषावधारणेन कर्तव्यत्वेन व्याख्यात । यत्तु कश्चित् पञ्चरात्रादिभगवच्छास्त्रतत्त्वानभिज्ञ: पूजामार्गीया उपचारास्तत्साधनानि मन्त्रादीनीति न तानि पुष्टिमार्गे उपयुज्यन्ते, कथञ्चिदपि तदुपयोगे भिन्नमार्गीयत्व स्यात्, अन्यथा पूजापूजाभक्तिमार्गयोरविशेषापत्तेरित्याह। तन्मतिमान्द्यादेव । भावविशेषात्पारिभाषिकभेदादेव तत्सिद्धे'। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया अनुपरमात् । अप्रामाणिकत्वापत्ते । 'भगवच्छास्त्र गीता भागवत पञ्चरात्र चे'ति सिद्धान्तग्रन्थविरोधात् । भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्चेति दिक् । यद्वा। पूजया श्रवणादिभिर्वेति गृहस्थविदुरादिभेदेन पदार्थद्वयोपदेशः । 'अधिकारिभेदेनोपदेशा भिद्यन्त' इति सिद्धान्तात् ॥ २१ ॥

ननु यदि व्यावृत्त स्यात्तदा त्यादिहानितश्चेत्सत प्राहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

नीचाश्रयणादिनिन्दितवृत्तिस्तु नादरणीया । अतिरिक्तवृत्त्या जीवेत । सा च दु:साध्या यर्हि, तदा अवश्य व्यावृत्तो भवति, तदा हरौ भगवदर्थं श्रवणादौ चित्त निधाय यतेत् । सर्वथा याममात्र कालो भगवति विनियोज्य. । श्रवणादिषु त्रिषु पाल्यमानमेकमादेहावसान द्रष्टव्यम् । अतस्तेषु यतेत् । तथापि 'अन्ये त्वेवमजानन्त श्रुत्वान्येभ्य उपासते । तेपि चातितरन्त्येव मृत्यु श्रुतिपरायणा' इति वाक्याच्च भगवन्त प्राप्स्यन्त्येव ।

अत एव तत्त्वदीपे भगवदाचार्यैरुक्तं 'सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदेकं यामं हरौ नये'दिति। एवं समर्थासमर्थभेदेन गृहस्थविधुरादिभेदेन च दृढबीजभावत इतिकर्तव्यता व्याख्याता। इदानीमवसरप्राप्तं उक्तत्यागादिसाधनफलं निरूपयन्ति ततः प्रेमेति। ततस्त्यागादिसाधनानां यथाभावप्रकारानुष्ठानानन्तरं प्रेम भवति, निरुपाधिकः स्नेहो भवति, यथा स्वदेशोपादेयवस्तूनि भगवति तथा विनियुज्यन्ते। स्वात्मवद्भगवदुपचारकारको भावविशेषः। तत्र जाते सर्वत्रौदासीन्यं स्यात्। तदुत्तरं तादृशभाववता तथैव सेवायां क्रियमाणायामासक्तिर्भवति। अत्र तादृशानुपूर्वीविशिष्टैवासक्तिर्विधीयते। न तु स्वरूपतो भेदः। अन्यथा 'आसक्तिः प्रेमपूर्वैव, प्रेमापि हरिणा कृत'मिति विरुध्येत। आसक्तौ हि सर्वेषु अरुचिर्भवति। यथा 'चित्तं सुखेन भवते'ति। ततो यदा पुनरासक्तिरेषावस्थातो व्यसनमपि भवेत्, तदा कृतार्थः स्यात्। परा काष्ठा भक्तेः सैव यद्व्यसनम्, यथा 'तन्मनस्कास्तदालापा' इत्यादि। अवस्थाविशेषं यावद्भावः कुतो न गण्ये कालादिभिरुपहन्यत इत्यत आहुः बीजमिति। भक्तिशास्त्रे बीजं बीजभावः एवोच्यते, तदपि दृढं यत्नापि नैव नश्यति, देशकालादिभिर्न तस्य नाशः। अनेकजन्मभिरपि न तस्य नाशः, किं पुनरल्पैरित्यर्थः॥ ३,३½॥

इदानीं प्रेमासक्तिकार्यं तदनुमापकमाहुः स्नेहादिति।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः॥ ४॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि॥ ५॥

यदि भगवति स्नेहस्तदा पुत्रदारधनदेहादिषु योऽनुरागभिन्नत्वासङ्गः स नश्यति। मनः सर्वांशेन भगवदुपयुक्तं नान्यत्र सज्जते इत्यर्थः। आसक्त्या पुनर्गृहे अरुचिः, कदा पुनरिदं गच्छेयेनाहं विमुक्तः स्याम्। गृहे इति यावदात्मीयोपलक्षणम्। सर्वं न रोचत इत्यर्थः। प्रेमासक्त्योः फलद्वयं प्रत्येकमाहुः गृहस्थानामिति। अत्र निर्धारणे षष्ठी, तत्र हेतुबाधकत्वं गुणः। गृहस्थाः स्त्रीपुत्रादयस्तेषां बाधकत्वम्, एते सर्वथा लौकिका उत्पन्नभावनाशका इति भासते। यद्वा। सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। तथा च गृहस्थसम्बन्धि यद्बाधकत्वं तत्तदैव भासते, नान्यथेत्यर्थः। गृहस्थपदं प्रवृत्तिमार्गनिष्ठमात्रोपलक्षकमजहल्लक्षणयेति च सम्यक्। एषां पुनरनात्मत्वं अनात्मीयत्वं वा आगमापायित्वमित्यर्थः। तद्भासते। अत्र यावत्प्रेमासक्त्योः सम्भवं विरोधिधर्मवतस्तद्विरोधानं सम्भवति। उत्पन्ने तु व्यसने साधनमसाधनं वा तुल्यमित्याहुः यदा स्याद्व्यसनमिति। भगवति हृदयाकाशे सर्वांशेन प्रादुर्भूते तदानन्दसम्पत्त्या व्यसनं जायते, अतः फलान्तराभावादिदैवानुभूतफलो विशिष्टेच्छावशतो देहादि विदधत् प्रतिक्षणं जायमानाद्विविधपरमानन्दसम्पर्काद्विगलितवेद्यान्तरविज्ञानस्त्रिगुणहीनः कृतकृत्यः कर्मत्रिपुटीविहीनः परमात्मन्येव रमते॥ ४,५॥

ननु जातव्यसनावस्येन गृहे स्थेयं न वेत्याकाङ्क्षायामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

एवं भक्तेः पराकाष्ठां विधुरगृहस्थसाधनाधिकारियोग्यतापुरःसरं निरूप्य विरक्तस्य गृहाश्रमेच्छारहितस्य ब्रह्मचारिणो भगवदर्थिनो यतेश्च साधनमाहुः त्यागं कृत्वेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम् ।

तुशब्दोधिकारिविशेषव्यावृत्त्यर्थः । य इति दुर्लभाधिकारः सूचितः । सर्वस्य लौकिकस्य त्यागं कायवाङ्मनसा कृत्वा यतेत् । यत्नश्च प्राप्तमन्त्रस्मरणकीर्तनाराधनभगवल्लिङ्गादिदर्शनादिपरायणतैव । सदृष्टप्रतिबन्धस्यादृष्टप्रतिबन्धस्य चैतन्मार्गपक्षपातिना भगवतैव निवृत्तत्वात्सुदृढां केनाप्यनपनोद्यां भक्तिं लभते । अत भगवदधीनत्वबोधायानुवादो, न तु विधानम् । तत्रापि यदि अन्यशेषत्वेन लोकान्तरापेक्षया मुक्त्याद्यपेक्षां कुर्यात्, तदा उक्तस्वरूपां तां न लभते इति अनवद्यतादृशतत्प्राप्तौ अधिकारिविशेषणमाहुः तदर्थेति । भगवद्रूपो योऽर्थस्तदर्थं एवैको मानसे यस्य स तथा । अत्र द्वितीयार्थपदेन तद्रूपस्यैव पुरुषार्थत्वेन ज्ञानं तद्धेतुर्नान्यथेति सूचितम् । सापि भक्तिर्न मनोधर्मरूपा, अपि तु आत्मधर्मरूपा, तां प्राप्नुयादित्याहुः परामिति ॥ ६, ६३ ॥

एवं विशिष्याधिकारं व्याख्याय साधनं अदृष्टकालादेर्भगवन्मार्गे प्रतिबन्धकत्वाभावात् दृष्टं प्रतिबन्धकं प्रदर्श्य तन्निवृत्तिप्रकारपूर्वकं गुणाधानमाहुः त्यागे बाधकेति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

गृहत्यागे कृते भक्तेर्बाधकानि भूयांसि संभवेयुः । दुःसंसर्गो भवति, तेन भक्तिविषयेऽसम्भावना विपरीतभावना वा उत्पद्यते, द्वयं वा । तेन भक्तिमार्गीयप्रकाराचरणाभावाद्भक्तिर्नोत्पद्यते । दुःसंसर्गो वा एकाकिनो वनितादिसङ्गः, तेन विषयावेशे भक्तेरनुद्भवः । उक्तं च भगवता 'सङ्गात्सञ्जायते कामः' इत्यादि । अथवा, दुष्टानामवैष्णवानां संसर्गोत्तैः सर्वथा भक्तिनाशो भवेत् । यथैव दुःसंसर्गः सर्वथा बाधकः, तथा अवैष्णवानामनीदृशानामन्नतः अन्नभक्षणतः, अवैष्णवानां जलपानेन भक्तिर्नोत्पद्यते । अत एव धृतवराहरूपेण भगवता पृथ्वीं प्रत्युक्तं 'वैष्णवो यस्तु मोहेन पचेदन्नमनुत्तमम् । अवैष्णवाग्निना देवि तन्न भुङ्क्ते यथा विषम्' । अन्यत्र च । 'वस्तु यद्वैष्णवं किंचिद्यदि पश्येदवैष्णवः । न तन्मम्युपयुञ्जेत पुंसि स्त्रीव रजस्वला' । तस्माद् दृष्टभेदेन प्रतिबन्धं व्याख्याय तन्निवृत्त्युपायमाहुः अतः स्थेयमिति । यत उक्तरीत्या भक्तिप्रतिबन्धो

भवेत्, अतो हरिस्थाने पुरुषोत्तमस्थाने व्रजे वा श्रीरङ्गधामपुरुषोत्तमक्षेत्रद्वारावतीबदर्याश्रमवैङ्कटादिषु वा स्थेयम्। तत्रापि विविधानां समागमनात्साधनदशापन्नत्वाच्च स्वस्य न सर्वैः सह स्थातव्यम्, उक्तदोषापत्तेः, किन्तु तदीयैर्भगवदीयैर्न तु कर्मिष्ठादिभिर्वा। तत्रापि दीक्षादिकं परिगृह्य केवलं व्याख्यातारः प्रतिष्ठाप्रेक्षका लोकसङ्ग्रहार्थम्, तैर्न स्थातव्यम्, किन्तु तत्परैः कृष्णपरायणैः सेवाश्रवणकीर्तनादिना। अत्र सर्वात्मना भगवति चित्तव्यासङ्गो मुख्यं साध्यम्, तया सिध्येत्, तथा विधेयम्। तादृशस्थलेपि तत्रैव न स्थेयम्, किन्तु दूरे दूरभिन्ने दूरसदृशे। यथाविप्रकर्षे वा। विवक्षितं तात्पर्यमाहुः यथा चित्तं न दुष्यतीति तथा विधेयम्। चित्ते दोषो बाहिर्मुख्यमभगवत्परत्वमिति यावत्, तद्यथा न स्यात्, तथा यतनीयम्॥ ७,८॥

ननु भगवत्सेवाया अभावात्तस्याधमत्वमिति चेत्तत्राहुः सेवायां वेति।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम॥ ९॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः॥ १०॥

न वयं तनुजावित्तजाद्यन्यतमसेवायामेव फलत्वं ब्रूमो येन यतिप्रथमानामधमत्वं स्यात्, किन्तु भगवत्प्राप्तिं तत्साधनं च भक्तिंनिरुपाधिकप्रेमात्मिकैवेति तस्यामेव फलनान्तरीमकत्वात्। किमायातमेतावता साधनकलापमनुष्ठातॄणामुत्तमादिविभेदे उक्तश्रद्धासाधनप्रवृत्तितारतम्यातिरिक्तं हेतुत्वेन। अतः सेवायां द्विविधायामपि एतस्यास्, कथायां साम्प्रदायिकगुरुकृपाकटाक्षपूर्वकगृहीतसाम्प्रदायिकगतिना कृतायां यतेर्भक्तचारिणो वा यस्य कस्यचिद्भगवदनुगृहीतस्यासक्तिर्दृढा, केनापि अनपनोद्या हर्षविषादादिनाप्यनपनोद्या भवेत्। ननु इदानीन्तनानां दृश्यते सेवायासक्तिः, कथं न भक्तिरुत्पद्यते इत्याशङ्कायामाहुः यावज्जीवमिति। भगवन्मार्गप्रवेशमारभ्य यावद्देहावसानमावर्तमानानामेव श्रवणादीनां दृढार्थत्वम्, न तु सकृत्कृतानामिति भावः। य एतादृशस्तस्य क्वापि देशे काले नाशो नाम स्वरूपप्रच्युतिर्न स्यात्, यत्र क्वापि निन्दिते देशादौ तिष्ठेत्सर्वथा मुक्तो भवेत्, किं पुनरुत्तमेऽनुकूले उक्तविधे देशादावित्याचार्याः स्वयं वदन्ति मम मतिर्मितं सिद्धान्तः। नात्र सन्देहः कर्तव्य इति तत्त्वम्। ननु विप्रकर्षे स्थेयमित्युक्तम्, तत्र च दुष्टैरन्यैर्वा जन्तुभिः सर्वथा बाधः सम्भाव्यते, तत्कथं विप्रकर्षे एकान्ते स्थेयमित्यत्राहुः बाधसम्भावनायां त्विति। तेन बाधसम्भावनं यत्र न स्यात्, तादृशं स्थलं विमृश्य स्थेयमिति सूचितम्। वस्तुतस्तु अमायया भगवद्धर्मैकान्ते वसतः केनापि बाधो न सम्भवतीत्याहुः **हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः।** एतेन 'चीराणि किं पथि न सन्ति' 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां' 'भक्तायातिप्रपन्नाय'

'*तथा न ते माधव तावका*' इत्यादिप्रमाणपुरःसरं सर्वथा निर्भयतया निखिलं श्रेयम्, विश्वस्य भगवदर्थिनेति तत्त्वमुपदिष्टमिति ज्ञेयम् ॥ ९,१० ॥

एवं ग्रन्थमुपदिश्योपसंहरन्ति इत्येवं भगवच्छास्त्रमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढं तत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इति उक्त एवमनेन प्रकारेण भगवच्छास्त्रे यद्गूढं तत्त्वं तन्निरूपितम् । भगवच्छास्त्रं गीता भागवतं पञ्चरात्रं चेति त्रिकम् । तत्सिद्धान्तं एतावानेवेत्यर्थं । गूढतत्त्वमिति विशेषणेप्ययमेवार्थः । उपसंहृत्यैतत्पाठकर्तुर्यथानुसन्धानपूर्वकं पठितुरपि फलमाहुः **य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः** । ग्रन्थानुसन्धानात्तत्प्रवृत्त्यादिक्रमेणोक्तं फलं सर्वथा सेत्स्यतीति भावः ॥ ११ ॥

जिज्ञासितन्त्यमिदमुत्तमभक्तिचिन्हैः सिद्धान्तरीतिमनुसृत्य मयातियत्नात् ।

श्रुत्वा निबन्धनमसौ विबुधेषु यान्ता दूष्यं वचो यदि तदा प्रथमं विभाव्यम् ॥ १ ॥

आरम्भमर्थधिषणैरनवद्यमेव व्याख्यासु कौशलकलानिपुणत्वमेव ।

तच्चेचिरं भवति तस्कृतकृत्यता स्याद्गोपालपादकमलद्वयसंनिविष्टम् ॥ २ ॥

संवत्सरे सप्तदशेतिरम्ये वर्षे शरश्रीपतिहृस्तसंख्ये ।

दिने तथा श्रावणकृष्णपञ्चदशीकृतेसौ विवृतः प्रबन्धः ॥ ३ ॥

क्वाहं मन्दमतिः क्वाय प्रबन्धस्तत्त्वसङ्ग्रहः ।

शिशुना मासते रम्यं तथापि कलभाषणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्बल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगिरिधरकृतविवृतिसमेता ।

श्रीविठ्ठलपदान्नत्वा सर्वाभीष्टप्रदान् स्वतः ।

शब्दैः सक्षेपतोर्थैस्तु व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाः परमकृपालवो भगवद्भक्ते कल्पतरुस्वभावत्वात् तत्त्वमेव वदन्तः स्वीयानां स्वमार्गीयभक्तिकल्पतरोर्बीजावापमारभ्य फलपरिपाकपर्यन्तं प्रवृद्ध्युपायं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता स्यात्, तत्प्रकारकोपायो निरूप्यत इत्यर्थः । अत्रोपायत्वाविशेषात् जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । तेन क्रमेणोत्तरोत्तरं दृढतरतमाद्यिप्रकारका उपायाः सन्तीति तानाहुः । तत्र प्रथमं बीजस्य दृढत्वे सत्येवाग्रे तरोरप्यविनाशित्वं भवति, नो चेद्वातादिवशान्महानपि तरुर्नश्यत्येव । अतस्तमुपायमाहुः बीजेति । बीजभावः श्रीमदाचार्यकृतभगवन्निवेदनानन्तरं तन्मार्गानुसारेण भगवत्स्वरूपनिष्ठारूपः, स यदा दृढो भवति, तदा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादिति प्रथमः । तदनन्तरं त्यागात् गृहादिसर्वस्वसुनस्त्यागे कृते सा दृढतरा स्यादिति द्वितीयः । ततः श्रवणकीर्तनात् भगवद्गुणरूपलीलादीनां स्वदेहादिसर्वविस्मरणपूर्वकं तद्रसपरवशतया श्रवणकीर्तने सिद्धे सा दृढतमा स्यादिति तृतीयः ॥ १ ॥

ननु दृढबीजभावः को वा तस्य दार्ढ्ये प्रकारश्च को वेत्याशंक्य पूर्वं सोरेवं बीजदार्ढ्यप्रकारं ततो बीजभावस्वरूपं चाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

स्वन्तत्वादेतत्प्रकारप्रवृद्धभावस्य विघातकोपि वक्ष्यमाणपदार्थोस्तीत्यस्याप्रौढत्वमुक्तं भवति । तथाचायमप्येकः प्रकारो भवतीति तं पूर्वमुद्दिश्याग्रे प्रकारमाहुः गृहेति । स्वगृह एव स्थितः सन् स्वधर्मतः जीवस्य ये वैधा वर्णाश्रमधर्मास्तेभ्योऽव्यावृत्तस्तेषु व्यावृत्तिरहितः सन् विशेषेणावृत्तिः सततं तद्धर्मेष्वेवासक्तिपूर्वकं वाक्कायमनसां परिभ्रमणं तद्रहितः पुष्करपत्रवत् तत्र स्थितोऽपि तान् लोकसंग्रहार्थं यथाकथंचित् कुर्वन्नपि तेष्वसक्तः सन्, पूजया तनुवित्तजया सेवया श्रवणादिभिरष्टप्रकारैश्च कृत्वा कृष्णं सदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् सेवेत । एतेन लौकिकधर्मव्यावृत्तिं विहाय पूजाश्रवणादिभगवद्धर्मेष्वेव व्यावृत्तः स्यादित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता' इत्यनेन मर्यादामार्गीयस्य कर्माचरणमर्यादामुक्त्वा, अग्रे व्यवस्थया भक्तिमार्गीयस्यापि तामाहुः 'मत्कथाश्रवणादौ वा यावच्छ्रद्धा न जायते' इति । अतो भगवद्धर्मेषु व्यावृत्तस्य लौकिकधर्माव्यावृत्तिर्युक्तैव । अथवा स्वधर्मतः अव्यावृत्तः अनिवृत्तः सन् । पूर्वदशायां चित्तशोधकत्वेन तेषामुपयोगात् । तदुक्तमेकादशे 'अस्मिंल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः । ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छये'ति ॥ २ ॥

किञ्च, न केवलं भगवद्धर्मस्थितिमात्रेणाहं कृतार्थोस्मि, नातः परमधिकं किंचिदस्तीति मन्तव्यम्, किन्त्वमे धर्मिसम्बन्ध्यपि किंचित् कर्तव्यमेवेत्याहुः व्यावृत्तोपीति ।

'तया न ते माधव तावका' इत्यादिप्रमाणपुरःसरं सर्वथा निर्भयतया निश्चित सेयम्, विश्वस्य भगवदर्थिनेति तत्त्वमुपदिष्टमिति ज्ञेयम् ॥ ९,१० ॥

एवं ग्रन्थमुपदिश्योपसंहरन्ति इत्येवं भगवच्छास्त्रमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढं तत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इति उक्त एवमनेन प्रकारेण भगवच्छास्त्रे यद्गूढं तत्त्वं तन्निरूपितम् । भगवच्छास्त्रं गीता भागवतं पञ्चरात्रं चेति त्रिकम् । तत्सिद्धान्त एतावानेवेत्यर्थः । गूढतत्त्वमिति विशेषणेनाप्ययमेवार्थः । उपसंहृत्यैतत्पाठकर्तुरर्थानुसन्धानपूर्वकं पठितुरपि फलमाहुः य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः । ग्रन्थानुसन्धानात्तत्प्रवृत्त्यादिक्रमेणोक्तं फलं सर्वथा सेत्स्यतीति भावः ॥ ११ ॥

जिज्ञासितव्यमिदमुत्तमभक्तिचित्तैः सिद्धान्तरीतिमनुसृत्य मयातियत्नात् ।
स्फुतं निबन्धनमसौ विबुधेषु याञ्चा दूष्यं वचो यदि तदा प्रथमं विभाव्यम् ॥ १ ॥
आरब्धमर्थधिषणैरनवद्यमेव व्याख्यासु कौशलकलानिपुणत्वमेव ।
तच्चेचिरं भवति तत्कृतकृत्यता स्याद्गोपालपादकमलद्वयसंनिविष्टम् ॥ २ ॥
संवत्सरे ससदशेतिरम्ये वर्षे शरश्रीपतिदृक्ससंख्ये ।
दिने तथा श्रावणकृष्णपक्षद्वयीकृतेसौ विवृतः प्रबन्धः ॥ ३ ॥
काहं मन्दमतिः कायं प्रबन्धस्तत्त्वसङ्ग्रहः ।
शिशूनां भासते रम्यं तथापि कलभाषणम् ॥ ४ ॥

इति श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगिरिधरकृतविवृतिसमेता ।

श्रीविठ्ठलपदान्नत्वा सर्वाभीष्टप्रदान् सतः ।
शब्दैः संक्षेपतोर्थैस्तु व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाः परमकृपालवो भगवद्भक्तेः कल्पतरुस्वभावत्वात् तत्त्वमेव वदन्तः स्वीयानां स्वमार्गीयभक्तिकल्पतरोर्बीजावापमारभ्य फलपरिपाकपर्यन्तं प्रवृद्ध्युपायं प्रतिजानते यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

येन प्रकारेण भक्ति प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता स्यात्, तत्प्रकारकोपायो निरूप्यत इत्यर्थः । अत्रोपायत्वाविशेषात् जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । तेन क्रमेणोत्तरोत्तर दृढतरतमास्त्रिप्रकारका उपाया सन्तीति तानाहु । तत्र प्रथम बीजस्य दृढत्वे सत्येवाग्रे तरोरप्यविनाशित्व भवति, नो चेद्वातादिवशान्महानपि तरुर्नश्यत्येव । अतस्तमुपायमाहु बीजेति । बीजभाव श्रीमदाचार्यकृतभगवन्निवेदनानन्तर तन्मार्गानुसारेण भगवत्स्वरूपनिष्ठारूप, स यदा दृढो भवति, तदा भक्ति प्रवृद्धा स्यादिति प्रथम । तदनन्तर त्यागात् गृहादिसर्ववस्तुनस्त्यागे कृते सा दृढतरा स्यादिति द्वितीय । ततः श्रवणकीर्तनात् भगवद्गुणरूपलीलादीना स्वदेहादिसर्वविस्मरणपूर्वक तद्रसपरवशतया श्रवणकीर्तने सिद्धे सा दृढतमा स्यादिति तृतीय ॥ १ ॥

ननु दृढबीजभाव को वा तस्य दार्ढ्ये प्रकारश्च को वेत्याशक्य पूर्व सोद्देश बीजदार्ढ्यप्रकार ततो बीजभावस्वरूप चाहु बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्ण पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

स्वन्तत्वादेतत्प्रकारप्रवृद्धभावस्य विघातकोपि वक्ष्यमाणपदार्थोत्सीत्यस्याप्रौढत्वयुक्त भवति । तथाचायमप्येक प्रकारो भवतीति त पूर्वमुद्दिश्याग्रे प्रकारमाहु गृहेति । स्वगृह एव स्थित सन् स्वधर्मत जीवस्य ये वैधा वर्णाश्रमधर्मास्तेभ्योऽव्यावृत्तस्तेषु व्यावृत्तिरहित सन् विशेषेणावृत्ति सतत तद्धर्मेष्वेवासक्तिपूर्वक वाङ्कायमनसा परिभ्रमण तद्रहित पुष्करपत्रवत् तत्र स्थितोऽपि तान् लोकसग्रहार्थं यथाकथचित् कुर्वन्नपि तेष्वसक्त सन, पूजया तनुवित्तजया सेवया श्रवणादिभिरष्टप्रकारैश्च कृत्वा कृष्ण सदानन्द पुरुषोत्तम भजेत् सेवेत । एतेन लौकिकधर्मव्यावृत्तिं विहाय पूजाश्रवणादिभगवद्धर्मेष्वेव व्यावृत्त स्यादित्यर्थ । अत एव श्रीभागवते 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता' इत्यनेन मर्यादामार्गीयस्य कर्माचरणमर्यादामुक्त्वा, अग्रे व्यवस्थया भक्तिमार्गीयस्यापि तामाहु 'मत्कथाश्रवणादौ वा यावच्छ्रद्धा न जायते' इति । अतो भगवद्धर्मेषु व्यावृत्तस्य लौकिकधर्माव्यावृत्तिर्युक्तैव । अथवा स्वधर्मत अव्यावृत्तः अनिवृत्त सन् । पूर्वदशाया चित्तशोधकत्वेन तेषामुपयोगात् । तदुक्तमेकादशे 'अस्मिँल्लोके वर्तमान स्वधर्मस्थोऽनघ शुचि । ज्ञान विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया'इति ॥ २ ॥

किञ्च, न केवल भगवद्धर्मस्थितिमात्रेणाहं कृतार्थोस्मि, नात परमधिक किञ्चिदस्तीति मन्तव्यम्, किन्त्वग्रे धर्मिसम्बन्ध्यपि किञ्चित् कर्तव्यमेवेत्याहु' व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

श्रवणादौ व्यावृत्तोपि हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तं यतेत् प्रयतेत । तथा कुर्वन्नपि प्रेमसेवामपि कुर्यादित्यर्थः । यद्वा । ननु 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुया'दिति न्यायेन देहाध्यासवैधा धर्माः सहसा कथं त्यक्तुं शक्यन्त इत्याशङ्क्याहुः व्यावृत्तोपीति । स्वधर्मेषु व्यावृत्तोपि यथाविधि यावच्छक्यं तान् कुर्वन्नपि श्रवणादिषु भगवद्धर्मेषु हरौ भगवति धर्मिणि च चित्तं यतेत् प्रयतेत । कायिकप्रवृत्त्यां तत्र व्यापृततायामपि वाचिकमानस्यौ ते भगवत्येव प्रयोक्तव्ये सर्वथेत्यर्थः । तावतापि कार्यं सिध्यतीत्यर्थः । एवं बीजदार्ढ्यप्रकारमुक्त्वा क्रमेण वर्धमानं पूर्णं च बीजभावमाहुः ततः प्रेम इति । ततस्तदनन्तरम् । अथवा । एवं क्रियमाणेभ्यः श्रवणादिभ्यः पूर्वं भगवद्विषयकं प्रेम उत्पद्यते, ततः क्रमेण भगवत्यासक्तिर्भवति । ततोग्रे व्यसनं भवति । व्यसने जाते तदेव दृढबीजभावपदवाच्यमित्याहुः बीजमिति । भक्तिशास्त्रे तदेव दृढं बीजमित्युच्यते । यद्बीजमुक्तप्रकारेण स्थितौ दृढं सत् कदापि न नश्यति ॥ ३३ ॥

ननु प्रेमाद्यवस्थास्तु मानस्यो भवन्ति, ताः कथं पृथक् पृथक् ज्ञायन्त इत्याशङ्क्य तासां व्यावर्तकधर्मानाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

भगवति स्नेहे उत्पन्ने तत्पूर्वं स्थितस्येतरविषयकानुरागस्य विशेषेण नाशः स्यात् । ततो यदा भगवत्यासक्तिर्जायते, तदा गृहे गृहपदार्थेषु चारुचिर्भवति । तत्र स्थित-बन्धुकलत्रादिषु किञ्चिद्विशेषमाहुः गृहस्थानामिति । गृहस्थिता ये बन्धुकलत्रादयस्तेषां स्वस्मिन्स्थितभगवद्भावे बाधकत्वमत एवानात्मत्वं च स्वस्य भासते । अयमाशयः । गृहे ये बन्धुकलत्रादयस्ते सर्वे नैकजातीयभावाः, किन्तु विजातीयभावा अन्योन्यम् । तत्र केचन लौकिका दैहिकधर्मपराः, केचन वैष्णवा अपि नानाविधभगवद्धर्मपराश्च भवन्ति । तथा च भगवदासक्तिपूर्णानां मनसि तेषु सम्यक्त्वेनोपादेयत्वं न स्फुरति । एकेषु स्वभावविघातकत्वेनैतत्सङ्गः सर्वात्मना न कर्तव्य एवेति भासते । अपरेषु वैष्णवत्वेपि विजातीयभाववत्त्वेन नैते मद्भावस्य पोषकाः, किन्तु विक्षेपका इति नात्मीया भवन्त्यतः समुपेक्ष्या एवेति भासत इति । अग्रिमावस्थामाहुः यदेति । यदैव कृष्णे सदानन्दे व्यसनं तस्योत्पद्यते, तदैव कृतार्थः साधितः सम्यगर्थः भक्तिपदार्थो येन तादृशः स्यात् । व्यसनस्वरूपं तु 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवद्'

इत्यादि । व्यसनपदेन यथा द्यूतकामादिव्यसनिन ऐहिकपारलौकिकेभ्यो लज्जाभयादिक सहसा परित्यज्य तत्तत्परतयैवेतरानुसन्धानरहिता सन्तस्तिष्ठन्ति, तथैतेपि सर्वं परित्यज्य भगवदेकपरा सन्तस्तिष्ठन्तीति ज्ञाप्यते । परमेतावान् विशेष, तत्र वैषयिकत्वादसद्रूप सर्वम्, अत्र तद्रहितत्वात्परमकाष्ठापन्न सर्वमिति । अन्यथा 'विषयाक्रान्तदेहाना नावेश सर्वदा हरे'रित्याचार्या न वदेयु । तथा चैव व्यसनावस्थाया जातायामेव बीजभावस्य पूर्णं दृढत्व स्यादित्यर्थ । एव पुष्टिभक्तिकल्पतरो सर्वथाऽविनाशिदृढतम बीजभावो निरूपित । ततोऽग्रे शाखापत्रादिस्थानीयभावाना वृद्धिरनुक्तसिद्धैवेति हृदयम् ॥ ४,५ ॥

नन्वतिदृढत्वाद्बीजभावस्य नाशो मास्तु, परन्तु तदुत्पन्नकोमलशाखापल्लवादीना पक्षिमृगादिकृतकृन्तनवदिहापि बीजोत्पन्नभावान्तरभावनाशस्तु सम्भाव्यत एवेत्याशङ्क्य पूर्वं नाशकपदार्थमुद्दिशन्ति तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशनम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम् ।

सञ्जातव्यसनस्यापि सतत गृहस्थान गृहे स्थितिर्विनाशन बीजोत्पन्नकोमलभावाना विघातकमित्यर्थ । एवमुद्दिश्यैतत्प्रतीकारमपि वदन्त पूर्वोक्तभक्तिप्रवर्धकोपायेषु द्वितीयमुपायमाहु त्यागमिति । गृहादिसकलवस्तुनस्त्याग कृत्वा यतेत्, व्यसनदार्ढ्यप्रयत्न कुर्यादित्यर्थ । अथ त्यागस्तु सन्यासनिर्णयोक्तभक्तिमार्गीयतुरीयाश्रमग्रहणरूप । तत्र त्यागेपि प्रकारविशेषेण स्थितिं वदन्तस्तृतीय भक्तिप्रवृद्ध्युपायमाहु यस्तु तदर्थार्थैकमानस इति । यु पुन य तदर्थार्थैकमानस स भगवानेवार्थ सकलपदार्थरूपो येषा ते तदर्था स्वतन्त्रभक्तास्तेषामप्यर्थ मुख्य पदार्थस्तादृशभक्तै सह मिथो गुणगानरूपान्तररमणात्मिका केवला वा विप्रयोगावस्था । तत्रैवैक केवल मुख्य च मानस यस्य तादृश सन् यतेत्, तत्तद्भावानुभव कुर्यात्, स सुदृढा कालादिभिरपि चालयितुमप्यशक्या सर्वत मुक्त्यादिभ्योपि अधिका परा परमकाष्ठापन्ना स्वतन्त्रफलरूपा भक्तिं लभते प्राप्नोति । एतेन पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्भक्तिप्रवर्धकोपायै क्रमेणोत्तरोत्तरमधिका सुदृढा, सर्वतोऽधिका, परा चेति त्रिविधापि भक्तिप्रवृद्धिरुक्ता । ननु 'ज्ञान गुणाश्च तस्यैव वर्तमानस्य बाधका' इत्युक्ते कथ गुणगानस्य परमफलत्वमुच्यत इति चेत् । मैवम् । ते तु मार्यादिका एव बाधका, नैतन्मार्गीया । अन्यथा तत्रैवाग्रे 'गुणास्तु सङ्गराहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति ही' त्याचार्या न वदेयु । नन्वधिक तत्रानुप्रविष्ट न तु तद्धानि'रिति न्यायेन विरहे जीवनाशा तदर्थ यत्नश्चोभौ सुतरा न युक्ततराविति चेत् । न । जीवनमृते विरहजदु खस्यानुभवासम्भवात् । अन्यथा घातपातादिनापि

जीवनमपहातुं शक्यत एवेति तथैवोक्तं स्यात् । अतो नेदं तथा, यतो विरहस्य सम्यगनुभवार्थमेव परित्यागस्य बोधनमस्तीति दिक् । एवं फलपर्यन्तं भक्तिः सोपाया निरूपिता ॥ ६ ॥

ननु सञ्जातव्यसनस्यापि यतस्त्यागमृते न फलसिद्धिस्ततोऽसञ्जातप्रेमाद्यवस्थ एव येनकेनापि हेतुना यथाकथञ्चित्सञ्जातदृढादिविरागः एवं कथं न सर्वत्यागं कुर्यात् तदनन्तरं फलाऽवश्यम्भावो भवतैवोच्यत इत्याशङ्क्याहुः त्याग इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

साधनदशायामेव त्यागे कृते तत्र भूयांसो बाधकाः सम्भवन्तीत्यर्थः । ननु ते किंमूलमादाय सम्भवन्तीत्याशङ्कायामाहुः दुःसंसर्गादिति । दुष्टैः सह संसर्गेण दुष्टान्ना दुष्टे वा अन्ने भुक्ते बाधका उत्पद्यन्ते । अयमर्थः । सर्वं त्यक्त्वा यत्र कुत्रचित्स्थितेनापि यतिना नैकाकिना नापि क्षुत्पिपासादिदैन्येन कथञ्चित्स्थातुं शक्यते, अपक्वदशापन्नत्वात्, तथा च तदर्थं दुष्टैः सङ्गे दुष्टान्नभोजने च कृते सर्वं कृतमप्यकृतमाय भवतीति तथा । तदुक्तं श्रीमदाचार्यैः सन्यासनिर्णये 'गृहादेर्बाधकत्वेने'त्यारभ्य 'अतो न साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः' इत्यन्तेन । अतोऽस्मिन् भक्तिमार्गे साधनदशायां परित्यागो न कर्तव्य इत्युक्तं भवति ॥ ७ ॥

नन्वेवं च सति साधनदशापन्ने स्वभार्यादिकृतसेवादिप्रातिकूल्यसम्भवे कुत्र कथं च स्थेयमित्याकाङ्क्षायामाहुः अत इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरविप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

यतः साधनदशायां त्यागे कृते बाधकभूयस्त्वमत एव हरेर्भगवतः स्थाने निबन्धोक्तेषु पुरुषोत्तमादिषु व्रजादिषु वा स्थेयं स्थितिः कर्तव्येत्यर्थः । अत एव निबन्धेपि स्वभार्यादिप्रातिकूल्येन गृहे स्थातुमशक्तस्य गृहादित्यागप्रकारमुक्तवन्तः श्रीमदाचार्याः, 'भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति । अयं त्यागस्तु न तुरीयाश्रमग्रहणरूपः, किन्तु गृहस्थेषु कलत्रादिषु मध्ये एको द्वौ बहवो वा ये एव प्रातिकूल्यं सेवादौ कुर्वन्ति, तानेव यावच्छक्यं त्यजेदित्येवंबोधकः । अत एव 'गृहं त्यजे'दित्यस्य विवरणं 'गृहं भार्यादिक'मित्युक्तम् । दैवात्पुनः सर्वप्रातिकूल्ये तु सेवानिर्वाहात् स्वस्य स्थातुमशक्येत्वा गृहमेव परित्यज्य सेवादिसामग्रीमपि स्वसार्धं एव नीत्वा पूर्वोक्तभगवत्स्थानेषु यत्र कुत्रापि स्थितः सन् तत्रस्तथा सेवादिकं कुर्यादित्याशयः । एवं च सति पूर्वोक्तत्यागनिषेधस्तु तुरीयाश्रमीणत्यागपर एव । यतस्तत्र सेवाद्यलम्भसम्भवेनाबाधकत्वेन च दुःसङ्गदुष्टान्नभोजनादिकं भवत्येव । तत्तु सर्वथा बाधकम् । अत एवैकादशस्कन्धे दुःसङ्गस्य बाधकत्वमुक्तम् । 'सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां

क्वचित् । तस्यानुगास्तमसन्धे पतन्त्यन्धानुगान्धव'दित्यादिभिः । दुष्टानां तु बाधकत्वमुक्तं पद्मपुराणे । 'अवैष्णवानामन्नं च पतितानां तथैव च । अनर्पितं च यद्विष्णोः श्वमांससदृशं विदु'रित्यादिभिः । पक्वदशापन्नानां तु 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेद'मित्यादिना स्वरूपनिरूपणात्स्वात्मादिसर्वानुसन्धानापगमादेव तत्तद्विघ्नाभावानां दुर्वारगर्वग्रहत्वमिति दिक् । एवमेषां वासस्थलमुक्त्वा स्थितौ प्रकारमाहुः तदीयैरिति । भगवदेकपरा ये भगवदीयास्तैः सह मिलित्वा तन्निकट एव अर्थात् तैः सहैव वसन् सेवाश्रवणकीर्तनादिपरतया स्थेयम् । एतेन दुःसङ्गदुष्टान्नप्रभवा दोषा निराकृताः । न'न्यतिपरिचयादवज्ञे'ति न्यायेन कथं सततं निकट एव स्थातुं शक्यत इत्याशङ्क्य प्रकारान्तरमप्याहुः अदूरेति । वा अथवा अदूरे दूरत्वाभावः तद्वान् यो विप्रकर्षो दूरदेशस्तत्र स्थेयमित्यर्थः । अर्थात् नातिदूरे नातिनिकटे पर ततः किञ्चिद्व्यवधानेन स्थेयम् । मिलनादिकं तु तैः सह नित्यं सर्वथा कर्तव्यमेव । अन्यथा तदेवासुरभावावेशः स्यात् । अदूरमिति पाठेऽदूरमिति क्रियाविशेषणम् । अग्रे पूर्ववत् । नन्वेवं चेत् किमिति व्यवधानेन स्थितिर्बोध्यत इत्याशङ्कायामाहुः यथेति । यथा यत्प्रकारकस्थितौ स्वस्यान्येषां च चित्तं कदापि न दुष्टं भवति तथा स्थेयमित्यर्थः । अत्रायं समुदायार्थः । भार्यादीनां सेवाद्यानुकूल्ये सति तैः सहैव सेवां कुर्वन् तैश्च कारयन्स्वगृहे स्थेयम् । उदासीनेषु तेषु सत्सु गृह एव स्वयमेव सेवादिकं कुर्यात् । तदभावे तु तेषु प्रातिकूल्ये परित्यजेत् । सर्वप्रातिकूल्ये गृहमेव त्यक्त्वा भगवत्स्थाने स्थितः भगवदीयैर्मिलित्वा सेवाकथादिपरतया तिष्ठेत् । अथ तत्सहवासे चेत्स्वमनसि तद्विषयकं दोषादिकमाभाति, अथवा स्यादृष्टवशात्तेषामेव मनसि स्वविषयकं तदायातीति मनसि सम्भाव्य तेभ्यः किञ्चिद्दूरदेशे स्थित्वा तत्रैव सेवादिकं कुर्यात्, तदनवसरे तत्र गत्वा तैः सह श्रवणकीर्तनादिपरतया तिष्ठेदित्यर्थः सम्पन्नः । यद्वा । अदूरेति । भगवत्स्थानादेवादूरविप्रकर्षे स्थेयम् । तत्रैव स्थितौ तु अतिपरिचयाद्भगवतो भगवदीयानां वा विषयका अपराधाः सम्भवन्ति, तेन तु स्वस्य चित्तं दुष्यत्येवेत्यत आहुः यथेति । यथैव स्थिते चित्तं न दुष्यति तथैव स्थेयमित्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु व्यसनानन्तरमपि फलदशायामेव चेद्बाधकसम्भावना, तदा सुतरामेव साधनदशायां सेति कथं सुखेन सेवादिनिर्वाह इत्याशङ्कायामाहुः सेवायामिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

सेवायां तनुवित्तजायाम् । अत्र चानन्दः स्वरूपस्यापि सङ्ग्राहकः । सेवाया अनवकाशावसरे वा श्रोतृवक्त्रभावप्रकारे स्पर्शादि वा भविष्यत्, नान्यपरतया स्यात्स्वदिति बोधकः । अत एवोक्तं नवरत्नप्रकाशे 'अन्यथा तदेवासुरभावावेश' स्या'दिति । कथायां

श्रीभागवतादिश्रवणकथनादौ । अत्र वाशब्दः श्रवणकथनयोरन्यतरेणापि कार्यसिद्धिर्भवतीति सूचकः । परमुभयोरपि तत्र तत्र दृढासक्तिरपेक्षिता । ततो यावज्जीवं तस्यां स्थितायां तस्य भक्तस्य नाशस्त्वभावात् च्युतिस्तस्य भावस्य वा च्युतिः क्वापि इहास्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वाऽमुत्र च नास्त्येव इत्येव मे मतिः सम्मतिर्निश्चयात्मिका बुद्धिर्वा । तथा च सेवायां श्रवणकीर्तनयोर्वा यस्य दृढासक्तिर्भवति, तस्य तावद्भावात् च्युतिः कदापि न भवति, परमग्रे भाववृद्धिस्तु स्वभाग्योन्नतिसमये भगवतस्तद्भक्तानां च कृपया भविष्यत्येवेति परमार्थः ॥ ९ ॥

नन्वेवं सर्वं त्यक्त्वा स्थितस्य तत्रापि चेत् कश्चनोपद्रावकः पदार्थः सम्पद्येत, तदा तेन किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः बाधेति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

एकान्तेपि चेद्बाधकसम्भावना स्यात्तदा पुष्टिमार्गीयैर्बहिस्त्वतया तत्रैव स्थित्वा भगवति भारो न देयः । अतस्तत्र तस्य वासो नेष्यते, इष्टसाधको न भवतीत्यर्थः । ननु पुनस्तत्र तत्रापि चेत्तत्सम्भवस्तदा 'स्थितो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' इति न्यायेन कादिशीकस्य तस्य का वा गतिरित्याशङ्कायामाहुः हरिस्त्विति । यतो हरिः सर्वदुःखहर्ता, अतः सर्वतः । तसिलः सार्वविभक्तिकत्वात्सर्वेषां स्वीयानां सर्वेभ्यः प्रतिबन्धकेभ्यः सर्वेषु देशेषु सर्वैर्लौकिकालौकिकोपायैः सर्वप्रकारैश्च रक्षां निःसन्दिग्धं भगवान् करिष्यत्येवेति नात्र संशयास्मभिर्भवितव्यमित्यनवद्य सर्वम् । अन्यथा 'अनन्या' इति 'न मे भक्त' इति 'मां हि पार्थ' इति 'द्वि स्थापयती'त्यादीनि भगवद्वचनानि बिरुदानि च विफलीभवेयुः ॥ १० ॥

एवं भक्तिसाधनदशायामपि स्थित्यादिप्रकारमुक्त्वा उपसहरन्त एतत्स्तोत्रपाठस्य फलमप्याहुः इतीति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति परिसमाप्तौ । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवद्धर्मशिक्षकं शास्त्रम्, अत एव गूढं तत्त्वं स्वरूपात्मकं यस्मिन्निति तादृशम् । स्वतत्त्वार्पितपुष्टिपुरुषोत्तमस्य सत्वरमेव साक्षात्सम्बन्धजनकत्वमिति यावत् । तन्निरूपितं नितरामुक्तम् । एतन्मार्गीयो यः कोपि वा एतच्छास्त्रं सम्यगर्थानुसन्धानपूर्वकं श्रीमदाचार्यचरणेषु श्रद्धाविश्वासादिपूर्वकं चाधीयीत पाठं कुर्यात्, तस्यापि भगवति रतिर्दृढा स्यात् । दृढत्वं तु प्रेमेणासक्तिव्यसनयोरनन्तराय नियतपूर्वभाववृत्तित्वम् । अत्रायमाशयः । पूर्वं स्नेहोत्प-

स्त्वर्थं ये उपाया निरूपितास्तान्विनैवैतत्पाठमात्रेणापि भगवति प्रेम उत्पद्यते । तदनन्तरं यथोक्तरीत्या स्थितौ तदग्रिमावस्थास्त्ववश्यंभाविन्य एवेति परमार्थः ॥ ११ ॥

अत्र युक्तमयुक्तं वा लिखितं यन्मयाज्ञतः । तद्विठ्ठलः कृपासिन्धुरज्ञस्य क्षम्यतां मुदा ॥१॥

इति श्रीविठ्ठलनाथचरणैकतानश्रीव्रजभूषणात्मजश्रीगिरिधरविरचित-
भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीद्वारकेशविरचितप्रकाशसमेता ।

श्रीमद्वल्लभपादपद्मरजसः संस्मारणेनैव मे
ज्ञातुं सर्वमशक्यमत्र सदसद्वैवेकिकं यत्परम् ॥
ज्ञातं शक्यमसाध्यमेव नितरां साध्यं तदुक्तार्थत-
स्तद्विश्वासयलाश्रयैकनिरतो वक्तुं प्रवृत्तोस्म्यदम् ॥ १ ॥
श्रीमदाचार्यवर्याणां चरणानुग्रहादहम् ।
तदुक्तवाक्यसन्दर्भं विमृशामि यथामति ॥ २ ॥

तत्र पूर्वं यथा भगवान(न)न्यपूर्वाभ्यस्तादृशरसोपयोगिदशाविरहादनधिकारित्वमाशंक्य तदभिमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं साधनत्वेन त्यागात्यागहेतुकीं भक्तिं ताभ्यः प्रयच्छतीति भावफलोपकारावधि तदुत्पादकबीजभावत्वेन तादृशरसात्मकं स्वरूपं भावरूपत्वेनैतद्भावनया तत्तदन्तःस्थापितमिति ततो भक्तिस्तयाग्रे च रमणं फलमिति राद्धान्तसम्मतः पन्थाः । यद्यप्येतदतिरिक्तानां भक्तानां 'व्रजे गोप्यो भविष्यथे'ति वरप्राप्तत्वात्साम्प्रतमधिकारित्वं वर्तत एव, तथापि, 'प्रथमातिक्रमे कारणाभावा'दिति न्यायेनैतत्सदृकार्यत्व एव फलदानम्, यत एतासामेव वरप्राप्तत्वेनात्र रमणविशिष्टः क्षपा दत्तास्तद्व्यतिरेकेण नान्य सम्भावनमिति नैतत्पूर्वं तासां रमणमिति भावः । अत एवाग्रे भगवदाकारणं तु तावदेतद्विषयकमेव स्पष्टीकृतं श्रीमदाचार्यैः । तथा सत्युभयोर्भगवतः प्राथमिकसंबन्ध एव बीजम्, तदाचाह्यानम् । भक्तिश्चरणारविन्दरूपा । तस्या नैरन्तर्यभावनेनावसरे प्राप्ते बीजपरिपाकदशायां फलं साक्षात्स्वरूपानन्दानुभव इति यावत् । तत्र कुमारिकाणामत्यागः, तद्व्यतिरिक्तानां त्याग इति स्थापितत्वात् । अत एव प्रनाध्याये श्रीमदाचार्यकृत'मत्यागस्त्यागादुत्तम' इति । तथाप्याधुनिकदैवीमृष्टपुत्पन्नानां जीवानां सर्वदोषदूरीकरणार्थं तादृशरसात्मकप्रभ-

जनानन्ददानार्थं च तादृक्सेवनानुकरणोपदिष्टत्वेन श्रीमदाचार्यवर्यास्तदुभयपक्षमाश्रित्य साक्षात्फलप्राप्त्यर्थं नामस्मरणानन्तरं फलपरिचयावधि साधनत्वेन भक्तिवृद्धिप्रकारं निरूपयन्ति यथेति ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽप्यधिकः स्नेहो भक्ति'रिति । यत्र वरप्राप्तत्वेन पूर्वकालिनकृतसंस्कारकरणानन्तरमेव भक्तेः प्रक्षिप्तबीजत्वम्, तत्र स्मरणबाहुल्यादङ्कुरितत्वम्, ततस्तथात्वे पल्लवितत्वम्, तथैव कुसुमितत्वम्, एतावन्मात्रकं फलीकरणावधि वर्धकत्वमग्रे कुतो न स्यादित्यनुसन्धेयम् । सा प्रवृद्धा स्यादिति । प्रकृष्टेन वृद्धिः प्रतिक्षणं तादृगार्तिपूर्वकस्मरणबाहुल्येन । तथोपायस्तत्प्रकारकाचरणोपायो निरूप्यते, उत्तरवाक्य एव विशदीक्रियत इत्यर्थः । बीजभावे दृढीकरणापेक्षकत्वम्, अन्यथा तुशब्दस्य पूर्वपक्षव्यावर्तकत्वानापत्तिः स्यात् । किञ्च, बीजभावे दृढे सत्येवाग्रेऽङ्कुरभावमारभ्य फलपर्यन्तं तदुद्भावनपूर्वकं वर्धकत्वम् । अन्यथा कृतोऽपि संस्कारो व्यर्थ एव स्यात् । अत एव 'भावैरङ्कुरित'मित्याद्युक्तयस्तु तादृग्बीजमात्रफलीकरणत्वमेवाभिव्यञ्जयन्ति । तत्र विषयव्यवस्थाभेदेन हेतुत्रयमुच्यते त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । अत्र तामसानां त्यागादेव तथात्वम् । सात्त्विकराजसानां तु श्रवणकीर्तनादिति योजनोभयत्रैव वेदितव्या । तथा सति पक्षद्वयविशिष्टविभागसमानाधिकरणत्वेन हेतुनिरूपणप्रस्तावेऽपि सामानाधिकरण्यात्तद्भिन्नत्वं स्वीकर्तव्यम् । अत एव त्यागादिति पृथगुक्तिः, न तत्र समाहारे योजना । श्रवणकीर्तनयोरेकैकत्वज्ञापकत्वेन तथात्वात्त्यागपक्षमाश्रित्य श्रवणकीर्तने एव हेतुत्वेन निरूपिते, नतु त्यागः । तस्माद्यथायोग्यतया हेतुनिरूपणं ज्ञेयम् । अत एव 'श्रवणा'दित्यारभ्य'प्रतियातु ततो गृहा'नित्यन्तेन तद्दृढीकरणार्थमेव भगवता यद्यप्युक्तम्, तथापि नाङ्गीकृतमेताभिः, किन्तु 'स्वपक्ष एवादरणीय' इति न्यायात्त्याग एव तासां दार्ढ्यसम्पादकत्वम् ॥ १ ॥

अत परमेतावन्मात्रकं बीजदार्ढ्यमुपपाद्य तत्प्रकारमप्यग्रे प्रकाशयन्ति बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अत्र कुमारिकावरप्राप्तसाधननिरूपणत्वेन प्रथमतस्तत्प्रकारमेव प्रचारयन्ति । अतस्तुशब्देन तत्प्रकारकातिरिक्तप्रकारं व्यावर्तयन्ति । तद्यथा । गृहे स्थित्वा स्वधर्मत इत्यत्र स्वेत्यात्मा भगवान् तद्धर्मतः षड्गुणैश्वर्यादिकमनुभवन् तादृग्रसभोक्त्रीणामाच-

रणं ज्ञात्वा भजेदित्यन्वयः । अथवा, यथैताः स्वस्य पूर्वं भगवद्गृहीतपुंस्त्वाख्यधर्ममधुना प्राप्य पूर्वकालीनोपदेशजनितसंस्कारस्मरणपूर्वकं तद्भजनं कुर्वन्ति, तथैतन्मार्गीया अपि 'स्वधर्मेव' इति नामस्मरणपूर्वकसंस्काररूपवरणप्राप्तौ तदनुकरणत्वेनैतद्भजनं कुर्वन्त्वित्याशयेन श्रीमदाचार्यवर्या आहुः स्वधर्मस्य इति । एतत्प्रकारानुसारेण स्वपमव्यावृत्तः सर्वदा । व्यावृत्तिर्व्यवहारः । स तु सन्निपातः, तद्रहितः सन् कृष्णं फलात्मकं सदानन्दवाचकं पूजया श्रवणादिभिरित्यत्र, तथा पुष्टिमार्गीयया 'धन्यास्त्वि'ति वाक्यपद्धनिरूपितया, तथा श्रवणादिनवप्रकारकभक्तिभिरपि तत्तद्भावसमाश्रितमेव भजेत्सेवनं कुर्यात्, तदप्यान्तरिकम्, नतु बाह्यमित्यर्थः । अथवा । तासां कामरूपाणि वस्त्राणि गृहीत्वा पूर्वं नीपमारुह्य पश्चात्तत्रैव दानत्वेन तासु यथा भगवत्पूजनत्वम्, तथैवाग्रे स्वातिप्रियोत्तरीयकल्पितासनदानत्वेन ताभिरपि भगवान् पूजित इति लक्ष्यते । अत एव 'तत्रोपविष्टो भगवान्स ईश्वर' इत्यत्र तच्छन्दपरामर्शस्यैव तदुद्घाटकत्वमेतत्प्रकारकाचरणं कर्तव्यमित्यर्थः । सर्वदा भावनीय इति संक्षेपः । अतएव व्रतचर्यायां 'प्राग्जन्मपुरुषत्वाप्त्यधर्मा अपि वयस्यतां । प्राप्ता ये तैः सहागच्छन् संबन्धं सूचयन् हरि'रित्यत्र श्रीमत्प्रभुभिस्तथैवोक्तमिति प्राथमिकसंबन्धस्यैव बीजभावत्वम् ।

ननु ते तु ऋषयो मननशीला मन्त्रद्रष्टारः सर्वात्मना भगवदुक्तसाधनकरणत्वेनैव प्रत्यहं गृहस्थितमेवास्य तदाज्ञापालनपूर्वकं भजनं कुर्वन्ति, अयं तु प्राकृतः, कथं तत्साधनाचरणं कर्तुं शक्यत इत्याहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

वस्तुतस्त्वयमप्येको बीजदार्ढ्यप्रकारान्तरः, तस्मात्स्वयं व्यावृत्तोपि संसारासक्तः सन्नपि हरौ सर्वदुःखहरणशीले भगवति गजराजशाल्वादिकनाशकपराक्रमानुस्मरणपूर्वकं चित्तं संस्थाप्येति शेषः । सदेति कालापरिच्छेदकत्वेनैव श्रवणादिषु नवप्रकारकभक्तिषु तद्वृद्धिप्रकारस्फूर्त्या यतेत् । तद्विषयकं यत्नं कुर्यादित्येतत्प्रकारेणापि सा प्रवृद्धा स्यादिति पूर्वेणान्वयः । ननु पूर्वोक्तप्रकाराचरणेनाग्रे किं साधितमिति प्रेमादीनां प्राप्तिमपि सूचयन्ति ततः प्रेमेति । ततः तद्वस्त्वनन्तरं पूर्वोक्ताधिकरणक एव तथात्वेन भक्त्यरचनारूपं प्रेमोत्पद्यते, येन भक्तिवल्ली प्रत्यहं प्रतिक्षणं सिञ्चनविषयीक्रियते । तथा आसक्तिर्भावविशेषः । स तु पुष्पागमरूपः । अत्र 'शास्त्रार्थस्य परिज्ञानात् भावस्य कलिका भवे'दिति वाक्योक्तोर्थोनुसन्धेयः । तथा सत्येतत्प्रकारकासक्तेः प्रेमोत्तरभावित्वं युक्तमेव । अत एव श्रीमदाचार्यैरपि तथैवोक्तम् । 'आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि हरिणा कृत'मिति । तथा व्यसनं च येन विना क्षणमपि स्थातुं न शक्यते, तत्तु बीजादारभ्य फलाविष्कारावधि

सर्वत्र भावनीयम्। एवं यदा भवेत्तदा न काप्यनुपपत्तिः। अथवा। अत्र चकारः समुच्चयार्थकः। तथा सति प्राथमिकसम्बन्धो बीजभावः। तस्मात्स्वभावतो वृद्धिं प्राप्ता भक्तिवेली, तदुद्भूत प्रेम पल्लवस्थानापन्नम्, तज्जनितासक्तिः पुष्पागमः। ततो व्यसनं च फलत्वेन स्वरूपैकनिष्ठत्वम्। एतेषां बीजत्वजातिविशिष्टसमानाधिकरणत्वेनैकजातीयत्वम्। तथा सति भूरुद्दढीकरणत्वेनैव सर्वत्र तथात्वमिति भावनीयम्। तदेवाग्रे निरूप्यते बीजं तदुच्यते, शास्त्रे भगवच्छास्त्रे, श्रीभागवतगीतानारदपञ्चरात्रादावपि, यद् दृढं नापि नश्यति, तत्तु प्राथमिकसम्बन्धकालीनमित्यध्यवसेयम्।

अतः परं प्रेमासक्तिभ्यां यज्ञातं तदाहुः स्नेहादिति।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम्।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥
बाधसम्भावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

अत्र स्नेहपदेन भक्तिरुच्यते। तत्र धात्वर्थः सेवा, प्रत्ययार्थः 'प्रेमे'ति। तेन रागविनाशः स्यात्, भगवत्स्वरूपातिरिक्तवस्तुमात्रेषु यो रागः अनुरञ्जनं तस्य विशेषेण नश्वरत्वेन नाशः अप्रतीतिः स्यात्। तथा आसक्त्यापि गृहारुचिः स्यात्। तत्र 'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते' इति वाक्यात्तादृशासक्त्या परिग्रहाद्यरुचिस्तूचितनरा। अथवा। नैते आत्मसंबन्धिनः, किं तु देहादीनाम्, प्रत्युत तादृशभावनिरतस्यालौकिकभावविघातका एव, न तु साधकाः, इतोपि तदनासक्तौ तस्य न किमपि बाधकम्, प्रत्युत तथात्वे तथात्वमिति। अग्रिमवाक्ये तथैव निरूप्यते गृहस्थानां बाधकत्वमिति। भगवद्विषयकसंस्कारानुभूतकर्तृणां तु स्त्रीपुत्रादिष्वनात्मत्वं भासत एव। चकाराद्बाधकत्वमपि। तथा सति तत्सङ्गो न विधेय इति तात्पर्यार्थः। अन्यथा व्यसनभाववत्त्वानुपपत्तिः स्यात्। अतस्तस्यैवाग्रे सर्वत्र साधकत्वेनाधिकारी विधीयते यदा स्यादिति।

यस्मिन्काले कृष्णे फलात्मके षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ने भगवति व्यसनं तदेकनिष्ठत्वं पूर्वोक्तविधिना स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात्, नात्र सन्देहः कार्य इति सिद्धम्। हिशब्दस्तु प्रसिद्धावेव। तथा सति व्यसनं वरणकालीनमेवाभिव्यज्यते। अत एवाग्रे तादृशस्यापि व्यसनभावप्राप्तस्य सततं निरन्तरं गेहस्थान गृहस्थितिर्विनाशक विशेषेणोक्तसंस्कारविघातिकेति यावत्। अतस्त्यागपक्षमप्याश्रित्य तत्प्राप्तिप्रकारमाहुः **त्यागं कृत्वेति**। यस्तु परमकृपाशीलः सर्वात्मना निरुद्धः सन्, अत एव तदर्थैकमानस इति विधेयविशेषणम्। तत्र भगवतो योर्थः प्रयोजन तदर्थमेव तन्निष्ठमेक मानस यस्य। अथवा। भगवदर्थमेव यत्प्रयोजनं तत्रैव मानसिकी प्रवृत्तिर्यस्येति त्यागसांमुख्यम्। अत एवात्र तुशब्दस्तूत्कर्षाधायकः। तथथा। भजसीमन्तिन्योन्यपूर्वाः सर्वथा त्यक्तुमशक्यानित्येतादृशानपि पदार्थांस्त्यक्त्वा बीजभावरूपां भक्तिम्, तथैवाग्रे स्वरूपदर्शनस्पर्शनभाषणमिलनादिकमेतासां जातमिति, तथापि य इति सामान्यनिर्देशात् कोपि तदर्थैकमानसः पूर्वोक्ताचरणशीलस्तादृशासक्तिभरेण गृहादित्यागं कृत्वा यतेत्, भगवत्प्राप्तिविषयकमेव यत्नं कुर्यात्, स पूर्वोक्तसामानाधिकरण्येनैव सुदृढां स्नेहरूपाम्, तत्रापि सर्वतोप्यधिकां नवप्रकारकभक्त्यपेक्षयोत्कृष्टत्वेन तादृक्प्रकारकाम्। अत एव 'सुदृढ सर्वतोधिकः स्नेहो भक्ति'रिति लक्षणत्वेन प्राप्ताम्, अत एव परामुत्कृष्टाम्, यतः साक्षाद्भगवच्चरणारविन्दानुग्रहनिष्ठैकशीला तां लभते, प्राप्नोति, तत्कृताचरण करोतीत्यर्थः। तथापि त्यागक्रियानौचित्यमेवाह्त्याग्रे तद्विषयकबाधमाहुः **त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति**। अत्र साधनदशापन्नत्वेनाधुनिकजीवानां तदपेक्षया न्यूनत्वम्, 'सत्यज्य सर्वविषयांस्तवपादमूल'मिति प्रकारस्य तत्रैव सिद्धत्वादत्रत्यानां तथाकरणे बाधकबाहुल्यमेव। तत्र हेतुद्वयं निरूप्यते **दुःसंसर्गात्तथान्नतः**। स्वापेक्षया विरुद्धधर्माचरणशीला एव दुष्टाः। तेषां संसर्गात्सहवासकरणत्वात्स्वस्य तदुपार्जितान्नभक्षणाद्वा तथात्वम्। यत एव बाधकापत्तिस्तत एवाग्रे स्थितिप्रकारः प्रकाश्यते। अत. स्थेयमिति। अस्मात्कारणादेव तद्रहिते देशे हरिस्थाने सर्वदुःखहरणशीलस्य तत्तल्लीलास्थाने तदीयैर्भगवत्परैर्भगवदीयैः सह स्थेयम्। अथवा। भगवदुपदिष्टस्थाने वृन्दावनादौ स्थितिः कर्तव्या। तत्र तादृशैः सह वासकरणे पूर्वोक्तहेतुद्वयप्रतिबन्धोत्पादकानामनवसरपराहतत्वम्। तत्रापि **अदूरे विप्रकर्षे वेति**। यथोपक्रमे प्रकारद्वय तथोपसंहारेपि तथात्वं बोध्यते। अत्यागपक्षे तावददूरत्वेनैव स्थितिः कर्तव्या, त्यागपक्षे तु विप्रकर्षेणैवेति योजना। अत एव श्रीमदाचार्यैरपि पूर्वोक्तव्यवस्थापूर्वकवाक्यद्वयमुक्तम्। अथवा। अदूर इति वाक्यद्वय प्रतिपक्षे भिन्नतया योजनीयम्। एतत्प्रकारकएतत्प्रकारेणैव तत्र स्थेयमित्यग्रे सूच्यते। **यथा चित्तं न दुष्यति**। एतत्प्रकारकस्थितावेव चित्त न दूषित भवतीत्यर्थः। अत.पर पूर्वोक्तरीत्या यावज्जन्मसफलीकरणार्थे भिन्नत्वेन व्यवस्थापूर्वक साधनद्वयमुच्यते। 'सेवायां वा कथायां वे'त्युक्तो यथाक्रमा-

नुरोधेनासपूर्वाणां सेवायामिति धात्वर्थस्यानुकूल्येन भगवद्भजन एवासक्ति । सपूर्वाणां तु भगवद्गुणानुवादत्वेन कथायामेव सा। 'तत्र कथायां'मि'त्यादिवाक्येषु तथा निरूपितत्वात्। उभयत्र वाशब्दो विकल्पत्वेन तन्मात्रक बोधयति, अन्यथा एकेनैव तेन चारितार्थ्ये सति द्विर्निरूपणस्यानतिप्रयोजनत्वात् । अत श्रीमदाचार्यवर्या स्वकीयान्प्रति निरुपधि-करुणावत्त्वेन स्वानुभवपूर्वकोभयपक्षीयासक्तिर्निरोधस्य फलत्वेन प्रतिपादयन्ति सेवायां वा कथायां वेति । अनेन सेवाकथयो स्वरूपात्मकत्व सूचितम् । आसक्तिप्रमन्यायेन तयोक्ति । अथवा विकल्पत्वेन यस्येति सामान्यनिर्देशात्परमभाग्यवतस्तत्कृताचरणशीलस्य आसक्तिर्निरोधे दृढ इति प्रथमस्थितिपूर्वकत्वेन समवेतस्य यावज्जीव शरीरस्थितिपर्यन्त पूर्वोक्तरीत्या नाश क्वापि कस्मिन्नपि देशे समये वा न दृश्यत इति शेष । 'स्वानुभूत प्रकारज्ञापनाय मे मतिरि'त्युक्तत्वात् । अत परमेतत्प्रकाराचरणकर्तु कदापि स्थितिपक्षे बाधसंभावनाया जातायामपि स्वबुद्ध्यान्यथैव मया सेव्यमिति पक्षो निराक्रियते। बाधसम्भावनाया तु एकान्ते वासो नोचित । वैराग्यवशान्महारण्यादौ स्थितिर्न कर्तव्या । किन्तु यत्र साक्षाद्भगवदाविर्भाव स्वहृदये स्वानुभूतो भवति, तत्रैव सेव्यमि-त्येकान्तपदतात्पर्यम् । अत एव नेष्यते नेच्छाविषयीक्रियते । कुतस्तत्र हेतुरुच्यते हरिस्त्विति । यथा व्रजरक्षा सर्वतो भगवता रक्षिता, 'विषजलाप्यया'दितिवाक्य पद्यकथनात्, तथात्मविषयिणी या रक्षा ता सर्वत पूर्वोक्तदुष्टसमूहादपि करिष्यत्येव । अत्रापि समस्तैवोक्त न संशय इति । संशय सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थ । हरित्वस्या न्यथानुपपत्त्यैव तथा निश्चीयते । तुशब्दस्यापि तथैवोद्घाटकत्वम् ॥

अत परमुपसंहरन्ति इत्येवमिति ।

इत्येव भगवच्छास्त्र गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्र श्रीभागवतभगवद्वाक्यनारदपञ्चरात्रादिक तत्तु भग-वत्कथितमुपदिष्टमपि गूढत्वेन यत्तस्य 'एव मदर्थोज्झितलोकवेदे'त्यत्र यथोक्त तन्मया तदुक्तप्रकारेणैव निरूपितम् । महासम्बन्धकरणादित्याद्याज्ञाविषयत्वात् । एतदध्ययनकर्तृ णामपि पूर्वोक्तसिद्धिरित्याशयेनोच्यते य एतत्समधीयीतेति । य इति सामान्योक्त्या कोप्येतत्स्थितिगतभाग्यशील परमादरेणार्थानुसन्धानपूर्वक तदुभयाचरणकर्तृत्वेनैतदध्ययन करोतीति । तत्रापि नियमनैयत्येन सम्यक्त्वम् । तेन तस्यापि दृढा रतिर्भगवद्विषयको भाव स तु तद्वत स्यादित्यत्र विशेषेण ॥

श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहादेव निर्णय । कृतस्तदुक्तवाक्याना सुज्ञाना तोषसिद्धये ॥ १ ॥

इति श्रीद्वारकेशविरचितभक्तिवर्धिनीप्रकाश ।